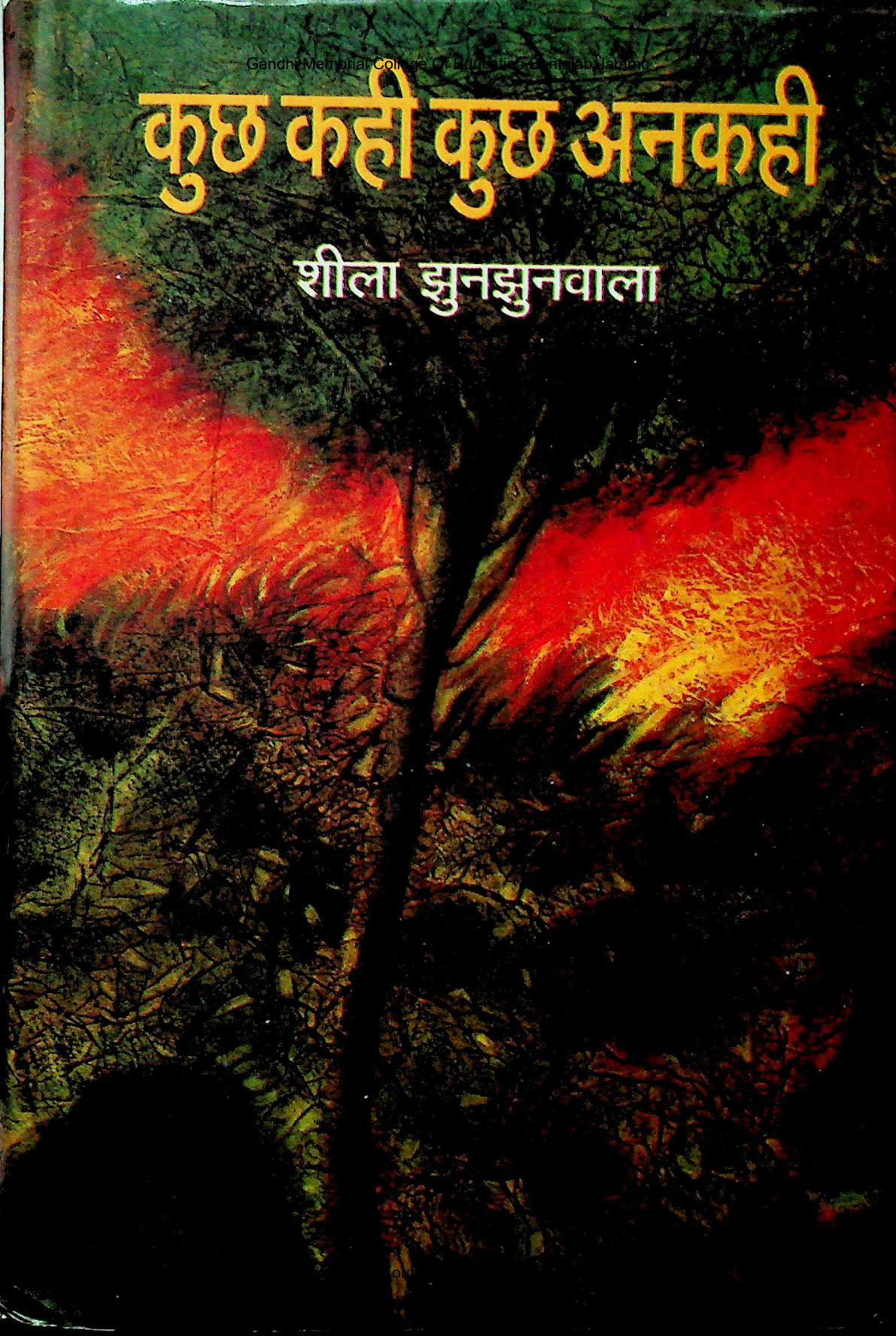


Gandhi Memorial College Of Education, Bantelab, Jammu

कुछ कही कुछ अनकही

शीला झुनझुनवाला



कुछ कही कुछ अनकही

...निहायत दिलचस्प शैली, प्रवाहमान भाषा...परिवार से लेकर पूरे परिवेश तक से जुड़े लोग और स्थितियां...यह किताब शुरू से अंत तक रहस्य/रोमांच/प्रेम/संघर्ष/राजनीति/परिवार/प्रशासन/टकराव/उपलब्धि और फिर नियति के अनेकानेक खेलों से साक्षात्कार कराती है...

झुनझुनवाला जी रेवेन्यु डिपार्टमेंट के एक आला अफसर थे। छापे डालने के तनावपूर्ण क्षणों में ये लोग किस-किस तरह के खतरे उठाते हैं...धन की दुनिया में किस तरह के प्रलोभन और हथकंडे काम में लाए जाते हैं और उस चक्रव्यूह को भेदने में ये लोग क्या-क्या पापड़ बेलते हैं, यह शायद पहली बार इस किताब से जानने को मिलेगा।

समसामयिक राजनीति और शासन तंत्र के अनुभवों पर सटीक टिप्पणियों के साथ-साथ इस पुस्तक से आपातकाल संबंधी कतिपय प्रचलित धारणाओं के बारे में एक नए पहलू से सोचने का मौका भी मिलेगा।

—कन्हैयालाल नंदन (नई दुनिया से)

...इतनी आसान, इतनी सहज। ऐसा लगता है कि आप अपने गली-कूचे के बारे में बात कर रहे हैं। चाहे वह कानपुर हो या इलाहाबाद या बम्बई, शीलाजी ने अपने समय का अत्यंत जीवंत चित्रण किया है और मुश्किल बातों को भी सरलता से, सहजता से और अपनत्व से कहा है। एक ईमानदार किताब जिसमें से हर क्षण ईमानदारी झलकती दिखाई देती है।

—कमलेश्वर

कही-अनकही में बनावट कहीं नहीं है। सब कुछ सहज भाव से कहा गया है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि हम कोई उपन्यास पढ़ रहे हैं, रहस्य रोमांच से भरा उपन्यास और कहीं-कहीं अंतरंग, आत्मिक क्षणों को दिखाता हुआ गृहस्थ जीवन। एक क्षण को भी नहीं लगा कि यह वर्णन कृत्रिम है।

—विष्णु प्रभाकर

रुढ़ियों को भेद कर स्वतंत्रता की चिनगारियों के साथ-साथ परिवार में तालमेल बिठाने जैसी घटनाएं सार्थक संदेश देती हैं।

—डॉ. शेरजंग गर्ग

...बहुत कुछ होने के साथ-साथ बेहद इनसानी रिश्तों की झलक।

—नासिरा शर्मा

G.M. College of Education
Rajput, Bantalab
Jammu.

Acg No..... 4200
Date..... 13.12.2023

कुछ कही कुछ अनकही

श्रीमती शीला झुनझुनवाला



जन्म : सन् 1928 में उत्तर प्रदेश के कानपुर में, स्कूली शिक्षा एस.एस. सेन बालिका विद्यालय में हुई। क्राइस्ट चर्च कालेज, कानपुर से बी.ए., डी.ए.वी. कालेज से एम.ए. (अर्थशास्त्र) एवं एल.टी. की उपाधि ली। हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से 'साहित्य-रत्न' एवं प्रयाग महिला विद्यापीठ से 'विदुषी आनर्स'। कानपुर के ही म्यूनिसिपल गर्ल्स कालेज में एक वर्ष अर्थशास्त्र का अध्यापन।

1960 से 1965 तक टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन समूह के 'धर्मयुग' साप्ताहिक पत्रिका के महिला पृष्ठों का संपादन किया। दिल्ली में ही सेन्ट्रल न्यूज एजेंसी द्वारा प्रकाशित महिला पत्रिका 'अंगजा' की संपादिका रहीं। तदुपरांत दिल्ली में हिन्दुस्तान टाइम्स समूह की पत्रिका 'कादम्बिनी' में संयुक्त संपादक रह चुकने के बाद दैनिक हिंदुस्तान में संयुक्त संपादक, फिर साप्ताहिक हिंदुस्तान की प्रधान संपादक। अंग्रेजी में प्रकाशित 'मनी मैटर्स' पत्रिका की कार्यकारी संपादक। दृश्य-जगत में अनेक नाटकों एवं फिल्मों में पटकथा लेखन।

राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान परिषद से अनेक कृतियाँ प्रकाशित, जिनमें से 'अस्त्र-शस्त्र की कहानी' एवं 'इंदिरा जी की आत्मकथा' विशेष चर्चित। बाल साहित्य में भी अनेक पुस्तकें प्रकाशित।

अनेक पुरस्कार प्राप्त, जिनमें प्रमुख हैं मातृश्री पुरस्कार, लोहिया पुरस्कार, राजस्थान-रत्न एवं रोटरी-रत्न पुरस्कार। 1991 में भारत सरकार द्वारा 'पद्मश्री' से अलंकृत।

संप्रति : टी.पी. झुनझुनवाला फाउंडेशन की कार्यकारी अध्यक्ष, प्रियदर्शनी की अध्यक्ष एवं स्वर-मंजरी, महिला मंगल, राजस्थान क्लब, राजस्थान रत्नाकार आदि अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से संबद्ध।

एकमात्र वितरक
सारांश प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
142-ई, पॉकिट-4, मयूर विहार-1, दिल्ली-110091
फोन : 2713253

G.M. College of Education
Gandhi Memorial College Of Education Pantalab Jammu
Raipur, Pantalab
Jammu.

Acc No. 422

Dated 13.12.2023

कुछ कही कुछ अनकही

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक संप्रेम भेंट

शीला झुनझुनवाला



अक्षरा फाउण्डेशन

सोराब हाउस, कोलाबा कॉजवे
मुम्बई, द्वारा प्रदत्त
उपहार



टी.पी. झुनझुनवाला फाउंडेशन

एकमात्र वितरक
सारांश प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली-हैदराबाद

आवरण चित्र : सुकुमार चटर्जी

मूल्य : रु. 450.00

सर्वाधिकार © शीला झुनझुनवाला

प्रथम संस्करण : सन् 2000

दूसरा संशोधित संस्करण : सन् 2001

प्रकाशक : टी.पी. झुनझुनवाला फाउंडेशन

आर-18, साउथ एक्सटेंशन पार्ट II

नई दिल्ली-110049

फोन : 6258433, 6255821

लेजर कंपोजिंग : क्वालिटी प्रिंटर्स

नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

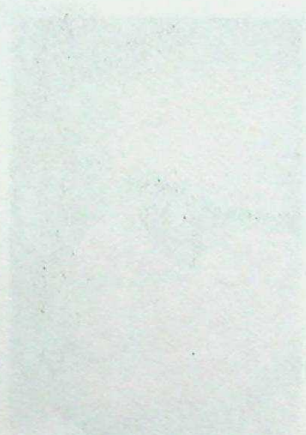
मुद्रक : त्रिवेणी आफसेट,

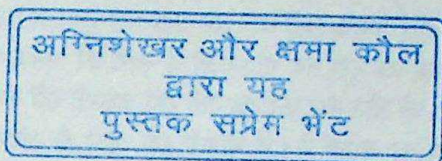
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

KUCHH KAHI KUCHH ANKAHI
by Sheela Jhunjhunwala



ठाकुर को
जो मेरे मित्र, सखा
प्रियतम, पति
पथ-प्रदर्शक और गुरु -
सब कुछ थे !





भूमिका

मैंने अपने को कभी इतना महत्वपूर्ण नहीं समझा कि अपनी कहानी अक्षरों, शब्दों और वाक्यों के माध्यम से कागज पर उतारूं। इसीलिए मैंने कभी कोई डायरी नहीं लिखी, कोई नोट्स नहीं रखे। तरतीब से कभी कुछ कलमबद्ध भी नहीं किया। यहां तक कि अपनी स्वयं की रचनाओं की कॉपी भी नहीं रखी। अपने जीवन को, अंतस को उजागर करने का यह संकोच, कहीं न कहीं आज भी मेरे मन में है। फिर भी पता नहीं कैसे, यह बीता हुआ कल संस्मरणों का एक जखीरा बन गया। अनायास इस कल की केंद्र-बिंदु में बन गई, ठाकुर बन गए। ठाकुर यानी टी.पी. यानी टी.पी. झुनझुनवाला—मेरे स्वर्गीय पति।

ठाकुर इंडियन रेवेन्यू सर्विस (आई.आर.एस.) के सिर्फ नीरस सरकारी अधिकारी-भर नहीं थे। प्रोफेशन से वे नीरस माने जानेवाले वित्त-विभाग, आयकर के एक महत्वपूर्ण अंग, आयकर-कमिश्नर थे किंतु, मन से वे कलाकार, लेखक और रंगकर्मी थे। मैं चाहती तो, अमूमन जैसा होता है, कला, साहित्य और मंच से जुड़े अपने तमाम परिचितों, मित्रों और प्रशंसकों के संस्मरण-पुस्तक रूप में प्रकाशित करा सकती थी। किंतु मैंने वैसा नहीं किया। वैसा मुझसे हुआ नहीं। ठाकुर इन लोगों में से नहीं थे, जो समूचा जीवन, जीवन जीने की तैयारी में लगा देते हैं, फिर भी उन्हें वह नहीं मिलता, जो वास्तव में जीवन जीने का अंदाज होना चाहिए। ठाकुर ने जीवन के हर क्षेत्र को जिया, भरपूर जिया और अपने ढंग से जिया। मैं उनकी जीवन-संगिनी, उनके हर क्षण, हर कृत्य की साक्षी थी। इसलिए मैंने सोचा, मुझे बड़कर कौन जान सकता था, उनके मन को, उनकी अपूर्व संकल्प-शक्ति, जिजीविषा, कार्य-क्षमताओं, उपलब्धियों एवं चारों ओर फैले उनके सामाजिक, पारिवारिक, अंतरंग संबंधों को।

मैंने जिंदगी से कभी कुछ पाने की चाहना नहीं की। बस एक विश्वास मन में था कि ईश्वर जो करेंगे, अच्छा ही करेंगे और विश्वास की इसी डोर को पकड़े-पकड़े मैं तरतीब रही, एक लहर से दूसरी लहर पर, एक मुकाम से दूसरे मुकाम तक। इन सात दशकों में हवाओं के ठंडे और गर्म थपेड़ों ने न जाने कितनी बार मुझे सहलाया, न जाने कितनी बार स्पर्श किया, कई आस-पास से छूते हुए निकल गये। कई अनुभूतियों की चकाचौंध मुझे अंदर तक सराबोर कर गयी। अनुभूतियां भी ऐसी जो बादलों की ऊंचाई तक ले गयीं तो स्वर्ग से पाताल की झलक भी दिखा गयीं।

इस सारे दौरान बहुत कुछ जुड़ा, बहुत कुछ टूटा। जो जुड़ा, वह इतना सुंदर था कि उसको मापने का कोई पैमाना नहीं था। वह एक भरा हुआ चषक था जिसमें अमृत ही अमृत था। वह चषक जब टूटा तब भावनाओं के स्वरो की अनेक प्रतिध्वनियां, अटूट आवाजें पीछे छोड़ गया, जो लौट-लौट कर दंश देती रहीं, रुलाती रहीं क्योंकि, उनका रिश्ता यादों से था और यादों का अपनों से। मैं भींगती रही अंदर ही अंदर। बातें करती रही अपने आपसे। और मैंने सोचा, जो गया है वह मेरा बहुत कुछ ले गया है पर जाते-जाते अपना भी तो बहुत कुछ छोड़ गया है मेरे पास। प्रकाश किरण की भांति एक विचार आया। वह बीता हुआ कल मयूरपंखी यादों में सिमटने लगा और यह किताब बन गयी।

मेरे एकांतिक के अतिरिक्त इस किताब में और भी बहुत कुछ है पाठक के लिए। संघर्ष के वे दिन जो सहज-असहज में प्रेरणा देते रहे हैं। यह कहानी है उन पात्रों की जो बीते हुए कल में सजीव थे। यह गाथा है उन उपलब्धियों, अनुभवों, संघर्षों एवं घटनाचक्रों की जो आज भी समाज में, कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में लोगों के हिस्सों में आते रहते हैं और घटते रहते हैं। किंतु इनके साथ जुड़ी है एक लेखक, पत्रकार, समीक्षक की अंतर्दृष्टि भी जिसने समसामयिक राजनीति और शासन-तंत्र को न केवल करीब से देखा है, झेला भी है और उससे अपने निष्कर्ष भी निकाले हैं।

यह पुस्तक बीती हुई सत्य घटनाओं की सिलसिलेवार पेंटिंग है। मैं तो सिर्फ वह आवाज, वह प्रतिध्वनि हूँ, जिसे आप सुन रहे हैं।

आप कहेंगे, आपबीती लिखते-लिखते तो आपने जगबीती ही लिख डाली। एक पूरे इतिहास की संरचना कर दी। यह कल क्या है? यह बीता हुआ कल, जिंदगी की सच्चाइयों से जुड़ा कल, अनुभूतियों का कल, इतिहास ही तो होता है। हर क्षण गुजरनेवाला पल ही कल बन जाता है और फिर इतिहास की संज्ञा पाता है। आज जब मैं अपने अंतर में झांकती हूँ, तब चारों ओर कल ही बिखरा दिखाई देता है। उम्र के इस मोड़ पर, आज जो कुछ है, वह कल की परछाई ही तो है। उस कल को घटनाचक्र, जीवन की सच्चाई या फिर आत्मकथ्य—कुछ भी कह सकते हैं। यह कल ही सच है, अक्षत है, यादों की न खत्म होनेवाली अमरबेल है, पर यह मेरे परिवार का दस्तावेज नहीं है। इसमें बहुत-से लोग जुड़े हैं, बहुत ऐसे भी हैं जिन्हें, जोड़ना चाहकर भी मैं नहीं जोड़ सकी, शब्द-सीमा के कारण।

सूर्य से मेरा नाता पुराना है। जीवन-भर सूर्य की नैसर्गिक, स्नेहमयी थपथपाहट से मेरा दिन शुरू होता रहा। आज भी सूर्य—महाबली सूर्य से मैं ऊर्जा लेती हूँ। मेरी चेतना का मूलाधार वही है। उगते सूरज के साथ मेरी कर्म-यात्रा शुरू होती है, दोपहर के सूरज के साथ मुझे शक्ति मिलती है। शाम के ढलते सूरज से, जो कहीं और उगकर अनंत संभावनाओं को जन्म देता है, मैं प्रार्थना करती हूँ, 'हे सूरज! तेरी यात्रा के समान मेरी यात्रा भी ऊर्जामय हो, कभी रुके नहीं और इसी प्रकार अविराम गति से चलती रहे।'

—शीला शुनशुनवाला

अनुक्रम

आहटें	11
बचपन की यादें • सांप्रदायिक दंगे • असहयोग आंदोलन	
दस्तकें	39
एक रिश्ते का जन्म • सामाजिक अंतर्विरोध • पारंपरिक विवाह/प्रेम विवाह	
प्रवेश : बंबई प्रवास	106
अजंता-एलोरा की छाया में • पत्रकारिता का ककहरा • आयकर के छापे	
विस्तार	181
फिल्मी हस्तियों से परिचय • रामगढ़ में छिपा बंबई का सोना • रहस्य-रोमांच के तिलिस्म	
प्रस्थान बंबई से	223
रामेश्वरम् के समुद्रतट पर • दिल्ली के गली-कूचे • अंगजा का प्रकाशन	
आपातकाल	253
अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रहार • संजय गाँधी और गीतों-भरी शाम • जयपुर के राजमहल की तलाशी	
चुनौती	285
साप्ताहिक हिंदुस्तान और मैनेजमेंट से टकराव • भूमिगत आंदोलन और जे.पी. • मादक पदार्थों का मायाजाल	

विविधा	303
साहित्यकारों की दुनिया • केसर की क्यारी में काला धन • राजस्थानी तेवरों की झलक	
राम तेरी गंगा मैली	350
अंतरंग राजकपूर • राजनीति की शतरंज	
एकला चलो रे	364

आहटे

- बचपन की यादें ● सांप्रदायिक दंगे
- असहयोग आंदोलन

कानपुर। उत्तर प्रदेश का एक बहुत ही व्यस्त व्यावसायिक नगर। जुगगीलाल कमलापति सिंहानिया की कपड़ा मिलों से निकलते काले-काले धुएं से संवलाया-सा आसमान।

कहीं कोपरगंज में मजदूरों द्वारा खींची जानेवाली ठेलागाड़ियों की ठेलमठेल और कहीं लंबी चहारदीवारियों से घिरी कोठियों की कतारें, शहर के बाशिंदों को साफ दिखाई पड़नेवाले दो वर्गों में बांटनेवाली विभाजन-रेखाएं।

शहर के हर मुहल्ले को विधाता ने मानो व्यापार के लिए ही बनाया है। बांस मंडी में बड़ी-बड़ी शहतीरों और बांसों की कतारबद्ध दुकानें, तो लाटूश रोड से निकली काफी दूर तक फैली, काठ चीरे जाने की गीली महक।

शिवाले का मशहूर शिव मंदिर। पूरी गली चूड़ी, टिकुली, साड़ियों से भरी पड़ी है। नव-विवाहिताओं और शहर-गांवों की गोरियों का आकर्षण-केंद्र।

थोड़ा आगे जाएं तो पुण्य-सलिला गंगा के सरसैया घाट और गुप्तार घाट।

पौ फटने से पहले ही तारों की छांव में कार्तिक नहाने का पुण्य संचित करने के लिए प्रभाती गाती हुई महिलाओं की टोलियां उत्तर-रात्रि की गुलाबी नींद से सोए हुआं के कानों में चांदी की घंटियां-सी बजा रही हैं। पैदल चलने में असमर्थ वृद्धाएं, ढली उम्र की औरतें और बच्चे इक्कों पर खिंचे चले जा रहे हैं।

गंगा घाट पर जैसे दबे पांव बहार आ गई हो। पानी की छप-छप, श्रद्धालुओं का कलरव, किसी दूकान की तरह रोली, चंदन, फूल, आसन से अपने-अपने तख्त संजोए पंडों की पुकार, पुल पर से गुजरती रेलगाड़ी की भकभक।

तब तो गंगाजी सीढ़ियों से लगी-ही बहती थीं। बहाव इतना तेज कि किनारे पर रस्सियां बांधनी पड़ती थीं कि इन्हीं को पकड़कर नहाइए और रस्सियां पार न करिए।

कहते हैं कि अंधेरे का कोई रंग नहीं होता, लेकिन जब वह जाने लगता है तब कई रंग

छोड़ जाता है—सुरमई, रुपहला, फिर सुनहरा।

यादें भी शायद बचपन, जवानी और बुढ़ापे की दौड़ में झिलमिलाती इंद्रधनुषी छायाओं की तरह सुरमई, रुपहली और सुनहरी होती रहती हैं। बार-बार लौटकर दस्तक देती हैं।

इन दस्तकों में मेरा बचपन कहां खो गया, कुछ पता नहीं—एक रेखा के रूप में बस, वह याद भर है, कहीं ठहरी हुई-सी। एक धुंधली याद भर!

मां बताती थीं, जिस साल मेरा जन्म हुआ, उस साल बहुत कसकर जाड़ा पड़ा था, हड्डियों को तोड़नेवाला जाड़ा। नल की टोंटियों में पानी जम-जम जाता था। मेरा जन्म घर में ही हुआ। पैदा हुई तो झिल्ली में लिपटी हुई और नाल से बंधी हुई। आंखों की पुतलियों के चारों ओर खून जमा हुआ था। लोगों ने कहा, 'भगवान के घर से आना नहीं चाह रही थी, जबरदस्ती भेजी गई है, ऐसा बच्चा बड़ा भाग्यवान होता है।'

हमारा घर सड़क के किनारे था। अक्सर काली रातों के भयावह अंधेरे में 'हर-हर महादेव' और 'अल्ला हो अकबर' की गूँजें उठती थीं, फिर एक भयानक सन्नाटा। छतों पर इकट्ठे किए गए ईंटों-पत्थरों के ढेर। कभी-कभी एक ओर से बढ़ता हुआ हुजूम, दूसरी तरफ हल्ला बोलती हुई भीड़ और कभी ताजे गरम-गरम रक्त से किसी की हिंस्र प्यास बुझाती हुई कोई इक्का-दुक्का लाश—चौराहे पर पड़ी हुई।

अभी भी स्मृति-पटल पर अंकित हैं, उन आवाजों को सुनते ही मां की हिदायतें। फिर दौड़कर सभी खिड़की-दरवाजे बंद करना और कोने में सहमे-सहमे बच्चों का दुबके रहना। सड़कों की भगदड़, फटाफट दुकानों के पट बंद होना और शटरों का खींचा जाना। यह सब रोज की बातें थीं।

कितनी दहशत थी उन दिनों! अक्सर खून-खराबा हो जाता था। मार-काट और लड़ाइयां आम बातें थीं। कभी भी कुछ ऐसा हो जाता कि दहशत के परिंदे अपने भयावह डैनों से मासूम दिलों को दहला देते।

ऐसा ही कुछ एक बार हुआ। गयाप्रसाद लेन के हमारे घर से एक गली पार करके ही बेनीमाधव खत्री धर्मशाला और पास ही धर्मशाला का दफ्तर था। हम लोग अक्सर शाम को दफ्तर चले जाते थे। वहां की बालकोनी से खड़े होकर नीचे का तमाशा देखते। मनबहलाव का अच्छा तरीका था। धर्मशाला में अक्सर कोई बारात या तो वहां से उठती, बाजे-गाजे के साथ या फिर बाजे-गाजे के साथ वहां आती। खत्री धर्मशाला की सड़क एक ओर हटिया की तरफ जाती थी, जहां बहुतायत से खत्री रहते थे और दूसरी मूलगंज की ओर जाती, जो एक बदनाम इलाका था और जहां अधिकांशतः मुसलमान रहते थे। जिस दिन की बात मैं बता रही हूं, उस दिन कोई जुलूस निकला था, शायद मोहर्म्म का जुलूस था। लोग अपनी छाती पीटते हुए जोर-जोर से चिल्ला रहे थे—'हाय हुसैन हम न हुए—हाय हुसैन हम न हुए।' छतियां इतने जोर से पीटी जा रही थीं कि उनमें खून छलक आया था। जुलूस बल्लम-भालों से लैस था। अचानक भगदड़ मच गई। जुलूस मूलगंज

की सड़क पर निकल रहा था। भगदड़ मची तो बेनीमाधव धर्मशाला की ओर भी लोग भागे। धड़ाधड़ दूकानें बंद होने लगीं। एक पल के लिए सन्नाटा हुआ। दूसरे ही पल बड़ी जोर-जोर से रोने-चीखने की आवाजें आने लगीं। धर्मशाला के लोग, जिस घर से आवाज आ रही थी, वहां जायजा लेने पहुंचे कि देखें माजरा क्या है। मालूम पड़ा, उस घर के दो जवान बेटे दंगे में मारे गए। वे बेचारे एक किनारे खड़े जुलूस का तमाशा देख रहे थे। इतने में किसी ने लोगों को जुलूस में छाती पीटते और 'हाय हुसैन हम न हुए' चिल्लाते सुना तो शरारतन कह दिया—'तुम होते तो क्या कर लेते?' बस, इसी पर मारपीट, दंगा हो गया।

किनारे खड़े जो दो लोग तमाशा देख रहे थे, एक परिवार के ही दो भाई थे। वे भी चपेट में आ गए और मारे गए। अड़ोस-पड़ोस के सभी लोग छत ही छत उस परिवार में हालात का जायजा लेने पहुंचते रहे। एक सन्नाटा-सा सारे मुहल्ले में छा गया था। कुछ औरतें भी छत ही छत उस ओर पहुंचीं। मैं भी पीछे-पीछे पहुंची। साथ में छोटा भाई भी था। वहां लाशें पड़ी देखीं तो हम घबरा गए। बाहर निकलने की सोच ही रहे थे कि पुलिस दिखाई पड़ी। अब न निकला जाए, न रुका जाए। सहमकर चारपाई के नीचे दुबक गए और आंखें मींच लीं, डर के मारे। थोड़ी देर में सहमते-सहमते जो आंख खोली तो देखा कि पुलिस ने धीरे-धीरे सबको कमरे से निकाल दिया है और खुद दरवाजे पर जम गई है। अजब हालत थी। बाहर पुलिस के सिपाही और अंदर लाशें—उनके बीच सहमे, दुबके हम दोनों। कभी कोई लाश हमें घूरती महसूस होती, कभी कोई आंख हमें पास बुलाती नजर आती और कभी लगता वे हाथ हमें करीब आने का इशारा कर रहे हैं। पता नहीं, कितने घंटे हम उस पलंग के नीचे कैद रहे। हिम्मत नहीं पड़ रही थी कि चीख ही पड़ें। शाम को झुटपुटे में पड़ोसी आए उस कमरे में। हम इतने डरे हुए थे कि पुकारकर कह भी नहीं सके कि हम यहां हैं। आवाज ठंडी हो गई थी। कुछ देर में सब चले गए और कुछ औरतें वहां आईं। तब भी हम वहीं छिपे रहे। डर ने हमारे हाथ-पांव जैसे सुन्न कर दिए थे। जब वह लाशें वहां से हटीं, तब हम बाहर निकले और भागे अपनों के बीच। वहां भी हमारी दुंदाई हो रही थी।

उस दिन सुनाई पड़ा कि गणेशशंकर विद्यार्थी का खून हो गया है—तहलका-सा मच गया और उसके बाद शहर में एकदम सन्नाटा।

तब मैं शायद, बहुत छोटी रही होऊंगी। कौन थे गणेशशंकर विद्यार्थी, नहीं जानती थी। पर इतना अभी याद है कि उस दिन मौत का सन्नाटा शहर के हर घर में था और कहीं चूल्हा नहीं जला था। उसके बाद वह मोहल्ला ही छूट गया और हम आ गए शहर के दूसरी ओर, जहां शायद, पहले की बनिस्बत प्रकाश अधिक था, अंधेरा कम। बहुत बाद में जाना कि गणेशशंकर विद्यार्थी एक बहुत बड़े पत्रकार थे और सांप्रदायिकता की बलि चढ़ गए थे।

वह सस्ते का जमाना था। रुपये में 16 छंटाक घी मिलता था। महरी जो बरतन मांजने आती थी, उसे दो रुपये तनखाह दी जाती थी। महाराजिन दोनों समय खाना बनाकर चली जाती थी। खाते समय अपने आप निकालो, परसो और खाओ। जो महाराजिन हमारे यहां आती थी, बड़ी गोरी, साफ रंग की थी। माथे पर बड़ी-सी लाल-लाल टिकुली। हाथों में लाल-लाल रंग की ही चूड़ियां। सर्दियों के दिनों में सवेरे आठ बजे आ जाती। हमारा सुबह का नाश्ता अक्सर होता था—बेसन में प्याज मिलाकर हाथ से बनी रोटी, उसे हम घी, नमक और लाल मिर्च के साथ खाते। बड़ी स्वादिष्ट लगती। प्याज चौके में आता नहीं था इसलिए इन्हें बाहर अंगीठी पर कोयलों की आंच में सेंका जाता था। कभी सुबह-सुबह देसी घी के परांठे बन जाते—आलू की सब्जी के साथ बड़े जायकेदार—खूब रचकर खाए जाते। सर्दियों में घी जमा रहता था।

एक बार ताईजी को लगा कि आज घी मंगाओ, दो-चार दिन में खत्म ! बच्चों से कहा गया कि पता लगाएं—घी कहां जाता है। मुझे खोज-खबर लेने की बातों में बड़ी रुचि रहती थी। एक दिन सवेरे जब महाराजिन कोठरी से आटा और घी निकाल रही थी, मैं चुपके से एक कोने में छिप गई। देखा, महाराजिन ने जमा हुआ घी आटे के ऊपर ही एक ओर टिका दिया। जब देखा इधर-उधर कोई नहीं है, झट से घी का गोला मुंह में दबा लिया। मुझे उनके गुलाबी गालों का राज समझ में आ गया।

ऐसी ही एक और महाराजिन थी। हमारे पड़ोस में दो चचाजाद भाई रहते थे। उन्होंने शादी नहीं की थी। कालेज में प्रोफेसर थे। सुबह घर में ताला बंद करके चाभी हमारे यहां दे जाते। महाराजिन आती, हमारे यहां से चाभी लेती, खाना बनाती और फिर हमारे यहां चाभी लौटाकर चली जाती। एक दिन करीब बारह बजे महाराजिन चाभी देने आईं तो मैंने देखा उसके आंचल से धुआँ-सा निकल रहा है। छोटा भाई ताली बजा-बजाकर नाचने लगा—‘महाराजिन के पेट में आग—महाराजिन के पेट में आग।’ पहले तो समझ में नहीं आया। फिर देखा, तो मालूम पड़ा कि महाराजिनजी चूल्हे की लकड़ी और कोयले बुझाकर, जो कोयले बचते, उन्हें धोती में छुपाकर अपने घर ले जाती थीं। इसे वह चोरी नहीं समझती थीं। उस दिन शायद, कोयले पूरी तरह से बुझे नहीं थे—कहीं कोई चिंगारी रह गई थी, जो सुलग पड़ी। महाराजिन की साड़ी का पल्ला जलने लगा, तब उन्हें सुध आई।

जब तक ताईजी रहीं, सदैव सबको गर्मियों में चांदी के वरक लगा एक-एक सेब का मुरब्बा, जिसे वे स्वयं घर में बनाती थीं, और गर्मियों में कतली, जिसमें पिस्ता, बादाम, गोंद, किशमिश, काजू होते थे, खाने को मिलती थी। बड़ी स्वादिष्ट होती थीं ये कतलियां। स्टोर की चाभी मेरे हाथ में देकर ताईजी कहतीं—‘ले, सब भाइयों को भी दे दे और खुद भी ले ले’। भाई लोग तीन कोने का मुंह बनाते, पर जब डांट पड़ती, तब सब ले लेते। मुझे याद है, मैं उनको एक-एक कतली देती, खुद दो लेती थी। स्कूल जाते तो जेबों में

बादाम-पिस्ते भरे रहते।

पिताजी से हम सभी बहुत डरते थे। भाई लोग तो उनके पास भी नहीं फटकते थे। कभी कुछ कहना होता तो मुझे ही आगे कर देते। हां, शाम का समय होता था, तब सबकी हाजिरी लगती थी। हाजिरी ही कहेंगे उसे। एक-एक, दो-दो शब्दों में सबसे पूछना कि किसने दिन-भर क्या किया? दिन-भर के काम के बाद पिताजी थके-मांदे होते थे तो उनके थके-मांदे पांवों को दबाने के लिए भाइयों की पुकार होती। कभी कोई, कभी कोई उनके पैर दबाता। लड़कियों से पैर छुआए नहीं जाते थे, इसलिए मैं इस 'एक्सरसाइज' से बच जाती थी। पर एक अफसोस रहता था मुझे, जो चवन्नी उन लोगों को मिलती थी, वह मुझे नहीं मिलती थी। तब सोचती थी, काश मैं लड़का होती!

भाई दोनों, जो मुझसे बड़े थे, स्कूल जाते ही थे। एक दिन मेरा भी स्कूल में दाखिला करा दिया गया। हमारा स्कूल चौक में था। छोटे-बड़े, ऊंचे-नीचे मकानों की भीड़ में एक मकान, जहां स्कूल लगा करता था। आसपास सर्राफे की दुकानें। उन दिनों घर से लंच-वंच नहीं भेजा जाता था। हां चार आने रोज के मिल जाते थे। मैं उन्हें बड़ा सहेजकर रखती कि चौक के मंडे पेड़े तथा मंगली हलवाई की दाल-भरी कचौड़ियां ही खाएंगे। घर में तो चाट-पकौड़ी कुछ बनती नहीं थी। वे कचौड़ियां और आलू की सब्जी जैसी उन दिनों खाई, वैसी आज तक खाने को नहीं मिलीं।

ताईजी छुआछूत माननेवाली थीं। आचार-विचारों का खास ध्यान रखा जाता था। चूल्हे में जो लकड़ियां जलाई जाती थीं, पहले धोकर छत पर सुखाई जाती थीं, फिर चौके में आती थीं। छुआछूत और कच्ची-पक्की रसोई का भी उन्हें बड़ा वहम था। मजाल थी कि कोई चौके के अंदर घुस जाए। वहां उनका एकछत्र राज्य था। अलग-अलग कटोरियों में धी रखा जाता था। रोटी के हाथ पूड़ी में और पूड़ी के हाथ रोटी में नहीं लगे, इसका ध्यान न रख पाने के कारण मुझे कई बार मार भी खानी पड़ी।

उन दिनों स्कूल ले जाने के लिए महाराजिन लगाई जाती थी। सुबह-सुबह महाराजिन अपनी सोटी सटकाते आ जाती और लड़कियों को झुंड में बटोरकर स्कूल ले जाती। शाम को फिर वही महाराजिन वापस घर छोड़ जाती, भेड़-बकरियों की तरह। फ्राक पहनना तो बहुत पहले ही छुड़ा दिया गया था। दरजा चार-पांच से हम सलवार पहनने लगे थे, वह भी कायदे से सिर ढककर निकलना पड़ता था। एक दिन की याद आज हंसी दिला जाती है, पर उस समय तो भय से कांप गई थी। स्कूल से दोपहर को लौटते समय सभी लड़कियां जेल से छूटे कैदी की भांति इधर-उधर टेढ़े-मेढ़े चल रही थीं। मैं भी दौड़ती हुई आई। बीच में एक घर की सीढ़ियां पड़ती थीं कि एक ओर से चढ़ो, दूसरी ओर से उतर जाओ। इस खेल को हम सब मौका पाते ही कई बार खेलते थे, महाराजिन के चीखने-चिल्लाने के बावजूद। उस दिन भी मैं ऐसे ही कर रही थी। पता नहीं किस काम से ताईजी उधर गली से निकलीं और उन्होंने मुझे दौड़कर सीढ़ी से उतरते देखा। मेरे सर से चुन्नी हट गई थी। ताईजी ने दो जोरदार थप्पड़ मेरे सिर पर लगाए और बोलीं, 'ये

कुदक्कड़े लगाकर चलती है, कल से स्कूल जाना बंद।' सब लड़कियों के सामने मेरी बड़ी बेईज्जती हुई। आंखों में आंसू भर आए। महाराजिन को भी उन्होंने डांटा, सो अलग। बस, हाथ खींचती घर ले आई।

चौक में हम दरजा छह तक पढ़े। उसके बाद हम लोग आ गए शहर के दूसरी ओर, जहां एक ओर नयागंज सर्राफा था, दूसरी ओर माल रोड, सिविल लाइंस। बीच में फूलबाग और विरहाना रोड। शहर की एक नई बनी सड़क—समृद्ध और संपन्न। इसी विरहाना रोड के पास मालरोड पर सेन बालिका विद्यालय था, उसी में मेरा एडमिशन करा दिया गया।

भोर के उजाले में मां के मीठे-मधुर स्वर में गाई गई चौपाइयों के बोलों के साथ मेरी आंख खुलती :

मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवहु सो दशरथ अजिर बिहारी।

और, स्कूल जाने की तैयारियां शुरू हो जातीं। मां का स्वर बहुत ही मीठा था। उतनी ही सुंदर वे स्वयं थीं। गोरा रंग, पतली सुए-सी नाक, बड़ी-बड़ी आंखें, पतली-दुबली काया और शांत सौम्य व्यक्तित्व। जोर से बोलते तो मैंने उन्हें कभी देखा ही नहीं। बड़े शांत वातावरण में रामायण की चौपाइयों का पाठ वे प्रतिदिन किया करती थीं। मेरा बाल-मन सब कुछ छोड़कर उनके पास बैठकर उनका मुंह निहारने को करता रहता था। उनके रूप से अधिक उनके मुख से निकले बोलों पर मेरा ध्यान अटका रहता था। मन करता था, वे चौपाइयां गाती रहें और मैं उन्हें सुनती रहूं। लोरियों से भी अधिक मीठी मुझे उनकी वे चौपाइयां लगती थीं। तब से मैं तुलसी को या कहूं कि रामायण को छोड़ नहीं सकी। जैसे-जैसे मैं बड़ी होती गई, रामायण का पाठ जीवन का अंग बनता गया और तुलसी से मेरी पहचान गहराती गई, और इतनी गहराई कि जेठ-बैसाख की दोपहरी में यदि रामायण का पाठ किए बिना स्कूल चली जाती तो दिन-दिन भर पानी नहीं पीती। शाम को स्कूल से थकी-मांदी जब लौटती थी, तब पहले पाठ करती, फिर पानी पीती थी।

आज सोचती हूं, जीवन का वह कौन-सा सत्य था, जिसने मुझे इतना प्रभावित किया था। इस सत्य की व्याख्या करने लायक उस समय मेरी उम्र नहीं थी, किंतु बाद के जीवन में वह सत्य उद्भासित हुआ। रामायण की ही एक चौपाई है :

सिया राम मय सब जग जानी। करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी।

इस चौपाई से जुड़कर जीना शुरू करें, तो हम पाएंगे कि बहुत बड़ी-बड़ी और बहुत छोटी-छोटी अनेक तकलीफों से, हम बिना कुछ किए ही मुक्त हो सकते हैं। राम के चरित्र में न हम कुछ जोड़ सकते हैं, न घटा सकते हैं, क्योंकि वह हमारे संस्कारों से जुड़ा ऐसा चरित्र है, जहां हम राग-द्वेष, सुख-दुख, गरीबी-अमीरी और सांसारिक तृष्णा से मुक्त हो

जाते हैं।

मानस के किसी भी प्रसंग को हम लें, हम देखते हैं कि हर प्रसंग का अंत सुखद है। इससे यही सिद्ध होता है कि यह ग्रंथ हमें दुख से सुख की उस सीमा तक ले जाने में समर्थ है, जिसके आगे कुछ शेष नहीं रहता। अगर शेष रहता है कुछ तो, वह राम का प्रभाव ही रहता है। तुलसीदासजी ने राम को एक रसायन के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसके बगैर जीवन का कोई रस बन ही नहीं सकता।

रामायण और गंगा—इनसे अलग करके यदि मैं अपने बचपन को देखूँ तो उसमें कुछ शेष नहीं रहता। जिस उमर में लड़कियाँ गुड़ड़े-गुड़ियों का खेल खेलती हैं, उस उमर में, मैं रामायण और गंगा से जुड़ी रही, न कोई संगी-साथी, न बचपन की कोई सहेली। बचपन का नटखटपन, ऊधम, शोर, छेड़छाड़—मैंने जानी ही नहीं। ताईजी मुंह अंधेरे उठा देतीं। तारों की छांव में कार्तिक स्नान का पुण्य-लाभ करने के लिए मुझे अपने साथ घसीटते हुए बरबस ले जातीं। ठिठुरती सर्दी में गंगा के जल को देखकर ही कंपकंपी छूटती थी, किंतु ताईजी बहुत ही कड़क थीं, जो धक्का देतीं तो जल में डुबकी अनायास ही लग जाती। और फिर एक डुबकी के बाद तो जाड़ा छू-मंतर!

गंगा के साथ जुड़ी थी—भगीरथ की कथा। उनकी संकल्प-शक्ति, आत्मबल, धैर्य और सहन-शक्ति तथा अपने पूर्वजों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना। उनके द्वारा किए गए अपराधों से उन्हें मुक्त कराने की अदम्य इच्छा, जिसने स्वयं उनके जीवन को आस्थायुक्त, निर्मल और यशस्वी बनाया। भगीरथ के जीवन ने मुझे उस कच्ची उमर में ही, बहुत प्रभावित किया और शायद, यही कारण था कि मन में सदैव एक आत्मबल रहा और एक लक्ष्य तक पहुंचने के लिए मैंने जो भी निश्चित किया, उसकी अड़चनों को सदैव अनदेखा किया।

गंगा के जुड़ाव की तरह ही रामायण के जुड़ाव ने भी मेरे जीवन पर एक स्थायी प्रभाव डाला। रामायण के चरित्रों में सबसे अधिक लगाव हुआ हनुमानजी से। हनुमानजी सीताजी की चूड़ामणि लाकर राम को देते हैं। रामजी प्रसन्न होकर उनसे कहते हैं कि वे कुछ भी मांग लें, उन्हें मिलेगा। हनुमानजी अपने को श्रीराम के चरणों में डाल देते हैं और कहते हैं, उन्हें और कुछ नहीं चाहिए, बस जन्म-जन्म तक उनकी भक्ति ही चाहिए। इस चरित्र के माध्यम से मेरे बाद के जीवन में यह प्रभाव पड़ा कि जिसमें हमारा प्रेम है, आस्था है, उससे अज्ञानतावश जब तक हम पूर्ण रूप से अपने को अलग करके रहेंगे, तभी तक हमें अपनी अपूर्णता का कष्ट भोगना पड़ेगा। जब हम अपने को पूर्ण से जोड़ लेंगे या पूर्ण के अतिरिक्त अपनी कोई सत्ता नहीं मानेंगे, तब हमें न तो कुछ पाना शेष रहेगा और न कुछ भोगना ही शेष रहेगा। क्योंकि, तब हमारे लिए भी हमारे माध्यम से यह सब कुछ जो पूर्ण है, वही करेगा। यह पूर्ण कोई व्यक्ति भी हो सकता है, ईश्वर भी हो सकता है, गुरु भी हो सकता है, पति या पत्नी भी हो सकता है। अलग-अलग परिस्थितियों में और उम्र के अनेक चढ़ते-उतरते पड़ावों पर इसी पूर्ण ने, जिसमें मेरा विश्वास केंद्रित

था, मेरी मानसिक यात्रा को शंका, भय, जय-पराजय की चिंता से मुक्त किए रखा, मुझे इस योग्य बनाया कि मैं अपने चेहरे के बाहरी रूप को कम, अंतः के रूप को अधिक देख सकी।

गंगाजी के संदर्भ में ही मुझे मेरे एक मामाजी बहुत याद आते हैं। उनका नाम श्यामलाल था। उनसे मेरी बहुत पटती थी। हर महीने वह मुझे दस रुपए देते थे। मैं उनकी लाइली भांजी थी न, इसलिए। उन दिनों के दस रुपए आजकल के हजार रुपयों के बराबर तो होंगे ही। यह रकम खास मेरे लिए होती थी। मुझे बचपन से कपड़ों का बहुत शौक रहा। रंग-बिरंगी, बंबई के प्रिंटवाली साड़ियां और किताबें मिल जाएं, तो मुझे और कुछ नहीं चाहिए था। मैं पैसे इकट्ठे करती रहती और जब काफी पैसे इकट्ठे हो जाते, उनसे साड़ियां और किताबें खरीद लेती। उन दिनों बंबई प्रिंट की साड़ी दस-बारह रुपये में आ जाती थी।

मामाजी का व्यक्तित्व बड़ा ही भव्य था। नियम से प्रतिदिन सुबह-सुबह गंगाजी जाना और भांग घोटना उनकी दिनचर्या के अनिवार्य अंग थे। उन्हें कभी बीमार पड़ते नहीं देखा। अच्छी-खासी तंदुरुस्ती थी। बड़ी-बड़ी आंखें, लाल गाल, मानो खून अभी टपका-अभी टपका। बादाम, पिस्ता, मुनक्का डालकर घंटों भांग पीसते और बड़ा-सा गोला एक ही बार में डकार जाते। उनके लिए घर में एक सिल-बट्टा अलग रखा रहता था। गंगा मैया के बड़े भक्त थे। सर्दी-गर्मी, बरसात, तबियत ठीक हो या खराब, चाहे तेज बुखार ही क्यों न हो, सवेरे तड़के गंगा-स्नान के नियम को कभी नहीं तोड़ा उन्होंने। निःस्पृह, निश्छल—किसी संत फकीर की तरह। एक बार सबके कहने-सुनने पर कुरते के लिए सोने के बटन बनवाए। रात में सिरहाने रखकर सो गए। सवेरे उठे तो गंगा-स्नान को चल दिए। लाल कागज में लिपटे उन बटनों का ध्यान ही नहीं आया। जब गंगाजी से लौटे तो पता लगा कि बटन तो वह ले ही नहीं गए थे। खूब ढूँढ़ मची। सारा घर परेशान। किंतु मामाजी को कोई चिंता नहीं। बोले, 'गंगा मैया चाहेंगी तो मिल जाएंगे, नहीं तो जिसके भाग्य के होंगे वह ले जाएगा।' और ऐसा ही हुआ। बटन मिल गए, सड़क पर, ठीक घर के नीचे, जहां जमादार झाड़ू भी लगा चुका था और सैकड़ों पैर उस जगह से गुजर भी चुके थे, वहां बटन पड़े थे। बंदर महाराजजी उन्हें उठाकर ले गए थे और जब उन्होंने पाया कि उनके काम की चीज नहीं है, तो माला के दानों की तरह उन्हें बिखेरकर पेड़ पर जा बैठे थे।

आदमी का मन जब एक सत्य से, एकरसता से ऊब जाता है, तब वह विचित्रताओं की ओर भागता है, कुछ अलग करना चाहता है। कुछ करने की, अपनी पहचान बनाने की सामर्थ्य भी उन्हीं में होती है, जो नियति और परिवेश के सामने घुटने नहीं टेकते। ऐसे व्यक्ति एक धुरी के इर्द-गिर्द परिक्रमा नहीं करते। वे नई संभावनाओं की तलाश में रहते हैं। मेरे एक और मामाजी, जिनकी अब धुंधली-सी याद-भर है, ऐसे ही थे। वह साइकिल

पर विश्व-भ्रमण के लिए निकले थे। साथ में एक मित्र और था। अपनी यात्रा के किस मोड़ तक वे पहुंचे, यह तो याद नहीं, पर सुना था, अखबारों में उनके फोटो छपे थे। बड़े आडंबरों के साथ उन्हें अपनी संकल्प-यात्रा पर भेजा गया था। आज यह एक आम बात हो सकती है, जो अक्सर सुनाई पड़ती है, पर जिन दिनों की बात मैं कह रही हूँ, उन दिनों यह एक अभूतपूर्व घटना थी कि गली-मुहल्ले का साधारण-सा दिखनेवाला छोकरा इतना बड़ा संकल्प लेकर दुनिया नापने चल दे।

बहरहाल, अपनी यात्रा के किन-किन पड़ावों को उन्होंने पार किया, यह तो मालूम नहीं, किंतु लौटते समय कुरुक्षेत्र में आकर वह बीमार पड़ गए। तभी हम लोग उनसे मिलने गए थे। बिस्तर पर लेटे थे पर एक अजीब-सी चमक उनकी आंखों में थी। यदि जीवन-शक्ति ने उन्हें धोखा नहीं दिया होता, तो वे प्रतिकूल हवाओं के विरुद्ध चलकर भी नए स्तंभों की नींव रखते। मुझे उन्होंने चावल का एक दाना दिया था, जिस पर मेरा पूरा नाम और पता लिखा था। उस चावल के दाने को मैं बहुत दिनों तक सहेज कर रखे रही।

हम करीब पंद्रह दिन कुरुक्षेत्र में रहे थे। वे अपने अनुभव अक्सर मुझे सुनाते रहते। उनकी एक बात मुझे आज भी याद है और सदैव याद रहेगी। एक दिन शाम के धुंधलके में एकदम मेरी आंखों की ओर देखते हुए उन्होंने कहा था, 'परिस्थितियों के आगे घुटने टेकने के लिए तुम नहीं बनी हो, जीवन में कुछ बनकर दिखाना। एक व्यर्थ यात्रा का प्रतीक मात्र बनकर नहीं रह जाना।' उस दिन तो उनकी बात समझ में नहीं आई, परंतु बाद के जीवन में बहुत बार उनके ये वाक्य मेरे दिल और दिमाग पर हथौड़ियों की तरह चोट करते रहे।

जुलाई की सुबह। क्लासेज लग चुकी हैं। नौवीं कक्षा का पहला पीरियड शुरू हो चुका है। तभी एक लड़की—गोरी-चिट्ठी, लंबी, सुंदर, कटे बालों पर लाल रिबन बांधे, क्लासरूम के बाहर से पूछती है, 'मे आई कम इन मैम।' सारी निगाहें उसकी ओर उठ जाती हैं। बड़ी स्मार्ट लड़की है, जरूर पढ़ने में बहुत होशियार होगी। कैसी फरटि से अंग्रेजी बोलती है!

टीचर कहती हैं, 'कम इन।' 'थैंक्यू' कहकर लड़की बैठने के लिए सीट खोजती है। एक सीट खाली है। दरमियाना कद की एक बड़ी-बड़ी आंखोंवाली लड़की इशारे से उसे अपने पास बुलाती है। पास की खाली सीट पर बिठा लेती है। पढ़ाई शुरू हो चुकी है, इसलिए बोलने का समय नहीं है। पीरियड समाप्त होने पर पूछती है, क्या नाम है?... कहाँ से आई हो?'

'सरोज—मध्यप्रदेश से, जबलपुर से।'

यहीं से मित्रता का सूत्रपात होता है। स्नेह का सागर दोनों को समेट लेता है। बातें चल निकलती हैं। तभी दूसरी टीचर आती हैं। खैर, 'रिसेस' में बातें होंगी। तभी

घंटी बजती है। अभी तक समय किए बैठे लड़कियाँ एक ही पल में उस आधुनिका से कतराकर बाहर लॉन में भाग जाती हैं। एक वेदना की छाया गोरे गात को छूकर निकल जाती है। वही पूछती है—

‘तुम क्यों नहीं गई उनके साथ?’

‘मैं तुम्हारे साथ चलूंगी।’

‘क्यों?’

‘क्योंकि, मैं भी तुम्हारी तरह जब पहले दिन इस क्लास में आई थी, तो अकेली थी और तब मेरा मन चीख-चीखकर कह रहा था कि इन सबसे दूर कहीं ऐसी जगह पहुँच जाऊँ, जहाँ न दूसरों के पदचाप हों और न निगाहों के बाण—मैं स्वयं अपने से बातें करूँ, अपनी पदचाप सुनूँ और कोई एक, केवल एक ऐसी रूह हो, जो मेरे मन को, मुझे पहचान सके और उनमें छिपे अर्थों को स्वर दे सके।’

और फिर समोसे और मीठी इमली की चटनी के साथ बातों का सिलसिला शुरू हुआ। मालूम पड़ा, उसके पिता ‘फ्रीडम फाइटर’ हैं। अरसे से जेल में हैं। अभी भी छूटने की कोई उम्मीद नहीं है। माँ बीमार हैं। पति के गम में टी.वी. हो गई है। पंचगनी के सेनीटोरियम में हैं—आंखें छलछला उठती हैं।

‘कोई बात नहीं। हमें देखो, हमारी तो माँ भी नहीं है और पिताजी वर्षों पहले छोड़कर चले गए। वहाँ, जहाँ से कोई वापस नहीं आता। छह भाई हैं। दो बड़े, चार छोटे। वहन कोई नहीं। अब से तुम हमारी बहन हुई।’ कहकर मैं सरोज का हाथ पकड़ लेती हूँ और जबरन आवाज में उत्साह भरकर कहती हूँ, ‘चलो, औरों से परिचय कराते हैं।....ये है सुजाता, ये पुष्पा, ये शकुंतला।’

दूसरा दिन—अंग्रेजी का पीरियड था। ‘डांसिंग डैफोडिल्स’ कविता पढ़ाई जा रही थी। सुनकर ऐसा लगा, जैसे सपनों के देश में खो गए हैं। तभी टीचर ने सरोज से कुछ पूछा। हम सभी सोच रहे थे कि यह कटे बालोंवाली फैशनबुल लड़की, जो पहले दिन से ही हमारे ऊपर अपनी अंग्रेजी की धाक जमा चुकी है, जरूर उसी फरटि से जवाब देगी। सबकी आंखें उसके मुख पर टिकी थीं, पर वैसा कुछ नहीं हुआ। वह कुछ बता नहीं पाई। सारी क्लास की आंखें जैसे उसे बाँधे जा रही थीं। अचानक उसकी आंखों से आंसू टप-टप गिरने लगे। हम सब स्तब्ध। इंटरवल में पूछा—‘क्यों नहीं कुछ बताया?’

‘आता ही नहीं था तो क्या बताती? मध्यप्रदेश की और यहाँ की पढ़ाई में बहुत अंतर है। घर में कोई बतानेवाला नहीं है। बड़ी घबराहट होती है।’

मैंने पूछा, ‘क्या घर में कोई नहीं है? तुम अकेली रहती हो?’ उसने कहा, ‘नहीं, दादी हैं, एक बूढ़ी बुआ। बस।’ फिर उसकी आंखें छलछला आईं।

मैं बोली, ‘कोई बात नहीं। हमारे घर में तो हमीं पुरखिन हैं। छोटे-छोटे भाई हैं। दूध पिलाना, नाश्ता बनाकर देना, स्कूल भेजना, सब करके आते हैं। आज छोटे ने तो

सारा दूध ही गिरा दिया। और कुछ बनाने का वक्त नहीं था, अधभूखा होगा। मन बड़ा खराब हो रहा है।' दोनों ने एक दूसरे की आंखों में झांका। एक का दर्द दूसरे की चुभन बन गया और सारी औपचारिकताएं एक क्षण में सिमटकर खत्म हो गईं।

सरोज की और मेरी पसंद भी बहुत कुछ एक-सी थी। वह भी रामचरितमानस की भक्त थी। बिना दो चौपाइयां पढ़े घर से बाहर नहीं निकलती थी। समान रुचि, समान स्थिति के कारण हमारी दोस्ती पकती गई।

ऐसा नहीं था कि उन दिनों गम का साया या अकेलापन ही हमारे जीवन को आक्रांत किए था—विनोद के क्षण भी आते थे। अक्सर सुबह के खाली पीरियड में लड़कियां घेरकर बैठ जातीं। चिड़ियों की तरह चहचहाने लगतीं। कहतीं, 'शीला, अपनी आंखें बंद करो—बंद करके चुपचाप बैठी रहो।'

मैं पूछती, 'भई क्यों?'

'तुम्हारी बंद सीपी-सी आंखें और लंबी-लंबी बरौनियां बहुत अच्छी लगती हैं, कौन-सा काजल डालती हो?'

मैं हंसती, 'कुछ नहीं डालती हूं।'

'गोरी तेरे नयना काजर बिन'... और सब खिलखिला पड़तीं।

ऐसे में पढ़ाई क्या होती? हम और सरोज लॉन में जाकर बैठ जाते और परिचय की परत-दर-परत खुलती जाती, प्याज के छिलकों की भांति।

सरोज के पिता बांकेबिहारी पांडे स्वतंत्रता की लड़ाई के एक भागीदार थे। सन् '42 के आंदोलन में जब सिपाही उन्हें गिरफ्तार करने आए तो सबसे पहले बेटी ने ही बढ़कर पिता की आरती उतारी, तिलक किया। प्रभात फेरी में भी सरोज सबसे आगे रहती थी। उन्हें बी क्लास मिला था, इसलिए जेल में सब आराम था। सब लोग मिलने भी आते थे। मिठाई दे जाते थे—अच्छा खाना-पीना मिलता था। चिट्ठियां जरूर सेंसर होकर जाती थीं। सरोज और मां को उन्होंने जेल से न जाने कितने लंबे-लंबे पत्र लिखे हैं कि मामा वरेरकर ने उन्हें केले की खीर खिलाई। विनोबा भावे गीता का मराठी भाषा में रूपांतर कर रहे हैं। जबलपुर जेल में उन दिनों चोटी के साहित्यकारों और मनीषियों का जमघट था। सन् '42 के आंदोलन और आजादी की लड़ाई के बारे में सरोज के माध्यम से ढेरों जानकारीयां मिलीं। अखबारों की सुर्खियों में तो पढ़ते ही थे, परंतु उस माहौल में पनपी और बड़ी हुई अपनी सखी के मुख से सब कुछ सुनकर बहुत अच्छा लगता। कई बार सोचती, काश! हम भी देश के कुछ काम आते। पर यहां तो घर का पूरा माहौल ही अलग है। लड़की होना मानो जंजीरों में जकड़े रहना। लड़के और लड़की एक रेखा के दो छोर—लड़कों पर सारा प्यार-दुलार लुटाया जाए, वह पढ़ें नहीं तो टीचर रखा जाए। मैं नहीं पढ़ूं तो किसी को कोई वास्ता नहीं। क्या फायदा ज्यादा पढ़-लिखकर। आखिर, मुझे तो चूल्हा ही झोंकना है। लड़कों

की आवारागर्दी और सौ खून माफ और मुझे इन बंधनों में जकड़कर रखना कि यहां नहीं जाना, वहां नहीं जाना। इतनी रुकावटें कि दो कदम भी कहीं आगे बढ़े तो साथ में एक भाई को लेकर जाओ, चाहे वह उम्र में मुझसे दस साल छोटा ही क्यों न हो। समय पड़ने पर वह क्या मेरी रक्षा करेगा? मुझे ही उसे संभालना पड़ेगा।

ऐसा नहीं था कि ये सब बंधन, रुकावटें केवल परिवार की ओर से ही थीं। वास्तव में, रुकावटों के बीच रहते-रहते मेरा अपना मन, अस्तित्व भी बंदी हो गया था। रुकावटों से जूझने के लिए मस्तिष्क अनेक बार हिम्मत करता, चिल्लाता किंतु, न जाने कहां से भय और शंकाओं के बादल घिर आते और विद्रोह की भावना तिरोहित हो जाती।

ऐसे क्षणों में मन को शांति मिलती कानपुर के तपेश्वरी देवी के मंदिर में, जो मेरे घर के पास ही था। शाम होती और मैं छोटे भाई की उंगली पकड़कर तपेश्वरीजी के मंदिर की ओर चल पड़ती। फिर तो यह रोज का क्रम हो गया और जब तक कानपुर में रही, यह क्रम बिना नागा चलता रहा। अपनी सब समस्याओं, सुख-दुख का बोझ मैं अकेली क्यों उठाऊं? छोटे बर्तन में नदी नहीं उड़ेली जा सकती। इसी प्रकार समुद्र से कुछ बूंदें लेने का कोई अर्थ नहीं है। देवी मां पर विश्वास किया है, तो पूरी तरह से उनको ही समर्पित हो जाना चाहिए। सोचकर मन की आस्थाएं उन पर ही केंद्रित कर दीं। मां तपेश्वरी देवी जगदंबा का ही रूप हैं। उनका मन तो ममता का अगाध सागर है, उसमें से मैं बूंद की अपेक्षा क्यों करूं? महासागर के अनंत जल-प्रवाह में रोशनी देनेवाली तो मां भगवती ही हैं। जब विश्वास का यह अंकुर फूटा और उसने मेरी चेतना को झकझोरा, तब चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैल गया।

सरोज से उसके पिता के बारे में अक्सर बातें होती थीं। उसकी बातचीत में आजादी के संग्राम की ही अधिकांश बातें रहतीं—कैसे प्रभात-फेरियां निकलती हैं, कैसे लोग गांधीजी के पीछे-पीछे चलकर आजादी पाने का स्वप्न देखने लगे हैं। ऐसा नहीं था कि केवल सरोज के माध्यम से ही ये बातें पता लगीं। घर में अखबार आता था। उसके द्वारा भी देश के हालचाल पता चलते रहते। बाहर के दातावरण में आजादी की लड़ाई का जो गर्म माहौल था, उसकी गर्म खबरें हम तक पहुंचती रहती थीं। घर और स्कूल की चाहरदीवारी के अंदर हम उस पर 'कमेंट' भी दिया करते थे, किन्तु जितना देते उससे ज्यादा लोगों से सुना करते थे। पर अखबार पढ़कर ऐसा नहीं लगता था कि उन घटनाओं से हमारा कोई सरोकार है और हमें भी उनमें भाग लेना चाहिए।

मैं जिस परिवार और परिवेश में पली-बढ़ी थी, वहां लड़कियों को तब इतनी आजादी नहीं थी। सरोज की बातों से कुछ अधिक जानने की ललक लगी। अभी तक केवल परीकथाओं में और उसके बाद 'चंद्रकांता संतति' और 'भूतनाथ' जैसी किताबों में ही दिलचस्पी थी या फिर प्रेमचंद का 'गोदान' या शरत-साहित्य पढ़ती रहती थी। 'चंद्रकांता संतति' और 'भूतनाथ' का पढ़ना उन दिनों बहुत बुरा समझा जाता था। अक्सर हम किताब के बीच में 'चंद्रकांता' उपन्यास रख लेते, कोई पूछता तो कह देते कि कोर्स की किताब

है। ये किताबें, उनमें छिपी ऐयारी की कहानियां—तिलस्मों की घटनाएं, इतनी रोमांचक और रुचिकार होती थीं कि एक बार में ही पूरा उपन्यास खत्म करने का मन करता था। रात देर तक बत्ती जलती देखकर डांट भी पड़ती थी किंतु 'चंद्रकांता' और 'भूतनाथ' मुझसे छोड़ा नहीं जाता था।

अब जब सरोज का संपर्क हुआ तो रुचि दूसरी ओर मुड़ी। उन्हीं दिनों सुना, 'चांद' का 'फांसी अंक' निकला है। वह कहीं बाजार में नहीं मिलता था। उसके पढ़ने पर अंकुश लगा हुआ था। जिस काम को करने पर अंकुश हो, उस ओर मन अधिक भागता है, यह स्वाभाविक बात है। सरोज ने कहीं से 'फांसी अंक' ला दिया। उसकी घटनाएं पढ़कर महसूस हुआ कि हमने तो जीवन व्यर्थ ही गंवाया। छोटे-छोटे बच्चों की देश पर मर मिटने की चाह आदि पढ़कर और भी बहुत कुछ आजादी की लड़ाई के बारे में जानने की इच्छा जागृत हुई।

इतिहास की किताबों में पढ़ा, 1857 के प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम में कानपुर देश का सबसे अगुआ शहर था। वहां से कुछ दूरी पर एक ओर बिठूर था तो दूसरी ओर लक्ष्मीबाई की रियासत झांसी, जहां से विद्रोह के शोले भड़के थे।

1857 में जब मंगल पांडे कांड से प्रेरित हो मेरठ की सैनिक छावनी ने फिरंगी अफसरों के विरुद्ध चर्बीवाले कारतूतों के मसले को लेकर हथियार उठाए, तब कानपुर छावनी में भी विद्रोह हो गया। सैनिक, जवान, हर तबके के लोग, लाठी-भाले, बंदूकें लेकर निकल पड़े। कानपुर की छावनी, जिसे बड़े फख्र से अंग्रेज अवध में अपना सबसे बड़ा गढ़ मानते थे, नष्ट हो गई। अंग्रेजों का ऐसा सफाया किया गया कि वे या तो तहखानों में जा छिपे या फिर मार दिए गए।

ऐसी ही कहानियां भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, गणेशशंकर विद्यार्थी आदि की पढ़ीं। हमारा खून उबाल खाने लगता। तब महसूस होता कि ईश्वर ने मुझे लड़की क्यों बनाया, लड़का क्यों नहीं बनाया? अगर बनाया होता तो हम भी जंग-ए-आजादी में कूद पड़े होते। लड़की होने की विवशता के क्षणों में मैंने एक खास बात अपने अंदर महसूस की कि अन्याय, अत्याचार, अनाचार, शोषण और दासता न तो मैं सहूंगी और न उनके सामने कभी समर्पण करूंगी।

गांधीजी, सुभाषचंद्र बोस, जवाहरलाल नेहरू आदि के बारे में, जहां जो कुछ मिला, लेकर पढ़ने लगी। 'भारत में अंग्रेजी राज' पुस्तक भी पढ़ी। यह पुस्तक भी जब्तशुदा थी। सुभद्राकुमारी चौहान की कविता 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसीवाली रानी थी' पढ़कर तो लक्ष्मीबाई मेरी आदर्श बन गईं।

गांधी और सुभाष में, अहिंसा और क्रांति—सशस्त्र क्रांति—में गांधी की बात मेरा युवा-मन स्वीकार करने को तैयार नहीं था। भला, कोई इतने वर्षों से छिनी हुई आजादी ऐसे ही लौटा देगा! एक ओर गांधीजी का असहयोग आंदोलन, दूसरी ओर सुभाषचंद्र बोस का नारा—'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा।'

दिमाग बहुत-कुछ सोचने लगा। बिना युद्ध किए आजादी नहीं मिलेगी, यह विश्वास एक स्फूर्ति भरता गया।

सारे देश में असहयोग आंदोलन की सरगर्मी थी। प्रभात-फेरियां निकल रही थीं। विदेशी वस्त्रों की होली जलाई जा रही थी, पर कानपुर बहुत शांत था। यह शांति या तो श्मशान की शांति थी या फिर ज्वालामुखी के फूटने से पहले की शांति थी। अग्नि अंदर ही अंदर धधक रही थी। गांधीजी ने अनशन किया। स्कूल, कालेज, सरकारी संस्थाओं के बायकाट का नारा बुलंद किया। आज भी याद है मुझे वह दिन। सवेरे-सवेरे जब मैं स्कूल पहुंची, तब वहां बड़ी हलचल थी। पता लगा, इलाहाबाद से लड़कियों का एक जत्था आया था। सब यूनिवर्सिटी की छात्राएं थीं। आजादी की लड़ाई में भाग लेने के लिए, छात्रों को ललकारने के लिए, चिनगारी डालने के लिए वे लड़कियां आई थीं। उन्होंने जोशीली आवाज में कहा, 'महात्मा गांधी के नेतृत्व में सब जगह घोर आंदोलन हो रहे हैं और यहां कानपुर में—यहां के युवावर्ग ने चुप्पी साध रखी है। युवकों ने तो चूड़ियां पहन रखी हैं। अब लड़कियों से ही आशा है।' उनके जोरदार भाषण सुनकर एक लहर-सी दौड़ गई। खून में उबाल आया। तय हुआ कि दूसरे दिन सवेरे ही स्कूल के अंदर सब इकट्ठी हो जाएंगी।

ऐसा ही हुआ। दूसरे दिन नीचे के लॉन के सामने लड़कियों की भीड़ जमा थी। खूब नारे लग रहे थे। 'भारत मां जिंदाबाद', 'महात्मा गांधी जिंदाबाद' आदि। बीच-बीच में 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है' जैसे गाने भी गाए जा रहे थे। प्रिंसिपल ने यह सब देखा तो स्कूल का गेट बंद करा दिया। किंतु, जैसे दूध के उबलते उफान को कोई रोक नहीं सकता, वैसे ही लड़कियों के जोश को कोई अंकुश नहीं लगा सका। गेट काफी ऊंचा था। एक के बाद दूसरी गेट पर चढ़कर, छलांग लगा दूसरी ओर कूद पड़ीं। पचास-साठ लड़कियों का जत्था जो बाहर आने में सफल हो सका था—'भारत मां की जय', 'अंग्रेजी हुकूमत मुर्दाबाद' के नारे लगाता हुआ नहरिया की ओर बढ़ चला। मैं भी इस जत्थे में थी। तभी पुलिस ने जत्थे को घेर लिया। कुछ कमजोर लड़कियां घेरे के बाहर ही रह गई थीं, उन्हें भी पुलिस ने धक्के देकर घेरे के अंदर कर दिया। उस समय तो इतनी उतावली हो रही थी कि घर के डर को, भाइयों के प्यार को, सबको भूल गई थी। चारों ओर तमाशबीनों की भीड़ लगी थी, और इलाहाबाद से आई लड़कियां सबको चूड़ियां देकर कह रही थीं, 'लो, तुम लोग तो यह चूड़ियां पहन लो।'

इतने में कैदियों को ले जानेवाली पुलिस की गाड़ी आ गई। गाड़ी में चारों तरफ जाली लगी हुई थी। हम सबको इसी गाड़ी में बैठने का हुक्म हुआ। गाड़ी चल पड़ी। गाड़ी के अंदर कैदियों की तरह दुंसे हम लोग नारे लगाते बढ़ते रहे। नारे बराबर लगते रहे। तभी इलाहाबादवाली लड़कियों ने कहा, 'जेल में तुम लोग अपना नाम नहीं बताना। न माता-पिता का नाम बताना। कहना—भारत माता हमारी मां है और महात्मा गांधी हमारे बापू हैं।'

माल रोड की लंबी सड़क पर हमारी जेलवाली गाड़ी दौड़ती रही। गाड़ी में नारे लग रहे थे। शायद, बाहर भी सुनाई पड़ रहे हों। जाली के अंदर से दिखाई पड़ रहा था कि गाड़ी अब सरसैया घाट की ओर मुड़ रही है। फूलबाग कब पार हो गया, पता नहीं चला। जेल की ऊंची-ऊंची दीवारें दिखाई देने लगीं और हम जेल की इमारत के अंदर पहुंच गए। जेलर ने सबको एक लाइन में खड़ा कर दिया। हम सबने वहां खड़े जेलर और पुलिसकर्मियों को चूड़ियां पहनने को दीं कि 'लो, यह चूड़ियां औरतों की माफिक पहनकर तुम लोग अंदर रहो, अब औरतें सड़कों पर आ गई हैं।'

जेल में हम लोगों को बैरकों में पहुंचा दिया गया। सीमेंट की बनी हुई लंबी बेंचें थीं। सिरहाना ऊंचा, जैसे तकिया लगा हो। एक-एक तसला और भुना चना तथा गुड़ खाने को दिया गया। गुड़ भी बिलकुल काला-सा। बैरक में पहुंचने पर सब चार-चार, पांच-पांच के गुट बनाकर बतियाने लगीं। मैं उस छोटी-सी कोठरी से बाहर आ गई। सामने नीम का एक झाड़ नजर आया, मैं उसी के नीचे जा खड़ी हुई। सहसा मुझे घर की याद हो आई। आंखों में आंसू भी आ गए। पता नहीं, कितने दिन यहां रहना होगा? वहां घर पर छोटे-छोटे भाइयों को खाना कौन देगा—कौन उनके कपड़े बदलेगा और कौन उन्हें लोरी सुनाएगा? मन उमड़ने-धुमड़ने लगा, पर आंसू मैंने अंदर ही अंदर पी लिये—अरे, देश पर मर मिटनेवालों को यह आंसू क्या शोभा देते हैं? और मैं वापस कोठरी में आकर उस सीमेंट की बेंच पर लेट गई।

दिन छिपने लगा था। डूबते सूरत की परछाई आंगन में उतरने लगी थी। एक लंबे सन्नाटे के बाद वहीं मेज-कुर्सी लगी और हमारा मुकदमा शुरू हुआ। एक-एक करके सबसे पूछा गया :

‘तुम्हारा नाम?’

‘तुम्हारे पिता का नाम?’

‘तुम्हारा पता?’

एक के बाद एक लड़कियां आती गईं। किसी ने अपना नाम ‘भारत माता’ बताया तो किसी ने ‘कमला नेहरू’ और पिता का नाम ‘महात्मा गांधी’ या ‘जवाहरलाल नेहरू।’ पता—‘भारतवर्ष।’ जेलर झुंझला उठा। उसने काफी डांटा-डपटा पर कोई भी ठस से मस न हुई।

जज साहब ने कहा, ‘तुम लोग माफी मांग लो। तुम्हें छोड़ दिया जाएगा।’

एक साथ सभी स्वर गूंजे, ‘माफी तो कभी नहीं। जमानत हम देने नहीं देंगे।’

पर फिर पता नहीं क्या हुआ, किसी ने हमारी जमानत करवा दी। हमें बार-बार आश्वासन दिया गया कि तुम्हारी जमानत नहीं हुई है। हम तुम्हें ऐसे ही छोड़ रहे हैं। बाद में मालूम पड़ा कि किसी समाजसेवी संगठन ने हमारी जमानत करवा दी थी, पर मना कर दिया था कि हमें बताया नहीं जाए। दोबारा हमें जेल की गाड़ी में भरा गया और फूलबाग के चौराहे पर लाकर छोड़ दिया गया।

हमारा घर फूलबाग से थोड़ी ही दूर था। पैदल चलकर घर आई। बड़ी डांट पड़ी। बड़े भाईजी ने कहा, 'मुझे दोपहर में ही जब पता चला कि लड़कियों की गिरफ्तारी हुई है, समझ गया—'मुन्नी' जरूर गई होगी इस जुलूस में। घर आया तो आशंका सही निकली।' ताईजी तो थीं ही बड़े गर्म स्वभाववाली। कहने लगीं, 'घर की, कुनवे की नाक कटाकर रख दी, जो काम लड़कों ने नहीं किया, वह इस बित्ते-भर की छोकरी ने कर दिया।'

मैं तो चुपचाप ऊपर सरक गई। वह पीछे क्या-क्या कहती रहीं, पता नहीं। दूसरे दिन स्कूल जाने के लिए तैयार हुई तो फिर डांट—'स्कूल-विस्कूल सब बंद। अभी से यह हाल है तो बड़ी होकर क्या करोगी?' किसी तरह अनुनय-विनय करके स्कूल जाने की आज्ञा मिली। वहां पहुंचे तो मालूम पड़ा, प्रिंसिपल मिसेज घोष का फरमान था कि सभी लड़कियां लिखित माफी मांगें, तभी कक्षा में जा सकती हैं। क्लास में दूसरा ही माहौल था। बड़ी-बड़ी डींगें मारी जा रही थीं। लड़कियां बता रही थीं कि कैसे वे जब घर पहुंचीं तो फूलों से, हारों से, आरती उत्तारकर उनका स्वागत किया गया, आदि-आदि। खैर, हम लोगों ने लिखित या मौखिक माफी नहीं मांगी और एक-दो दिन में बात रफा-दफा हो गई।

एक दिन सरोज मेरे घर ही आ गई थी। मैं और सरोज सारे दिन इकट्ठा रहे। उसे लेने तांगा आया था। लौटा दिया। बातों में समय कब निकल गया, पता ही नहीं लगा। अंधेरा घिरते देखा तो बोली, 'अब तो बड़ी डांट पड़ेगी। फूफा बड़े पुराने ख्यालों के हैं। अजिया की जान सांसत में होगी।' कहकर वह मुझे भी अपने साथ घसीट ले चली कि शायद, मुझे देखकर उनका गुस्सा शांत हो जाए।

कोपरगंज, बांस मंडी में ऊपर छोटा-सा दो कमरों का घर था। जीना बढ़ते ही सुना—फूफा अजिया पर बरस रहे थे—'बाप जेल में है। मां पंचगनी में बीमार। जवान होती लड़की को खूब छूट दे रखी है। किसी दिन, किसी का हाथ पकड़कर भाग जाएगी, तब पता चलेगा। फिर हमें दोष मत देना।'

'अरे, अपनी सहेली के घर ही तो गई है। झूठ कहां बोली।'

इतने में हम पहुंचे। देखा, फूफा एक हाथ में धोती का छोर पकड़े चहल-कदमी करते हुए बमक रहे हैं। हमें देखकर कुछ शांत हुए। अनुनय-भरे स्वर में मैंने फूफा से कहा, 'फूफाजी, हमारी कोई बहन नहीं है। इसको घर ले गए थे। वापस आकर तुम्हारे हवाले कर दिया। अब नाराज मत होओ।'

अजिया पास सरक आई, बोलीं, 'बिटिया, आंखिन से कम दिखाई पड़त है। आवा, बैठा।' मैं बोली, 'नहीं, देर हो रही है। सवेरे जल्दी उठना है, ताईजी के साथ गंगा-स्नान जाते हैं कार्तिक नहाने के लिए।' अजिया के पोपले मुख पर मुस्कान फैल गई, बोलीं, 'अच्छा, ताई के साथ नहाती हो, और क्या-क्या करती हो?' बोली, 'व्रत, उपास, रामायण, हनुमान चालीसा सभी कुछ।' अब अजिया ने जैसे बड़ी बाजी मार ली हो। फूफा की ओर इशारा करके बोलीं, 'देखो बाजपईजी, ऐसन संस्कारवाली लड़की का कबहु गलत रस्ते पर चलिहे?'

बाजपईजी चुप। सीधे जीना उतर गए।

अजिया भला बिना खाए-पिए कैसे जाने देतीं। उनके प्रेम और पारिवारिक वातावरण में, मैं तो भीग-भीग गई। बुजुर्ग की आशीष-छाया ही तो चाहिए, जो अंतर के खालीपन को, प्रेम-ममत्व की प्यास को बुझाए। बातों-बातों में अजिया ने मेरे बारे में सब कुछ पूछ लिया :

‘और तुम्हारे महतारी?’

‘अजिया, अब कहाँ हैं? हम लोग उन्हें वीवीजी कहते थे। जब से होश संभाला, बीमार ही देखा। बहुत सुंदर थीं। पतली, तोते-सी नाक, गोरा रंग। कोई कह ही नहीं सकता था कि छह बच्चों की माँ हैं।’

‘का बीमारी रह?’ अजिया ने पूछा।

‘टी. बी. हो गई थी उन्हें। पता नहीं, क्या घुन था, जो उन्हें अंदर ही अंदर खाए जा रहा था? सूखकर कांटा हो गई थीं। बिंदकी ले गए थे। कहाँ-कहाँ नहीं ले गए। हमीं साथ गए थे। और कौन जाता? जब कुछ ठीक हुई, वापस घर आ गई। कुछ दिन संभली तबियत, फिर खराब हो गई। इतने दस्त, सुबह से शाम तक, अनगिनत। हमीं उठाते, धोते, सफाई करते। सभी सलाह देते, कहते, पाट मत छुओ। छूत की बीमारी है। कहते, उठाना ही है तो सेंट लगाकर उठाओ।’

कुछ पलों के लिए मैं अतीत में लौट गई। बीमारी छूत की हो सकती थी, माँ तो छूत की नहीं थी? कैसे हम भूल जाते कि उसने हमें जन्म दिया है, सृजन की पीड़ा सही है। खूब सेवा की माँ की, पर नहीं बचा पाए। पहली बार मृत्यु को इतने करीब से देखा। मृत्यु जो हर दरवाजा खटखटाती है, कभी न कभी, मनुष्य की असीमित क्षमताओं और संभावनाओं को चुनौती देती हुई, जो एक शाश्वत सत्य है, पर जिसे मनुष्य जिंदगी-भर झुठलाने के लिए विवश जाल बुनता रहता है।

8 अगस्त, '47 का दिन था। एक सप्ताह बाद ही भारत को गुलामी की जंजीरों से छुटकारा मिलनेवाला था। मुझे आज भी वह पंद्रह अगस्त याद है। सारे शहर में शोर-गुल, रोशनी, भीड़-भाड़ और उत्साह का वातावरण था। पर हमारे घर में अंधेरे ने डेरा जमाया था। माँ को गंगा की गोद में सोए आठ दिन हो गए थे। किसी ने कहा, ‘यह दिन तो बार-बार नहीं आएगा। बच्चों का मूड भी बदलेगा। इन्हें शहर में घुमा लाओ। चहल-पहल देखेंगे तो मन बहल जाएगा।’ और यह सुनकर मेरा मन खिन्न हो गया था। जिसने कहा था, उसने तो सही ही कहा था। कब तक हम समय को पकड़कर बैठे रहेंगे। फिर भी इतनी जल्दी क्यों? वातावरण बोझिल हो गया था।

अजिया ने फिर पूछा, ‘घर माँ और कौनऊ नाही है, जो तुमका प्यार देवें?’

मैं वर्तमान में लौटी, बोली, ‘अजिया, दो बड़े भाई हैं, जो अपने में व्यस्त रहते हैं। सबसे बड़े भाई के ऊपर तो सारी गृहस्थी का बोझ आ गया है। चार छोटे भाई हैं, जिनकी जिम्मेदारी हमारे ऊपर है। अबहीं तो भाई का ब्याह भी नहीं हुआ है।’

अजिया को बताया, सबसे छोटा भाई दो साल का था। उसको सूखा हो गया था। हाथ-पैर सीक-से। बहुत इलाज हुआ, पर ठीक नहीं हो रहा था। सारे दिन चिड़चिड़ाता रहता। हम गोदी में लिये-लिये घूमते, चुप करते, पर उसका रोना बंद ही न होता। किसी ने कहा, सिर पर दगाने से ठीक होगा। जब दगाने के लिए ले गए तो दर्द से बिलबिला उठा। हमसे तो देखा नहीं गया। बस, हम भी उसके साथ रोते रहे। फिर एक बार उसको बुखार आया। पता नहीं कैसा बुखार था। डॉक्टरों ने कहा, र्यूमैटिक फीवर है। सारा दिन कमरे में हीटर जलता था। दर्द उठता तो ऐसे तड़पता था कि देखा न जाता। उससे बड़ा चार-पांच साल का था, उसे भी सारे दिन गोद में लिये घूमते।

अजिया का ममत्व उमड़ पड़ा। कलेजे से लिपटा लिया, बोलीं, 'इत्ती नान्ही उमर मां इत्ता सब कुछ। बिटिया, जब तोहार मन होय, हमरे पास आ जाया करो। बिट्टी तुम्हार सखी नाहीं, पिछले जन्म की बहिन आ आय और हम तोहार अजिया।'।

कार्तिक शुरू हुए कुछ ही दिन बीते थे कि सरोज ने बताया, उसे जबलपुर जाना है—'तार आया है। हमें और अजिया को बुलाया है। पता नहीं क्या बात है? पढ़ाई बीच में ही रह गई।' मैंने कहा, 'कोई बात नहीं। तुम जाओ। हम पीछे से तुम्हारी कापी में नोट्स लिखते रहेंगे।'।

सरोज को गए काफी दिन हो गए। कोई खबर नहीं। अचानक एक दिन चिट्ठी आई। लिखा था, 'अम्मा हमें छोड़कर चली गई। आज दीवाली है। सबके घर तो दिये जल रहे हैं। हमारी दुनिया अंधेरी हो गई। किसी बात में मन नहीं लगता है। किसके लिए पढ़ें? अच्छा पढ़ते थे, तो अम्मा कितनी खुश होती थीं। लगता है, अब हम आगे नहीं पढ़ पाएंगे। बापू पैरोल पर छूटे थे, फिर जेल चले गए हैं। अब हम कानपुर वापस नहीं आएंगे।' आहत किशोर भावुक मन ने बहुत कुछ लिखा था। क्या सांत्वना देती मैं उसे? फिर भी सरोज को चिट्ठी लिखी, बहुत ढाढ़स बंधाया। अवसाद के घेरे से निकालने की कोशिश की। लिखा—'तुम कैसे समझती हो कि तुम्हारी दुनिया अंधेरी हो गई। हमारी तरफ देखो, अजिया, बापू की तरफ देखो, उन्हें तुम्हारी जरूरत है। तुम्हें तो कानपुर आना ही है। पढ़ाई करनी है। निराश होने से काम नहीं चलेगा। एक दीवाली अंधेरी हो गई तो अगली दीवाली उजाला लाएगी। जीवन जीने के लिए है। रोओगी तो कोई पास नहीं आएगा। जिओगी तो आसमान छोटा पड़ जाएगा। इसलिए लौट आओ, समय सब घाव भर देता है।'।

और एक दिन सरोज वापस आ गई। फिर से जिंदगी अपने ढर्रे पर चलने लगी। अजिया से मिलने गए। कहने लगीं, 'बिटिया तो जहाज का पंछी होत हैं। समय पाकर अपने घर उड़ जइहैं, कुल कइसे बाढ़े? कौनऊ बेटवा होत तो? गनीमत होत। बिट्टी के बापू अकेले पड़ गए। हम कब तक जिअब? कोउन सरोज का ब्याह करी!'

अजिया की व्यथा मन को बोझिल कर गई।

फिर परीक्षा के दिन आ गए। सभी पढ़ाई में जुट गए। जीवन के एक अध्याय के खत्म होने के दिन आए। स्कूल में फेअरवेल पार्टी थी। पिकनिक का प्रोग्राम था। गंगा तट पर सरसैया घाट से नाव किराए पर ली गई। नाश्ते का सामान रखा गया। सभी लड़कियां चिड़ियों-जैसी चहचहा रही थीं। नाव लहरों पर खेलती हुई आगे बढ़ रही थी और भविष्य के प्रगाढ़ अंतस्थल में यथार्थ के कठोर सत्य से अनभिज्ञ 'टेंथ क्लास' की किशोर भावुक छात्राएं गा रही थीं—'आई बहार आई, आज बहार आई'..., 'चले पवन की चाल...' आदि। उन दिनों पंकज मलिक के गानों की खूब धूम थी।

सब कुछ भुला देनेवाला दिन आखिर आ ही गया। अस्त होते सूरज के साथ जीवन के एक अध्याय का पटाक्षेप हुआ। विदाई की बेला थी। आंसू-भरी आंखों से गंगा-जमुना बह रही थी। सब एक-दूसरे से गले मिलीं। मिलकर, लिपटकर रो रही थीं। वायदे किए जा रहे थे। कच्ची उमर के सपनीले कच्चे वायदे, जब यह भी पता नहीं था कि कौन कहां जाएगा? दिन-रात पंख लगाकर उड़ गए। मार्च की बोर्ड परीक्षा के बाद तो सभी चिड़ियां आंगन से फुर्र हो गईं। सरोज से बिछुड़ने का अहसास बड़ा तीव्र था। जैसे कुछ खो गया हो। फिर कुछ समय तक चिट्ठियों का आदान-प्रदान होता रहा।

सरोज ने लिखा, 'हम अपनी अम्मा पसंद करने जा रहे हैं। बापू ने हमसे कह दिया है, तुम हमारे लिए पत्नी नहीं, अपने लिए अम्मा पसंद करके आना।' सरोज के पिताजी ने दूसरी शादी कर ली क्योंकि, वंश का दीपक तो चाहिए ही था। कुछ दिन बाद सरोज की भी शादी हो गई। वह अपने नए परिवेश में चली गई। सुदूर दक्षिण में नासिक शहर के एक समृद्ध घराने में बीड़ी के व्यापारियों के यहां उसका रिश्ता हुआ।

तभी बड़े भाई की शादी हुई। भाभी सुंदर, सुशील थीं लेकिन ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थीं। भावनात्मक लगाव नहीं हो सका। तब तक यह भी पता नहीं था कि पति-पत्नी के संबंध कैसे होते हैं? अभी तक तो घर में न मां, न ही कोई बड़ी बहन, न भाभी आदि थीं। सभी भाई ही थे। उन दिनों सिनेमा वगैरह देखने का भी रिवाज नहीं था। केवल दो-चार पक्कर ही देखी थीं। वह भी 'रामराज्य,' 'सती अनुसूइया' जैसी। इसलिए सांसारिक संबंधों के बारे में जानकारी बहुत ही कम थी। भाभी के आने से काम में आराम मिला। लेकिन, भाई ने आगे पढ़ाने से मना कर दिया। कहने लगे, 'अब तो शादी हो जानी चाहिए। अपने घर जाए, वहां जब तक मन हो पढ़ें।' आफिस के किसी आदमी ने एक लड़के का पता भी दिया था। बाप हेडमास्टर था।

मैं तो सुनकर ही सकते में आ गई। छत पर जाकर खूब रोई। सोचती रही, बड़े भाई अपनी जिम्मेदारी खत्म करना चाहते हैं। मैंने एक प्लान बनाया कि वे लोग देखने आएंगे तो नीचे ही नहीं आऊंगी। ऊपर छत पर ही बैठी रहूंगी और देखती रहूंगी। जैसे ही वह लोग घर के नीचे पहुंचेंगे, ऊपर से कूड़े की बाल्टी उलट दूंगी। अप-शुगुन हो जाएगा।

बिना देखे ही चले जाएंगे।

खैर, शाम को पिता-पुत्र आए। बड़ी देर तक, जब मैं नीचे नहीं आई तो वे लोग ऊपर छत पर ही आ गए। हमारा घर टिफिन के डिब्बे की तरह था। एक फ्लोर पर एक कमरा। जब वे लोग छत पर आए, मैं चारपाई के हथ्ये को पकड़कर रो रही थी। लड़के के पिता ने देखा, मैं इतना रो रही हूँ तो पूछा, 'बेटा, तुम क्यों रो रही हो? क्या पढ़ना चाहती हो?' मैं रुंधे कंठ से बोली, 'कुछ भी हो, अभी शादी नहीं करनी है। अभी और पढ़ूँगी।' कहकर फिर आंसू बह चले। उन्होंने यह हाल देखा तो भाईजी से बोले, 'लड़की का जब पढ़ने का इतना मन है, तब जरूर पढ़ाइए।'

बड़े सज्जन व्यक्ति थे। उनकी सज्जनता देखकर उनके ऊपर कूड़े की बाल्टी फेंकने के प्लान पर लज्जा आने लगी। कैसे इतना ओछा विचार मेरे मन में आया!

चलो, यह मामला तो टला। अब प्रश्न था भाईजी को कैसे मनाया जाए कि वे इंटर में एडमिशन लेने दें। डरते-डरते भाईजी से पूछा। उन्होंने साफ मना कर दिया, कहा कि 'पढ़ाई का खर्च कहां से आएगा?'

छोटे भाइयों का पढ़ने में मन नहीं लगता था किंतु वे लड़के थे। उन्हें तो पढ़ाना ही था। एक टीचर रखे गए भाइयों को पढ़ाने के लिए। गुरुजी बड़े अच्छे थे। सफेद बालों से ढका सिर, गौर वर्ण, मधुर-भाषी किंतु, पढ़ाई और अनुशासन के मामले में बहुत सख्त। वे छोटे भाइयों को पढ़ाने के लिए आते तो मैं भी चुपचाप जाकर उनके पास बैठ जाती। ध्यानपूर्वक उनकी बातें, पढ़ाई, 'लेसन' सुनती और गुनती रहती। कभी-कभी कोई बात समझ में नहीं आती तो अपनी समस्या भी रख देती। गुरुजी बड़े प्रेम से समझाते। आजकल के टीचर्स की तरह नजर घड़ी पर ही नहीं टिकाए रखते थे।

बचपन से ही पढ़ने के लिए मेरे मन में बड़ी ललक थी। एक दिन मेरी परेशानी देखकर गुरुजी ने पूछ ही लिया, 'क्या बात है?' मैंने उन्हें बता दिया, 'मैं डॉक्टर बनना चाहती हूँ, किंतु, कानपुर में कोई मेडिकल कालेज नहीं है। मेडिकल में जाने के लिए लखनऊ जाना पड़ेगा। होस्टल में रहना पड़ेगा। भाईजी तो बाहर भेजने के लिए कतई राजी नहीं होंगे।'

दूसरी समस्या आर्थिक थी। गुरुजी को बताया, 'भाईजी तो एडमिशन के लिए रुपये देंगे नहीं, स्थानीय कालेज के लिए भी नहीं।' विवाह के प्रकरण को लेकर वह बहुत नाराज थे। अभी तक तो गयाप्रसाद खत्री ट्रस्ट से स्कॉलरशिप मिलती थी, उससे काम चल गया किंतु, आगे नहीं चलने का। 'हां, यदि कोई ट्यूशन मिल जाए तो यह समस्या हल हो सकती है।'

गुरुजी पढ़ने के लिए मेरी रुचि देख ही चुके थे, बोले, 'कोई बात नहीं। मेरे एक परिचित मारवाड़ी परिवार के हैं। बड़ी ही धार्मिक वृत्ति का परिवार है। उनको अपनी बेटी के लिए कोई लेडी टीचर चाहिए। मैं तुम्हें वहां रखवा दूंगा।'

मेरी तो समस्या ही हल हो गई, पर भाईजी को कौन समझाए ?

उन दिनों तो हम सब लोगों को भाईजी पर बहुत गुस्सा आता था। एक-एक पैसे के लिए झिंकते रहते थे—भाभी को भी घर चलाने के लिए बहुत हुज्जत करनी पड़ती थी। हम लोग सोचते थे मकान का किराया आता है, उनकी अपनी तनखाह है, हमारी पढ़ाई पर कोई खर्चा उन्होंने आज तक किया नहीं। फिर वे ऐसा क्यों करते हैं? मां ने अपनी मृत्यु से कुछ पहले ही अपना सारा जेवर बेचकर और जो कुछ भी जमा-पूजी थी, उसे लेकर एक मकान खरीद लिया था, कैंटोनमेंट में। हम लोग बिरहाना रोड पर किराए के मकान में ही रहते रहे। वह मकान दो सौ रुपये किराये पर चढ़ा दिया गया था। भाईजी बैंक में काम करते थे। शाम को भी शायद, कहीं कोई काम ले रखा था। उन दिनों सस्ते का जमाना था। इतना सब होने पर भी खिच-खिच बनी ही रहती थी। हम सबको लगता था कि जब मकान का किराया वही रखते हैं, तब खर्चा तो चलाना ही चाहिए, और फिर वे बड़े भाई हैं। घर के कर्ता-धर्ता हैं।

संबंधों की अपेक्षाओं ने हमारी भूख बढ़ा दी थी। हम भूल गए थे कि हर सामर्थ्य की एक सीमा होती है। आज जिंदगी के उतार-चढ़ाव देखने के बाद और अनुभवों के आधार पर सोचती हूं कि भाईजी ने कितना बड़ा लवाद आढ़ रखा था, जिसमें हम सब को समेट लिया था। उनकी आयु भी कितनी थी? जब मौज-मजे के उनके दिन थे, जिंदगी का मजा वे ले सकते कि अचानक हवा का एक झोंका आया और वही हवा जो सारी धूल को क्षण में उड़ा ले जा सकती थी, उनके जीवन को जिम्मेदारियों के बोझ तले दबा गई। वे चाहते तो पल्ला झाड़कर अलग खड़े हो सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया, बल्कि अपने जीवन की खुशियों को दांव पर लगा दिया।

खैर, गुरुजी ने भाईजी से बात की। उन्हें समझाया कि जहां वे मेरी ट्यूशन लगवा रहे हैं, वह परिवार बहुत ही अच्छा है, चौधरी हाउस—वहां भेजने में जरा भी आशंका नहीं करनी चाहिए। एक घंटा पढ़ाने के लिए वे लोग तीस रुपये देंगे। शाम को चार से पांच पढ़ाना होगा। घर भी पास ही था। तपेश्वरीजी के मंदिर के पास। इतने सब मंत्र फूंकने के बाद और गुरुजी के जिम्मेदारी लेने पर वे मान गए और मेरा ट्यूशन पर जाने का सिलसिला शुरू हुआ। शाम को कोई न कोई छोटा भाई मुझे चौधरी हाउस छोड़ आता।

चौधरी हाउस में दो बेटे थे और दो बेटियां, सीता और गीता। बड़े बेटे के एक बेटा सुनीता और दो बेटे थे। छोटे बेटे के एक लड़का था। बड़ी भाभी बहुत ही अच्छी थीं। सास-ससुर थे। छोटा बेटा ताऊजी की गोद गया हुआ था। पूरा परिवार एक ही घर में रहता था। पर अलग-अलग हिस्सों में। ताई-ताया और गोद आए बेटे की बहू और बेटा। उनकी रसोई अलग थी। मुझे बड़ी बहन सीता को पढ़ाना था। बड़ी भोली-सी सुंदर लड़की थी। मैं ठीक समय पर पहुंचती, पढ़ाती और लौट आती। कभी-कभी भाई लोग मिल जाते। पूछते, 'बहनजी कैसी हैं? ठीक हैं न?' कभी भाभियां इधर-उधर की बात करने के लिए घड़ी-दो-घड़ी रोक लेतीं। घंटे की जगह सवा घंटा हो जाता। सीता को पढ़ाते-पढ़ाते गीता

की ट्यूशन भी शुरू हो गई। तीस रुपये से साठ रुपये हो गए। अब तो पढ़ाई का खर्च, किताबों का खर्च आसानी से निकल जाएगा। पहली बार ट्यूशन के साठ रुपये मिले तो लगा कि आकाश मुट्ठी में आ गया। जाकर तपेश्वरीजी के दर्शन किए। वहां जाकर मुझे सदैव लगता था कि मां की गोद में सिर रखकर आ रही हूं, और वे धीरे-धीरे मेरा सिर सहला रही हैं।

सीता-गीता को पढ़ाते-पढ़ाते दो साल निकल गए। फिर परिवार के एक और बेटे को पढ़ाने की जिम्मेदारी आ गई। उसका नाम था—मोहन। चौधरी परिवार में विद्या को, शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया जाता था। मोहन के पिताजी ने स्वयं एम.ए. तक शिक्षा प्राप्त की थी। बड़ा सुसंस्कृत परिवार था। मोहन की मां का नाम मैना था। मैं उन्हें मैना भाभी कहती थी। मैना की भांति ही चहकती रहती थीं। रंग तो उनका सांवला था किंतु, आंखें बड़ी-बड़ी सीपी-सी, पलक झपकाएं तो लगे बड़े-बड़े मोतियों की आभा उन कटोरे-जैसी आंखों में बंद हो गई हो। बड़ी हंसमुख। हाथ मटका-मटकाकर बातें करती थीं, बड़ी-बड़ी आंखें नचाते हुए। धीरे से मैना भाभी ने ही विनती की थी कि मैं उनके बेटे मोहन को विद्यारंभ कराऊं। सो, मोहन की भी पढ़ाई शुरू हो गई। तीन-तीन नन्हें-मुन्नों की, जिनकी उम्र चौदह-पंद्रह और पांच वर्ष थी, उनकी एक गुरु बन गई—बीस साल की युवती।

किंतु अनुशासन सख्त था। पढ़ाई के समय केवल पढ़ाई, बातों के समय बातें। मैं केवल पढ़ाई के लिए नहीं थी, बल्कि मुझे यह भी देखना पड़ता था कि कहीं कुछ गलत तो नहीं हो रहा है। बच्चों की समस्याओं को सुलझाने में भी मेरी मदद ली जाती थी। यहां तक कि सीता की सोलह साल की उम्र में जब शादी हुई, तब उसकी गुरु यानी मैं ही उसे समझाने-बुझाने के लिए सबसे उपयुक्त मार्गदर्शक समझी गई। सीता, गीता की शादी हो गई। मोहन भी बड़ा हो रहा था। पढ़ाई-लिखाई की आधारशिला अच्छी पड़ गई थी। आज वह डॉक्टर है।

मैना भाभी बड़ी ही मजेदार थीं। कहने लगीं, 'बहनजी, अब आप मुझे भी पढ़ाएं।' मिर्जापुर में उनका बचपन गुजरा था। पता नहीं, क्यों उनको देखते ही कजरी-बारहमासा गाती हुई, भीगी-भीगी फुहार में झूला झूलती नटखट बच्चियों की याद हो आती थी। बड़ी चटखारे लेकर वे अपने बचपन की बातें सुनाती थीं। कैसे एक बार जब वह चौदह साल की थीं, तब उनको देखने के लिए कानपुर से उनके ससुर-सास और दो-तीन और लोग आए। मैना भाभी पढ़ी-लिखी कम थीं किंतु, रामायण वगैरह पढ़ लेती थीं। उन दिनों मारवाड़ी परिवारों में लड़कियों को अधिक पढ़ाया-लिखाया नहीं जाता था। कौन उन्हें दफ्तर जाना है या नौकरी करनी है? घर-गृहस्थी ही तो देखनी है। रामायण, महाभारत पढ़ ली, चिट्ठी-पत्री बांच ली—बस, बहुत हो गया। मैना भाभी के नाक-नक्श तीखे थे। दिखने में सुंदर लगतीं, पर रंग संवलाया-सा, शरीर गदराया हुआ।

होनेवाले ससुरजी ने पूछा :

'बेटी, रामायण पढ़ लेती हो ?'

‘हां,’ मैना भाभी ने बड़ी शाइस्तगी से सिर हिला दिया।

ससुरजी ने न तो रामायण की चौपाइयां सुनाने को कहा और न कुछ पूछा, बस यही जिज्ञासा की, ‘बेटी, रामायण में तुम्हें सबसे अच्छा कांड कौन-सा लगता है?’

‘लंका कांड’—बेसाखा मैना भाभी के मुंह से निकला।

मां ने सिर पीट लिया। लड़की की बुद्धि को क्या कहतीं! बाद में बोलतीं, ‘तुझे इतना समझाया था, फिर भी अकल नहीं आई।’

सबने सोचा, अब तो इस जगह ब्याह नहीं हो सकता। इतना अच्छा घर-परिवार था, पढ़ा-लिखा लड़का, और यहां, लड़की न ज्यादा पढ़ी और सांवली भी, किंतु विधि का विधान। शादी वहीं हुई।

मेरी स्कूल की पढ़ाई खत्म हो गई थी। बालिका विद्यालय केवल इंटर तक था। बी.ए. में एडमिशन के लिए फिर भाईजी से आज्ञा लेनी थी। कानपुर में दो ही कॉलेज थे। दोनों में ही को-एजुकेशन थी। डी.ए.वी. कॉलेज और क्राइस्ट चर्च कॉलेज। क्राइस्ट चर्च कॉलेज में लड़के-लड़कियों की संख्या कम थी। भाईजी किसी तरह भी को-एजुकेशन में भेजने को तैयार नहीं थे। बी.एन.एस.डी. कॉलेज के प्रिंसिपल हीरालाल खन्ना हमारे रिश्तेदार भी थे। उनसे सलाह ली गई। बहुत मुश्किलों से भाईजी को राजी करा पाई कि क्राइस्ट चर्च कॉलेज में एडमिशन ले सकती हूं।

एक संकुचित वातावरण से निकलकर आकाश को छूने का प्रयत्न एक लंबी-ऊंची छलांग ही तो है। क्राइस्ट चर्च कॉलेज कंपाउंड में जब पहले दिन घुसी तो देखा, लड़कों का हुजूम। एक साथ इतने लड़के एक जगह देखना, उस लड़की के लिए, जिसने भाइयों के सिवाय कभी किसी से बात न की हो, बहुत ही ‘नर्वस’ करनेवाली बात थी। मैं तो इतनी नर्वस हुई कि मेरी सैंडिल की एड़ी ही टूट गई। किसी तरह कॉमन रूम तक पहुंची। फाटक से कॉमन रूम की दूरी तक ऐसा लग रहा था जैसे, सैकड़ों आंखें मेरे ही ऊपर टंगी हैं। कहां यह आलम था कि कभी अकेले होटल या रेस्तरां भी नहीं गई और कहां बिच्छुओं की तरह डंक मारती इतनी नजरें!

बी.ए. में मेरे विषय थे—इंग्लिश, हिंदी, इतिहास और अर्थशास्त्र। उन दिनों शायद ऑनर्स नहीं होता था—होता भी हो, तो मुझे उसके बारे में मालूम नहीं। यह पता था कि आर्ट, साइंस या कॉमर्स लेकर बी.ए. करते हैं। भविष्य की कोई रूपरेखा सामने थी नहीं कि क्या करना है और न कोई सलाह देनेवाला ही था। बस, डिग्री के सहारे संसार-सागर में छलांग लगाना चाहती थी। पूरे कॉलेज में हम पांच-छह लड़कियां ही थीं। एम.ए. में तो केवल एक ही लड़की—वायला थी। मेरे साथ एक मुस्लिम लड़की कमर वहीद थी। कॉलेज के गेट तक काले बुर्के में आती, गेट तक आते-आते बुर्का उलट जाता और कॉमन रूम तक पहुंचते, बुर्का खूंटी पर टंग जाता। कॉमन रूम के दरवाजे पर चिक पड़ी होती थी, जिससे हम बाहर देख सकते थे। बाहर की नजर अंदर नहीं आ सकती थी। कॉलेज

गेट से सीधे हम कॉमन रूम में आते, जो एक छोटा-सा लंबातरा कमरा था। पीरियड शुरू होने का घंटा बजता तो, हम सब अपने-अपने पीरियड के अनुसार क्लास में घुस जाते और खत्म होने पर सीधे कॉमन रूम में। क्लास में हमारी सीट और जगहों की तरह साइड में नहीं होती थी। सामने ही होती थी। इसलिए पीछे क्या हो रहा है, कुछ पता नहीं चलता था। वैसे भी, कॉलेज के प्रिंसिपल स्लेटर साहब बहुत सख्त आदमी थे। उनका डिस्प्लिन गजब का था। मजाल, कोई अश्लील मजाक या फूहड़पन कर जाए।

मेरी सबसे अच्छी सहेली रूबी थी। क्रिश्चियन थी। कॉलेज में पढ़कर भी कॉलेज की शैतानियां हम लोगों को छू-भर नहीं पाई थीं। मैं तो अपने बारे में जानती हूं। पूरा कॉलेज भी घूमकर नहीं देखा। बस, क्लास रूम और कॉमन रूम में सारी दुनिया सिमटी रही।

फिर भी, लड़के तो लड़के ही होते हैं। उस दिन क्लास में पहुंची तो बोर्ड पर लिखी थीं कविता की ऐसी लाइनें, जिन्हें पढ़ते ही पता लग जाय कि मेरे ही बारे में लिखी गई हैं। सब शरारत उस लड़के की थी, जिसे 'मामाजी' कहते थे। शायद, बिहार का रहने वाला था। खैर, हमने अनदेखा कर दिया। दूसरे दिन कॉलेज पहुंची तो जनाब कारीडोर में टकरा गए। थोड़ी देर में बाहर कुछ शोर मचा। चिक के अंदर से झांककर देखा तो वही शरारती लड़का रूमाल हिला-हिलाकर कह रहा था, 'मुझे तो यह खन्नाजी ने दिया है।' मैं तो घबरा गई। पर मेरे साथ पुष्पा मित्रा भी खड़ी थी। पुष्पा मेरे साथ बालिका विद्यालय में भी थी। एक वर्ष फेल हो गई। इसलिए उसका एडमिशन क्राइस्ट चर्च में बाद में हुआ।

पुष्पा ने चिक से बाहर निकलकर कहा, 'तुम्हें खन्नाजी बुला रही हैं।' वह बड़ी खुशी-खुशी कॉमन रूम के बरामदे में आया। फिर तो पुष्पा ने उसे खूब झाड़ पिलाई। वह बेचारा बार-बार 'सॉरी' कहने लगा।

मैं चिक के पीछे खड़ी यह सब तमाशा देखती रही।

इसी तरह दिन बीत रहे थे। पुष्पा मित्रा का घर पास ही था। बंगाली परिवार। सुंदर, गोरी सलोनी मां। माथे पर बड़ा-सा लाल टीका लगाए। कंधे पर साड़ी का पल्ला और उसके कोने से झूलता हुआ चाभी का गुच्छा। खाना स्वयं बनातीं। इधर-उधर डोलतीं तो माथे की लाल बिंदी झकाझक होती। अक्सर या तो पुष्पा मेरे या मैं पुष्पा के घर चली जाती। भाई लोग घर में कम रुकते, अक्सर दोस्तों के साथ बाहर ही रहते थे। मां अपने कमरे में चली जातीं। उन्हें दोपहर में सोने की आदत थी। तब ऐसा लगता, जैसे सब कुछ ठहरा हुआ है। अपनी ठहरी हुई सांसों के साथ अकेलेपन के डूबने की मैं प्रतीक्षा करती। ऐसे में पुष्पा के घर का सामीप्य पाकर, उसकी मां के शीतल स्पर्श की छांह में मन पुलक-पुलक उठता। जैसे, बच्चा बाल्टी में चांद का प्रतिबिंब देखकर उसे पकड़ने को हाथ फैलाता है और चांद हाथ में आते-आते रह जाता है, वैसे ही कहीं भी स्नेह का स्पर्श पाने के लिए

मेरे हाथ अनायास ही उस प्रतिबिम्ब को पकड़ने का प्रयत्न करते।

मां बहुत प्यार करतीं। हां, बाबा से उतना खुले नहीं थे। सर्दियों में दुर्गा पूजा के लिए दुर्गा मंडप जातीं तो वे मुझे भी साथ ले जातीं। सब पूछतीं, यह कौन? मां बोलतीं, 'आमार मेये, मासीर काछे थाके। आमार बोड़ो मेये।' उन्हीं के पास रहकर बंगाली पढ़ना सीखा, बोलना नहीं सीख पाई। बस, पढ़ लेती थी। बंकिम चंद्र और शरतबाबू का साहित्य वहीं से लेकर पढ़ा-गुना।

दुर्गा मंडप में जाकर दुर्गा की मूर्ति पर नजर गड़ाती तो लगता, मेरी आराध्य तो यही हैं। एक तादात्म्य-सा, एक बंधाव-सा महसूस करती। मन के अंतराल से आवाज उठती—'मां, मुझे शक्ति दे।'

जीवन में संघर्षों से जूझने की, संकल्पों को पूरा करने की जो दृढ़ता मुझमें आई, वहीं से आई।

पुष्पा अक्सर मेरे नोट्स ले जाती। प्रिपरेशन लीव हो गई थीं। एक दिन फेअरवेल पार्टी के लिए सब लड़कियां कॉलेज में मिलीं। सभी दुबली दिखाई दीं। शायद, सभी ने परीक्षा के लिए जोरदार तैयारियां की थीं। मुझे बड़ी शर्म आई, अरे, मैं तो मोटी हो गई। हां, आंखों के नीचे काजल लगा लिया, दिखाने को कि बहुत पढ़ते हैं। पढ़ाई तो जैसी की थी, भगवान जाने। घर में तो किसी को मतलब था नहीं—पढ़ रहे हैं कि नहीं? परीक्षा की तैयारी ठीक से हो रही है या नहीं? खाना खाया है कि भूखे ही जुटे हैं? कौन था, जो कहता कि एक गिलास दूध तो पी, नहीं तो ताकत कहां से आएगी? अपना ख्याल खुद रखना पड़ता था। न कोई पूछनेवाला, न कोई मनुहार करनेवाला।

हां, छोटे भाई विष्णु से खूब पटरी खाती थी। रात में पढ़ने की आदत थी। मैं नीचेवाले कमरे में पढ़ती थी। बुरादे की अंगीठी कमरे में ही रहती थी। मैं विष्णु से कहती, 'मैं थोड़ी देर सो लेती हूं। तुम एक घंटे बाद मुझे उठा देना। तैयारी सब है। दूध, चीनी, चाय की पत्ती। चाय बना देना और पापड़ सेंक देना। नींद खुल जाएगी।' वह बेचारा एक घंटे तक घड़ी की सुई देखता रहता, चाय बनाता, फिर मुझे जगाता। मैं जागकर चाय पी और पापड़ खा, फिर सो जाती। विष्णु खूब झुंझलाता। पता नहीं, पढ़ते-पढ़ते कहां की नींद घेरने लगती? कभी रसगुल्ले मंगाकर रखती कि नींद आने लगेगी तो खा लूंगी, नींद खुल जाएगी। लेकिन होता यही कि जितनी देर रसगुल्ले रखे रहते, मन पढ़ाई में लगता ही नहीं, रसगुल्लों के चारों तरफ मंडराता रहता। रसगुल्ले खाकर पढ़ने बैठती तो फिर नींद आ जाती। पढ़ाई क्या खाक होती?

परीक्षाएं गर्मी के दिनों में ही होती थीं। मैं भी छत पर कभी बैठकर, कभी घूम-घूम कर पढ़ती थी। सामनेवाले घर की छत के ऊपर बड़ी देर रात तक बत्ती जलती रहती। शायद, उस घर में कोई बी.ए., इंटर या हाईस्कूल की परीक्षा दे रहा होगा। शायद, बी. ए. की ही परीक्षा दे रहा होगा। बस, जब तक बत्ती जलती रहती, हम भी पढ़ते रहते कि

अनजाना कोई यदि इतनी देर तक पढ़ रहा है, तो हम क्यों नहीं पढ़ सकते? सामनेवाले की बत्ती की गर्मी देखकर मुझे भी गर्मी आती थी पढ़ने की। यानी, वही अकबर-वीरबल की खिचड़ीवाला किस्सा। काफी रात गए तक पढ़ने के बाद, सुबह भी जब बत्ती जलते देखती, तब सोचती शायद, पढ़ते-पढ़ते वह लोग भी सो गए होंगे या बत्ती बंद करना ही भूल गए होंगे।

खैर, इम्तहान खत्म हुए। बी.ए. का रिजल्ट आया तो पुष्पा तो फेल थी। मैं सुबह खिड़की पर खड़ी थी, तभी अपनी मां के साथ गंगा-स्नान कर पुष्पा भी लौटी। हमारे उधर सुबह-सुबह बंगाली मिठाईवाला सफेद मक्खन की टिकियां-रसगुल्ले और गरम-गरम समोसे बेचता था, उसी के इंतजार में मैं खड़ी थी। हमारा नाश्ता वही होता था, कभी-कभी। नीचे से पुष्पा ने पूछा कि क्या रिजल्ट आ गया है? मैंने रिजल्ट देख लिया था, किंतु उसका रोल नंबर नहीं था। उसे क्या बताती? मैंने कहा, 'अभी पेपर नहीं आया है।' मंशा यही थी वह अपने घर जाकर देखे। करीब घंटे-सवा घंटे बाद में उसके घर पहुंची। वहां तो घर का माहौल ऐसा हो रहा था, मानो किसी की मौत हो गई हो। बाबा कमरे में चक्कर पर चक्कर लगा रहे थे। मां अमूमन इस समय रसोई में होती थीं, आज माथे पर हाथ रखे बैठी थीं। फेल-पास तो जीवन में होता ही रहता है—ऐसा मैं अक्सर सोचती थी, किंतु इतना खौफनाक असर मैंने पहली बार देखा। शायद, उस मध्यवर्गीय परिवार ने, जिसमें बाप एक क्लर्क था, भाई पढ़ रहा था, और दो छोटी बहनें थीं, अपनी बड़ी बेटी से बड़ी-बड़ी आशाएं लगा रखी थीं कि परीक्षा पास करने के बाद गृहस्थी की गाड़ी चलाने में अपने बूढ़े बाप की मदद करेगी या फिर कम से कम उसकी शूदी की फिकर तो नहीं करनी पड़ेगी, कहीं न कहीं वह नौकरी कर लेगी और इस प्रकार खाली बैठी लड़की जवान होते नहीं दिखाई पड़ेगी। पर सपनों के ताजमहल बनते-बनते पहली ईंट ही सरक गई। मैं भी क्या कहती? शब्द सहानुभूति के कम पड़ रहे थे, मौन-सांतवना ही संबल थी।

दस बजे बाबा आफिस गए तो मेरे कंधों पर जिम्मेदारी डाल गए कि मैं पुष्पा के पास रहूं। एक मिनट भी उसे न छोड़ूं। वह कोई उलटा-सीधा कदम न उठा ले। मैं उसे समझा-बुझाकर लौट आई, एक अपराध-भाव महसूस करते हुए कि मैं क्यों पास हो गई? दोपहर दोबारा उसके घर पहुंची तो देखा वह लेटी है। मैं भी उसके पास लेट गई। गर्मी के दिन थे। कब आंख लग गई, पता ही नहीं चला। मैं अपना हाथ उसके ऊपर रखकर सोई थी। एकदम हड़बड़ाकर उठी तो देखा कि पुष्पा तो थी ही नहीं। मैं तो सकते में आ गई। इधर-उधर, हर कमरा, बाथरूम, सब जगह देखा। पुष्पा का कहीं पता नहीं। मां ने रो-रोकर बुरा हाल कर लिया। बाबा भी आफिस से आ गए। उन्होंने तो मुझे इतना डांटा मानो उसके घर से भागने के षड्यंत्र में मेरा ही हाथ हो।

धीरे-धीरे शाम हो आई। रात की स्याही पृथ्वी पर उतरने लगी, पर पुष्पा नहीं मिली, तो नहीं मिली। बदनामी के डर के कारण पुलिस में रिपोर्ट भी नहीं करा सकते थे। सब बदहवास इधर-उधर दौड़ते रहे। यह भी सोचा कि कहीं कानपुर के बाहर न जा रही हो।

विष्णु की अंगुली पकड़ स्टेशन जा पहुंची। पुष्पा तो क्या मिलती, घबराहट में एक ऐसे व्यक्ति से टकरा गई जो भाईजी के दोस्त थे। वे रेलवे में नौकरी करते थे। देखते ही प्रश्नों की झड़ी लगा दी—कहां जा रही हो, अकेली क्यों हो, किसको लेने आई हो, आदि-आदि। मेरे उत्तरों पर उनके चेहरे की प्रतिक्रिया ऐसी थी, जैसे मैं उनको बुद्ध बना रही होऊँ। बड़ी संदिग्ध नजरों से मुझे देखते हुए चल दिए। मुझे ऐसा लगा, मानो वे सोच रहे हों कि मैं कहीं घर से भागकर तो नहीं जा रही?

निराश-हताश, गहराते अंधेरे में, मैं घर लौट आई। देखा तो पुष्पा आ गई थी। बड़ा गुस्सा आया, पर मैं अपना गुस्सा पी गई।

अब तक कहां थी? कैसे आई? प्रश्नों के उत्तर में उसने बताया कि उसे स्वयं पता नहीं कि क्या हो गया था। एकदम घर से निकलकर नहर के किनारे-किनारे चलकर, घर से बहुत दूर निकल गई और फिर पुल के नीचे गंगा घाट पर जाकर बैठ गई। माथा घुटनों के बीच में दिए हुए। वह जान देने गई थी। डूबकर, मर जाने के लिए। फिर मां का ख्याल आया। बाबा की झुकी कमर और छोटी बहन का चेहरा, जो अपनी बड़ी बहन की ओर सपनों का संसार बसाए देख रही है। आशाओं के कितने-कितने पुल, अरमानों के कितने संसार वह नष्ट करेगी! बस, यही सब सोचते-सोचते कब रात हो गई, उसे पता ही नहीं चला। भूखी-प्यासी वह वैठी थी। शाम का धुंधलका रात की गहराई में बदलने लगा था। तभी एक सिपाही ने उसे देख लिया। वह भला आदमी था। शायद, उसके बच्चे भी किसी इम्तहान में बैठे थे। उसने पुष्पा से कुछ पूछा। उसके उल्टे-सीधे जवाब सुनकर उसे शक हो गया कि यह लड़की कुछ अनहोनी करने पर तुली है। फूलबाग के चौराहे तक वह अपनी साइकिल पर बैठाकर उसे लाया। वहां से रिक्शे में बिठाया और रिक्शेवाले को हिदायत दी कि घर तक छोड़कर आए। यह भी कहा कि वह चौराहे पर खड़ा होकर रिक्शेवाले की प्रतीक्षा करेगा।

यह घटना कोई नई घटना नहीं थी और न केवल पुष्पा के साथ ही घटी थी। आज भी परीक्षा के रिजल्ट आने के बाद अक्सर ऐसी घटनाएं अखबारों में पढ़ने को मिल जाती हैं। क्यों होता है ऐसा? फेल और पास—दो ऐसी बातें हैं, जिनमें से एक न एक को तो होना ही है। व्यक्ति या तो फेल होगा या पास। सभी पास भी नहीं हो सकते। किसी न किसी को फेल भी होना है। तब फेल होनेवाले बच्चे ऐसी बातें क्यों सोचने लगते हैं? कारण यह है कि मां-बाप बच्चों के मन में यह भावना भर देते हैं कि जैसे, परीक्षा में पास होना ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य है। आजकल की प्रतिस्पर्धा के जमाने में जब कॉलेजों में एडमिशन के लिए कट-ऑफ ही अस्सी-नब्बे प्रतिशत तक होता है, परीक्षा में अच्छे अंकों से पास होना बहुत बड़ी सिरदर्दी से छुटकारा दिला देता है। फिर बच्चे की साल-भर की मेहनत। मां-बाप का खर्च। कई कारण हैं, जो अनावश्यक रूप से बच्चे के जहन को आक्रांत किए रहते हैं। मां-बाप भी गलत नहीं हैं, फिर भी इस हद तक बच्चों पर यह भावना हावी नहीं होने देनी चाहिए। पूरे वर्ष उनकी पढ़ाई की देखभाल, उनको रास्ता

दिखाना, कमजोर विषयों के लिए अधिक सुविधाएं प्राप्त कराना—यह सब मां-बाप का दायित्व है, कर्तव्य है। उसके बाद बच्चों में यह विश्वास पैदा करना भी मां-बाप का ही धर्म है कि भई, तुमने मेहनत की, अपना कर्म किया। अब फल तुम्हारे हाथ में नहीं है। फल की सिद्धि के लिए केवल मेहनत ही पर्याप्त नहीं है, प्रारब्ध भी कुछ अंशों तक अपना पार्ट अदा करता है। कापी जांचते समय टीचर की मनःस्थिति, नंबर देने में उसकी उदारता या कंजूसी—बहुत हद तक परिणाम को प्रभावित करते हैं। जब इतने-इतने 'फैक्टर' जुड़े हों, तो फिर फल के लिए उत्तरदायी कैसे हुआ जा सकता है? हां, यदि उसने कर्म नहीं किया होता, पूरे साल मौज-मस्ती मारी होती और पढ़ाई-लिखाई में बिल्कुल ध्यान नहीं दिया होता, तो वह बहुत अंशों तक जिम्मेदार था। किंतु जब उसने पूरी मेहनत की है, तो उसे परिणाम भगवान पर छोड़ देना चाहिए। जैसे, केवल प्रारब्ध के बल पर बैठे रहना ठीक नहीं है, वैसे ही हर कर्म से अपने लिए अनुकूल फल की आशा करना भी ठीक नहीं है। हमारे यहां तो भगवान कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश देते हुए कहा भी है :

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'।

तुम्हें कर्म करने का अधिकार है। फल की प्राप्ति का नहीं।

एक बार बच्चे के मन में विश्वास का यह अंकुर पनपने लगे, तो आए दिन अखबारों की सुर्खियों में परीक्षा-परिणाम घोषित होने के बाद, जो दुखदायी समाचार छपते हैं, नहीं छपेंगे क्योंकि, मनुष्य-जीवन परीक्षा-परिणामों से कहीं अधिक मूल्यवान है।

दस्तकें

कानपुर से बनारस और फिर कलकत्ता

- एक रिश्ते का जन्म ● सामाजिक अंतर्विरोध
- पारंपरिक विवाह/प्रेम विवाह

मैं एक ऐसे घर में पली और बड़ी हुई, जिसके चारों ओर चाहरदीवारियां ही चाहरदीवारियां थीं। घर हमेशा फ्लैट्सनुमा होते थे, कोठीनुमा नहीं। कोठीनुमा घरों का एक फायदा होता है कि गेट के अंदर ही, सुरक्षा के भीतर रहते हुए भी, आप बाहर का बहुत कुछ देख सकते हैं। क्योंकि, हमें घर के रूप में इस प्रकार की कोठियां कभी नहीं मिलीं, मैं अक्सर छत पर चली जाती। एकदम खुला आसमान और उसमें बिखरे तारों को देखती रहती। वे मेरे सुख-दुख, हर्ष-विषाद के साक्षी थे। मुझे आत्मीय से लगते। बस, उन्हें ही देखती रहती।

ऐसी एक रात मेरे जेहन में आज भी ताजा है। मैं धीरे से उठी और छत की मुंडेर पकड़कर तारों से बातें करने लगी। कभी अपने से बात करती या फिर उस राजकुमार से, जो किसी दिन मेरी जिंदगी में चुपके से आया और प्यार के अनेक दरवाजे मेरी बंद जिंदगी में खोल देगा।

मैं कहती, 'हे राजकुमार, पता नहीं तुम कहां हो? किंतु इतना मैं जानती हूं, इतना मेरा विश्वास है कि कहीं न कहीं तुम रह जरूर रहे हो इस धरती पर, और एक दिन तुम और मैं जरूर इस तारों-भरे आसमान के नीचे, इस मुंडेर के पास एक-दूसरे से बातें करेंगे, एक-दूसरे की आंखों में झांकते हुए, तुम्हारा हाथ इसी मुंडेर पर होगा, जहां आज मेरा हाथ है। और तब हम हाथ में हाथ डाले बैठे बातें करेंगे। अनगिनत बातें। अपने भविष्य की बातें, अतीत की बातें। हम ऐसे जुड़े हुए होंगे, जैसे न कोई कभी जुड़ा है और न जुड़ेगा। हम आज नहीं मिल सकते। पता नहीं क्यों? लेकिन एक दिन हमारे सभी प्रश्नों के उत्तर मिल जाएंगे। हमारे बीच में जो धारा हमें अलग किए हुए है, उस पर पुल बन जाएंगे। एक कदम तुम बढ़ाओगे, एक कदम मैं और फिर वह दूरी नहीं रहेगी। एक अलौकिक

आभा हमें चारों ओर से घेर लेगी। एक सुखद भविष्य हमारा होगा।’

बस, इसी तरह सपनों का जाल बुनते दिन बीत रहे थे—रूटीन और नीरस। अक्सर पुष्पा से बातें होतीं। वैसी ही बातें, जैसी दो सहेलियों या बहनों के बीच होती हैं। जाहिर था कि हमारे बीच बातें लड़कों की होतीं। उम्र ही ऐसी थी। पुष्पा कहती, ‘अपने मोहल्लों में तो कोई ऐसा लड़का ही नहीं है, जिसकी ओर देखा भी जा सके। कॉलेज में भी कौन है? कोई नहीं।’ और फिर हम मायूस हो जाते।

मैं सोचती, कैसा होगा मेरा कल्पना-पुरुष? निःसंदेह, मुझसे अधिक सुंदर तो होगा ही। ऊंचा, लंबा, छरहरा—जिसे देखकर लोग मुझसे ईर्ष्या करें। क्योंकि, सुंदरता मुझे सदैव ही आकर्षित करती रही है। ऐसा सुदर्शन युवक, जो मेरे अंतर्द्वंद्व, भावावेग, भावोन्माद का सहभागी हो सके। एक ऐसे व्यक्ति को, जो चाहे जितना सुंदर हो, मैं कभी अपने जीवन का सहभागी नहीं बना सकती जो सिगरेट, शराब या किसी नशे का आदी हो; जो अंतर्मुखी हो या जो साहसी न हो और जिसकी नाक पर हमेशा गुस्सा रहता हो।

मेरा मनपसंद युवक तो वही होगा, जिसमें चतुराई हो, जो हाजिरजवाब हो, जिसमें जीवन को हंसी-खुशी ग्रहण करने की शक्ति हो और जो अपने ऊपर की चुटकियों पर भी हंस सके। छोटी-छोटी, हल्की-फुल्की-सी फालतू-सी लगनेवाली बातों को जो हल्के-फुल्के ढंग से ले—मेरा कल्पना-पुरुष तो वही होगा।

जिसे पार्टियां न पसंद हों, जो व्यक्ति अपने अर्जित पैसे को मुझसे छुपाकर रखना चाहता हो या जो अपनी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी बात मुझसे बांट न सके, जो अमीरी में धन खर्च करके खुश न हो और गरीबी में सपनों के ताजमहल मेरे साथ न बुन सके—ऐसा व्यक्ति तो मेरा जीवन-साथी कदापि नहीं हो सकता। अगर किसी में यह सब गुण या इन सबसे भी अधिक गुण न हों, तो मैं शादी के बनिस्वत अकेले रहना ज्यादा पसंद करूंगी।

कभी मैं सोचती, मुझे यह सब सोचना नहीं चाहिए, केवल पढ़ाई में मन लगाना चाहिए। पर कॉलेज में पढ़ाई की ऐसी कोई मार थी नहीं। मेरे साथ की कई लड़कियों ने पढ़ाई छोड़ दी थी। उनके ब्याह होने लगे थे। स्वाभाविक था कि ऐसी कल्पनाएं मन में उठें। नई कोपलों का रंग जैसे-जैसे बदलता है, वृक्ष फूलों से लद जाते हैं। चढ़ती हुई आयु ऐसा ही एक वृक्ष है, जब सपने संवरने लगते हैं, ताजमहल बनते और बिगड़ते हैं। कल्पनाओं का जाल बुनने के अलावा और कोई काम भी नहीं था। सुबह देर तक सोना, रात में पढ़ना, दिन में कॉलेज जाना—बस यही रूटीन था।

तभी सूरज के साथ एक नए नाते ने जन्म लिया। कैसा यह नाता बन गया है? सूरज क्या लगता है मेरा? हर सुबह सूरज ही क्यों उठाता है मुझे? उधर सूरज क्षितिज से निकलता है और इधर मैं अपने बिस्तर से निकलती हूँ। गर्मियों में सूरज जल्दी निकल आता है। तब मैं भी बिस्तर जल्दी छोड़ देती हूँ। सर्दियों में सूरज जरा देरी से, सहमा-सहमा निकलता

है। मेरी भी आदत पड़ गई है बिस्तर देरी से छोड़ने की। नींद खुल जाती है तो भी, बिस्तर से उठने की सोचकर ही देह अलसाती-सी रहती है। मोटी चादर लपेटे, उठने का जी ही नहीं करता है। नजर खिड़की से आसमान की ओर जाती है। अरे, अभी तो सूरज निकला ही नहीं। अभी बिस्तर से क्यों निकलूं? आज के मशीनी युग में लोग अलार्म घड़ी से जागते हैं। उसकी मशीनी आवाज टर्फ-टर्फ करती उनींदा आंखों को बरबस खुलने के लिए मजबूर कर देती है। पर मैंने अपना नाता शुरू से सूरज की नैसर्गिक स्नेह भरी थपथपाहट से जोड़ रखा है। कैसी अनंत संभावनाएं जुड़ी हुई हैं प्रकृति के इस जुड़ाव के साथ और वह भी आज से नहीं, बरसों से!

दोपहर का सूरज आसमान पर चढ़ता कि कॉलेज से लौटते ही मैं छत पर पहुंच जाती और मैं ही क्यों, आसपास के घरों की सभी छतें सर्दियों की दोपहरी में आबाद हो जातीं। कानपुर की उन संकरी गलियों में मकानों की छतें भी तो एक दूसरे से जुड़ी होती थीं। कहां क्या हो रहा है, कुछ छिपा नहीं रहता था। कहीं नंगी दोपहरी में छतों पर पापड़ सूख रहे होते या फिर मुंगेड़िया तोड़ते हाथ मशीनों से चलते रहते। नंग-धड़ंग बच्चे मांओं की पकड़ से छूट-छूट नहाने से जी चुराते भागते फिरते, एक छोर से दूसरे छोर की ओर। बीच-बीच में दादी, नानी का स्वर और मांओं की खीझ। बड़ा आनंद आता, यह सब देखकर। अक्सर तो मैं अपने ही में डूबी रहती, पर कभी-कभी कोई आवाज, कोई अनजाना-सा आकर्षण, अपनी ओर खींच ही लेता।

उस दिन भी ऐसा ही हुआ। पड़ोस की अम्माजी ने कहा, 'उधर अकेली बेठी क्या करती रहती है? इधर छत पर आ जा न!'

मैं चौंक पड़ी। उस अनजानी आवाज में कितनी आत्मीयता थी। उन्हें मेरे अकेलेपन का अहसास कैसे हुआ? बिन मां की इस बच्ची के दर्द को उन्होंने कैसे पहचाना? मुड़कर देखा। अंतर तक वींध देनेवाली वह दृष्टि। आंखें ममत्व से लबालब भरी हुई। और अनायास ही मैं छत की मुंडेर फलांगकर उस ओर पहुंच गई। और फिर यह रोज का क्रम बन गया। अम्माजी से बोलते-बतियाते चढ़ती धूप ढलने लगती।

कितने दिन चलता रहा यह क्रम, आज याद नहीं। बस, इतना-भर याद है कि उम्र के बंधन तोड़कर एक रिश्ते ने जन्म लिया था। नई कोंपलों का जैसे जन्म होता है, उनका रंग जैसे-जैसे बदलने लगता है, वैसे ही हमारी इस बेजोड़ दोस्ती का रंग भी बदलने लगा। अम्माजी ने मेरे बारे में सब कुछ जान लिया। कैसे पिताजी की मृत्यु हुई! मां टी. वी. से आक्रांत बिस्तर पर लेटी रहीं। बेटी को कुछ सिखाने-संवारने की उम्र में वह स्वयं लाचार हो गई थीं। बेटी मां पर निर्भर होती, उनकी गोद की गरमी में अपने अकेलेपन का अहसास भूलती कि वह स्वयं बेटी पर निर्भर हो गई थीं।

वह नहीं जान उन्हें लेकर कहां-कहां नहीं गई—अल्मोड़ा, बिंदकी, आदि-आदि। सब जगह वही साथिन थी अपनी मां की वेदना की, अतृप्त आकांक्षाओं की, असमय बलि की, और एक भय की, कि भावी मृत्यु की आंख-मिचौनी में उनके बच्चों का क्या होगा?

बढ़ती उम्र में जब वेगवती नदी की धारा के समान इच्छाएं उफनती और बैठती हैं, तब जिम्मेदारियों के बोझ और मर्यादाओं के घेरे ने उस नन्हें मन में कैसे भय के अनेक दरवाजे खोलकर, उसे अपने ही अंदर रहने को मजबूर कर दिया था—यह सब उन्होंने जान लिया। उम्र से पहले ही बूढ़े हो गए उस मन को उन्होंने बार-बार अपने स्नेह-भरे आंचल में समेट लिया।

मेरे अंतःकरण में झांककर उन्होंने वह सब देख लिया था, पर मैं तो उनके बारे में कुछ भी नहीं जानती थी। वह कौन हैं? उनके परिवार में कितने लोग हैं? आदि-आदि। और एक दिन ढलती धूप जैसे ही दबे पांव छत पर उतरी, अम्माजी मेरा हाथ पकड़कर नीचे सीढ़ियों की ओर उतरने लगीं।

पहली बार मैंने देखा उनके परिवेश को। एक साधारण, भरा-पूरा मध्यमवर्गीय परिवार। उनके जीवन का केंद्र-बिंदु था उनका सबसे छोटा बेटा। वह लंबे अरसे से बीमार था। उस छोटे-से कमरे में लेटे-लेटे जैसे उसके सारे सपने कैद होकर रह गए थे। वी.ए. का छात्र था वह। आंखें अम्माजी की आंखों की तरह साफ और अंदर तक भेदती हुई, पर उदास। शायद, लंबी बीमारी के कारण। अठारह-उन्नीस की तिरछी-टेढ़ी उमर में उस पड़ोसी की किस अदा पर मैं मर-मिटी थी, उसका क्या आधार था, आज याद नहीं। शायद, उसके लंबे-लंबे पैर या उसके स्वर की वह खामोशी या सलोन चेहरे पर स्नेहमयी मुस्कान बिखरती उसकी आंखें अथवा उसकी बीमारी! हां, शायद यही बात थी। बीमारी से मेरा नाता, बड़ा आत्मीय और नजदीकी, शुरू से रहा था। मां की बीमारी के कारण उनके अकेलेपन को, क्षण-क्षण टूटते विश्वास को और फिर अगले ही क्षण जन्म लेती आशा को बहुत करीब से देखा था मैंने, इसलिए ऐसा लगा, मानो आकाश से उड़ती परी एकाएक धरती पर उतर आई हो। अपने पंख उसने यों उतार दिए हों, जैसे गर्म कुनकुने कमरे में दाखिल होने के बाद कोई अपने बदन पर से शाल उतार दे और तहों से मोड़कर एक ओर रख दे।

अम्माजी ने परिचय करवाया और मैंने पूछा, 'अरे, आप कब से बीमार हैं?'

'हल्का-सा बुखार आता था। डॉक्टरों ने सब टेस्ट किए। सभी नेगेटिव थे, पर उन्होंने बी.सी.जी. का टीका लगा दिया, जो टी.बी. से बचने के लिए लगाते हैं और पाजिटिव रिपोर्ट पर ही लगाते हैं। अब बुखार पीछा नहीं छोड़ रहा है। पढ़ाई का नुकसान अलग हो रहा है।'

'कुछ नहीं, आप जल्दी ठीक हो जाएंगे,' मैंने कहा, 'मैं आ जाया करूंगी। आपकी कोर्स की किताबें पढ़कर सुना दिया करूंगी। नोट्स भी बना दूंगी। फिर आप 'आउट ऑफ टच' नहीं रहेंगे।'

उसकी आंखों में चमक आ गई। जैसे, मन के अंधेरे आंगन में कोई दिया-सा जल उठा हो।

अम्माजी बोल पड़ीं, 'हां, यह तो बहुत अच्छा रहेगा। इसका मन भी बहल जाएगा।'

अकेले पड़े-पड़े ऊब जाता है।'

'अम्मा, क्यों किसी को तकलीफ देती हो?' वह बोला।

'नहीं, नहीं, तकलीफ काहे की? बीमारी से तो मेरा पुराना नाता है। मां को भी अक्सर रामायण पढ़कर सुनाया करती थी।'

'क्या, अब वे नहीं हैं?'

'नहीं,' बड़ी-बड़ी आंखें पनीली हो उठीं। कहा, 'दो बड़े और चार छोटे भाइयों की मां मुझे ही बनाकर खुद चली गई।'।'

कमरे का वातावरण बोझिल हो उठा। कुछ देर रुककर दो-चार बातें करके मैं नीचे उतर आई। अम्मा ने कहा, 'कल फिर आना।' मैंने सिर हिला दिया। मन बुझा-बुझा-सा हो उठा। बहुत अपनापन लगा। यह लड़का कितना शांत है! इतने दिन से बिस्तर पर पड़ा है। कोई साथी नहीं। उसे कैसे बहलाऊं कि उसके मन से टी.वी. का शक निकल जाए।

दूसरे दिन कॉलेज से लौटते ही भाइयों को खाना खिलाकर पैर चल पड़े बगल के घर की सीढ़ियों की ओर। पुदीने की ताजी हरी-हरी चटनी पीसी थी। थोड़ी-सी कटोरी में ले ली। वहां पहुंची तो देखा, खाना खा रहे हैं। अम्मा ने पूछा, 'क्या लाई हो?'

'अम्मा, पुदीने की चटनी है, थोड़ी-सी ले आई। मुंह का स्वाद बदल जाएगा।'।'

'अच्छा किया ले आई। अब शायद, कुछ खा ले। बीमारी से मुंह का स्वाद ही चला गया है।' अम्मा ने कहा।

'अच्छा, मैं शाम को आऊंगी तो आंच पर नींबू गरम करके, जब वह फुदफुदाने लगेगा तो उस पर नमक, काली मिर्च डालकर उसे चूसने के लिए ले आऊंगी। चाटने से मुंह का स्वाद अच्छा हो जाता है।' मैंने कहा।

वे मुस्कराए और बोले, 'अच्छा, इतनी छोटी उमर में इतना सब सीख गई! पुरखिन की तरह बातें बनाना भी!'

मैं लजा गई। अचानक आंखें उठाकर देखा। वे एकटक देख रहे थे। उनकी आंखें मेरे चेहरे पर गड़ी थीं। मुझे ध्यान आया, मैं ही बक-बक किए चली जा रही हूं। पता नहीं मेरे बारे में क्या सोचते होंगे? तभी अम्मा बोल पड़ीं, 'बिटिया, दोपहरिया में कभी-कभी आ जाया करो।'

फिर तो यह रोज का क्रम बन गया। दोपहर बाद में उनके घर पहुंच जाती।

एक दिन अम्मा के सूखे बाल देखकर कहा, 'लाइए अम्मा, आपके सिर में तेल लगा दूं।'।'

'नहीं बिटिया, अब हम तेल-वेल क्या लगाएंगे?' अम्मा बोलीं।

'मैं बहुत अच्छी मालिश करती हूं।' मैंने कहा, 'पांच मिनट लगवाकर तो देखो।'।'

'नहीं, लगाना ही है तो तू इसके लगा दे।' अपने बेटे की ओर इशारा करके अम्मा

ने कहा।

यह क्या कह दिया अम्मा ने? नजर भरकर जिसने अपने भाइयों के अलावा किसी और को देखा तक नहीं, वह किसी के सिर में तेल लगाए? मैं तो संकोच से गड़-सी गई। पर अम्मा कहां माननेवाली! तेल की शीशी मेरी ओर बढ़ा दी। सकुचाते-सकुचाते तेल की शीशी हाथ में लेकर सिर की मालिश करने लगी। बिलकुल निर्विकार भाव से लेते थे वे जैसे, कोई नर्स मालिश कर रही हो। अम्मा थकी-मांदी थीं, वहीं पास पड़े तखत पर ऊंघ गईं।

हम बातें करते रहते। कुछ कॉलेज की बातें, कुछ मजेदार घटनाएं। बीच-बीच में वे अपने परिवार के बारे में बताते रहते। ढेर सारी बातचीत, ढेर सारे प्रश्न। ऐसे ही कटने लगीं गर्मी की दोपहरियां—कुछ अपनी सुनाते, कुछ उनकी सुनते। पड़ोस में रहने के कारण आना-जाना बढ़ गया। खाने-पीने की चीजों का आदान-प्रदान होने लगा। एक रूटीन-सी बन गई। किसी दिन नहीं मिलते, लगता, कुछ अधूरा रह गया है। ‘आप’ से ‘तुम’ पर कब आ गए पता ही नहीं चला। उधर अम्मा से भी घनिष्ठता बढ़ती रही। एक दिन बोलीं, ‘तुमसे बड़ा आराम है। आ जाती हो, काम करवा देती हो, नहीं तो बीमार के दस काम, बीसों झंझट। तुम्हारे आने से बहुत फर्क पड़ा है। बोलते-बतियाते रहने से इसका भी मन बहल जाता है।’ उनका इशारा अपने बेटे की तरफ था।

धीरे-धीरे आकर्षण बढ़ता जा रहा था। क्या वास्तव में यही प्यार है? वहां जाना, उन्हें देखना, उनसे बातें करना—अच्छा लगता था। क्या इसी को हम चाह कह सकते हैं? नहीं, नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। निश्चय नहीं कर पा रही थी। मुझे उनका साथ अच्छा लगता है। पर उन्हें? क्या उन्हें भी ऐसा ही लगता है? एक दिन गई तो मेरी कलाई पर पट्टी बंधी थी। एकदम बोले, ‘अरे, यह क्या हुआ? चोट कैसे लगी?’ आवाज में अंदर की अकुलाहट थी। अच्छा लगा। कोई तो है जो मेरी तकलीफ से विचलित हुआ। धीरे-से अपनी परेशानी बताई कि कॉलेज जाते समय रिक्शे से गिर पड़ी। गिरते-गिरते पूरा हाथ जमीन पर टिका दिया तो कलाई की हड्डी खिसक गई है। और सब काम तो कर लेते हैं, पर रोटी नहीं बेल पाते। भाइयों के लिए रोटी बनाती हूं तो बाएं पैर के अंगूठे से बेलन पकड़कर दाएं हाथ से बेलन घुमाती हूं, तब रोटी बिलती है।’ वे एकटक मेरा मुंह देखते रहे, पता नहीं मेरे मुंह पर क्या ढूँढ़ रहे थे।

दूसरे दिन तबियत काफी ठीक थी। नहा-धोकर, साफ कपड़े पहनकर वह बैठे थे। देखा तो देखती ही रह गई। अच्छे लगे। बोले, ‘कल से कॉलेज जाना शुरू करूंगा। तबियत ठीक रही तो रोज जाऊंगा।’

और, उनका कॉलेज जाना शुरू हो गया। अब मिलना कभी-कभी ही होता।

अम्माजी का स्नेह बदस्तूर था। गाहे-बगाहे सीढ़ी के पास, पीछे की ओर से खड़ी होकर आवाज लगाती—‘सुशीला! क्या कर रही है?’

मैं उत्तर देती, 'आती हूँ अम्मा!' उनकी आवाज पाते ही मैं छत से या नीचे खिड़की से झाँककर पूछ लेती, 'कुछ काम है क्या?' अम्मा कहतीं, 'नहीं, तू तो आजकल आती ही नहीं।' मैं कहती, 'अच्छा अम्मा, आती हूँ।' देर बाद जब हाथ के काम निपटाकर जाती तो देखती अम्मा चौके में बैठी पराठे सेंक रही हैं। मन द्रवित हो आता। इस उमर में यह सब काम! मैं उनको जबरदस्ती उठा देती। उनके हाथ से लोई छीनकर पराठे बनाने लगती। शाम को सब परिवारी जन जमीन पर बैठकर एक-एक करके जीमते थे। सबको खिलाने में एक अजीब-सा सुख मिलता। बीच-बीच में कभी उनके छोटे बेटे भी आ जाते, तो अम्मा कहतीं, 'आ खा ले, सुशीला बड़े अच्छे पराठे सेंकती है।' और वे बड़ी शांत मुद्रा में, जैसे मुझसे कभी मिले ही न हों, अपरिचित हों, बैठ जाते पाटे पर। मैं पराठे सेंकती जाती और वे खाते जाते। कितना अच्छा लगता था उस समय पराठे सेंकना, और खिलाना भी।

अक्सर खाते-खाते वे मेरे चेहरे पर जैसे कुछ ढूँढ़ रहे हों, ऐसी दृष्टि से देखते। उन्होंने देख लिया था कि मेरे मन में अम्मा के लिए अटूट प्यार और श्रद्धा है। एक साहचर्य की भावना ने जन्म लिया। कस्तूरी की मादक सुगंध जैसे-जैसे फैलने लगती है, बेचारा मृग भ्रमित हो जाता है। उसे सुगंध महसूस होती है, पर पता नहीं होता कि सुगंध आ कहां से रही है। वह सब ओर उसे ढूँढ़ता है, अपने आस-पास, इधर-उधर, जबकि सुगंध उसके अंदर ही छिपी होती है। ऐसा ही कुछ हमारे साथ हो रहा था। पर क्या हो रहा था, हम क्या ढूँढ़ रहे थे, हमें ही पता नहीं था।

हमारा कॉलेज खुल गया था। कॉलेज का नया-नया वातावरण, नई सहेलियों से मिलना। अभी तक एक अलग वातावरण में साँस ली थी। अब सब कुछ नया था। नया कॉलेज, नए साथी, नई किताबें, नए प्रोफेसर।

कानपुर जैसा समृद्ध नगर उन दिनों भी दो वर्गों में बंटा हुआ था। धर्म की संकरी दीवारें समाज को खोखला कर रही थीं। गाहे-बगाहे दंगे होना मामूली बात थी और अगर कभी कुछ नहीं होता तो लगता, शहर में जान ही नहीं है। छल-प्रपंच, कपट, आपसी द्वेष, हिंदू-मुसलमानों के बीच ही नहीं था, बल्कि मुसलमान-मुसलमान भी एक दूसरे के दुश्मन थे। शिया-सुन्नी के बीच लड़ाइयाँ होती रहती थीं। पंडित-पुरोहित और मुल्ला-मौलवियों का काम ही था कि लोगों की संवेदनाएं जगने न पाएँ और वे वैर बांधे रहें। फिर भी हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सब कुछ होते हुए भी एक भाईचारा था। रिश्तों की गरमाहट थी।

मेरी माँ की एक सहेली थीं। चुन्नीगंज में रहती थीं। चाहे हम उनके यहां जाते या वे हमारे यहां आतीं, सड़क से ही तांगे के दोनों ओर चढ़कर तन जाती थी, जिससे बाहर की छाया भी नहीं पड़ सके। हम तांगे से उतरकर ऊपर जाते। हमारी बड़ी आवभगत होती। पर नाश्ता और पीने का पानी पड़ोस के हिंदू घर से ही आता। उस मुस्लिम परिवार के यहां न हम पानी पीते थे और न ही जब वे हमारे घर आतीं, तो वे कुछ लेती थीं। हमारे पहुंचते ही उनके सभी बेटे सलाम बजाने एक बार जरूर आते, इसलिए मैं उन्हें

कुछ-कुछ पहचानती थी।

मैं घर से कॉलेज पैदल ही आती थी। बिरहाना रोड के पीछे की जो गली रामनारायण बाजार में खुलती थी, उससे निकलकर फूलबाग का चौराहा पार करके क्राइस्ट चर्च कॉलेज आ जाता था। कॉलेज के उन अपरिचित चेहरों में एक परिचित चेहरा भी था, मेरी मां की सहेली के बेटे का।

एक दिन देखा, जब मैं कॉलेज जा रही थी, फूलबाग से कुछ आगे, आधे रास्ते में उनका बेटा साइकिल लिए खड़ा है। मुझे देखते ही मेरे साथ हो लिया। कोई चारा नहीं था, बातें भी करनी पड़ें। बातें करते-करते हम कॉलेज पहुंच गए। मैंने सोचा, इत्तफाकन शायद, वह मिल गया था। किंतु उसने तो यह रोज का क्रम ही बना लिया। मुझे बहुत बुरा लगा। पर मां की सहेली के बेटे थे। परिवार से पुराना रिश्ता था। मैं कुछ कह भी नहीं सकती थी, किंतु मुझे बड़ी उलझन होती कि लोग देखेंगे तो क्या सोचेंगे? यही न कि मैं उससे चोरी-छिपे मिल रही हूँ? आखिर, एक दिन हिम्मत करके कह ही दिया कि आप घर क्यों नहीं आते? भाईजी आपसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे। खैर, वह घर अन्ने लगे। और अक्सर ऐसे मौकों पर आते जब भाईजी घर नहीं होते। मुझे फिर उलझन होने लगी। तभी रक्षा-बंधन का त्यौहार आया। मैंने उनके हाथ पर राखी बांध दी। माथे पर तिलक लगाया। मुझे बड़ा सुकून मिला क्योंकि, जैसे मौसम कभी चोरी से नहीं आता, उसका आभास पहले से हो जाता है, वैसे ही शायद, नारी मन है, जो पुरुष की दृष्टि को शीघ्र ही पहचान जाता है। मुझे उनकी भावना का कुछ-कुछ आभास होने लगा था कि शायद, वे मुझसे दोस्ती बढ़ाना चाहते थे। मैं चाहती तो उन्हें सीधे-सीधे भी कह सकती थी, पर एक रिश्ते को बेदर्री से खत्म करने की जगह, उसे एक खूबसूरत मोड़ देना मैंने ज्यादा अच्छा समझा।

पर दूसरे दिन जब किसी ने बताया कि उन्होंने सीढ़ी से उतरते ही माथे के तिलक को पोंछ दिया था, तब मुझे कहीं बहुत चोट लगी। क्या यह वही देश है जहां रानी कर्मवती द्वारा हुमायूं को राखी भेजने पर वे दौड़ते हुए उसकी रक्षा के लिए आ गए थे? मैंने महसूस किया कि अब धर्म दीवारों में कैद है और दीवारें प्राचीर बनने लगी हैं। खैर, इस सबके बावजूद वे साहबजादे संभल गए। मेरा रास्ता उन्होंने छोड़ दिया और बाद के दिनों में तो वह मेरे पति के अच्छे दोस्त भी बने।

कॉलेज में सबसे उबाऊ विषय लगता था इतिहास। इसलिए नहीं कि विषय उबाऊ था, वरन् इसलिए कि इतिहास के पीरियड में हमारे प्रोफेसर साहब सोए-से रहते थे। वे किताब खोलकर किसी से रीडिंग करने को कह देते और खुद ऊंधने लगते। उस दिन प्रोफेसर साहब ने मुझे रीडिंग करने को कहा। मैं रीडिंग कर रही थी कि देखा सामने से हमारे 'पड़ोसीजी' या अम्माजी के सुपुत्र, जो अब बीमारी से ठीक हो गए थे, दो-तीन दोस्तों के साथ एक तरफ से दूसरी तरफ निकलकर जा रहे हैं, हमारी क्लास की ओर देखते हुए।

मैंने कोई ध्यान नहीं दिया। वे डी.ए.वी. कॉलेज में पढ़ते थे। क्राइस्ट चर्च आने का कोई मतलब नहीं था। सोचा, संयोगवश बाहर से न जाकर अंदर से होकर जा रहे हैं। किंतु, जब दूसरे दिन और फिर तीसरे दिन भी ऐसा ही हुआ, तब लगा कि जनाब संयोगवश नहीं, बल्कि, जान-बूझकर इस रास्ते को अपना रास्ता बनाए हुए हैं।

मैं तो इस बीच उनकी बीमारी के समय उनके साथ बीते क्षणों की सब स्मृतियां कालेज ज्वाइन करने की भागदौड़, उत्साह और ऊहापोह के बीच भुला चुकी थी। या सही कहूं तो वे सब क्षण स्मृति-पटल पर दब-से गए थे। लगातार उनको ठीक एक समय पर, अपनी क्लास के सामने से, बिना मतलब गुजरते देखा और उस लम्हे के अहसास को छुआ तो सभी स्मृतियां उसी तरह जाग उठीं, जैसे हवा का झोंका पाते ही कोयलों के बीच दबी चिनगारी आग को भड़का देती है।

अम्माजी के पास आना-जाना था ही। तभी उनके बारे में और जानकारीयां मिलीं। मालूम पड़ा कि उन्हें पढ़ने-लिखने का बहुत शौक है। कहानियां भी लिख लेते हैं। कॉलेज मैगजीन में अक्सर उनकी कहानियां छपती हैं। फिल्मों में काफी दिलचस्पी है। पृथ्वीराज कपूर के चाहनेवालों में हैं। एक 'फिल्म गोअर एसोसिएशन' भी बनाई है। उसी के जलसे में पृथ्वीराज कपूर आएंगे। बड़े जोर-शोर से तैयारियां हो रही हैं। 'फिल्म इंडिया', जिसके संपादक बाबूराव पटेल थे और जो फिल्मी मैगजीनों में अपना प्रमुख स्थान रखती थी, उसमें प्रश्न और उत्तर कालम में प्रथम और द्वितीय पुरस्कार भी जीते हैं। जब कभी कोई नहीं होता था, तब अम्मा उनके कमरे में ही बैठकर बतियाती रहतीं। मैं अम्मा की बातें भी सुनती रहती और टेबुल पर इधर-उधर फैली पड़ी किताबों को करीने से सजाकर भी रखती जाती। ऐसे ही एक दिन जब मैं कमरा ठीक कर रही थी और किताबों को ढंग से लगा रही थी, तो एक कागज पर अपना नाम लिखा देखा। एक-दो बार लिखकर नाम काटा गया था। वह एक डायरी थी। मैं उसे उठाकर पढ़ने का लोभ संवरण नहीं कर सकी। लिखा था—

‘पहली बार जब देखा, तब सलवार-कमीज या गरास-कुर्ता पहने थी। बहुत ही साधारण-सी दिखनेवाली लड़की। दुबली-पतली देह, गेंहुआ रंग, चेहरे को अपनी पकड़ में रखनेवाली दो बड़ी-बड़ी आंखें, लंबी बरौनियों से घिरी हुई। कहते हैं, परियां ऊपर से आती हैं, तो अपने रूप से सबका मन मोह लेती हैं। यह लड़की भी उसी तरह एक दिन छत से उतरकर नीचे आई, तो ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। अम्मा के साथ नहीं आती और अम्मा सीधे उसे मेरे कमरे में न ले आतीं तो शायद, मेरा ध्यान भी उसकी ओर नहीं जाता। भीड़ में दिखनेवाले अनजान चेहरों की तरह वह भी एक चेहरा दिमाग की परतों में खो जाता। पर क्या ऐसा ही हुआ? शायद, नहीं। बीमारी की वजह से विस्तर पर पड़े-पड़े जी ऊब उठा था। दोस्त, संगी-साथी आते थे, चले जाते थे।

‘सर्दियों में दिन छोटे और रातें लंबी होती हैं। पर यहां तो ये छोटे दिन भी पहाड़ से लग रहे हैं। लगता है, तख्त पर पड़े-पड़े कहीं गुम हो जाऊंगा। हताशा और निराशा के बीच डूबती-उतराती मेरी नाव। कभी डॉक्टर कहते हैं, साधारण बुखार है, कभी टी.बी. बताते हैं। विधि की कैसी विडंबना है और भाग्य के लिखे को कौन मिटा सकता है, टी.बी. के एक गलत टीके ने जीवन-धारा ही पलट दी। न यह इंजेक्शन लगता और न मैं बीमार पड़ता।

‘घने अंधकार में जब रोशनी की एक किरण भी आती है, तो मन उसी को पकड़कर रखना चाहता है। ऐसा ही हुआ। धीरे-धीरे इंतजार रहने लगा उन क्षणों का, जब साधारण-सी दिखनेवाली वह लड़की आएगी और अपनी मीठी बोली से कानों में मिश्री घोल देगी। किसी दिन न आती तो मन छटपटा उठता। क्या हुआ? क्यों नहीं आई? कैसी है यह लड़की? कैसा है इसका परिवेश? प्याज को हाथ में लेकर देखते हैं, तो वह गांठ ही दिखाई पड़ती है, पर जैसे-जैसे छिलके उतरते जाते हैं, वैसे-वैसे परत-दर-परत अंदर का गूदा दिखावी पड़ने लगता है, ऐसा ही कुछ हुआ। नाम है उसका सुशीला। शायद, स्वभाव भी ऐसा ही है—नर्म, कोमल, संवेदनशील। तभी तो इस उमर में जब लड़कियों को खेल-कूद और सहेलियों की गप्पबाजी से फुरसत नहीं मिलती, यह रोज आ जाती है एक बीमार के पास। घंटों बतियाती रहती है। कुछ घर की, कुछ स्कूल-कॉलेज की। बाहर और भीतर के बीच की कड़ी। मन उसके बारे में जानने और समझने के लिए उत्सुक हो उठा। तभी पाया कि ऊपर से नर्म-सी दिखनेवाली यह लड़की अंदर से संघर्षों से जूझने की सामर्थ्य रखती है। स्वतंत्रता संग्राम में जेल भी हो आई है। पढ़ने-लिखने में भी रुचि रखती है। कितने दुःख झेले हैं इसने, फिर भी हंसती रहती है। कितनी अकेली है, फिर भी दूसरों के दुःख को बांटना जानती है। सुख के भागीदार तो सभी बनना चाहते हैं, पर इसने तो दुःख को भी बांटना सीखा है। और सबसे ऊपर, अम्मा से कितना स्नेह रखती है!

‘लगता है, मुझे मेरी मंजिल मिल गई हैं। मेरी तलाश समाप्त हो गई है। मैं एक ऐसे मोड़ पर पहुंच गया हूं जहां से लौटना असंभव है।’

और भी बहुत कुछ लिखा था आगे। पर पढ़ने की इच्छा नहीं हुई। जो जानना चाहती थी, वह जान चुकी थी। मैंने धीरे से डायरी बंद करके किताबों के नीचे दबा दी और लौट आई अपने घर। भरी-पूरी अंदर से भी, बाहर से भी। अनजाने ही प्यार की जो शुरुआत हुई थी, वह एक कशिश में बदल गई और वह निरंतर बढ़ती ही गई।

इस कशिश को मैं उस क्षण किसी के साथ बांटना चाहती थी और तभी विमला की स्मृति...एक बार फिर मेरे हृदय को उसकी याद दिला गई। शायद, यही कशिश और यही प्यार था, जो विमला ने अपनी छोटी-सी उस अंजुरी में छिपा रखा था, जिसमें छेद ही छेद थे।

विमला के संबंध में मुझे एक ऐसी सड़क का ध्यान हो आता है, जिसमें मोड़ ही मोड़ थे। और हर मोड़ के बाद कुछ देर के लिए सीधी-सपाट सड़क बिना रोके-टोके चलती थी, पर परिणति उसकी एक ऐसे मोड़ पर थी, जिस मोड़ के आगे रास्ता नहीं था। विमला मेरी मौसी की लड़की थी। बहुत ही सुंदर और नाजुक परी-सी, चंचल। मुझे वह बेबे कहती थी। कभी वह मेरे घर आ जाती, कभी मैं उसके यहां। उम्र में वह मुझसे छोटी थी और अभी हाई स्कूल में ही पढ़ती थी। अक्सर स्कूल से लौटते वक्त वह मेरे घर पर आ जाती और रात को भी ठहर जाती। छत पर चांदनी रात में लेटे-लेटे एक-दो बजे तक हम लोग बातें करते रहते।

विमला को लेकर ईश्वर के न्याय पर बड़ी खिन्न आती। उसके दिल में जन्मजात कुछ कमी थी। शायद, दो वाल्व्स के बीच स्पेस ज्यादा थी। थोड़ी-सी भागदौड़, उछल-कूद या उत्साह से ही उसकी धड़कन बढ़ जाती थी। आजकल का समय होता तो शायद, जब विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है और हृदय के आपरेशन संभव हो गए हैं, वह भी बच जाती। पर उन दिनों ऐसा नहीं था। मां-बाप ने बहुत इलाज कराया, पर कोई रास्ता ढूंढे नहीं मिला।

उस दिन मैं उसके घर पर पहुंची तो देखा, अपना बक्स खोले, बड़े जतन से एक-एक चीज सहेजकर रख रही है। मेरे पहुंचते ही बक्स बंद करने लगी। मैंने बड़े अपनेपन से पूछा, 'क्या है, जो छिपा रही है?' कहकर मैंने उसके हाथ से चाबी छीन ली। बक्से को खोलकर देखा तो बड़े ही सुंदर-सुंदर तकिये के गिलाफ और मेजपोश बनाकर रखे हुए थे। कुछ रुमाल, कुछ चादरें, आदि। मैंने चुटकी भरी, 'अच्छा, किसके लिए यह सब बना रही हो? कुछ हमें भी बताओ।'

'वह रवि है न, अपने डॉक्टर साहब का लड़का! लखनऊ मेडिकल कॉलेज में पढ़ रहा है। ब्राह्मण हैं वे लोग। दांतों का डॉक्टर बनना चाहता है। उसी के...'। बहुत ही लजाते ढंग से वह बोली।

'क्या डॉक्टर साहब को भी मालूम है?' मैंने पूछा।

'नहीं,' विमला बोली, 'वैसे तो बहुत आधुनिक बनते हैं, पर हैं पुराने ख्यालात के। पर लड़का रवि वैसा नहीं है। घर में उस पर बड़े बंधन हैं। मुझसे भी छिप-छिपाकर ही मिलने आता है।'

उस दिन वह बेहद खुश थी। पेड़ों पर फूटती पहली कोंपल और धरती से फूटते अंकुर की भांति उसका चेहरा कोमल, संवेदनशील और स्निग्ध था। आत्मविस्मृत। न उस दिन उसे अपनी बीमारी का ख्याल था और न दिल के अंदर उस खाली जगह का, जिसने उसकी जीवन-रेखा बहुत छोटी कर दी थी। डॉक्टरों ने कह रखा था, कोई भी झटका, दुख या सुख का वेग, उसके जीवन के लिए हानिकारक है। पर डॉक्टरों के कहने से इच्छाएं मर तो नहीं जातीं? वह तो समुद्र की लहरों की तरह दुगुने वेग से उमड़कर आती हैं। डूबता आदमी तिनके का सहारा पाने का मोह नहीं छोड़ता। जो अलभ्य है, उसी को पाने

के लिए तो दौड़ शुरू होती है। पा लेने के बाद तो सब कुछ गौण हो जाता है। दर्द की चरम सीमा को छूने की शक्ति भी उसमें आ जाती है। कुछ यही दशा उस समय विमला की थी। मैंने उसके लजीले प्रसन्न चेहरे को देखते हुए बड़े संकोच से पूछा, 'पर विमला, तुम्हारी बीमारी?'

'मैंने उसे सब कुछ बता दिया है। उसके पिता को भी मालूम है।'

सबको पता था कि जिस प्रेम के जाल में उनकी नन्हें बिटिया उलझ गई है, उससे निकलने का कोई रास्ता नहीं है। उसके इस ओर भी दर्द है, उस ओर भी दर्द है। बीच में है चांदी-सी उजली रेखा, जो उसके जीवन की अतृप्त प्यास को बुझा सकती है। गोताखोर जब पानी के अंदर कूदता है सीप को पाने के लिए, जिसके अंदर कीमती मोती छिपा होता है, तो उसे ऊंची उठती लहरों की चिंता नहीं होती। समुद्र की रेत को अंजुरी में भर-भरकर हम घरोंदे बनाते हैं। मालूम है, घरोंदे रुकेंगे नहीं, रेत भी मुट्ठी में से सरक जाएगी, फिर भी हम घरोंदे बनाते रहते हैं। कुछ यही दशा उस समय विमला की थी। भागते समय को पकड़कर अपनी मुट्ठी में कैद करने की उसकी अदम्य लालसा। मैं उसे कुछ और कहने का साहस नहीं जुटा सकी।

रवि को भी अपने निर्णय के नाजुक परिणामों की खबर थी। किंतु उसने निर्णय लेने में एक क्षण की भी देरी नहीं की। जिसको उसने दिल दिया है, जीवन की अंतिम सांसों तक वह खुश तो रहेगी। तूफान तो आ ही चुका है। उसके बाद क्या होगा, उसके बारे में क्या सोचना?

और बंदनवारों की लड़ियां सज गईं। मंडप जगमगा उठा। शहनाइयां बजने लगीं। अग्नि की साक्षी में वे एक दूसरे से जीवन-भर के लिए जुड़ गए। रवि के माता-पिता तो शादी में नहीं ही आए। परंपरागत लकीरों पर चलनेवाले मन, लीक से हटकर चलने के सुख और आनंद को क्या समझते?

रवि अपनी दुल्हनिया को लेकर लखनऊ चला गया, जहां उसे अपनी मेडिकल की पढ़ाई पूरी करनी थी। एक छोटा-सा मकान किराये पर ले लिया और वहीं उनकी गृहस्थी जम गई।

कुछ वर्षों बाद, एक बार कलकत्ते से मैंने उसे फोन किया था कि मैं लखनऊ आ रही हूं। फोन पर ही वह इतनी उत्साहित हो उठी कि मुझे लगा उसकी धड़कन कहीं उसे धोखा न दे जाय। 'कब आ रही हो?' 'रुकोगी न?' लगता था, वह सारी बातें फोन पर ही जान लेना चाहती थी। अति उत्साह उसके लिए घातक हो सकता है, सोचकर मैंने ज्यादा बातें नहीं कहीं, आने का वायदा करके फोन रख दिया।

कलकत्ते से लौटकर मैं उससे मिलने गई। छोटा-सा घर था, साफ-सुथरा, करीने से सजा हुआ। ऊपर अपने कमरे में पंलग पर वह लेटी थी। गुड़िया-सी सजी हुई। गोरी तो वह थी ही। उस समय खुशी से उसका चेहरा दमक रहा था। कितने रंग आ रहे थे चेहरे पर, लाल, गुलाबी। मुझे देखकर लिपट गई। एक-एक बात बता रही थी कि रवि

उसका कितना ख्याल रखते हैं कि एक गिलास पानी भी उठकर पीने नहीं देते, नौकर से खाना बनवाकर पास ही रखवा जाते हैं कि उसे खास भागदौड़ न करनी पड़े। शाम को जब कमरे में पड़े-पड़े जी ऊब जाता है, तब गोदी में उठाकर नीचे ले जाते हैं लॉन में। उसकी बातें तो खत्म ही नहीं हो पा रही थीं। मेरा हाथ पकड़े-पकड़े न जाने कितनी देर वह बातें करती रही। किंतु रवि ने मुझे बता दिया था कि जहां तक हो सके, मैं कम ही बातें करूं। एक-दूसरे की वाहें पकड़े हम काफी देर बैठे रहे, ऐसा पति पाकर वह खुशी से धन्य हो रही थी।

फिर मैं लौट आई। विमला से फिर मिल नहीं सकी। लखनऊ मेडिकल कालेज के छात्र-छात्राएं और प्रोफेसर, सभी उस प्रेमी-युगल पर न्यूँछावर थे। हर संभव प्रयत्न किया गया, पर मनुष्य की क्षमता तो सीमित है। उस व्यापक सत्ता के सामने वह जवाब दे गई। और विमला चली गई वहां, जहां से लौटकर कोई नहीं आता।

मैंने क्राइस्ट चर्च कालेज से बी.ए. कर लिया था। आगे पढ़ाई के लिए इस बार कोई झंझट नहीं हुआ। डी.ए.वी. कॉलेज में मैंने एडमिशन ले लिया। हम दोनों ही डी.ए.वी. में पढ़ रहे थे किंतु, हमारी कक्षाएं अलग-अलग समय पर होती थीं। मेरा विषय अर्थशास्त्र था और ठाकुर ने (उनका पूरा नाम ठाकुर प्रसाद था, मां के लिए ठाकुर, मित्रों के बीच टी.पी.) कामर्स लिया था। क्राइस्ट चर्च कालेज में मेरे रहते जो देखा-देखी होती थी, वह बंद हो गई थी। घर में भी दोस्तों की भीड़ रहती थी। दोस्त ज्यादा नहीं थे। श्यामसुंदर, प्रेम कपूर, नंदकिशोर झाझरिया और हरि जयपुरिया। नंदकिशोर श्यामसुंदर के वहनोई लगते थे। हरि जयपुरिया शाम को घर आते थे कभी-कभी। प्रतिदिन तो प्रेम कपूर और श्यामजी ही साथ-साथ पढ़ते थे। अम्माजी के पास मेरा आना-जाना भी कम हो गया था क्योंकि, पढ़ाई का जोर चल रहा था।

दिन में बड़ी सख्त धूप होती थी। सड़कों पर आदमी तो क्या कोई कुत्ता तक नजर नहीं आता था। कमरे की खिड़कियों पर खस के परदे टंगे रहते थे। उन पर दिन में कई बार पानी छिड़का जाता, तब जाकर कहीं कुछ ठंडक मिलती। कमरों की ठंडक में आंखें मुंदने-मुंदने को होतीं। घर में और सब तो कमरों के अंदर दुबके रहते, लेकिन मैं उस जलती दोपहरी में भी छत पर पहुंच जाती। आंखें गली के मुहाने पर जम जातीं। आस-पास खामोशी। ऐसा लगता कि जैसे मैं दुनिया के आखिरी छोर पर खड़ी हूं और यह खामोशी कभी नहीं टूटेगी। उस वक्त ऐसा लगता जैसे, सारी दुनिया में सिर्फ तीन चीजें हैं—वह छत, खामोशी और किसी का इंतजार करती मेरी आंखें।

मई-जून की दोपहर दो बजे ठाकुर कालेज से लौटते थे। मैं छत पर खड़ी रहती कि कम से कम एक झलक तो देखने को मिलेगी। उनकी नजरें भी जब छत पर कुछ खोजते-खोजते पहुंच जातीं तो मई-जून की तपती दोपहर में भी किसी घने तरुवर की छांव

की शीतलता का आभास होता। सारी तपन मिट जाती। फिर खाना खाने के बाद जब वे नीचे साईं की दुकान में पान खाने के लिए दोस्तों के साथ जाते, तब लौटते समय उनकी दृष्टि भी मुझे ही दृढ़ती रहती। उस एक पल के ही दृष्टि-मिलन में क्या था—जानने के लिए किसी को सौ जन्म भी लेना पड़े तो यह किसी का भी सौभाग्य हो सकता है।

इच्छाओं और आकांक्षाओं की कोई सीमा नहीं होती। जहां कुछ देर मिलकर या एक-दूसरे को देखकर ही चैन पड़ जाता था, वहां अब मन करने लगा कि हम एक-दूसरे से रोज मिलें और पहले की तरह ढेर सारी बातें करें।

मैं गणित में शुरू से ही कमजोर थी। ऊपर से स्टेटिस्टिक्स ले ली। तैयारी करने में बड़ी मुश्किल होती थी। एक दिन मैंने अम्माजी से पूछा, 'कुछ विषय ऐसे हैं, जिन्हें मैं समझ नहीं पाती। यदि आपके बेटे मुझे थोड़ी सहायता कर दें, तो मैं पास हो जाऊंगी।' अम्माजी ने कहा, 'हां, क्यों नहीं! मैं कह दूंगी।' भाईजी से भी मैंने बता दिया कि पड़ोस में अम्माजी के बेटे मुझे रोज स्टेटिस्टिक्स पढ़ाने घर आ जाया करेंगे।

इस प्रकार मिलने-जुलने का सिलसिला फिर से शुरू हो गया। अपने प्रति उनकी भावनाओं को मैं जान चुकी थी, किंतु वे अभी भी इस तथ्य से अनजान थे कि मैं इस भेद को जान गई हूं। इसलिए अभी भी हमारे बीच एक 'फारमेलिटी' बनी हुई थी।

तय हुआ कि नीचेवाले कमरे में बैठकर पढ़ाई होगी। दूसरे दिन से ही पढ़ाई शुरू हो गई। पढ़ाई के साथ कालेज की, घर की बातें भी होती रहतीं। कभी एक लड़के का मजाक उड़ाया जाता कि ऐसे कपड़े पहनकर आता है मानो अभी खेतों से चला आ रहा है तो, फिर दूसरे का जो अपने-आपको 'इंग्लैंड रिटर्न' समझता है।

जब हम किसी को प्यार करते हैं तो, उसका सीधा-साधा एक ही अर्थ होता है कि हम उस व्यक्ति को पसंद करते हैं। पसंद हम तभी करते हैं जब वह हमें एकरूप प्रतीत होता है, निजता का अहसास जता पाता है। यह अपनापन धीरे-धीरे विकसित होता है, तभी आपस में प्रेम, विश्वास, लगाव बढ़ता है। तभी हम समझौते कर पाते हैं, एक ढंग से सोच सकते हैं। एक-समान, एक-रूप सोचना पसंदगी के कारण होता है। यही पसंदगी उस उदारता की परिचायक है, जिसके कारण साथी के सभी गुण-दोष स्वीकार्य होते हैं। आपस में कोई दुराग्रह नहीं रहता। वह जैसा भी है, अच्छा या बुरा, दिल से अपना होता है। ऐसा नहीं था कि हममें आपस में नोक-झोंक नहीं होती थी। पढ़ने के वक्त कई बार इतनी डांट पड़ती कि मुझे कहना पड़ता, 'डांटिए नहीं, समझाकर बताइए' और ठाकुर कहते, 'तुम समझती ही नहीं तो क्या करें, ऊपर से बहस किए जाती हो। किस तरह समझाएं? जो बात कहते हैं, उसे माना करो।' ठाकुर की बहन बहुत अच्छी थीं। हम सब उन्हें बाई कहते थे। कई बार वह मुझसे अपने साथ सिनेमा चलने के लिए कहतीं। एक दिन आखिर प्रोग्राम बन ही गया। मैं, ठाकुर और बाई तथा उनके पति। संयोग कि मैं बाई की बगल की कुर्सी पर बैठी तो

ठाकुर मेरे पास की कुर्सी पर आ बैठे। मैं तो पूरी तरह पिक्चर देख ही नहीं पाई। अंधेरे में अचानक ठाकुर का हाथ मेरे हाथ पर पड़ गया। सारे शरीर में सनसनी-सी दौड़ गई। मन उधेड़-बुन करने लगा। शायद, हाथ गलती से मेरे हाथ पर पड़ गया है। यह एक संयोग था या जान-बूझकर दिया गया इशारा, कुछ अनकही कहने के लिए! जो भी हो, मुझे तो जैसे करंट छू गया हो, मैंने झट अपना हाथ हटा लिया। पिक्चर से घर आते तक कुछ बोल ही नहीं सकी।

दूसरे दिन भी शर्म से आधी होती रही। मुझे अनमनी देखकर ठाकुर ने पूछा, 'क्या बात है, इतनी अनमनी क्यों हो?'

मैं क्या बताती! कहा, 'आज सरोज की चिट्ठी आई है। बिल्कुल डूबकर लिखती है अपने मन की सभी बातें। मेरे साथ पढ़ती थी तो मेरे लिए उसका मन बहुत दूरता था।'

'अच्छा, इन सब बातों को छोड़कर पढ़ाई की ओर ध्यान दो,' और फिर बड़े गंभीर भाव से पढ़ाई शुरू हो गई। मुझे एक सरस्वती मंत्र दिया कि इसका जाप करने से बुद्धि विकसित होती है। मंत्र था :

या दुग्धापि न दुग्धेव कवि दोग्धमिरन्वहम।
हदिनं, सन्निधता या सूक्त धेनु, सरस्वती।

अर्थात्, जो सुंदर विचार रूपी सरस्वती रूपिणी गौ-गवालों के समान कवियों द्वारा सदैव दुही जाती है, जिसका ज्ञान रूपी दूध कभी कम नहीं होता और जो दुही जाने पर भी बिना दुही-सी प्रतीत होती है, वही सूक्ति रूपी देवी सरस्वती मेरे हृदय में निवास करें।

मैं नित्य मनोयोगपूर्वक इस मंत्र का जाप करने लगी।

एक दिन दोपहर में हम लोग ऐसे ही पढ़ रहे थे कि अचानक ठाकुर का पैर मेरे पैर से छू गया। मैं पैर हटाने लगी तो उन्होंने अपने पैर से मेरा पैर दाबकर वहीं का वहीं रहने दिया। मेरा मुंह लाल हो गया। सारे शरीर में सिहरन दौड़ गई। खून जैसे लावा बनकर नसों में बहने लगा। जब भी मैं पैर हटाने को करती, वह उनके पैर की पकड़ में और जकड़ जाता। आंख उठाकर देखने की हिम्मत भी नहीं थी मुझमें। कितना समय बीत गया, मुझे पता नहीं। फिर आंख उठाकर देखा तो पाया कि वे बड़े प्यार से मुझे देख रहे हैं। हम कितनी ही देर एक-दूसरे की आंखों में आंखें डाले बैठे रहे। खामोशी इतनी कि सुई भी गिरे तो शायद, उसकी आवाज सुनाई दे, पर उस समय तो यह हालत थी कि कोई डंका भी बजा जाता तब भी नहीं सुनाई पड़ता। बेसुध, लाचार, बेबस एक-दूसरे की सम्मोहन-शक्ति से बंधे हुए। यह क्या हो रहा है मुझे? पहले तो कभी ऐसा नहीं हुआ। किससे कहूं यह अनुभव, पहले प्यार के पहले स्पर्श का अनुभव, जिसे आज तक भुला नहीं पाई हूं।

अचानक पता नहीं क्या हुआ, भाईजी को शायद, ठाकुर का रोज-रोज आना अच्छा

नहीं लगा। मेरे दोनों बड़े भाइयों में चख-चख हो गई। शायद, भाईजी हमारी दृष्टि के अंतर को भांप गए थे। कुछ बेरुखी दिखाई पड़ी व्यवहार में, तो ठाकुर ने आना बंद कर दिया।

शामें, जो ज्यादा ही खुशगवार होने लगी थीं, अब 'बोरिंग' होने लगीं। पढ़ाई में ध्यान नहीं लगता। किताब खोलते ही एक गंभीर-सा चेहरा आंखों के सामने आ जाता। आंखें अपनी बेवसी में आंसुओं से डबडबा जातीं।

कई दिन बीत गए। एक दिन अपने घर की सीढ़ियां उतरते हुए ठाकुर ने मुझे नीचे आने का इशारा किया। मैं अपनी सीढ़ियों के पास पहुंची तो एक छोटा-सा कागज का टुकड़ा मुझे पकड़ाकर चले गए।

मैं लौटकर ऊपर आई। खोलकर पढ़ा। लिखा था, 'तुम अगर कहो तो मैं भाभी की तबियत देखने आ जाऊं, क्योंकि यदि मेरी तरफ से मन-मुटाव रहा तो इन लोगों को मेरा तुमसे बोलना और मिलना नागवार गुजरेगा। परीक्षा पास आ रही है। तुम कैसे तैयारी करोगी? भाईजी ने कहा था, मुन्नी तो आप पर ही निर्भर करती है, आपके बगैर पढ़ ही नहीं सकती। यह बात भी सही है। तुम भाईजी से बात करो। फिर शायद, वे मुझे पढ़ाने के लिए बुला लें। तुम उनसे कटी-कटी न रहा करो।'

मैंने संकोचवश चिट्ठी का जवाब नहीं दिया। दूसरे दिन फिर एक चिट्ठी दी। लिखा था, 'छोटा भाई भी मुझसे उखड़ा-उखड़ा रहता है। उसे सिनेमा वगैरह दिखा दिया करो। मुझे हल्का-सा बुखार आ रहा है।'

मैंने अम्मा से जाकर कहा, 'बुखार आना ठीक नहीं है। एक्स-रे करा लेना चाहिए।'

कभी आते-जाते सीढ़ी पर मुलाकात हो जाती। छोटी-सी मुठभेड़ में आंखों से आंखें मिलतीं तो उनकी बेचैन आंखें, यह राज छुपा न पातीं कि वे भी मुझे ढूँढ़ रही हैं। कभी हमारी चुप्पी ही हजारों जुबान बनकर दिल से दिल की बात कह देती। हमारी यह खामोश चाहत, यह खामोशी चलती ही रहती, अगर पहल उनकी तरफ से न होती। मैं तो भाईजी के डर और मन के चोर के कारण संकोचवश उनसे बात ही नहीं कर पा रही थी।

ठाकुर ने फिर कहा, 'सच तो यह है कि मेरा दिमाग खराब हो गया है। मेरा दिमाग इसलिए परेशान हो रहा है कि आखिर, मैंने ऐसा क्या कर दिया! कभी-कभी तुमसे भी, जैसा व्यवहार करता हूँ, उसके लिए खुद भी तो परेशान रहता हूँ। आज दोपहर में मैंने अपने-आपको कितना कोसा है, मुझे याद नहीं। किसी ने कहा था कि जब इन्सान सब तरफ से हारने लगता है, तो उसकी यही हालत होती है। आज मैंने कसम खाई है कि तुमको अपने मन की बात बताऊँ। अम्मा ने मुझे बताया कि तुमने एक्स-रे कराने के लिए कहा है। मगर एक्स-रे कराने के लिए इसलिए तैयार नहीं हूँ कि अगर कोई ऐसी-वैसी बीमारी हुई, तो उसका इलाज जरूर कराना पड़ेगा। मेरी एम.कॉम. की पढ़ाई रह जाएगी और यह सौदा तुम्हारी कसम, मैं अपनी जिंदगी देकर भी नहीं करना चाहता। आजकल मैंने आकाश में उड़ना छोड़ दिया है, और यह भी निश्चित कर लिया है कि एम.कॉम.

के बाद बाहर नौकरी मिलते ही मैं तुमसे शादी कर लूंगा। आई.सी.एस., पी.सी.एस. की कोई जरूरत नहीं। इसलिए मैंने बीमारी में अम्मा के सामने तुम्हें, तुम कहकर बुलाया और अम्मा से कहा कि सुशीला को बुला दो। मेरी तबियत नहीं लग रही है।'

घर लाकर चिट्ठी पढ़ी तो सैकड़ों सूरज आसमान में एक साथ चमक उठे। मन किया कि सबको, दौड़कर चिट्ठी दिखाऊं और हवा में गाती-नाचती फिरूं। अपने अंदर अजीब-सी शक्ति महसूस की। महसूस किया कि शक्ति जो मेरे अंदर थी, वह अपने-आप में परिपूर्ण नहीं थी, उसके लिए किसी उत्प्रेरक ऊर्जा की आवश्यकता थी और उस ऊर्जा का स्रोत खुल गया था। अब मुझे किसी का डर नहीं है।

ठाकुर फिर से आने लगे तो किसी ने कुछ नहीं कहा क्योंकि, मैंने घर में बता दिया था कि परीक्षाएं पास आ रही हैं। कोर्स काफी पिछड़ गया है। बहुत मेहनत करनी पड़ेगी, नहीं तो पास होने का कोई 'चांस' नहीं है।

इस बार हमारी पढ़ाई बड़ी गंभीरता से शुरू हुई, किंतु कोई न कोई बात ऐसी हो जाती कि हमारा झगड़ा हो ही जाता। बातें कोई बड़ी नहीं होती थीं। इस बार हम बड़ी गंभीरतापूर्वक पढ़ाई कर रहे थे। इसलिए थोड़ा-सा व्यवधान भी बड़ा लगता था। अपनी घर-गृहस्थी तो मैं ही देखती थी। कभी धोबी आकर कपड़े मांगता और कभी महाराजिन आ जाती। कमरे में झांककर पूछती, 'क्या बनाना है?' बहुत आवाजें आती थीं—दूधवाले की, मक्खनवाले की और भाजी-तरकारीवालों की। देखने में ये छोटी-छोटी बातें थीं, किंतु इनसे एकाग्रता में तो बाधा पड़ती ही थी। ठाकुर कहते, 'दरवाजा उड़का दो तो, शांति से पढ़ाई हो।' अब इनको कौन समझाए कि लड़कियों की कुछ मजबूरियां होती हैं। माना, हमारे दिल बहुत साफ हैं, मगर देखनेवालों को क्या कहेंगे? वस, मेरी यही मजबूरियां ठाकुर नहीं समझते थे। एक दिन मैंने कह दिया, 'भाईजी ऊपर हैं। वह क्या कहेंगे?'

'हम ऐसा क्या कर रहे हैं जो भाईजी कुछ कहेंगे,' इनका उत्तर था।

उसके बाद बस, रूठ गए और चले गए।

फिर चिट्ठी आई, 'मैं जो चाहता हूं, वह तुम नहीं करती हो। मेरा जरा भी ध्यान नहीं रखती हो। पढ़ाई में व्यवधान न पड़े, इसलिए मैंने कहा कि आवाजें 'डिस्टर्ब' करती हैं, दरवाजा बंद कर दो। तुम बंद कर देतीं तो क्या पहाड़ टूट जाता? तुमने चट से कह दिया, ऊपर भाईजी हैं। तुम जरा-सा मेरे लिए भाईजी का डर नहीं सह सकतीं? जीवन तो बहुत बड़ा है। उसमें तो इससे भी बड़े-बड़े डर आएंगे। कैसे पार कर पाओगी?

'मैं तुम्हारे लिए मां का प्यार, भाई का दुलार, बहनों का लाड़, सब ठुकराने के लिए तैयार हूं। मैं इसलिए नहीं कह रहा हूं कि मैं तुम पर कोई एहसान करूंगा। इसलिए कह रहा हूं कि मैं अपनी आदत से लाचार हूं। मुझे एक काम यदि करना है, तो उसमें पूरी एकाग्रता चाहिए, कोई झमेला नहीं। जब कोई मेरी बात नहीं सुनता, तब मुझे बहुत गुस्सा आता है। एक बात और। मैं सपने बहुत देखता हूं। आसमान में उड़ता हूं। सोचता हूं, यदि आज मेरे पास पैसा होता, बंगला होता, मोटर होती तो सभी मेरी कदर करते। मुझे

विश्वास है, तुम्हें इन चीजों से कोई लेना-देना नहीं है, लेकिन तुम्हारे घरवाले तो सोच सकते हैं। यही सब सोचकर मुझे गुस्सा आ जाता है।

‘मानता हूँ, मैं दोषी हूँ, पर दोषी तुम भी तो हो। जो बातें तुम्हारे बस की हैं, तुम वे भी नहीं करतीं। जैसे, जब नौकर दरवाजा बंद करता है तो करने दिया करो। जब मैं बैठा होता हूँ तभी रोकती हो, और कोई रहता है तो नहीं रोकती। पता नहीं, कौन क्या सोचता होगा? शाम से सीने में दाहिनी ओर दर्द हो रहा है, सिर फटा जा रहा है। अम्मा सो चुकी हैं। गोविंदबाबू (पड़ोसी) अपनी बीवी पर बिगड़ रहे हैं। मुझे उनका चिल्लाना बहुत बुरा लग रहा है। मैं जानता हूँ तुम मेरी चिट्ठी पढ़कर खूब रोओगी। आंसुओं से सारा मजा किरकिरा हो जाता है। पेंसिल खत्म हो गई है, पर सर हल्का हो गया है। सोने की कोशिश कर रहा हूँ। तुम्हारा प्यार ही तो मेरी जिंदगी है।’

चिट्ठी पढ़कर मैंने सोचा, बाप रे, इतनी तड़प, इतनी बेकली लेकर यह पुरुष-मन कैसे जी सकेगा? हालांकि, हालत यह कि आग दोनों तरफ बराबर लगी हुई है। नारी-मन तो सब सह लेता है। सब ऊंचा-नीचा देखता है। घर की मर्यादा, बड़ों का लिहाज, समाज के बंधन। जब तक इनके बीच हूँ, इन्हें लेकर तो चलना ही है। पर पुरुष-मन को कैसे समझाऊँ? वह तो एक झटके में ही सब तोड़ देना चाहता है।

मैंने डी.ए.वी. कॉलेज में लॉ ज्वायन कर लिया। शाम को एक साथ घर लौटते। डी.ए.वी. से फूलबाग के चौराहे की दूरी आंख झपकते पूरी हो जाती। बोलते-बतियाते चलते रहते। कई बार सोचते, काश, यह रास्ता खत्म ही नहीं होता तो कितना अच्छा होता!

एक दिन मैंने पूछा, ‘आपने सभी दोस्तों के बारे में बता दिया कि श्यामसुंदर छोटे भाई की तरह हैं, हरि जयपुरिया का दिमाग बहुत तेज है, उसे इंडियन पीनल कोड में गोल्ड मैडल मिला है....।’

‘हां, कहते हैं, पहले इसका दिमाग इतना तेज नहीं था। एक बार कानपुर से लखनऊ जा रहा था। ट्रेन में खिड़की पकड़कर स्टेशन की दूरी नजरोں से नाप रहा था, इतना झुका कि सिगनल से जा टकराया। तब से दिमाग की खिड़की कुछ ज्यादा ही खुल गई है।

ठाकुर के यहां जब मित्रों का जमघट लगता, तब फरमाइश आ जाती कभी समोसों की, कभी दही-बड़ों की। सब प्रेम से खाते और मेरी तारीफ करते। इसी बीच श्यामसुंदर की शादी तय हो गई। मारवाड़ियों में लड़के हों या लड़कियां, शादी जल्दी कर दी जाती थी। आज भी यही सिलसिला जारी है। सभी दोस्त बारात में गए। पत्नी अच्छी, सुंदर, सुशील मिली। बारात के मजे, ससुराल की बातें सुनकर हम खूब हंसते रहे।

मैंने पूछा, “अब अगली बारी किसकी है? क्या बाकी सभी मां-बाप की पसंद पर ही शादी करेंगे?”

उनका कहना था, शादी-ब्याह सब भाग्य की बात है। एक तरह का जुआ है। पांसा ठीक पड़ा तो जिंदगी सुधर जाती है, वरना झींकते रहना पड़ता है, हमेशा के लिए।

“अरे हां, कल तो तुम्हारी चर्चा भी हुई,” ठाकुर ने कहा।

“अच्छा, मेरी क्या बात हुई? मुझे वे सब क्या जानें?” मैंने पूछा।

“वाह, जानते क्यों नहीं? तुम्हारे हाथ के बने जायकेदार समोसे, दही-बड़े नहीं खाए क्या?”

“उससे क्या?”

“अरे, तुम्हें तो ‘मैडम’ कहकर बुलाते हैं।”

“तो क्या मेरे बारे में अक्सर बातें होती हैं?”

“हां, कभी-कभी। और कोई तो कुछ नहीं कहता, पर हरि जरूर बोलता है। श्याम की शादी के समय ही कह रहा था—सुशीला जैसी सौम्य लड़की और कहां मिलेगी?” ठाकुर ने बताया।

“तो क्या सबको अपने बारे में पता लग गया है?” मैंने पूछा।

“सामने तो हरि ने ही पहली बार यह बात की है। और सबको भी अंदाज तो है ही, मुंह से चाहे कुछ न कहें।” ठाकुर ने जवाब दिया।

अम्माजी मुझे पसंद करती थीं। मन ही मन वह क्या सोचती थीं, यह तो नहीं मालूम। बहू के रूप में स्वीकार करेंगी, कह नहीं सकती। वैसे, प्यार बहुत करती हैं।

एक ओर, अपने परिवार को छोड़कर, भाइयों से विद्रोह कर विवाह करने का साहस मुझमें नहीं था। दूसरी ओर, मैं इंकार करके अपने और ठाकुर के अलग रहने की बात भी नहीं सोच सकती थी। बड़ी विषम स्थिति थी। दूसरे, यह भी आशंका थी कि ठाकुर के परिवार, रीति-रिवाज, संस्कार व खान-पान के साथ सामंजस्य स्थापित कैसे कर पाऊंगी।

इसी ऊहापोह में कुछ दिन और कट गए। पढ़ाई का सिलसिला चलता रहा। एक दिन लॉ कालेज से लौटते समय मैंने कहा, “हमारा एक अच्छा-सा फोटो प्रेम से कहकर उतरवा दो।”

“क्या बात है? किसी लड़के को भेजनी है या कहीं शादी की बात चल रही है?” सशंकित स्वर में पूछा ठाकुर ने।

“धत्त, वह सरोज है न! उसकी चिट्ठी आई है। हम उसे बड़ी लंबी-लंबी चिट्ठी लिखते हैं। ‘प्रिय सरोज रानी’ संबोधन से। चिट्ठी होती भी भावुकतापूर्ण है। उसके पति तो भोलाशंकर हैं। एक चंचल ननद और नटखट देवर है। सरोज ने लिखा है कि पति मानते ही नहीं कि लड़कियों में इतनी गहरी दोस्ती हो सकती है। कहते हैं, पत्र किसी लड़के के हैं। पति बड़े सुंदर, सज्जन हैं। उन्हें कोई शक नहीं है, पर तुम एक बार अपने दस्तखत करके फोटो भेज दो तो इन लोगों की तसल्ली हो जाएगी। नहीं तो कहीं बात का बतंगड़ न बन जाय।”

ठाकुर खूब हंसे। कहा, “मुझे भी ज्यादा असरदार, भावुक पत्र लिखती हो क्या? मुझे तो तुमने कभी कोई पत्र आज तक लिखकर दिया नहीं!”

मैं बोली, “दो कदम के फासले पर तो हो। क्या तो पत्र लिखूं और क्या न लिखूं!”

“मैं तो यह फासले भी नहीं चाहता। इन्हें मिटा दो न,” ठाकुर ने शरारत भरी नजर से देखते हुए कहा।

मैंने हंसकर बात टाल दी।

किंतु, क्या बात ऐसे टल सकती थी? हम दोनों एक-दूसरे के प्यार में इतना डूबे हुए थे, इसका कुछ-कुछ अहसास तो दोस्तों को था, पर उन्हें यह नहीं पता था कि हमने आपस में भी इस तथ्य को स्वीकारा है या नहीं?

एक दिन हरि जयपुरिया की चिट्ठी फिर आई। वह लखनऊ गए हुए थे। वहां से लिखा था, “मैडम को जब तुम इतना प्यार करते हो, तो शादी क्यों नहीं करते? उनके घरवालों से शादी की बात क्यों नहीं करते हो? प्रेम में वासना जरूरी है। उसके बगैर प्रेम पुष्पित-पल्लवित नहीं होता,” ठाकुर ने मुझे बताते हुए पूछा, “तुम्हारी क्या राय है?”

“हरि की बात में कुछ तत्त्व तो अवश्य है। अपने पुराणों में भी लिखा है कि जब श्रीराम ने वाटिका में सीता को देखा, तभी उन्हें प्रेम हो गया और उनके मन में इच्छा जगी कि धनुष तोड़कर सीता से ब्याह कर लें। भगवान शंकर के मन में भी कामदेव ने प्रवेश किया, तभी उनकी समाधि टूटी और उन्होंने पार्वती का वरण किया,” मैंने कहा।

“तब यह प्लेटनिक लव क्या बकवास है?” ठाकुर ने पूछा।

मैं बोली, “नहीं, माना कि प्रेम एक-दूसरे को देखकर उत्पन्न होता है, प्रेम का आधार तत्त्व ही शारीरिक आकर्षण है। प्रेमी को देखकर मन उमंग से भर जाता है। शरीर में एक तरंग-सी उठने लगती है और उसके तनिक से स्पर्श से शरीर में झनझनाहट भर जाती है। किंतु, जब प्रेम में शारीरिक संबंध या सैक्स की भावना ही सर्वोपरि हो जाती है, तब वह प्रेम न रहकर संसार के गहरे अथाह सागर के भविष्य में आनेवाले तूफान का, झंझावात का सूचक बन जाता है। दूसरी ओर कई बार हम संबंधों के प्रगाढ़ होने की प्रक्रिया में देह के अलावा व्यक्ति की अन्य योग्यताओं-विशेषताओं से इतना जुड़ जाते हैं कि हमें शारीरिक संबंध महत्त्वहीन लगता है। उसके होने या न होने से कोई अंतर नहीं पड़ता।”

ठाकुर बोले, “मैं भी यही मानता हूं। हमारा अपने संस्कारों से जुड़ा होना हमें शारीरिक संबंध बनाने से रोकता है और उससे ऐसा नहीं होता कि प्रेम की उत्कृष्टता में कोई कमी आती हो। परंतु, एक बात यह भी निश्चित है कि यदि प्रेम का आधार मात्र शरीर रहा है, तो शारीरिक संपर्क के बाद प्रेम की तीव्रता कम हो जाती है।”

मैंने कहा, “मैं ऐसा नहीं मानती। प्रेम की शाश्वतता के लिए अन्य गुणों जैसे सहनशीलता, उदारता, ममत्व आदि का होना भी जरूरी है। इसलिए शारीरिक संबंधों का होना या न होना, यह कतई नहीं दर्शाता कि आप एक-दूसरे की देह को नहीं प्राप्त करना चाहते, वरन् इस परिपक्वता को दर्शाता है कि आपका प्रेम मर्यादित है और उसमें शारीरिक

आकर्षण प्राथमिक तत्त्व होते हुए भी, आप एक-दूसरे के अमूर्त गुणों का भी सम्मान करते हैं।”

बात को आगे बढ़ाते हुए ठाकुर बोले, “तुम्हारे गिनाए सभी गुणों के चलते ही प्रेम में गहराई आती है। मात्र शारीरिक आकर्षण का प्रेम तो एक छिछली नदी की तरह है, जबकि आत्मिक प्रेम शुद्ध, सात्विक, शाश्वत होता है। यह सही है, लेकिन हरि का कहना कि वासना एक ऊर्जा है, इसलिए जरूरी है। तुम्हारा क्या ख्याल है?”

“हां, खाने में नमक जैसा जरूरी है। वासना की अधिकता इंसान को हैवान बना देती है। जिसके जीवन में वासना की प्यास लग जाती है, वह किसी भी सीमा तक गिर सकता है।” मैंने उत्तर दिया।

ठाकुर अपने विचारों को आगे बढ़ाते हुए बोले, “किंतु उसका संयमित एहसास ही है जो इंसान को क्षमाशील, उदार, विवेकशील बनाता है, उसे ऊंचा उठाता है, सोच-विचार को प्रशस्ति देता है। वासना की संयमित पूर्ति ही दांपत्य की सफलता की कुंजी है। सफल वही व्यक्ति है जिसके पीछे कोई स्त्री है, जो उसे तृप्ति देती है, संतुष्ट करती है और सभी कार्यों में उसकी सही सहधर्मिणी होती है।”

इस प्रकार हम लोगों के बीच बातें, बहसें आदि होती रहतीं। कभी बातें देश की राजनीतिक परिस्थितियों के बारे में होतीं, कभी समाज की स्थिति पर, कभी फिल्मों के बारे में। एक-दूसरे के विचारों को जानना, समझना ही इन बातों का लक्ष्य था। जैसे, हीरे का हर पहलू जब बड़े ढंग से और कुशलता से तराशा जाता है, तभी वह चकाचौंधवाली चमक देता है और उसकी हर कनी से सूरज की किरणों-जैसी आभा फूटती है, वैसे ही हम दोनों एक-दूसरे को परख रहे थे, अपनी-अपनी कुशलता से उसमें बढ़ोतरी कर रहे थे और कांट-छांट भी कर रहे थे।

हमारी समझ में धीरे-धीरे आ रहा था कि प्यार भावनाओं, जज्बातों का एक अहसास है, जिसे केवल महसूस किया जाता है। सच्चा प्रेम कभी कोई दावा नहीं करता। वह तो सिर्फ देता है। उसमें न तो अहंकार है कि प्रेमी को मैंने यह दिया और न ही वह अपने प्यार के बदले में कुछ लेना चाहता है। वह एक ऐसा मजबूत रिश्ता होता है, जो मृत्यु के उपरांत भी नहीं मिटता, एक अमिट स्मृति के रूप में जीवित रहता है। उसमें कोई शर्त नहीं होती। वह एक ऐसे कोमल पौधे की भांति होता है, जो अपने आप अंकुरित होता है पर उसे अपने कलेजे के खून से सींचना होता है। दुनिया के हजारों तूफानों, झंझावातों से बचाना पड़ता है उसे। आंसुओं की नमी से उसे लहलहाना होता है, ताकि वह मुरझा न जाए। वह एक ऐसी धरोहर है, जो केवल हम दोनों के बीच रहेगी, जिसे जान देकर भी संभालना होगा। वही हमारा सच्चा प्यार होगा।

किंतु प्यार की इस बेल को संभालना-संवारना क्या इतना सहज, सरल था? और क्या वह केवल हमारे हाथ की बात थी? शायद, नहीं। नियति का भी तो एक निर्णायक हाथ होता है।

मेरे दूसरे बड़े भाई ने विवाह नहीं किया था। उनके दोस्त बहुत थे। अलमस्त स्वभाव के व्यक्ति थे वह। कहीं एक जगह लगकर उन्होंने काम नहीं किया। उनके दोस्तों में छोटे-मोटे लोग नहीं थे। उनके दोस्तों की गिनती रईसों में होती थी। उनके नाम, जिनके बारे में अक्सर भाई के मुख से सुनती थी, ये थे—हितसरन, बनवारीलाल सिंघानिया, गिरीश पोद्दार और गोपीकिशन, आदि।

गोपीकिशनजी बेरीवाल के यहां शक्कर का काम होता था। थोक के व्यापारी थे। मेरे भाई को उनकी मां भी बहुत मानती थीं। आज तक उनके परिवार के लोग मुझे भी वैसे ही मानते हैं—वहन के रूप में। किंतु, भाई यहां बहुत दिन नहीं टिके। एक बार बहुत दिन नहीं आए। सुना, अपने दोस्त हितसरन केजरीवाल, जिन्हें हितू बाबू भी कहते थे, के साथ कुछ बड़ा काम करने जा रहे हैं। एक दिन आए तो सबके सामने एक ब्लैक चेक फटकारते हुए उन्होंने स्वयं बताया, 'आसाम जा रहा हूं। ईंटों का भट्टा लगाऊंगा।' वह आसाम गए भी और लौट भी आए। सुनाई पड़ा, ब्रह्मपुत्र में बाढ़ आ गई और ईंटों का भट्टा बैठ गया। मिट्टी में मिट्टी मिलकर सब बह गई। और भाई बड़े आदमी बनने की पहली सीढ़ी पर पैर रखते ही फिसल पड़े।

खैर, खाने-खिलाने के शौकीन थे। जल्दी ही डी.सी.एम. में उनकी नौकरी लग गई। फिर से एक बार घर पर उनकी महफिलें जमने लगीं। ये महफिलें देर रात तक चलतीं। शायद, ताश भी होता था।

हालांकि, हमारा घर बिरहाना रोड की मुख्य सड़क पर था, पर हम पीछे की ओर रहते थे। हमारे घर का मुख्य द्वार गली में खुलता था। गली छोटी और संकरी थी, पर इतनी संकरी भी नहीं कि गाड़ियां आ-जा न सकें। गली में केवल तीन-चार घर थे। सामने अस्पताल का पिछवाड़ा था। गली के लोग आपस में एक-दूसरे से कभी नहीं मिलते थे, किंतु एक-दूसरे के घर में झांकने की दिलचस्पी जरूर रखते थे। और जब झांकते थे तो कुछ कनगोइयां भी करते ही होंगे, जिनकी भनक एक कान से दूसरे कानों में जाती ही होगी। उस गली के और किसी घर में इतनी गाड़ियां नहीं आती थीं क्योंकि, सब सामान्य, मध्यमवर्गीय परिवार थे, जो अपने-अपने छोटे-मोटे व्यापार-धंधों में लगे थे। भाई के दोस्त जब आते, तब तीन-चार गाड़ियों से ही गली भर जाती और लगता, नीचे गाड़ियां ही गाड़ियां लगी हैं। गाड़ियों की पार्किंग से लोगों को आवाजाही में कष्ट तो होता था। इससे उन्हें गुस्सा भी आता था। मध्यमवर्गीय परिवार जहां तक हो अपने गुस्से को एक शक्ल कम ही देता है, पर अंदर ही अंदर कनफूसियां करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। हम लोगों का आना-जाना भी आसपास, नहीं के बराबर था, इसलिए हम इस सबसे बेखबर थे।

हमारा घर टिफिनदान के डिब्बों की भांति था। चार-मंजिला मकान था। किंतु, हर फ्लोर पर कमरा एक ही था। एक फ्लोर से दूसरे फ्लोर के बीच सीढ़ी होती थी। नीचे का कमरा बैठक के रूप में इस्तेमाल होता था। दूसरे फ्लोर पर भाईजी का कमरा था।

उसके बाद तीसरे पर रसोई और स्टोर। सबसे ऊपर छत और एक कमरा। इस तरह के मकानों में एक फ्लोर पर क्या हो रहा है, दूसरे फ्लोरवाले को भी पता नहीं चलता था, जब तक कोई सीढ़ी उतरकर या चढ़कर न जाए।

जब भाई के दोस्त आते, हम सब ऊपर छतवाले कमरे में चले जाते। हां, छोटे भाइयों की शामत जरूर आ जाती। उन्हें भाग-भागकर बाजार से कभी कुछ, कभी कुछ लाना पड़ता। इस सबसे उन लोगों की पढ़ाई में व्यवधान तो पड़ता ही था। पर घर में किसी बड़े का यानी माता-पिता का अंकुश न रहने के कारण इन दूसरे भाई पर किसी का जोर नहीं चलता था। भाईजी उन्हें कुछ कह नहीं पाते थे। हां, पीछे से बड़बड़ाते जरूर रहते थे। क्योंकि, जब कभी नीचे जमघट होता, तब भाभी को भी फरमाइशों का बोझ उठाना पड़ता। कभी नीचे पकौड़ी तलकर भेजनी पड़ती, कभी खाने की फरमाइश आ जाती तो ताबड़तोड़ उन्हें खाना तैयार करना पड़ता।

मैं इन सब झमेलों से दूर, अलग ही रहती थी। ऊपर छत के कमरे में बैठकर लिखती-पढ़ती रहती। नीचे क्या हो रहा है, इस सबसे मुझे कोई मतलब नहीं रहता था। किंतु मेरे 'रूटीन' में भी इन महफिलों के कारण फर्क तो पड़ ही जाता था। मैं और ठाकुर नीचे के कमरे में ही बैठकर पढ़ते थे। पढ़ाई हमारी अक्सर या तो दिन में होती या फिर शाम को, जब जैसी सुविधा दोनों को मिलती, कालेज के पीरियडों के अनुसार। भाई की महफिलें जब जमतीं, तब हमारी पढ़ाई में व्यवधान आ जाता। हम न पढ़ पाते साथ-साथ और न ही मिल पाते। इस कारण बड़ी खीझ पैदा होती। यह खीझ धीरे-धीरे हमारे बीच एक दीवार की शुरुआत बनने लगी। पर मैं करती भी क्या? भाई को मैं नहीं कह सकती थी कि वे अपने दोस्तों को न लाएं या नीचे के कमरे में न बैठें।

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि हम पढ़ रहे होते और गली में हार्न बजने लगता भाई के लिए, और क्योंकि, उस समय कोई और नहीं होता तो मुझे ही जवाब देना पड़ता कि भाई घर में नहीं हैं। या फिर कोई अचानक सीढ़ी चढ़ता ऊपर आ जाता और भाई का इंतजार करने के लिए वहीं बैठ जाता। हम दोनों एक-दूसरे का मुंह देखते। कुछ देर मनोयोग से पढ़ने का नाटक करते और फिर ठाकुर चले जाते। मैं समझ जाती कि मूड खराब हो चुका है और उसका खमियाजा मुझे ही भरना पड़ेगा।

उस दिन भी ऐसा ही हुआ। मैंने ठाकुर को दस बजे आने के लिए कहा। पर जब वे आए तो नीचे कोई आ गया। दो मिनट बैठने के बाद ही वे बोले, "बहुत गर्मी लग रही है, जाता हूं।" मैंने कहा, "अच्छा।" क्योंकि, मैंने सोचा कि शायद, सचमुच गर्मी लग रही है और वे बैठना नहीं चाहते।

अब उस 'अच्छा' का उन्होंने उलटा मतलब लगा लिया और नाराज हो गए। दो दिन नहीं आए। मैंने सोचा, यह तो कोई बात नहीं हुई। अगर रुकना चाहते थे, तो रुक सकते थे। 'फार्मेलिटी' क्यों? अपना भी तो अधिकार जता सकते थे।

लेकिन दो दिन बाद फिर ऐसा ही कुछ हुआ, जिसने मुझे सोचने के लिए मजबूर

कर दिया। अगर जिंदगी ऐसी ही रही तो फिर क्या होगा? जरा-जरा सी बात पर रूठना। इससे बात क्यों की? उसे क्यों मिली? और फिर माफी मांगना। इससे बात थोड़ी देर के लिए दब सकती है, पर समस्या का निवारण तो नहीं होगा।

इस बार मैंने सोचा कि मैं भी पहल नहीं करूंगी। गलती मेरी नहीं है, तो मैं ही हर बार अगला कदम क्यों उठाऊँ?

आठ दिन बीत गए। हमारे बीच 'कोल्ड वार' चलती रही। हम फिर 'तुम' से 'आप' पर आ गए। आखिर, मुझसे ही नहीं रहा गया और मैंने पूछ ही लिया, "क्या बात है? ऐसे कैसे हो रहे हो? पहले तो ऐसे नहीं थे। अब ऐसा क्या हो गया? मुझे तो मेरा पहला ठाकुर ही चाहिए।"

थोड़ी देर चुप रहकर बोले, "दोष क्या सब मेरा ही है?" मैं उनकी ओर देखती रही। कुछ क्षण रुककर फिर बोले, "मुझे तुम्हारे भाई के दोस्तों का आना पसंद नहीं है। न उनसे तुम्हारा बोलना। जो वातावरण उन लोगों के आने के कारण बनता है, वह किसी तरह सही नहीं है। तुम्हें क्या पता, लोग क्या-क्या कहते हैं?"

मैं एकदम बोल उठी, "लोग नहीं, यह तुम्हारे मन का शक बोल रहा है।"

वह आगे कुछ कहते कि तभी अम्माजी ने आवाज लगाई और वे उठकर चले गए। वे तो चले गए, पर उनकी बात मुझे देर तक कुरेदती रही। मैंने उन्हें एक पत्र लिखा, यह सोचकर कि यह मामला सदैव के लिए सुलझ जाना चाहिए। मैंने लिखा :

"संबंधों की धनिष्ठता नापने का मापदंड क्या सबके लिए एक-सा हो सकता है? एक जन के लिए हम पूरी तरह समर्पित हो सकते हैं, दूसरे के साथ महज बातचीत का संबंध रहता है और तीसरे के साथ मात्र औपचारिक—'हलो-हाय' का। कोई सामने पड़ जाए तो उससे बात न करना तो नितान्त असभ्यता और अशिष्टता है। मेरे प्रति मेरे भाई के मित्रों का स्नेह, व्यवहार आदरपूर्ण है। वैसा ही जैसा किसी मित्र की बहन के साथ होना चाहिए। मैंने तुम्हारा मौन अनुशासन स्वीकार किया है। समर्पित होना उसके प्रति, जिसे हम प्रेम करते हैं—एक बात है, उस अर्थ में मैं तुम्हारे प्रति पूरी तरह समर्पित हूँ। किंतु, इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हारी सभी उचित-अनुचित बातें मानूँ। जो तुम कहते हो, कभी-कभी मैं नहीं कर पाती हूँ। कुछ आदत से लाचार होकर, कुछ भूल से और कुछ स्वाभिमान के कारण, यह सोचकर कि जो तुम कह रहे हो, वह सही नहीं है।

"अभी तक मैं मानती थी कि तुम कुछ करो, न करो, मुझ पर विश्वास अवश्य करते हो। तुमने ही बार-बार मुझसे कहा है कि विश्वास दिलाया नहीं जाता, वह हो जाता है। और, कि विश्वास प्रेम का आधार है। पर अब मुझे लगता है, तुम्हारे विश्वास की कड़ियाँ अनजाने में ही टूटती जा रही हैं। जहाँ एक-एक बात के लिए सफाई देनी पड़े कि ऐसा क्यों किया, वैसा क्यों किया, वहाँ विश्वास कहाँ रहा? यह बात मुझे घुन की तरह खाए जा रही है कि अब तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं है। काश, मेरे प्राणों की अकुलाहट तुम समझ सकते! साईं की दुकान पर खड़े होकर जो बतकहियाँ होती हैं, तुम क्या सोचते

हो, मुझे उनका अनुमान नहीं है? तुम्हारी जगह मैं होती तो शायद, मैं भी यही सोचती। तुमने सोचा, तो कोई गलत नहीं किया। पर मेरी आत्मा शुद्ध है और किसी के निर्णय-अनिर्णय पर (तुम्हारे भी) मैं अपनी आत्मा की सच्चाई को न्यौछावर नहीं कर सकती।

“तुम्हें तो मुझे मेरे परिवेश के साथ ही स्वीकारना होगा। मेरे परिवार में क्या सही है और क्या नहीं, यह सोचना छोड़कर यदि तुम मानते हो कि मैं तुम्हारे प्रति शुद्ध मन से समर्पित हूँ, तब तो ठीक है। पर यदि तुम ऐसा नहीं मानते तो तुम मेरे पास न आया करो। अगर मुझसे दूर रहकर तुम सुखी रह सकते हो, तो रहो। मैं दूर से ही तुम्हें सुखी देखकर सुखी हो लूंगी। सोचूंगी, एक सुखद स्वप्न था, जो बिखर गया। मैं चली जाऊंगी, तुम्हारी आंखों की परिधि से दूर। एक सुंदर, अच्छी मारवाड़ी लड़की से, जो तुम्हारी इच्छाओं पर उठे-बैठे, विवाह कर लेना। मैं दोष तुम्हें नहीं देती हूँ। दोष मेरी किस्मत का है। एक अभिशाप लेकर पैदा हुई थी, जो जन्म से पीछा छोड़ने का मन नहीं बनाता। तुमसे पहचान हुई तो लगा, जन्म-जन्म की साधना पूरी हो गई। मेरे आंसुओं की परवाह न करना, वे तो चाहे-अनचाहे बहते ही रहते हैं। अपनी तबियत का ध्यान रखना, बस!”

मैं जानती थी कि मैंने जो लिखा या कहा है, वह ठीक है। प्यार में संशय और संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रहनी चाहिए, और उनकी परछाइयां जितनी जल्दी दूर हो सकें, कर देनी चाहिए। मैं यह भी जानती थी कि ठाकुर ठंडे दिल से जब सोचेंगे तब पाएंगे कि मैंने ठीक किया। ऐसा ही हुआ भी। अगले दिन से सब वैसा ही हो गया, जैसा पहले था।

अब जब सब कुछ आपस में सुलट गया, हमारी एक ‘अंडरस्टैंडिंग’ हो गई, एक-दूसरे की अच्छाइयों, बुराइयों, कमियों और खूबियों को अच्छी तरह समझ चुके, तब सब शंकाओं का समाधान हो जाना चाहिए था। किंतु, मनुष्य का मन तो उधेड़बुन में लगा रहता है। मकड़ी के समान जाला बुनता है। बार-बार उलझता है और बार-बार कोशिश में लगा रहता है उस जाल से निकलने के लिए। कई बार सोचती कि क्या हमारा प्रेम-संबंध सफल होगा? क्या मैं इतना साहस जुटा पाऊंगी कि भाइयों के सामने खुलकर चर्चा कर सकूँ? क्या ठाकुर स्वयं इतना साहस जुटा पाएंगे? हमारे दोनों के परिवार पुरानी रूढ़ियों, मान्यताओं में जकड़े हुए थे। क्या इनके भाई मान जाएंगे दूसरी बिरादरी की एक लड़की से विवाह के लिए?

वैसे, देखा जाए तो खत्रियों और बनियों में कोई फर्क नहीं होता। दोनों ही व्यवसायी जातियां हैं। दोनों की अपनी-अपनी जड़ें हैं। मारवाड़ी यदि राजस्थान से आए हैं—उस राजस्थान से जो अपने शौर्य, वीरता और देशभक्ति के लिए प्रसिद्ध रहा है, तो खत्री पंजाब से आए हैं, जिसकी अपनी शौर्य-गाथाएं किसी से कम नहीं हैं। वे भी क्षत्रिय पूर्वजों की संतान हैं। वे जो युद्ध में नहीं गए, व्यवसाय में लग गए, खत्री कहलाए। फिर भी, आज के युग में जब समाज जाति-उपजातियों के बंधन में इतना जकड़ गया है, क्या उससे निकलना

संभव हो सकेगा? घेरे ही घेरे, प्रश्नों के अनबूझ उत्तर। शंकाओं के बादल घिर-घिरकर आते। अक्सर बातचीत में उभरते दूसरों के मंतव्य-विचार भी, कि प्रेम-विवाह कभी सफल नहीं हो सकते—मन को दुविधाग्रस्त कर देते। किंतु, क्या परिवार की मर्जी से हुए विवाह सदैव सफल ही होते हैं? नहीं, ऐसा भी नहीं होता। फिर क्या कारण है कि लोग प्रेम-विवाह के लिए एकतरफा निर्णय देते हैं!

कोई भी विवाह, चाहे वह प्रेम-विवाह रहा हो या माता-पिता द्वारा जोड़ा हुआ संबंध, शत-प्रतिशत आपस के संबंध-सामंजस्य पर निर्भर करता है। यदि हम अपने साथी की बात को सुनने-समझने के लिए तैयार नहीं हैं, अपनी बात ही उस पर थोपने की कोशिश सदैव करते हैं, तो यह मूढ़ता होगी। इस दशा में दरार पड़ना स्वाभाविक है। अक्सर ऐसा होता है कि जब दो व्यक्ति एक-दूसरे से प्रेम करते हैं, तब उनकी अच्छाइयां तो सामने आ जाती हैं किंतु, कमियां छिपी रह जाती हैं। प्रेमी के सामने हर कोई अपना उज्ज्वल पक्ष ही रखना चाहता है और यही प्रेम-विवाह की असफलता का कारण होता है। एक लंबे वैवाहिक जीवन में जब किताब के पन्ने खुलने लगते हैं, तब वस्तुस्थिति सामने आती है।

विवाह के पहले नारी का आत्म-समर्पण भी उसके आकर्षण को कम कर देता है। नवीनता का आकर्षण, आंख-मिचौली खेलने के रस का आनंद, उसे अन्य ओर आकर्षित कर सकता है। कई बार पुरुष के मन में यह धारणा भी बैठ जाती है कि जो नारी अपनी अस्मिता का सौदा इतनी आसानी से कर सकती है, वह मेरे सिवाय अन्य भी किसी से संबंध रख सकती है। नारी की कमजोरी को वह संदेह की दृष्टि से देखने लगता है और यदि विवाह हो जाता है, तो संशय की दीवार उनके बीच कभी न कभी उठ ही खड़ी होती है, जो संबंधों को बरकरार नहीं रहने देती। तब प्रेम-विवाह असफल हो जाता है।

पांच वर्ष का लंबा अंतराल ऐसे बीता मानो कल की ही बात हो। वैसे तो हमारा यह समय पढ़ने-पढ़ाने में ही बीतता था, पर कुछ क्षण ऐसे आए, जब आशंका हुई कि अतृप्त आकांक्षाओं की कामना जीवन के शुभ व्यापार को कहीं मलिन न कर दे। एक शाश्वत सत्य है कि पुरुष नारी के चारों ओर आकर्षण की खोज में भंवरे की तरह पराग को पाना चाहता है। नारी के मन में भय होता है। पुरुष उसके मन के अनाम भय को नकारने की कोशिश करता रहता है।

ऐसे क्षणों में कई बार मुझे ऐसा लगा कि मैं एक ऐसे दोराहे पर खड़ी हूं जहां समझ में नहीं आता कि कौन-सा रास्ता पकड़ूं। राग और विराग, जीवन और मृत्यु, रुदन और हास्य—उस दोराहे की दो राहें रही हैं, जिनमें आकर्षण और विकर्षण की खींचतान चलती रही है। पुरुष की सुख समेटने की अभिलाषा और नारी की अपनी स्वभागवत कमजोरी ने विवशता की दीवार भी खड़ी की है। किंतु ऐसे सब अवसरों पर हमारी मान्यता रही

कि यदि हम अपने को जानते हैं, एक-दूसरे पर विश्वास रखते हैं, तो अपनी कमजोरियों को अपने ऊपर हावी नहीं होने देंगे। क्षणिक आकर्षण के कारण जीवन के वास्तविक और स्थायी सौंदर्य को अपनी पकड़ से छूटने देना बुद्धिमानी नहीं कही जाएगी।

प्रेम के जिस मुकाम पर हम पहुंच चुके हैं, वहां इसलिए नहीं हैं कि हमें वहां होना चाहिए था या कि हमें किसी ने विवश किया है वहां पहुंचने के लिए। बल्कि, इसलिए हैं कि हम वैसा ही चाहते हैं। एक चरम बिंदु पर पहुंचने के लिए आत्मा की स्वीकृति बहुत आवश्यक है। हर व्यक्ति के अंदर एक दूसरा व्यक्ति होता है। यह दूसरा व्यक्ति ही उसकी अंतरात्मा होती है, जो सदैव उसे सही रास्ते पर चलने की प्रेरणा देती है। हो सकता है, उसका रास्ता अनेक अड़चनों, बाधाओं और उलझनों के बीच से जाता हो, पर उसको पाने के लिए इन बाधाओं, अड़चनों को झेलना उतना ही जरूरी है, जितना मंजिल पर पहुंचना।

ठाकुर ने थीसिस लिखी 'फिल्म इंडस्ट्री ऑव इंडिया' पर अपनी एम.काम. की परीक्षा के लिए और मैंने 'फिसकल पालिसी ऑव इंडिया' पर एम.ए. (अर्थशास्त्र) की परीक्षा के लिए। फिल्म ठाकुर का शौक शुरू से रहा। मेरी एम.ए. और ठाकुर की एम.काम. की पढ़ाई पूरी हुई, तो सोचा, क्यों न हम पी.सी.एस. (प्रॉविंशियल सिविल सर्विसेज) के इन्स्टिट्यूट में बैठें। एक बार फिर जोर-शोर से पढ़ाई शुरू हुई। जी-जान से हम पढ़ने लगे, क्योंकि सुना था, परीक्षाएं कठिन होती हैं और कुछ ही लोग पास होते हैं। हम लोगों को उम्मीद थी कि यदि हम पूरे जोर से पढ़ाई में लगेंगे, तो पास अवश्य हो जाएंगे। गप-शप, हंसी-मजाक सब बंद हो गया। हम गंभीरतापूर्वक पढ़ाई में लग गए। ठाकुर किताबें ला देते। मैं नोट्स बनाती। मैं दूढ़-दूढ़कर लायब्रेरी से किताबें लाती तो ठाकुर नोट्स बनाते। यही क्रम चल रहा था। धीरे-धीरे परीक्षा की घड़ी नजदीक आ गई। परीक्षा का सेंटर इलाहाबाद था। भाईजी को हम दोनों का अकेले जाना गवारा नहीं था, इसलिए किसी ऐसे व्यक्ति की खोज की गई, जो परिवार के सदस्य जैसा ही हो। बुजुर्ग हो और समाज की ऊंच-नीच का खयाल रखता हो। अंततः परिवार के एक घनिष्ठ मित्र को साथ जाने के लिए तैयार किया गया। सब उन्हें आदर से 'मास्टरजी' कहते थे।

वे दुबले-पतले, छरहरे, हल्की-हल्की दाढ़ी और जल्दी-जल्दी बोलनेवाले व्यक्ति थे। पूरे मारवाड़ी समाज में अपनी पहचान उन्होंने बना रखी थी। मस्तमौला किस्म के आदमी थे। तमाम तीर्थ उन्होंने कर डाले थे। शादी-वादी की नहीं थी। जीवन में जब से नमक खाना छोड़ा, तब से अंत तक नमक खाया ही नहीं। नंदकिशोर झाझरियाजी के यहां भी वे जाते थे और उन्हीं के कारण हमारी भी उनसे पहचान हुई। क्योंकि, भाई के अनेक मित्र मारवाड़ी थे, इसलिए भाई के साथ भी उनकी पहचान काफी गहरी थी। उनके बारे में अक्सर लोग मजाक करते थे कि 'मास्टर, अगर तुम किसी को काट लो, तो खबर बन जाए कि आदमी ने आदमी को काटा और मर गया।'।

मास्टरजी का धीरे-धीरे काम के प्रति ध्यान कम हो गया। सिर्फ अपने खर्च-भर के लिए काम करते थे। लोगों के दुख-दर्द में शरीक होने एवं आड़े समय में काम आने में वह कभी पीछे नहीं रहते थे।

मुझे क्योंकि, सभी छोटे भाई 'बेबे' कहते थे, वे भी मुझे इसी नाम से पुकारने लगे। पंजाब में बेहन को 'बेबे' संबोधन से पुकारते हैं।

मास्टरजी के अतीत के बारे में कई बार मैंने भी जानना चाहा, लेकिन असफलता ही हाथ लगी। उनके अतरंग मित्रों को भी उनके अतीत के बारे में कुछ पता नहीं था। फिर भी वे अपनी गहरी से गहरी बात उनसे कर लेते थे। इन्हीं मास्टरजी को इलाहाबाद की यात्रा में मेरा 'गार्जियन' बनाकर भेजा गया।

कानपुर से शाम को पारसल ट्रेन से मैं, ठाकुर और मास्टरजी इलाहाबाद के लिए रवाना हुए। गाड़ी में बहुत भीड़ थी। गर्मी के मारे दम घुट रहा था। हालांकि, हमें किसी तरह खिड़की के पास जगह मिल गई थी। एक खिड़की के पास मैं और सामने की बर्थ पर दूसरी खिड़की के पास मास्टरजी और ठाकुर बैठे थे।

सूरज धीरे-धीरे दूसरे छोर पर राह तकती अपनी प्रियतमा की गोद में जाने के लिए ढल रहा था। उसकी तपन, ऊष्णता शांत हो रही थी। लाल गोले के रूप में आकाश के अंतिम छोर पर उससे आंख में आंख डालकर अब कोई भी बातचीत कर सकता था। रात का अंधेरा धीरे-धीरे पृथ्वी पर उतर रहा था। निरभ्र आकाश पर चांद धीरे-धीरे उभरकर सृष्टि के क्रम का, जीवन के उतार-चढ़ाव का, संकेत दे रहा था। हम खिड़की से झांकते चांदनी को निहार रहे थे। असंभव संभव हो गया था। कभी सोचा भी न था कि इस प्रकार हम दोनों कभी एक साथ, एक मंजिल की ओर यात्रा कर सकेंगे।

अचानक मास्टरजी की आवाज सुनाई दी, "तुम लोग इस तरह बाहर देख रहे हो, जैसे पहली बार ट्रेन में सफर कर रहे हो।"

मैंने कहा, "मेरे लिए तो यह पहला ही अवसर है।"

ये गाड़ी की गति से भागते पेड़-पौधे, यह दूर-दूर तक फैला सन्नाटा, बीच-बीच में घर को लौटते स्त्री-पुरुषों की टोलियां, जो दिन-भर के बाद अपनी मंजिल की ओर बढ़ रही हैं, चिड़ियों का चहचहाना, रात का अंधेरे की चादर ओढ़कर पृथ्वी पर उतरना और यह दूर-दूर तक फैलाव—कम से कम मेरे लिए तो यह सब अजनबी ही था।

मास्टरजी ने डांटा, "अच्छा, अब सो जाओ। कल से परीक्षा की तैयारी करनी है।"

इलाहाबाद पहुंचने पर एक अच्छे होटल में दो कमरे लिए गए। परीक्षा के दौरान हम दोनों ही पढ़ाई और पेपर देने की तैयारी में इतने व्यस्त रहे कि पता ही नहीं चला दिन कैसे बीत गए। इस सारे समय मास्टरजी हमारे साथ ही रहे। हमारे खाने का ध्यान रखना, बाजार से फल मंगाना, कपड़ों में इस्तरी कराना, सब कुछ उनके जिम्मे था। उनकी पूरी कोशिश रही कि फालतू बातों में हमारा दिमाग न लगे और हम पूरी गंभीरता से अपने पेपर दें। हम पढ़ते रहते और वे वहीं आरामकुर्सी पर बैठे, कोई किताब पढ़ते रहते या

आराम से कुर्सी पर झूलते रहते। समय से खाना, समय से पढ़ना और तैयार होकर पेपर देने निकलना—सब देख-भाल करना उनकी जिम्मेदारी थी।

आखिर, वह दिन आ ही गया जब हमें वापस कानपुर लौटना था। उस दिन हम बहुत 'रिलेक्स्ड' थे। पढ़ाई का 'टेंशन' खत्म हो गया था। शाम को हम तीनों संगम की ओर घूमने निकले। गंगा, यमुना, सरस्वती के मिलन का वह क्षण कितना मनोरम था! अस्त होते सूरज की किरणें एक अलौकिक आभा छोड़ रही थीं। धुंधलका धीरे-धीरे बढ़ रहा था। हमने संगम पर लेटी हुई हनुमान प्रतिमा के दर्शन किए और होटल लौट आए। खाना खाकर हम लोग बातचीत कर रहे थे। मास्टरजी बुजुर्ग थे। उनकी आंखें नींद से झुकी जा रही थीं। हमारी बातें खत्म होने को ही नहीं आ रही थीं। आखिर, उनको झपकी आ गई और वे पास पड़े बैड पर सो गए।

हमारे कमरों के सामने टेरेस भी था। कब और कैसे हम कमरे से निकलकर टेरेस पर आ गए, याद नहीं। चांद शरमीली दुलहन-सा बादलों में मुंह छुपा रहा था। तेज हवा बादलों से आंख-मिचौली खेल रही थी। हम दोनों के बीच मौन मुखर था। एक-दूसरे का हाथ पकड़े एक-दूसरे की आंखों में आंखें डाले ऐसे बैठे कि पलक झपकना भूल गए। नीचे सड़क पर गाड़ियां आ-जा रही थीं। शोरगुल की एक चलती-फिरती दुनिया भागी जा रही थी। पर हम इस सब से बेखबर, बेखौफ थे। यह क्षण शायद, जीवन में फिर न आए। जितना इसे बांधकर रख सकें, रख लें—यही भावना थी हमारे मनों में।

तभी ठाकुर ने कहा, “मैं सोचता हूं कि अब हम लोग एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं।”

मैं क्या बोलती! आंखें झुक गई, मानों शब्दों के रस को पूरी तरह पी लेना चाहती हों। अचानक एक बांह से, निढाल मुझे समेटे, दूसरे हाथ से इन्होंने मेरी मांग में सिंदूर भर दिया। मैं अचकचा गई। साथ ही दूसरे हाथ से चमेली के फूलों की माला मेरे गले में पहना दी। यह क्या किया इन्होंने? तभी पीछे कहीं दूर से एक शहनाई बज उठी। घंटे-घड़ियाल बजने लगे, जैसे किसी मंदिर में आरती हो रही हो। हाथों में मेरा मुख उठाते हुए कहा, “देखो, हमारे इस आत्मिक संबंध को ईश्वर भी अपना आशीर्वाद दे रहा है। भले ही समाज और परिवार की सहमति हमें न मिली हो, दैवी सहमति तो मिल गई है। अब भी क्या तुम मुझे नहीं स्वीकारोगी?” कहकर दूसरी माला इन्होंने मेरी ओर बढ़ा दी। शाम को जब संगम गए थे हनुमानजी के दर्शन करने, वहीं से शायद, यह माला और सिंदूर ले आए थे।

इस अद्भुत जन्म-जन्मान्तर की प्यास को मैं कैसे न स्वीकारती? मेरे मन के बोल उनके मुख से फूट रहे थे। कांपते, लरजते हाथों और प्यार-भरे दिल से मैंने भी उनके गले में माला डाल दी। आसमान में बादल उड़ चले और चांदनी के फूल धरती पर बरसने लगे। कब तक इस अवस्था में मोहग्रस्त हम खड़े रहे, ध्यान नहीं। पल, क्षण उस समय जैसे थम गए थे।

कहीं पढ़ा था, 'कोई भी प्यार तब तक पूरा नहीं होता, जब तक उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति न हो। व्यक्त करने से प्यार और बढ़ता है। जब तक वह नहीं किया जाता है, तब तक कैसे उसे प्यार करना माना जा सकता है! प्यार किया नहीं जाता, हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्यार और उसकी भावना को महत्त्व दिया जाना चाहिए। उसके बिना संबंध निभानेवालों के सारे कर्तव्य-अधिकार अधूरे हैं।'

मेरे कांपते, लरजते हाथों को अपने हाथों में लेते हुए ठाकुर फिर बोले, "सुशी, प्यार मनुष्य को डरपोक नहीं, बल्कि निर्भीक बनाता है। प्यार की डोर से बंधा मनुष्य कायदे-कानून से बंधे व्यक्ति से कहीं ज्यादा मजबूत होता है। एक-दूसरे के प्यार की कद्र न करने से किसी भी रिश्ते या प्यार में दरार पड़ जाती है और मैं वायदा करता हूँ कि हमारे जीवन में ऐसा क्षण कभी नहीं आएगा, जब मैं तुम्हारी भावनाओं की कद्र न करूँ।"

मन की सारी ऊहापोह, शंका उस क्षण जैसे धुल गई। स्वच्छ निर्मल गंगा-से पवित्र इस प्यार की गरमी को पूरे मन से स्वीकारा मैंने। दिन-भर की तपती हुई धरती पर जैसे सावन की फुहारें बरस उठीं।

भावनाओं का उद्वेग बढ़ता जा रहा था। एक-दूसरे को समेटे हम कमरे में आए। झाँककर देखा, मास्टरजी गहरी नींद में सोए थे। ये मुझे अपने कमरे में ले गए। धीरे से कमरे का दरवाजा उड़का दिया। बैठ गए। मुझे भी अपने पास बिठा लिया। हाथ में हाथ डाले हम न जाने कितनी देर बैठे रहे। वाणी मौन थी, नेत्र एक-दूसरे की भावना को पढ़ रहे थे। मैं उस क्षण अपने को बिल्कुल असमर्थ पा रही थी। समर्पित थी मैं। वे जो चाहे कर सकते थे। मैंने तो अपने को पूरे विश्वास के साथ सौंप दिया था उन्हें। अभी तक लगाए लाज के सभी बंधन मेरी ओर से टूट चुके थे। लगा कि अब न तो अपने को ही रोक पाऊंगी और न उन पर ही कोई बांध लगा सकूंगी। चांदनी अब खिड़की से उतरकर हमारे ऊपर बरस रही थी। शब्द मौन थे पर मन बोल रहे थे। भूत-भविष्य हम सब भूल गए थे। जो सत्य था, वह वर्तमान था। वही जीवंत था।

ये शायद, मेरी अवस्था भांप गए। एक बार कसकर मुझे भींच लिया। मुंह से अस्फुट शब्द निकल रहे थे, 'सुशी, मेरी रानी'..., 'मेरी प्राण' और मेरे होंठ बुदबुदा रहे थे, 'मेरे ठाकुर, मेरे स्वामी!'

तभी अचानक एक झटके से ये उठे, मुझे धीरे-से अपने से दूर कर दिया और बोले "सुशी, अपने कमरे में जाओ। नहीं तो जो कुछ होगा, उसके लिए मैं कभी अपने को क्षमा नहीं कर सकूंगा। संयम की भी सीमा होती है।"

मैंने कहा, "अब संयम कैसा! अब तो हम एक हो गए हैं। विवाह के बंधन में बंध गए हैं।" कहकर दोबारा मैंने उन्हें भुजपाश में जकड़ लिया। दीन-दुनिया सब भूल गई आवेश में।

किंतु, अपने को धीरे से अलग करते हुए ये बोले, "यह तो ठीक है कि हमारे मन एक हैं। भगवान की साक्षी में हम एक-दूसरे को पति-पत्नी मान चुके हैं। फिर भी, समाज

भी तो कुछ है। जब तक उसकी मान्यता नहीं मिलती है, हमें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए, बाद में, जिसके लिए पश्चात्ताप हो। यदि शादी से पहले कुछ हो गया, तो मैं कभी अपने को माफ नहीं कर सकूंगा।”

मेरे हृदय में इनकी इज्जत और बढ़ गई। इनकी छवि और उज्ज्वल हो गई। मैंने झुककर इनके पैर छू लिये। इन्होंने मेरे माथे को चूमा और मुझे मेरे कमरे के दरवाजे तक पहुंचाकर वापस अपने कमरे में चले गए।

मन में सपने संजोये, बीते क्षणों को बार-बार उकेरते, पता नहीं कब आंख लग गई। तड़के भोर आंख खुली। सुबह धुली-धुली-सी लग रही थी। स्नानघर में जाकर सिंदूर-भरी मांग को देर तक देखती रही। उसे हटाने का मन नहीं था, पर मास्टरजी देखेंगे तो क्या कहेंगे? नल का पानी खोल दिया। सिर पर पानी की धार पड़ी तो सिंदूरी रंग आत्मा की गहराई तक उतर गया। बाहर आई। सब कुछ वैसे ही था, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। हां, एक लाज अवश्य आ रही थी। ये क्या सोचते होंगे? किंतु प्यार से भरी उनकी आंखें देखीं तो सारा संकोच धुल गया। मन ही मन मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि पता नहीं, जीवन के किन संचित पुण्यों का फल था, जो मेरे स्वामी मुझे इस रूप में मिले।

उसी दिन हम लौट आए। जीवन फिर पुरानी गति से चल पड़ा। अम्मा कभी कमरा ठीक करने के लिए बुला लेतीं, कभी आलमारी ठीक करने के लिए। पहले वह छोटा-सा कमरा बेगाना लगता था, अब सब चीजें अपनी लगने लगीं। कहां का स्नेह, ममत्व, प्यार उमड़ आया उन सबके प्रति, नहीं जानती।

हमें तो पी.सी.एस. के रिजल्ट का इंतजार था। शायद, हम पास हो जाएं और सब बंद रास्तों का द्वार मिल जाए। पर ईश्वर को कुछ और ही मंजूर था। रिजल्ट आ गया। मेरा नाम कहीं नहीं था। ठाकुर ने तो लौटते ही आई.ए.एस. की तैयारी शुरू कर दी थी। उनका कहना था—ऑल इंडिया सर्विस की बात ही कुछ और होती है। इस बार मैंने परीक्षा में बैठने का विचार नहीं किया। सुना था, उसका इंटरव्यू और मेडिकल बहुत सख्त होता है और मेरी तो ‘आई साइट’ ही बहुत कमजोर थी। मैंने डी.ए.वी कॉलेज में टीचर्स ट्रेनिंग कोर्स में एडमिशन ले लिया। भाईजी का कहना था कि लड़कियों के लिए यही सर्विस सबसे अच्छी होती है। ठाकुर उधर आई.ए.एस. की पढ़ाई में व्यस्त हुए और मैं टीचिंग कोर्स में। एल.टी. की ट्रेनिंग बड़ी मुश्किल थी। इसमें थ्योरिटिकल और प्रैक्टिकल दोनों पेपर होते थे। मतलब यह कि हम दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में व्यस्त हो गए। उन्हीं दिनों अम्माजी को बनारस जाना पड़ा, तो मेरा इनके यहां आना-जाना और कम हो गया, क्योंकि बिना बुलाए तो मैं कभी वहां गई नहीं थी।

एक बात और हुई। शादी-ब्याह की जो बातें पढ़ाई के कारण दब जाया करती थीं, अब जोर-शोर से उभरने लगीं। कानपुर के ही किसी रईस के मामा की लड़की से ठाकुर के विवाह की बात आई। अम्माजी तो बाहर गई हुई थीं। भाभीजी ने मुझे बुलाया

और कहा, “अम्माजी नहीं है, तो तुम जाती ही नहीं हो।” मैंने कहा, “नहीं, ऐसी बात नहीं है। मैं पढ़ाई में व्यस्त थी।” इतने में उनके पति आ गए। बातों-बातों में ठाकुर की शादी की बात आई। भाभीजी शायद, मुझे सुनाकर बोलीं, “हां-हां, ले लो पचास हजार। वह तो तुम्हारी बात मानकर जैसे शादी के लिए ‘हां’ कर ही देंगे। देखना, ठाकुर बाबू शादी-वादी कुछ नहीं करेंगे।”

पचास हजार दहेज का प्रलोभन बड़ी बात थी उन दिनों। पर वैसे, इनके घरवाले रुपयों के पीछे कभी नहीं भागे। ठाकुर अपनी बात पर अड़े रहे, ‘जब इस्तहान में पास हो जाएंगे, नौकरी मिल जाएगी, तब शादी की बात सोचेंगे।’ हमेशा यही उत्तर होता था उनका।

मुझे भाभीजी के सामने बड़ी शरम लगी। उन्हें क्या पता, उनके देवर के मन की मलिका उनके सामने बैठी है।

संसार की निगाहों में, समाज की निगाहों में तो हम दो पड़ोसी मात्र ही थे, या अधिक से अधिक मित्र। हमारे भगवान की आंखों में जो सत्य था, संसार की आंखों में वह झूठ हुआ जा रहा था। मुझे बड़ी चिड़ लगती। क्यों करते हैं ये लोग बार-बार सगाई-शादी की बातें? क्यों बार-बार एक झूठी वास्तविकता मेरे सामने सर उठाकर खड़ी हो जाती है? मन क्तांत हो जाता। प्राणों में एक टीस-सी उठती। ऐसा नहीं था कि मैं इन लोगों की मनःस्थिति नहीं समझती थी। वह तो अपने कर्तव्य का पालन कर रहे थे। समाज की काना-फूसी भी उनके कानों में पड़ती होगी। उससे घबराकर भी विवाह की बातों की सरगर्मी शुरू हो जाती। वैसे, अंदाज सब लगाते थे वस्तुःस्थिति का, पर मुंह पर कहने की हिम्मत किसी में नहीं थी।

मेरे घर भी शादी की बात उठती तो मैं भी टाल देती। बड़े भाई तो मुंह फुलाकर बैठ ही जाते। अब तो छोटे भाइयों को भी हमारा मिलना-जुलना नागवार गुजरने लगा था। पर मैं भी तो विवश थी। अभी तो पढ़ना है, कुछ करना है, कुछ बनना है, जैसी बातें करके सबको निरस्त्र कर देती।

मैं सवेरे जल्दी उठ जाती थी। उस दिन भी उठ गई थी। अखबारवाला अखबार दे गया था। खोलते ही नजर पड़ी। आई.ए.एस. और एलायड सर्विसेज का रिजल्ट आ गया था। रोल नंबरों पर नजर दौड़ाने लगी। ठाकुर का नंबर था। खुशी से भागी-भागी उनके घर गई। कमरे में अकेले बैठे थे। रोल नंबर देखा तो खुशी से झूम उठे। हाथ पकड़ लिया और माथा चूम लिया। बोले, “चलो, अब जीवन में स्थिरता आ जाएगी। हम अपने पैरों पर खड़े हो सकेंगे। यही सोचकर मैंने इलाहाबाद में इतना बड़ा ‘स्टैप’ लिया था। हमारे मिलन को अब कोई रोक नहीं सकता। मुझे अपने ऊपर और अपने भगवान पर पूरा विश्वास था।”

कानपुर में केवल तीन लोग पास हुए थे। एक तरफ पास होने की खुशी, दूसरी

तरफ बिछोह की पीड़ा, क्योंकि, इंटरव्यू और ट्रेनिंग के लिए दूसरे शहर तो जाना ही पड़ेगा। इंटरव्यू मसूरी में था। बड़े वियोग के लिए यह तो छोटी भूमिका मात्र थी। सोचते-सोचते मैं घर लौट आई। ठाकुर के घर पर तो बधाई देनेवालों की भीड़ लग गई। लोगों से मिलने-मिलाने की हड़बड़ी में मैं केवल एक छोटी-सी शुभकामना ही दे पाई। मैंने लिखा :

ठाकुर मेरे,

तुम्हारे अंतर का प्रकाश कभी मंद न पड़े। सदा ही चमकता रहे। ताकि, एकांत पथ के सिरे पर जलती हुई मशाल की तरह तुम्हारा प्रकाश भी भटके हुए यात्रियों के लिए सुखद एवं प्राणदायक हो। यदि आज तुम्हारे हृदय में हिम है, तो सूर्य बनकर उसे पिघला दो। यदि वहां एकांत है, तो श्रद्धा और विश्वास का संगीत प्रारंभ कर दो। विश्वास करो, तुम्हारे हृदय में समुद्र की गहराई है, तुम उसे मोती बनकर चमका-भर दो। जीवन का संगीत प्रारंभ हो जाएगा। सन्नाटा टूट जाएगा। सफलता तुम्हारे चरण चूमेगी। समस्त आशा-विश्वास के साथ आगे बढ़ो। सत्यम् शिवम् के वितान से मुस्कराती-झिलमिलाती हुई सफलता तुम्हारे चरण चूमे, यही कामना है।

—सस्नेह, सुशी तुम्हारी

उन दिनों इंडियन रेवेन्यू सर्विसेज की ट्रेनिंग कलकत्ता में होती थी। सो ठाकुर 30 जनवरी, 1954 को कलकत्ता पहुंच गए। स्टेशन पर नंदकिशोर झाझरिया, जिन्हें हम सब नंदूजी कहकर ही बुलाते थे, के बहनोई हीरालालजी ने इन्हें रिसीव किया। इन्हें वहां सब कुछ बेगाना और नया लग रहा था। एक पत्र में इन्होंने लिखा, “कलकत्ता बहुत ही भीड़-भाड़वाला शहर है। चारों तरफ आदमी ही आदमी हैं। ड्राम, बसें, कार, घड़घड़-घड़घड़। घर की शांति और स्नेह यहां कहां! कानपुर के गुटैया मिल के महावीरप्रसाद झुनझुनवाला की गद्दी पर ठहरा हूं। उनसे हमारी रिश्तेदारी भी है। गद्दी बहुत छोटी है और बहुत लोग हर समय रहते हैं। तुम्हारे बिना एक मिनट भी नहीं रहना चाहता। तुम्हें जल्दी बुला लूंगा। हर वक्त दिल धबराता है। पर कर्तव्यवश रहना ही पड़ेगा। तुम अम्मा के पास अधिक से अधिक समय रहना। उनको रोने मत देना।

“यहां के आफिसर इंचार्ज मि. कापड़िया हैं, वे ट्रेनिंग इंचार्ज हैं। कल ही उन्होंने अलग-अलग शहर के प्रोवेशनरों का दो-दो मिनट का इंटरव्यू लिया है। मैंने जब उन्हें बताया कि मैंने एकाउंट्स और ऑडिटिंग का भी पेपर लिया है, तो वे बहुत प्रसन्न हुए। यहां से हम लोग ट्रेनिंग क्लास में ले जाए गए। वहां एक पत्र देना पड़ा कि हम आज से अपनी नई ड्यूटी पर रिपोर्ट कर रहे हैं। छह अलग-अलग कागजों पर ‘स्पेसीमैन’ हस्ताक्षर करने पड़े। इसके बाद दो-तीन चार्ज फार्म, जिन पर एक ही मीटर लिखा था, भरवाए गए कि हम आज से इनकम टैक्स आफिसर क्लास-एक ग्रेड-दो की जिम्मेदारी संभाल रहे हैं (आन ट्रायल) और कि हम निष्ठापूर्वक काम करेंगे। ‘इनकम टैक्स फॉर ले-मैन’ किताब हमें दी गई है। हमारे बैच में दो लड़कियां हैं। एक लड़की, ‘क्लास-दो आफिसर’ बैच में है। इनके

दस्तकें / 71

नाम लिस्ट में नहीं थे किंतु, ये दूसरे डिपार्टमेंट में जाने के लिए तैयार नहीं थीं इसलिए इनकम टैक्स में ले ली गई। यह पहली दफा है कि इनकम टैक्स में लड़कियां आई हैं। प्रोबेशनर्स को दो डिपार्टमेंटल टेस्ट देने पड़ेंगे और पास भी करना होगा। तीन देवियों के नाम इस प्रकार हैं—मिस कुम्मी मेहेरवा पावरी, क्लास-वन, नागपुर में आल इंडिया रेडियो में एनाउंसर थीं। मिस संतोष कपूर, क्लास-वन, दिल्ली में टीचर और मिस प्रेम शेखरी जालंधर में पढ़ाती थीं।”

उन दिनों ट्रेनिंग में पहुंचे इनकम टैक्स आफिसर की तनखाह कुल 440 रुपए होती थी। इसमें से 350 रुपए बेसिक पे, 40 डी.ए. और 50 रुपए कलकत्ता शहर का कंपेंसेटरी एलाउंस होता था। यदि तनखाह का दस प्रतिशत मकान भाड़ा कोई प्रोबेशनर देता, तो उसे सरकार की तरफ से कोई भी हाउस एलाउंस न मिलता। अगर दस प्रतिशत से अधिक देते हैं, तो बेसिक पे का 15 प्रतिशत तक सरकार देती थी। मसलन, अगर 35 रुपए किराया है, तो सरकार तनखाह के अलावा और कुछ नहीं देगी, इससे ज्यादा देने पर 57-60 देगी। इसमें भी मकान-मालिक की रसीद जरूरी थी। छुट्टियां एक वर्ष में 15 दिन की केजुअल, 10 दिन की अर्न्ड लीव पहले वर्ष में और दूसरे वर्ष में एक महीने की मेडिकल लीव। इस प्रकार साल में 25 छुट्टियां होती थीं। इसके अलावा पूजा की छुट्टियां 11 दिन की होती थीं क्योंकि, कलकत्ता में दुर्गा पूजा का उत्सव खूब धूमधाम से मनाया जाता है।

ठाकुर के जाने के बाद से अम्मा भी बहुत अकेली हो गई थीं। उनके जीवन की धुरी, उनकी दिनचर्या का केंद्र-बिंदु वही तो थे। बड़ी चिंता लगी रहती थी उन्हें कि वहां कैसे रहता होगा? क्या खाता-पीता होगा? कौन उसकी देखभाल करता होगा? चिम्नराम मोतीलाल की गद्दी पर रह रहे थे, तो उन्हें एक मानसिक सुकून था कि अपनी पहचानवालों के यहां हैं। चाहे, वह वहांवालों को बिल्कुल भी नहीं जानती थीं, फिर भी इस बात से ही वह निश्चित थीं। पर जब मैंने बताया कि अब वहां ज्यादा दिन नहीं रहेंगे तो बड़ी दुखी हुई। बोलीं, “वह तो ठीक है, पर अपनों के बीच में रहता तो अपने को तसल्ली रहती।”

मैंने अम्मा को समझाया कि ऐसा नहीं हो सकता। वहां के चेयरमैन श्री ए. के. राय ने कहा है कि ट्रेनी आफिसर्स को किसी भी बड़े आदमी से कोई संबंध नहीं रखना चाहिए। यह उनकी सबसे बड़ी सलाह है। मैंने अम्मा को बताया कि उनके बेटे ने अपने साथियों की तरफ से पांचों कमिश्नरों को चाय पार्टी पर बुलाया था। सब बड़े खुश हुए। अम्मा बोलीं, “हां, यह तो मैं जानती हूं कि वह जहां भी रहेगा, सबको खुश रखेगा, काम और व्यवहार से। खाने-खिलाने का तो उसे शौक ही है। पर यह गद्दी छोड़नेवाली बात जंची नहीं।”

मैंने अम्मा को समझाते हुए कहा, “अम्मा, तुम समझती नहीं। उनसे पार्टी में चेयरमैन ने कहा था—झुनझुनवाला, तुम्हें तो विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिए क्योंकि, जब

अपाइंटमेंट लेटर भेजे जा रहे थे, तभी लोगों ने कहा था कि मारवाड़ियों को इनकम टैक्स डिपार्टमेंट में नहीं लेना चाहिए। पर मेरा ख्याल है कि तुम लोग बहुत अच्छे इनकम टैक्स आफीसर सिद्ध हो सकते हो।”

अम्मा तो एकदम से उखड़ गई। बोलीं, “काहे? मारवाड़ी का खराब जात है?” मैंने बताया, “नहीं, यह बात नहीं है। मारवाड़ियों में अधिकतर लोग व्यापार और उद्योग में लगे हैं, इसलिए लोगों को लगता है कि वे आसानी से संपर्क में आ सकते हैं। और फिर एक-दूसरे से रिश्तेदारी भी तो निकल आती है। इसलिए वे सोचते हैं कि आफीसर प्रभावित हो सकता है।”

अम्मा बोलीं, “अरे, यह भी कोई बात हुई? हम क्या रिश्तेदारी छोड़ देंगे? लोग कहेंगे नहीं कि अफसर बनते ही अपनों को भूल गए? रिश्तेदारी का यह मतलब नहीं कि उनका बेजा काम भी कर दें। धर्म एक जगह है, न्याय एक जगह है और रिश्तेदारी अपनी जगह।”

अम्मा की बात सुनकर मैं समझ गई कि ठाकुर को संस्कार कहां से मिले हैं। ईमानदारी, चारित्रिक दृढ़ता, आत्मबल, आत्मविश्वास—इनको जीवन में पिरोनेवाली तो बचपन में मां ही होती है, जो संस्कार देती है। कुछ बड़ा होने पर शिक्षक संस्कार देता है और ठाकुर इस मायने में बहुत भाग्यशाली रहे कि जिस मारवाड़ी विद्यालय से उन्होंने अपनी शिक्षा प्रारंभ की, वहां विद्याभूषणजी जैसे आचार्य के सान्निध्य का सौभाग्य मिला, जिसने उनके चरित्र-निर्माण में एक बड़ी भूमिका निभाई।

अम्मा की बात सुनकर मुझे एक आख्यान याद आया। एक बार एक शिक्षक के पास दुनिया का एक नक्शा था, कई टुकड़ों में बंटा हुआ। एक दिन शिक्षक ने वे टुकड़े छात्रों को दे दिए और कहा कि दुनिया बना लें। पर दुनिया नहीं बननी थी तो नहीं बनी। तभी एक छात्र ने देखा कि टुकड़ों के पीछे भी कुछ बना है। उसने ध्यान से देखा, तो वे आदमी के अंग थे। फिर क्या था, उसने उन अंगों को जोड़कर आदमी बना लिया और तब कागज पलटा तो दुनिया बन गई थी। तात्पर्य यह कि आदमी को बना लो, आदमी को सच्चा इन्सान बना लो, तो दुनिया अपने आप संवर जाएगी। यह आदमी सबसे पहले कौन बनाता है? मां ही बनाती है। घर-परिवार संवर जाए संस्कारों से, तो राष्ट्र-निर्माण और समाज-परिवर्तन अपने आप हो जाता है।

अम्मा पढ़ी-लिखी नहीं थीं, किंतु, अच्छाई और बुराई की लक्ष्मण-रेखा को खूब पहचानती थीं। उनके पास उम्र का अनुभव और धार्मिक-सामाजिक पृष्ठभूमि थी। उनमें सही मायने में एक राजस्थानी महिला का आत्मबल था, जिसके बल पर संघर्षों से जूझते हुए उन्होंने अपने बेटे को पढ़ाया-लिखाया और इस योग्य बनाया कि वह राष्ट्र की सेवा कर सके।

एक दिन भइयाजी ने मुझसे पूछा कि ठाकुर का क्या प्रोग्राम रहता है? वह कहाँ खाना खाते हैं और उन्हें कैसा लग रहा है? मैंने सोचा, यह जानकारी मांगने का क्या उद्देश्य

है? या तो वह जानना चाहते हैं कि मैं ठाकुर के कितने विश्वास में हूँ या फिर उन्होंने यूँ ही सरल भाव से पूछ लिया, क्योंकि उन्हें यह तो पता ही था कि मेरे पास उनकी चिट्ठी रोज आती है।

“अभी ढाबे में ही खाते हैं। मारवाड़ी ढाबे बहुत अच्छे हैं। गद्दी के पास ही हैं। दूध वहाँ एक रुपये सेर मिलता है किंतु, कानपुर जैसा नहीं है। हाँ, दाल में छौंक डालडा का लगता है, इसलिए गला खराब हो गया है।”

“अब की बार कोई जाएगा तो देसी घी भिजवा देंगे,” भइयाजी बोले। वे संतुष्ट हो गए थे इतनी सब बातें जानकर।

मैंने अम्मा को बताया, “इनके साथ पढ़े हुए देवेन्द्र सोभानी के जीजाजी वहाँ के असरदार लोगों में हैं। उनका नाम नहीं मालूम, सब उन्हें करनानीजी कहते हैं। उनका ही एक करनानी मैशन है। वहाँ एक-दो कमरों का फ्लैट दिलाने के लिए कहते हैं पर वह दोनों के लिए ही उचित नहीं है। फिर वहाँ ज्यादातर यूरोपियन और ऐंग्लो-इंडियन लोग रहते हैं। कुछ बदनाम जगह भी है।”

अम्मा तो एकदम घबरा गई, कहने लगीं, “ऐसी जल्दी क्या है? धीरे-से देख-सुनकर जगह ले। वही अच्छा रहेगा।”

इन्होंने प्रॉस्पेक्टस भेजा था। उसके अनुसार जो किताबें मंगवाई थीं, भिजवा दीं। पब्लिक फाइनेंस के जो नोट्स मेरे पास रखे थे, मैंने भिजवा दिए। शायद, किसी काम आ जाएं।

वैसे, पढ़ाई तो ठीक-ठाक चल रही थी, किंतु मन की उदासी किसी प्रकार कम होने का नाम नहीं ले रही थी। उदासी के इसी दौर में ठाकुर ने कई “पिक्चर भी देख डालीं—‘मयूरपंख’, ‘जूलियस सीजर’, ‘टैक्सी ड्राइवर’ आदि। पत्र में लिखा, “‘मयूरपंख’ में मानवीय संवेदनाओं का चित्रण बहुत अच्छे ढंग से किया गया है, जो किशोर साहू की विशेषता है। फिल्म में राजस्थान की संस्कृति और जीवन का सही चित्रण है। वहाँ के लोगों का रहन-सहन, उठना-बैठना, रीति-रिवाज बहुत ही अच्छे ढंग से दिखाए गए हैं।

“उदयशंकर का बैले भी देखा है। कला और सौंदर्य का अच्छा सम्मिश्रण था। अमला शंकर और उदयशंकर की जोड़ी बहुत ही अच्छी थी।” मुझे लिखा कि ये सब यदि वहाँ आएँ तो अवश्य देखना। व्यस्त होने के बावजूद मुझे बताते रहते कि क्या पढ़ूँ। ‘फिल्म इंडिया’, ‘सरिता’, ‘धर्मयुग’ मंगाकर पढ़ने के लिए विशेष कहा।

मैं भी उन्हें कानपुर के हाल लिखती रहती, जिससे कि वह अपने-आपको अपने माहौल से कटा हुआ महसूस न करें। दोस्त लोगों की चिट्ठियाँ भी जाती रहती थीं।

कलकत्ते से एक किताब भेजी—देवेन्द्र सत्यार्थी की ‘धरती गाती है’। किताब के एक बहुत अच्छे लगे ‘पोर्शन’ को रेखांकित भी किया। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लिखा था, “क्या लंका के इतिहास में कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जिसे अपनी पटरानी से ऐसा ही प्रेम रहा हो, जैसा शाहजहाँ को अपनी मलिका से था? काश ! यहाँ भी किसी राजा ने कोई मकबरा

बनवाया होता। उसे पत्नी को दिखाते हुए मैं वह शब्द दोहराता, जो आगरा में मेरे मुख से निकले थे कि यह सिर्फ शाहजहां की ही भेंट नहीं, यह पुरुष की भेंट है नारी के लिए। उस समय मुझे अपनी गरीबी भूल गई थी। मैं भी एक शाहजहां था, मेरी पत्नी एक मुमताज महल।”

रेखांकित हिस्से के साथ एक नोट लगा था—“मैं अपनी सुशी को मुमताज से ज्यादा प्यार करता हूँ। पता नहीं, शाहजहां को मालूम था कि नहीं कि उसका प्यार दौलत के सहारे खड़ा हुआ था और हमारा दिल की धरती पर। हमारे प्यार में दौलत की झूठी चमक नहीं है। वह दिल की धरती पर पनपा है और उसे देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त है।”

इस नोट के द्वारा ठाकुर मुझे बताना चाहते थे कि इलाहाबाद की घटना एक भूला-विसरा क्षण मात्र नहीं था। वह स्मृति उतनी ही ताजी और जीवंत है, जैसे डाली पर अभी खिला फूल।

इधर, मेरा यह हाल था कि एक पिघलती उदासी गहरी से और गहरी होती जा रही थी। कहां तो यह आलम कि दिन-भर में एक क्षण भी खाली नहीं बीतता था और कहां अब एक पथराया सूनापन लंबी दोपहरियों को घेर लेता था। जीने का जैसे कोई लक्ष्य नहीं था। कई बार मन करता, सब कुछ छोड़-छाड़ कहीं छोटी-सी जगह में चली जाऊँ, जहां मुझे कोई न जानता हो और न मैं किसी को जानती होऊँ। सादा-सा जीवन बिताऊँ, सब झंझटों से दूर। घर में सबकी निगाहें जैसे मेरा उपहास करती लगतीं क्योंकि, हमारे व्यस्त क्षणों की साक्षी तो वे ही आंखें थीं। और वे किस-किस दृष्टि से हमें देखती थीं, हम नहीं जानते थे। शायद, लोगों को संशय था कि आपसीर बनने के बाद भी क्या हमारी मित्रता वैसी ही रहेगी!

अपना सुख-दुख अपने साथ लिये, शहर से बहुत दूर, किसी देहात या छोटे कस्बे का जीवन मुझे बहुत खींचता था, जहां जिंदगी के कुछ दिन कट जाएं, पर फिर ध्यान आता, मैं अकेली नहीं हूँ। अम्मा की जिम्मेदारियां ठाकुर मुझे सौंप गए हैं। वे बीमार भी हो गई हैं। उन्हें लेकर डॉक्टर के पास भी जाना होता था।

निराश होकर बैठ जाना कभी मेरी फितरत नहीं रही। यह अलग बात है कि बादलों की छाया कभी कुछ देर के लिए अंतर के प्रकाश को मद्धम कर देती थी, फिर भी अंधेरे में रास्ता खोजना मेरी आदत थी।

मैंने एल. टी. कर लिया था। उसी समय पता चला कि म्यूनिसिपल गर्ल्स कॉलेज में एक जगह खाली है टीचर की। मैंने भी अपनी अर्जी भेज दी। उम्मीद कम थी, फिर भी इंटरव्यू के लिए बुलावा आया। मुझे काम भी मिल गया। 8वीं, 9वीं और 10वीं कक्षा की लड़कियों को पढ़ाना था। कॉलेज में बी. ए. के क्लासेज प्राइवेट चलते थे। बी. ए. की लड़कियों को अर्थशास्त्र मुझे पढ़ाना था। मैं बहुत खुश हुई, कम से कम दिन अब इतने लंबे तो

नहीं लगेंगे।

हमारा कॉलेज डी. ए. वी. कॉलेज के पास ही था। कॉलेज की प्रिंसिपल मिसेज आगा थीं। बहुत ही सख्त किस्म की महिला। अनुशासन के नाम पर तो एकदम कठोर। कॉलेज में होस्टल भी था। मेरे साथ की दो टीचर्स—मिस डे और हेना बरार से मेरी अच्छी दोस्ती हो गई थी। वे दोनों इलाहाबाद से आई थीं और वहीं होस्टल में रहती थीं। क्लासेज से छुट्टी मिलती तो मैं अक्सर उनके कमरे में चली जाती। छोटा-सा कमरा था। एक किनारे पलंग पड़ा रहता था। सिरहाने एक मेज, जिस पर किताबों के ढेर या नोट्स की कापियां। एक छोटे टेबुल पर हीटर रखा रहता। टेबुल के नीचे के हिस्से में कुछ डिब्बे। वैसे, ये लोग खाना तो होस्टल के डाइनिंग हाल में ही जाकर खाती थीं, पर कभी-कभी सूजी का हलवा या उपमा हम बना लेते थे। ये चीजें जल्दी बन भी जाती थीं और स्वादिष्ट भी लगती थीं। फिर हम वहीं लेट जाते। खूब गपशप होती। बेकार-सी लगनेवाली बातें भी हमारी बातों में महत्वपूर्ण हो जातीं। वे बातें, जिनको हम दिल खोलकर किसी से कह नहीं सकते थे, हमारी बातों का हिस्सा बन जाती थीं। धीरे-धीरे हम एक दूसरे के हमराज हो गए।

कलकत्ता जाते समय हमारे बीच वायदा हुआ था कि हम दोनों एक-दूसरे को रोज चिट्ठी लिखेंगे ताकि बीच का अंतर महसूस ही न हो और दोनों ओर की खबरें पूरी मिलती रहें। यह क्रम बराबर चल रहा था। घर पर चिट्ठियां रोज आती थीं, पर उनमें हम अपने मन की बात नहीं लिख सकते थे। केवल खबर ही दे सकते थे—वे खबरें, जिन्हें कोई भी पढ़ सकता था। अब होस्टल के पते पर चिट्ठियां मंगाकर हम अपने बेचैन मन की बातें, अपने राज बेखटके एक-दूसरे को लिख सकते थे, क्योंकि इन चिट्ठियों के दूसरों के हाथों में पड़ने का कोई खतरा नहीं था। इस तरह से मेरे जीवन का यह एक बहुत ही अच्छा समय था। लड़कियों को पढ़ाकर बहुत ही आनंद आता था। लग रहा था, फिर से कॉलेज के दिनों में पहुंच गई हूं।

चिट्ठियों-सी चहचहाती लड़कियां कभी लॉन के एक छोर तो कभी दूसरे छोर पर तीन-तीन के गुटों में बैठी गपशप करती दिखतीं। कहीं दो सहेलियां हाथ में हाथ डाले, सबसे दूर, एकांत में गुपचुप बातें करतीं। उनको देखकर अपने दिन याद आ जाते। उनके बीच में क्या बातें हो रही होंगी, कैसे एक-दूसरे के सुख-दुख बांटे जाते होंगे, या अंतर की गोपनीय बातें एक दिल से दूसरे दिल तक कैसे पहुंचाई जा रही होंगी, इसका अनुभव तो भुक्त-भोगी ही कर सकते हैं।

मैं कॉलेज में उनकी प्रिय 'बहनजी' थी। अन्य टीचरों का-सा न तो मेरा व्यवहार था, न रुखाई और न रौब। सहज ढंग से कब कैसे मित्रता का एक नाता उन अबोध हृदयों के साथ जुड़ गया, नहीं जानती।

एक दिन कॉलेज पहुंची और क्लास में जाने से पहले होस्टल में शांति (मिस डे) के कमरे में कुछ देर आराम किया। वे खुद कमरे में नहीं थीं, इसलिए कमरे को बंद करके

सीधे क्लास रूम में पहुंच गई। मुझे ध्यान ही नहीं रहा कि ताला मेरे हाथ में था। लेक्चर देते समय देखा, बड़ी झेंप लगी। लड़कियां क्या सोच रहीं होंगी! सब खिलखिलाकर हंस पड़ीं। बाद में तो उन्होंने कॉलेज के समारोह में टाइटिल भी दे डाला। टैंथ क्लास की लड़कियों ने टाइटिल दिया—“कुछ प्यारी-सी, कुछ न्यारी-सी, कुछ तिरछी तेज कटारी-सी।” हरेक क्लास की लड़कियों ने अलग-अलग टाइटिल दिए। बारहवीं क्लास की लड़कियों ने टाइटिल दिया—‘काहे री नलिनी, तू कुम्हलानी।’ कुछ ने टाइटिल दिया—‘रुमझुम-रुमझुम चाल तिहारी।’ मैंने ठाकुर को लिखा। जवाब आया ‘ठीक ही तो टाइटिल दिए हैं।’ होली के दो-चार दिन बाकी थे, सो हंसी-ठिठोली का माहौल गर्म था। मैं भी उसमें शामिल हो गई।

अगले दिन लड़कियों ने पिकनिक का प्रोग्राम बनाया। मेरा मन तो बिल्कुल नहीं लग रहा था किंतु, उनकी जिद के आगे झुकना पड़ा। बाहर निकली ही थी कि डाकिये ने चिट्ठी पकड़ा दी। कलकत्ते से आई थी। लिखा था, “आज होली है। घर में होली मनाई गई होगी।” और कि मेरी चिट्ठी उन्हें मिली तो कैसा संयोग कि डाकिये पर किसी ने रंग डाल दिया और पूरी चिट्ठी रंग में तर-बतर थी। इसे एक अजीब, पर शुभ संयोग ही कहना चाहिए। लिफाफे में रंग और गुलाल की पुड़िया रख दी। मेरी होली तो मन गई। मैं लड़कियों के साथ पूरे जोश-खरोश से पिकनिक के लिए चल दी।

कलकत्ते की बातें लिखी थीं कि “सीनियर्स का इम्प्रेशन अच्छा है। एक बार मुझे पढ़ाया गया था—‘डैबिट योर लॉसेस एंड क्रेडिट योर गेन्स।’ वही दोबारा पढ़ना पड़ रहा है। हर टैस्ट में पेपर्स बहुत अच्छे होते हैं, करीब-करीब सेंट-परसेंट नंबर मिलते हैं। पर पढ़ने में मन नहीं लगता। अकेले पढ़ने की आदत नहीं है, इसलिए। वैसे, यहां केवल पास होना है। सिनियरटी तो वही रहेगी जो आई. ए. एस. में थी। अब की परीक्षाओं के आधार पर कोई अंतर नहीं पड़नेवाला है। फिर भी तुमने मुझे आसमान पर बिठा रखा है और जिन्हें हम आसमान पर बिठा रखते हैं, वे गिरते हैं तो बहुत चोट लगती है, इसलिए इत्मीनान रखो, मैं पूरे जोर-शोर से पढ़ाई करने लगा हूँ और अच्छे नंबर लाने की कोशिश में रहूँगा।”

होस्टल में एक टीचर और आई थीं—मिस मीनाक्षी। हाथ देखने में दखल रखती थीं। एक दिन सब उन्हें घेरे खड़ी थीं। मैंने भी हाथ दिखाया। बोलीं, “तुम्हारे हाथ में फारच्यून लाइन डबल है। तुम और तुम्हारा हस्बैंड दोनों ही अच्छी पोजीशन में रहोगे।” शाम को मैना भाभी के यहां गई। उनके श्रीमानजी को भी हाथ दिखाया। वे भी पामिस्ट्री और ज्योतिषशास्त्र अच्छा जानते थे। उन्होंने भी वही बात कही, जो मीनाक्षी ने कही थी। मन प्रसन्न हो उठा। पर वे तुरंत ही फिर बोले, “फारच्यून लाइन पर आइलैंड दिख रहा है। ठीक से दिखाई नहीं पड़ रहा है, फिर दिखाइएगा। अगर आइलैंड होगा तो 26-27 में जिंदगी में एक बुरा परिवर्तन होगा। आइलैंड नहीं होगा तो 26-27 में बड़ा अच्छा परिवर्तन होगा।”

मेरा मन तो दुविधा में पड़ गया। भाग्य की बात कौन जाने? कहीं यदि वे और किसी के आकर्षण में बंध गए तो मेरा क्या होगा? मैं तो जीते-जी मर जाऊंगी। वैसे,

मुझे पूर्ण विश्वास था कि ऐसा नहीं होगा। फिर भी मन की गति पर अख्तियार नहीं रहता और अक्सर वह आशंकाओं-कुशंकाओं की ओर ही भागता है। जब-तब ऐसी-वैसी बातें सोचने लग जाती। इसी राँ में एक दिन मैंने एक चिट्ठी में लिखा, “पहली बार इनकम टैक्स में लड़कियाँ आई हैं, कैसी हैं वे लोग?”

उत्तर मिला, “स्मार्ट, आधुनिक, बुद्धि में तेज।”

मैंने पूछा, “जिंदगी की राह में कहीं कोई दूसरा अपना मिल गया तो?”

जवाब दिया ठाकुर ने, “रास्ते में मिला हर कोई दूसरा जरूरी तो नहीं कि अपना ही हो। कुछ ही अपने होते हैं, और मुझे उनकी पहचान है।”

मेरा मन आश्वस्त हो गया।

अगले दिन फिर चिट्ठी आई—“कल तुम रोई थीं। मैं जानता हूँ, तुम कहोगी नहीं। पर तुम्हारा चेहरा मेरे दिल पर बना है। उस पर जरा-सी भी शिकन आए, तो मुझे पता चल जाता है।”

उसी चिट्ठी में मैंने लिखा था, “मैं तो खास सुंदर भी नहीं हूँ। पहनने-ओढ़ने, मेकअप करने का ढंग भी नहीं जानती हूँ।”

इन्होंने जवाब दिया, “बनावट से जो समझौता कर लेते हैं, वे अकसर धोखा खाते हैं।”

ठाकुर अपने कलकत्ता प्रवास की एक-एक बात मुझे लिख भेजते थे। मसलन, कितनी तनख्वाह मिलती है, किस तरह के लोग हैं। वहाँ पूरे हिन्दुस्तान के लोग थे। कोई पंजाबी, कोई मद्रासी, कोई उड़िया और बंगाली तो थे ही। पर, “कोई एक-दूसरे से ज्यादा बात नहीं करता था। तीन-चार को छोड़कर हिंदी कोई समझता नहीं। दिन-भर अंग्रेजी बोलते जी ऊब जाता है। एक भाषा हिंदुस्तानी, जो सबको आनी चाहिए, वही कोई नहीं जानता। सिर्फ चार-पाँच उत्तरप्रदेश के लोगों को छोड़कर।”

कितनी ही बातें, कब किस विषय का टेस्ट होना है और उसमें कितने नंबर आए हैं। “एकाउंट्स में 30 में से 30 नंबर आए हैं। अब तुम मत कहना कि मैं कोशिश नहीं कर रहा हूँ।” कैसा मकान देखा, क्या किराया है, यह भी लिखा। राय भी पूछी कि किसके साथ शेअर करूँ, आदि-आदि। और पूछा, “तुम समय कैसे बिताती हो?”

हमारे कॉलेज में साहित्यिक गोष्ठियाँ भी हुआ करती थीं। मेरा विषय तो अर्थशास्त्र था, परंतु मुझे हिंदी से विशेष प्रेम था। हम दोनों ने ही हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से साहित्य-रत्न की परीक्षा पास की थी। उसे एम. ए. के बराबर मान्यता मिली थी। मैंने फिर विदुषी (‘आनर्स’) भी कर लिया था। हिंदी से मेरा बचपन से लगाव था। उस दिन हिंदी मंच की ओर से एक गोष्ठी का आयोजन था। हिंदी के प्रतिष्ठित कवि गोपालदास नीरज आनेवाले थे। कानपुर में उन दिनों नीरज के गीतों की धूम थी। नीरज डी. ए. वी. कॉलेज के ही छात्र थे। हम लोगों से सीनियर थे। मैं उनसे कभी मिली नहीं थी, न ही उनकी कविताएँ

सुनी थीं। कानपुर में वैसे तो साहित्यिक गोष्ठियां अक्सर होती रहती थीं, पर हमारे घर का माहौल ऐसा नहीं था। मेरा बाहर जाना-आना भी बहुत कम था, इसलिए नीरज को सुनने की लालसा बहुत थी। 'गीतों का राजकुमार' संबोधन उन्हें मिला था। खचाखच भरे हाल में उन्होंने सुनाया :

एक पांव चल रहा अलग-अलग, और दूसरा किसी के साथ है
एक सांस मौत के करीब है, एक सांस जिंदगी के पास है,
एक फूल में छिपी हुई बहार, एक फूल में खिजां उदास है,

इसलिए विपाद में, विलास में, एक पांव चल रहा अलग-अलग
और दूसरा किसी के साथ है।....

बहुत अच्छा समां बांधा उन्होंने। नीरज का कविता-पाठ का ढंग भी बहुत अच्छा और अपने ढंग का अकेला था। हृदय की अनुभूतियों को बड़े सुंदर-ढंग से उन्होंने प्रतिपादित किया। बाद में तो नीरज की कविताओं को पढ़ा और सुना भी। हृदय में प्रेम अनायास अंकुरित होता है, सहज रूप से पुष्पित और पल्लवित होता है और फिर अबाध गति से फूट पड़ता है। प्रेम की इस भावना को बड़े स्वाभाविक ढंग से, भापा के सहज प्रयोग के माध्यम से, इस खूबी से उन्होंने अपने गीतों में उतारा कि वह गीत की आत्मा के साथ-साथ उसकी शक्ति भी बन गई। बाद में नीरज एक अत्यंत लोकप्रिय कवि के रूप में उभरे।

उस बार इलाहाबाद में महाकुंभ का स्नान निकला था। वहां कितनी भीड़ होगी, इसका अनुमान लगा-लगाकर मैं तो जाना नहीं चाहती थी, पर अम्मा का बहुत मन था। एक बस ठीक की गई किराये की। बहुत-से यात्री जा रहे थे। अम्माजी, मैं, भइयाजी, अमृतसर वाली भाभीजी जाने के लिए तैयार हुए। बस पूरी भरी हुई थी। सभी यात्री बड़े मन से कीर्तन करते जा रहे थे। तभी एक आश्चर्यजनक घटना घटी। हमारी बस का एक्सीडेंट हो गया। कैसे हुआ, यह तो उस समय किसी को मालूम नहीं हुआ, पर अचानक एक जोर का झटका लगा। बस एकदम ऐसे उछली जैसे किसी ने गेंद उछाल दी हो, एक ओर झुकी, उल्टी हुई। 'जय बजरंग बली', 'जय-जय हनुमान गोसांई, कृपा करो' के नारों से बस गूंजी और बजरंग बली का स्मरण करते ही ऐसा झटका लगा कि बस सीधी होकर फिर सड़क पर खड़ी हो गई। उस समय ऐसा ही महसूस हुआ जैसे, किसी ने बस को ऊपर उछाला, वह नीचे आई और फिर किसी ने उसे सीधा कर दिया। पलक झपकते ही यह सब हो गया। सही में, एक बड़ी दुर्घटना बजरंग बली ने टाल दी थी। वैसे, हमें क्या पता था कि इससे भी बड़ी दुर्घटना घटनेवाली है और यह उसका आभास मात्र है। शायद, प्रकृति ने संकेत दिया था, हम लोगों को आनेवाली दुर्घटना का।

हमारी बस फिर चल पड़ी। रास्ते-भर भीड़ उमड़ी पड़ रही थी। जैसे, सबको आज

ही सारा पुण्य कमाना है। कुछ लोग कहते हैं, कुंभ में बीस-पच्चीस लाख आदमी आए थे। और कुछ की राय थी पंद्रह-बीस लाख। राय चाहे जिसकी ठीक हो, पर दोनों के बीच में भी सोचा जाए तो दस लाख से कम आदमी नहीं थे। हम जैसे ही कुंभ-स्थान की ओर पैदल बढ़े (क्योंकि, बस तो एक स्थान से आगे जा नहीं सकती थी) कि एकदम से एक बड़ा हुजूम आगे बढ़ता देखा। नागा बाबाओं का जुलूस आ रहा था। चारों ओर अफरा-तफरी मच गई। सभी दर्शन करने आगे बढ़ रहे थे। जैसे, कयामत बरपा हो रही हो। इतने में सुना, कोई पुल टूट गया है, जिस पर होकर लोग संगम में नहाने का पुण्य प्राप्त करना चाहते थे। फिर लाशों का तांता लगा। लाशों पर लाशें चली आ रही थीं। एक के बाद एक। मौत को इतने पास से, इस भयानक अंदाज में, पहले कभी नहीं देखा था। आज भी इस घटना को याद कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

मैं अम्माजी का हाथ पकड़े, करीब-करीब उन्हें खींचते हुए, भीड़ के उस महासमुद्र में एक तरह से ढकल रही थी। अम्माजी का शरीर भी भारी था। उन्हें चलने में भी दिक्कत हो रही थी। चारों ओर शोर-गुल। लाउडस्पीकों से लोगों को धीरज रखने की सलाह दी जा रही थी, पर सुने कौन? सबों को अपनी जान बचाने की पड़ी थी।

वहां किसी महंत का अखाड़ा था। उन्होंने चारों ओर से मजबूत बांसों से स्थान घेर रखा था। भगवान ने ही किसी को प्रेरणा दी। हमारी परेशानी देखकर हाथ पकड़कर हमें अंदर खींच लिया। सुरक्षित स्थान पर पहुंचकर भगवान का लाख-लाख धन्यवाद किया। अखबारों में बाद में पढ़ा कि करीब तीन हजार लोग मारे गए थे। पर लोगों का कहना था कि वास्तव में इससे कहीं अधिक लोग मरे हैं। हम लोग तो संगम तक पहुंचे ही नहीं। उधर ही गंगा के किनारे डुबकी लगा ली और बजरंग बली, संकट-मोचन हनुमानजी का नाम जपते घर लौट आए, रात के तीन बजे।

मैं सोच रही थी, कौन-सी वह शक्ति है, जो इतने कष्टों के बावजूद व्यक्ति को अपनी ओर खींचती है? अम्माजी को मालूम था कि संगम पर भीड़ होगी और अम्माजी को ही क्यों, जो-जो वहां गए, सभी को मालूम था। फिर वह वहां क्यों गए? वह गए इसलिए क्योंकि एक डोर से बंधे थे। आस्था की डोर से। करोड़ों की संपत्ति से खेलनेवाला धन-कुबेर हो या खेतों में हल चलानेवाला किसान—सब आस्था की डोर से बंधे हैं। और यही आस्था उन्हें उर्जा प्रदान करती है, शक्ति देती है—बड़े से बड़े संकट का सामना करने की। हमारी संस्कृति का मूल स्वर यही है। शरीर अनित्य है, वैभव शाश्वत नहीं है। नित्य मृत्यु है, जो पास आ रही है। ऐसे में कर्तव्य का पालन करते हुए, धर्म का संचय जितना कर सकें, उतना अच्छा। धर्म की यही भावना हमें संबल देती है, और उसके तहत हम व्यक्तिगत परेशानियों को भूल जाते हैं।

मुझे पता था कि कुंभ दुर्घटना का समाचार सुनकर ठाकुर को बड़ी चिंता हो जाएगी। मेरी आशंका सही निकली। तीसरे दिन ही पत्र आ गया—“आज सुबह जब से दुर्घटना का समाचार पढ़ा, मन बड़ा घबरा रहा है। मैं, अपने को कितना कोस चुका हूँ कि क्यों

मैं तुमको कहकर आया था कि अम्मा को कुंभ नहला लाना। अगर न कहा होता तो चिंता की कोई बात ही नहीं थी। कभी बहन को फोन करने की सोचता, कभी तुम्हें ही तार करने की। करीब चार बजे शाम कालीमां के दर्शनों को गया। बड़ी भीड़ होने के बावजूद दर्शन किए। प्रार्थना की—तुम लोग सकुशल वापस आ जाओ! वहां से कालीजी का सिंदूर पत्ते पर ले आया था। उसे इस पत्र के साथ भेज रहा हूँ। माथे से लगा लेना। ढांडस के लिए, स्नेह के लिए, प्यार के लिए, साहस के लिए, प्रेरणा के लिए, मुझे तुम्हारी जरूरत है।

“शनिवार को ‘विराज बहू’ देखी। वैसे मैं सोचता हूँ कि मैंने पहले से ही, बहुत पहले से ही देख रखी है। पिक्चर काफी पसंद आई, पर मैं डायरेक्टर के साथ पिक्चर के अंत से सहमत नहीं हूँ। क्यों नहीं अंत में, जब विराज बहू घर वापस आती है, तब उसे दोबारा उसके पति के साथ उसी प्रेम-भाव से रहते दिखाया जा सकता है? विराज बहू की मृत्यु से मुझे बड़ी ठेस लगी। उसकी मृत्यु से ऐसा मालूम पड़ा कि उसकी तमन्ना, पवित्रता, तपस्या सब कुछ हार गई। उसकी केवल एक तमन्ना की जीत हुई कि वह नीलांबर के कदमों में अपने प्राण त्यागे। मुझे यह पराजयवादी मनोवृत्ति हर वस्तु में पसंद नहीं।

“नीलांबर के चरित्र की एक परीक्षा और हो सकती थी कि जब वह वापस आती है, तब उसके कुरूप हो जाने की वजह से, दुनिया और समाजवाले उसे तरह-तरह के ताने मारें और तब भी वह विराज को, अपनी विराज को उतना ही चाहता रहे, जितना कि पहले या उससे भी अधिक। तुम्हारा क्या विचार है, लिखना।”

‘विराज बहू’ मैंने भी देखी थी, पर उसके बारे में मैं क्या बताती? ठाकुर ने जो सोचा, ठीक ही सोचा, पर दुनिया में क्या सब ऐसा ही होता है? कितने नीलांबर हैं, जो प्रेम की परीक्षा में खरे उतरते हैं?

प्रेम तो वह होता है, जो दो प्राणों को एक-दूसरे का पूरक बनाता है। जो एक-दूसरे के साथ शारीरिक रूप में केवल कदम के साथ कदम मिलाकर नहीं बढ़ते, वरन् भावों में, विचारों में, चिंता में भी बढ़ते हैं—ऐसे लोग एक दूसरे को ऊंचाई की ओर ले जाते हैं, नीचे की ओर खींचते नहीं हैं। प्राण से प्राण मिलें तो संसार बन जाता है। अनंत सागर मुट्ठी में आ जाता है, बशर्ते कि वे दो प्राण सही मायनों में एक-दूसरे के पूरक हों, एक-दूसरे के बिना अधूरे हों।

पर क्या ऐसा होता है? अक्सर एक साथी दूसरे की इच्छाओं को बढ़ावा न देकर, उसके गुणों को परिपक्वता की ओर न ढकेलकर, उसपर अविश्वास की चादर ओढ़ाकर, उसे शंका और संदेह की दृष्टि से देख, उसे और गलत काम करने की ओर ही प्रेरित करता है। उन्मुक्त गुब्बारे के समान एक ऊपर और ऊपर जाना चाहता है—समाज में, कर्मक्षेत्र में, जबकि दूसरा पग-पग पर उसका साथ न देकर, पीछे की ओर खींचनेवाली एक कड़ी, एक निस्पंद बोझ, आग की बुझती हुई राख का ढेर मात्र रह जाता है। ऐसी स्थिति में विवाह के बाद जिंदगी रस-हीन हो जाती है या दो व्यक्ति अपने-अपने मन के

पिंजरों में कैद, एकाकी हो जाते हैं। ऐसे विवाह का क्या होना और और क्या न होना!

कोई भी ऐसी समस्या नहीं होती, जो एक साथ बैठकर तरीके से सुलझाई न जा सके। यदि एक कहता है कि मैं तुमसे सहमत नहीं हूँ और उसके ये कारण हैं, जिनके कारण मैं सहमत नहीं हूँ और दूसरा मान लेता है कि वे कारण सही हैं, या दूसरा कहता है कि गलत हैं, और इन-इन कारणों से गलत हैं, और पहला मान लेता है, तब कहीं घावों को कुरेदने का सवाल ही नहीं उठता है। घावों पर मरहम लग चुका होता है।

मेरे और ठाकुर के बीच मे ऐसा ही रिश्ता था। एक-दूसरे को प्यार करने से पहले हम एक-दूसरे के दोस्त थे। एक-दूसरे को प्यार करने से पहले हम एक-दूसरे को पसंद करते थे। विवाह के बारे में तो हमने बाद में सोचना शुरू किया। हम एक-दूसरे का विश्वास करते थे, एक-दूसरे की प्रशंसा करते थे। जिंदगी की खूबसूरती उसके मोड़ और अंधेरे होते हैं, जिनसे गुजरकर वह एक मुकाम पर पहुंचती है। बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं, जिनकी वजह से कड़वाहटें भर जाती हैं। बहुत-सी खुशियां भी दे जाती हैं। पहले जब हम पास होते थे, तो मन की बात एक-दूसरे से बांट लेते थे। अब जो समझ में आता, चिट्ठी में लिख देते और एक-दूसरे से सलाह करके फैसला करते।

एक पत्र में ठाकुर ने बताया, शायद उनके साथी अमरनाथ को भी पता है कि इंटरकास्ट शादी करेंगे। एक दूसरे साथी नेवटिया, जो आई.ए.एस. में साथ थे, कह रहे थे, 'वह कौन भाग्यशाली लड़की है, जिस पर तुम फिदा हो? शादी के समय हमें भूल न जाना।' ठाकुर ने लिखा था, "तुमने अपने कॉलेज से फोन किया, उस समय राधे भी (राधेश्यामजी, ठाकुर के बड़े भाई के बेटे थे और एक साथ ही, एक ही वर्ष में आई. ए. एस. एलाइड परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे) मेरे पास बैठा था। इसी कारण मैं 'हूँ-हां' में ही उत्तर दे रहा था। सोचा था, यह बात करेंगे, वह बात पूछेंगे, पर उसके सामने कैसे पूछता? तब वह बोला, 'इतनी दूर से फोन आया है और तुम इधर-उधर की बात कर रहे हो? तुम बात करो, मैं उधर चला जाता हूँ।' कितने समझदार लोग हैं, मैंने सोचा, हम बेकार ही डर रहे हैं।

"कल फूलों की नुमाइश देखने गया था। एक गुलाब का पौधा था। उसमें चौबीस कलियां थीं, जो खिलने-खिलने को हो रही थीं। बहुत ही सुंदर लग रही थीं। उनके नीचे वर्ड्सवर्थ की कुछ पंक्तियां लिखी थीं :

*This bud of Love
By Summer's ripening breath
May Prove a beautiful flower
When next we meet.*

"मैं इस कविता को उतारने लगा तो राधे मुस्कराकर बोला, 'पत्र में लिखने के लिए अच्छा कोटेशन है।'

"मैं एक बात सोच रहा हूँ। अम्मा को यहां पहले बुला लूं और उन्हें सब बातें बता

दूँ और साथ ही यह भी कह दूँ कि मैं तुमसे शादी भी कर चुका हूँ और अब जब तुम कहो, तब बुला लूँ। फिर अम्मा को कहना ही पड़ेगा कि 'बुला लो।' जब मैं उनसे यह कहूँगा कि मैं शादी कर चुका हूँ, उसके बाद उनके पास क्या जवाब रह जाएगा? पर इसमें मुझे एक ही डर लग रहा है कि पीछे अम्मा को सब बहुत ही परेशान करेंगे कि उन्होंने शादी करवाई है। तब उनको बहुत बुरा लगेगा। लोग तो बड़े तेज हैं, यह भी पता लगा लेंगे कि शादी अभी नहीं हुई है और हमने झूठ बात कही है।

“मेरा ख्याल है कि तुम अम्मा को साफ-साफ या इशारे से यह बता दो कि ठाकुर उन्हें तभी बुलाएंगे, जब मैं कलकत्ते पहुंच जाऊँगी, फिर देखो, वह क्या कहती हैं? बाई को सब पता है। भइया भी जानते हैं। मेरे ख्याल से सभी को पता है क्योंकि, कला वहां भी कोई कह रहा था, जो कानपुर से आया था कि बाधा क्या है? जब सब ठीक है तो कानूनी तौर पर भी बंधन में बंध जाओ। सब तरफ उलझन, परेशानी, बेचैनी है। पर इस सबके बीच एक ही सत्य है कि मेरी जिंदगी में तुम्हारा ख्याल ही सब कुछ है। जो कुछ भी मैं हूँ या होऊँगा, उसका कारण तुम हो।”

मैंने सोचा, इस तरह की जल्दबाजी करने से कोई फायदा नहीं है। हो सकता है, सब लोग यह जानना चाहते हों कि जो धुआं उठ रहा है, उसके पीछे आग है भी कि नहीं? यदि है भी तो कितनी? क्या उसमें इतनी सामर्थ्य होगी कि वह विरादरी से टकरा सके? विरादरी एक पत्थर होती है। उससे टकराने का अंजाम क्या हो सकता है, यह हम सोच ही सकते हैं, जानते नहीं। मुझे भी कभी-कभी लगता है कि अम्मा सब जानती हैं, पर क्या जब उनसे यह कहूँगी कि मेरा मन यहां नहीं लगेगा अकेले, इसलिए जब वह जाएं तो मुझे भी ले चलें, तो क्या वह राजी हो जाएंगी? या फिर मैं कहूँ कि मेरे जाने के बाद ही उन्हें बुलावाया जाएगा तो उन्हें कितना आघात लगेगा? यह तो शुरू में ही आटा गीला करनेवाली बात हो गई। मैं कभी किसी जगह जाने के लिए या कोई काम करने को मना कर देती हूँ तो अम्मा मुझसे कहती हैं, “मैं ठाकुर से शिकायत कर दूँगी।” इसलिए यह तो सही है कि वे जानती हैं कि हम एक-दूसरे के बहुत करीब हैं। पर फिर भी पूरे रूप से मैं नहीं कह सकती कि वे कितना जानती हैं। डिपार्टमेंटल टेस्ट पास कर लेने के बाद ही निर्णय लेना ठीक होगा। जिंदगी हमारा इंतजार कर रही थी। हम जिस दौर से गुजर रहे थे, वह कीमती भी था और नाजुक भी। इसलिए वक्त की नजाकत देखकर ही कोई फैसला करना था।

ठाकुर ने लिखा, “कलकत्ते की जलवायु बहुत खराब है। यहां के रहनेवालों का तो कहना है कि अगर किसी आदमी का यहां आकर वजन कम नहीं होता है तो उसे बहुत तंदुरुस्त समझना चाहिए। और इसलिए यह सब शिकायतें कि तबियत ठीक है तो वजन क्यों नहीं बढ़ता, बेमानी हैं।”

मैं घर की, शहर की एक-एक बात लिख भेजती। चिट्ठियों का हाल अम्मा को सुना देती और भइयां से सब हाल पूछकर कलकत्ते भी लिख देती। एक दिन तो मैं आठ

बजे वापस आ गई थी अम्मा के पास से, भइया ने दस बजे फिर बुला लिया, कलकत्ते का हाल पूछने के लिए। कभी ठाकुर बड़े निराश हो जाते कि पेपर अच्छा नहीं हुआ, तो मैं लिखती कि पढ़ाई ध्यान से करें, जिसके लिए यहां से गए हैं। यहां की जिम्मेदारियां मैं देख ही रही हूँ—अम्मा को फैमिली डॉक्टर डॉ. भल्ला के पास ले जाना, बाई की दाढ़ में दर्द था, उन्हें दांतवाले डॉक्टर को दिखाना, गोमती बाई और पुष्पा बाई को पढ़ाना, जिससे वे अच्छे नंबर से पास हो सकें। अम्मा के पैरों में दर्द था, मेथी के लड्डू बनवा दिए। वह रोज पूछतीं, मकान मिला कि नहीं। मैं उन्हें धीरज देती। और कर भी क्या सकती थी। कानपुर से कोई जाता तो नाश्ते की चीजें—मिठाई, नमकीन वगैरह भिजवा देती और उनका कोई मित्र कानपुर स्टेशन से 'पास' होता, तो उसके लिए नाश्ता-खाना स्टेशन भिजवा देती। यह सही था कि बहुत से झंझावात ऐसे होते हैं कि कुछ भी वश में नहीं रहता। किंतु यह भी सही था कि दर्द की शिद्दत में बहुत रोशनी होती है। उसी रोशनी में हम जी रहे थे। इनका शरीर कलकत्ता में था, आत्मा कानपुर में। मेरी आत्मा कलकत्ता में थी तो शरीर कानपुर में।

सावन की घटाओं जैसी फैली उदासी में, बेचैनी में, कभी-कभी बारिश की हल्की बौछार भी बड़ी खुशगवार लगती है। ऐसे ही कुछ छींटे मेरी झोली में भी गिर पड़ते थे, इन दिनों, जिससे कई बार लगता था कि अम्मा अंततः मान जाएंगी।

एक दिन अम्मा से मिली तो उन्होंने बताया, “आज एक जन कुंडली मांगने आए थे। मैंने मना कर दिया।”

मैंने पूछा, “क्या आपके पास कुंडली नहीं थी?”

वे बोलीं, “थी तो एक पुरानी कुंडली।”

मैंने कहा, “फिर क्यों मना कर दिया? कर दीजिए शादी, नहीं तो अपनी मरजी से कर लेंगे, तब क्या करेंगी?”

वे बोली, “करूंगी क्या? अपनी मरजी से तो करेगा ही,” कह वे मेरी ओर देखकर मुस्करा दीं। उस वक्त मन किया झुककर उनके चरण छू लूं। ऐसे ही एक बार मैंने पूछा कि छुट्टियों में आ जाएं कलकत्ता से तो अच्छा रहेगा। भइया बीच में ही बोल दिए, “बेकार खर्चा लगेगा।” अम्माजी भी भइया के सामने कुछ नहीं बोल सकीं। किंतु जब सीढ़ी पर मुझे छोड़ने आई तब बोलीं, “तुम्हारी बुलाने की इच्छा हो तो आने के लिए लिख देना।”

और एक दिन भाभीजी ने अम्मा से कहा, “आप कलकत्ता कब जाएंगी? ठाकुर बाबू की शादी क्या नहीं करनी है?”

“वह अपनी शादी आप कर लेगा,” अम्माजी बोलीं।

“शादी कर लेंगे तो भी आपको तो बुलाएंगे ही,” भाभीजी बोलीं।

जब मैं शाम को अम्मा के पास गई, तब हंस-हंसकर उन्होंने सारी बातें बताईं। मैंने उनसे कहा “अगर उन्होंने शादी कर ली तो आपको बुरा लगेगा?”

अम्मा ने जवाब दिया, “बुरा तो सबको लगेगा।”

“फिर आप क्या करेंगी?” मैंने पूछा।

कहने लगीं, “करेंगे क्या? कुछ नहीं।”

मैंने फिर भी हंसकर कहा, “आप सब बहुएं अपनी तरफ की ही लाई हैं। अब एक-आध बहू बाहर की लाइए। आजकल के फैशन की। बाहर की बहू आपकी सेवा और देखभाल भी खूब करेगी।”

अम्मा बोलीं, “आजकल का जमाना ही ऐसा है। कोई सेवा नहीं करेगी।”

यह और इस तरह की कितनी ही ऐसी बातें थीं, जिनसे मुझे लगता था कि अंदाज तो सबको हमारी मित्रता का था किंतु, जब वस्तुस्थिति सामने होगी, उस समय किसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता था। वैसे, सब शादी के निर्णय को लेकर चिंतित थे।

दूसरी ओर, इन सब बातों से भी लग रहा था कि अंदर ही अंदर हमारी मित्रता की बड़ी चर्चा हो रही है। सावन के महीने में सरिता की लहरें बहुत खतरनाक होती हैं। नदी में उठनेवाले भंवर कहां छिपे हैं, कुछ अंदाज नहीं लगाया जा सकता। इसलिए कई बार ऐसा भी लगता था कि अंदर ही अंदर बननेवाला बवंडर किसी दिन फूट न पड़े। एक जगह पढ़ा था—‘मुंह की बात जब तक बाहर न आए और बंदूक की गोली जब तक चले नहीं, तब तक ही सब कुछ ठीक रहता है।’ इसीलिए मुझे आशंका हो रही थी।

भइया से ठाकुर को डर भी बहुत लगता था और उन्हें आदर और प्रेम भी बहुत करते थे। यह भी डर था कि कहीं किसी बात से उन्हें ऐसी ठेस न लग जाए जिससे वह बीमार पड़ जाएं या मरने-मारने पर उतारू हो जाएं।

मेरे घर में भी बहुत ‘टेंशन’ चल रहा था।

बड़े भाई, भाभी, छोटे भाई—सभी मुंह फुलाए बैठे थे। भाभीजी का मूड बिगड़ा रहता था। मुझसे बोलती भी नहीं थीं और न घर का कुछ काम-काज करती थीं। चिट्ठियां लेने के लिए भाइयों को भेजती थी, इस पर वे भी अकड़ दिखा रहे थे।

हम लोगों का इरादा यह था कि दोनों डिपार्टमेंटल परीक्षाएं खत्म हो जाएं, अपने पैरों पर खड़े हो जाएं, तब कुछ बात करें। मेरे कालेज में परीक्षाएं हो रही थीं। निरीक्षण की ड्यूटी लगी थी। काफी देर तक रहना पड़ता था। दिन-भर थककर आती तो घर की उलझनें। उधर तरह-तरह की बातें सुनकर ठाकुर को भी गुस्सा आ जाता था, जिससे पढ़ाई में भी व्यवधान पड़ता था।

कानपुर से श्यामसुंदरजी की चिट्ठी कलकत्ता पहुंची। श्यामसुंदरजी ठाकुर के खास मित्रों में से एक थे। मित्र क्या, उन्हें तो वे अपना छोटा भाई ही मानते थे। कॉलेज में मित्रों, साथियों में अक्सर यह धोखा हो जाता था कि वे वास्तव में छोटे भाई ही हैं। कानपुर के एक छोटे-से स्कूल में सातवीं से जो दोस्ती शुरू हुई, वह प्रगाढ़ से प्रगाढ़कर होती गई। श्यामसुंदर का पूरा दिन ठाकुर के यहां ही बीतता था। सुबह दस बजे तक वह पहुंच जाते और वहीं कमरे में बैठे परीक्षा की तैयारियां होतीं। एम. कॉम. तक यह सिलसिला चला।

चाहे यूनिवर्सिटी में पालियामेंट का चुनाव हो या किसी फिल्म समारोह का आयोजन, श्यामसुंदर सदैव साथ रहते थे। उनकी मित्रता में क्यों और कैसे का प्रश्न ही नहीं उठता था। ठाकुर ने जो कह दिया, पत्थर की लकीर हो जाता था।

अक्सर 'फिल्म इंडिया' में प्रश्न पूछे जाते, कभी किसी के नाम से, कभी किसी के नाम से। पुरुस्कार राशि से दावतें उड़तीं। आई. ए. एस. में कानपुर से तीन लोग आए तो सबसे ज्यादा खुशी श्यामजी को हुई। अभी तक तो यही समझा जाता था कि केवल इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के ही लड़के इस सर्वोच्च सर्विस में आते हैं। पहली बार आगरा यूनिवर्सिटी का नाम ऊंचा हुआ। श्यामसुंदरजी को खुशी हुई कि उनके अभिन्न मित्र के सिर पर सफलता का सेहरा बंधा। उसके बाद तो वह खुद भी परीक्षा में बैठे और इंटरव्यू में भी आ गए, किंतु घरवालों ने कहा, "व्यापारी खानदान से हो, व्यापार ही देखना चाहिए।" बेचारे मन मारकर रह गए।

एक दूसरे मित्र थे—नंदकिशोर झाझरिया। कानपुर के एक समृद्ध घराने से थे। कपड़े का व्यापार करते थे उनके पिताजी। उनके यहां एक सज्जन बैजनाथजी काम करते थे। बैजनाथजी की बहन प्यारेलाल कानोडियाजी को ब्याही थीं। किंतु उनका शीघ्र ही देहांत हो गया था। उसके बाद ठाकुर की बड़ी बहन से प्यारेलालजी की शादी हुई। इस संबंध के नाते बैजनाथजी भाई हुए। उनका घर में आना-जाना रहता था। वह भी ठाकुर की बहन को अपनी बहन ही मानते थे। बैजनाथजी के साथ नंदकिशोरजी ठाकुर के घर आने-जाने लगे और आपस में मित्रता हो गई। सभी मारवाड़ी विद्यालय में पढ़ते थे। नंदकिशोर से ठाकुर दो साल सीनियर थे। पहले एक वर्ष सीनियर थे। परीक्षा में पीछे रहने के कारण नंदकिशोर के पिताजी ने कहा, "पढ़ाई-वढ़ाई छोड़।" किंतु ठाकुर ने बाबूजी से बात की तो उन्होंने आगे पढ़ने की आज्ञा दे दी। ठाकुर की बात कोई टाल नहीं पाता था। कुछ ऐसा तर्क वे देते कि सामनेवाले को कुछ कहते नहीं बनता। इन्हीं के कारण नंदकिशोर हाई स्कूल, इंटर और बी.काम. कर सके। मित्रता बढ़ती गई।

घर के नीचे साई पानेवाले की दुकान थी। सब वहीं पहुंच जाते। फिर वहां से आवाज लगाते और ठाकुर नीचे आ जाते। फिर सब लोग फूलबाग में बैडमिंटन खेलने चले जाते। ठाकुर बैडमिंटन बहुत अच्छा खेलने लगे और कॉलेज चैंपियन भी बन गए। ठाकुर का नाम मोहर छाप था। किसी भी दोस्त को कहीं जाना हो, ठाकुर का नाम लेकर घर से चल पड़ते थे। घरवाले सोचते कि उन्हीं के यहां जा रहे हैं। वैसे तो घूमने, बैडमिंटन खेलने, गपशप, पिकनिक—सब जगह साथ रहते थे किंतु, साथ न भी हों तब भी समझौता यह था कि यही कहा जाएगा कि यहीं हैं।

सब एक-दूसरे को 'गुरू' कहते थे। उन दिनों श्यामसुंदर, नंदकिशोर, हरि और प्रेम कपूर का 'चौगट्टा' बिरहाना रोड पर मशहूर था—दोस्ती के लिए, स्नेह के लिए। बाद में नंदकिशोर से श्यामसुंदर की बहन की शादी हुई, तब से ठाकुर 'ठाकुर मामा' हो गए और यह संबंध रिश्तेदारी से भी ज्यादा घनिष्ठ हो गया। कलकत्ता प्रवास में भी और आगे

भी यह संबंध घनिष्ठ से घनिष्ठतर होता गया। कलकत्ता में नंदकिशोर के कारण ही शुरू की परेशानियां दूर हुईं। नंदकिशोर के जीजाजी कलकत्ता में रहते थे। वे आगरा निवासी थे, किंतु कारोबार बढ़ाने हेतु कलकत्ता चले गए थे। वहां उन्होंने अपना अच्छा कारोबार जमा लिया था। कलकत्ता प्रवास के दौरान उन्होंने ठाकुर को यह महसूस ही नहीं होने दिया कि वे किसी दूसरे शहर में हैं। उनका स्वभाव बहुत ही विनम्र था। बहुत धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। नित्य हवन-पूजन करना और नियम-धर्म से रहना उन्हें अच्छा लगता था। उनके परिवार के कारण ही ठाकुर को कभी यह महसूस नहीं हुआ कि वे परिवार से दूर हैं। कोई भी धार्मिक उत्सव हो या परंपरागत पूजा, होली, दीवाली—सब त्यौहारों में उनके यहां जाकर और आयोजनों में सम्मिलित होकर यही लगता कि जैसे अपने घर में बैठे हैं।

एक प्रकार से नंदूबाबू व श्यामसुंदरजी का परिवार ठाकुर का परिवार ही बन गया था। सब दोस्त एक-दूसरे पर न्योछावर रहते। इसीलिए जब कानपुर से श्यामसुंदर की चिट्ठी पहुंची, तब ठाकुर का मन बहुत विचलित हो गया। श्यामजी ने लिखा था “शादी के विषय में लोग यहां तरह-तरह के अंदाजे लगाया करते हैं। मालूम नहीं, यह कहां तक सत्य है, खासकर—भइया ने कई लोगों से कहा है (मेरे सामने नहीं) कि वह तो सुशीला से शादी करेगा। इसलिए दोनों ही शादी नहीं कर रहे हैं। मां को भी तुम जन्मपत्री न देने के लिए कह गए हो। वह किसी को भी नहीं देती हैं, आदि-आदि बातें करके कई लोगों ने बड़ा ‘फस्स’-सा क्रिएट कर रखा है। अब तुम, जैसी भी हो, मुझे पूरी-पूरी ‘पोजीशन’ लिखो, जिससे मैं वैसा माहौल बनाने की कोशिश करूं, वरना सब लोगों को मुंहतोड़ जवाब दूं। उचित समझो तो भइया को भी कुछ लिख देना। मेरी बातों को हल्के रूप में मत लेना और मुझे विस्तार से सब समाचार देना। जो भी कदम उठाना, बहुत सोच-समझकर उठाना। भावुकता में बहने से काम नहीं चलता है।”

ठाकुर ने लिखा, “यद्यपि भइया मुझे प्यार करते हैं, फिर भी अपने और परायों के सामने मुझे दोष देने में कभी पीछे नहीं रहते। मेरे जीवन की सबसे बड़ी ‘ट्रैजेडी’ यही है। इस दशा में मेरे सामने एक ही रास्ता है कि मैं वही करूं, जो मैं करना चाहता हूं। मैंने जिंदगी-भर दूसरों के फैसले किए हैं। अपनी जिंदगी का कोई फैसला करने का अधिकार मुझे भी तो होना ही चाहिए।”

ठाकुर ने आगे लिखा, “अब तो सबसे बड़ी मुसीबत यह है कि श्याम को क्या जवाब दूं। जहां तक माहौल बनाने का सवाल है, वह केवल सारी बात जान लेने का एक बहाना है। वह तो श्याम का अगला वाक्य कि ‘भावुकता में बहने से काम नहीं चलेगा,’ बतला देता है। बड़ी मुसीबत है। कभी-कभी बड़ी मायूसी महसूस करता हूं। अगर, सच बतला देता हूं तो बना-बनाया काम बिगड़ जाने की सम्भावना है और नहीं तो, झूठ बोलना पड़ेगा। मैं अभी सबको एकदम इनकार कर रहा हूं, साफ इनकार, भइया को, अम्मा को, श्याम को, पर बाद में जब पता लगेगा, तब वे मुझे क्या कहेंगे? मेरे बारे में क्या सोचेंगे?

श्याम को तो बहुत बड़ा 'शॉक' लगेगा, पर इसके सिवा कोई और रास्ता भी तो नहीं है।"

इन पंक्तियों ने सीने में एक दर्द उठा दिया, जिसे न सह सकती थी और न कह सकती थी। जीवन एक गतिहीन शिला की भांति निस्पंद हो उठा। ऐसे में किताब उठाकर कुछ पढ़ना, कापी में उल्टी-सीधी लकीरें खींचना और पैड उठाकर कुछ लिखना ही शगल रह गया था। लिखने को कुछ खास था नहीं। मन की उथल-पुथल, हलचल भावोद्वेग के रूप में कागज पर उतर आती। बाद में जब स्वयं पढ़ती तो लगता यह तो गद्य-काव्य बन गया।

ऐसे ही एक दिन लिखा—

"रात बढ़ गई है। चारों ओर सन्नाटा है। घर के सब लोग सो गए हैं। सारा नगर सो गया है। पढ़ना चाहती थी, पर अब और नहीं पढ़ूंगी। पढ़ भी नहीं सकूंगी। सोच नहीं सकूंगी। क्यों? इस क्यों का जवाब मेरे देव! क्या तुम नहीं जानते हो?

"अज्ञात दिशा से तुम आए—जीवन की मधुरिमा लिये हुए। तब क्या पता था कि तुम्हारी मुस्कान मेरे प्राणों का हास बन उठेगी। पर हुआ कुछ ऐसा ही। तुम्हारा प्यार मेरा शृंगार बन गया, मैं जीवन के संगीत से बेखबर अपने में मस्त थी, तुम्हारी सुंदर चितवन ने कामना के तरु को जन्म दिया। आज वह तरु लहलहा रहा है। देखना, कहीं वह असमय ही मुरझा न जाए। सरिता की धारा को उद्वेलित करके, उसके अन्तर में तूफान भर के तुम कहीं चल न देना। उमड़ी हुई धारा असहाय हो उठेगी। तुम आए हो तो यह असह्य ज्वाला शांत करके ही जाना।

"कल का आशान्वित चांद आज भी निकला है। तारे खिलखिलाए हैं, चांदनी मुस्कराई है, पर यह प्राण शायद, अपना हंसना-रोना सब भूल गए हैं। तभी तो आज भी झर-झर झरते आंसू ही मेरा शृंगार कर रहे हैं। तुम पूछोगे—ऐसा क्यों? कारण कुछ विशेष नहीं है। सुनकर शायद, तुम्हें बुरा भी लगेगा, पर याद है हमारे बीच एक समझौता हुआ है कि मन की आशंकाएं एक-दूसरे से छिपाकर नहीं रखेंगे। चाहे उस आशंका का कोई आधार हो या न हो। अंतर के लेश मात्र से भी तुम अपरिचित न रहो, मेरा कुछ भी तुम से गोपन न रहे, इस कारण बतलाती हूं। मैं मानती हूं कि मेरा ठाकुर कमजोर नहीं है। न ही मुझे उस पर अविश्वास है। फिर भी कई बार ऐसा लगता है कि तुम्हारी आंखों की खोज अभी समाप्त नहीं हुई है। किसी की प्रतीक्षा में मग्न तुम्हारी आंखें कुछ खोजती-सी प्रतीत होती हैं। तब मुझे लगता है कि चांद और तारों में भटकनेवाली आंखों ने क्या अभी तक एक नन्हें दिल की धड़कन को अपना नहीं समझ लिया है। शायद, यह मेरा वहम ही हो, फिर भी कई बार ऐसा लगता है कि चातक स्वाति की आस लगाए रहा। कुहू-कुहू कोयल बोली, पर पपीहे की आस, आस ही रहे जा रही है। स्वाति की बूंद आई, पर निष्ठुर स्वाति चल दी समुद्र की अथाह अद्वेलनपूर्ण मधुरिमा से प्रभावित होकर सीपी को जीवन दान देने। बेचारा चातक प्राणों को पाकर भी प्राणहीन है।

"मैंने अपने दिल को तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया है। कुछ भी गोपन नहीं

रखा है। अगर मैं पत्थर होती तो सौ बार टुकड़े होकर भी तुम्हारे गले की शोभा बढ़ाती। अगर मैं एक नन्हा, प्यारा फूल होती तो भी मुझे उसे तुम्हारे लिए कुचलने में दर्द नहीं होता, पर आह! यह तो मेरा दिल है। कैसे समझाऊं तुम्हें इसकी गहराई, इसका किनारा! तुम इसकी अथाह गंभीरता को पता नहीं, समझते भी हो या नहीं! फिर भी तुम्हीं इसके स्वामी हो मेरे देव!

“हास और सुख तो तुम पहचान लेते हो, होठों की मृदु मुस्कान और तप्त अश्रु कणों में, पर यह तो मेरा प्यार है। इसकी आकांक्षाएं, इसकी विस्मृति, इसकी वेदना, अथाह है मेरे प्रियतम! क्या वह कभी अपनी चिर थाह पा सकेगा?

“तुम कहोगे, आखिर यह भावोच्छ्वास क्यों? पता नहीं क्यों? तुम्हारी स्मृति के पुष्प को सजा-संवारकर अपने प्राणों से जुड़ा सकी हूं। अंतर के अवगुंठन में, सांसों की मृदु हिलोर में तुम्हारे प्यार के पुष्प को मैंने बंद कर रखा है—कृपण के धन की भांति। कांटे मुझे चुभे हैं पर मैंने उसे अलग नहीं किया है। मेरा प्यार ही मेरा जीवन बन गया है। इसमें जरा-सी भी ठेस लगती है तो मन व्याकुल हो जाता है। विषमता, रिक्तता का यह भार अब अकेले नहीं उठा पा रही हूं। फिर तुम बताओ, मैं क्या करूं?”

पता नहीं, यह मेरा ही भावोच्छ्वास था या कहीं पढ़ा हुआ कुछ याद आ रहा था, पर यह सत्य था कि वह मेरे मन की स्थिति को पूरी तरह रेखांकित कर रहा था।

ठाकुर के डिपार्टमेंटल टेस्ट होते रहते थे। इनके बहाने पढ़ाई अच्छी हो जाती थी। आफिस की और ड्यूटीज भी रहती थीं। वैसे, इम्तिहान जुलाई के पहले सप्ताह में होनेवाले थे। कोर्स काफी था। पढ़ना भी बहुत था। इधर मेरे कॉलेज में परीक्षाएं खत्म हो गई थीं। अब काफी जांचने की बोरियत हो रही थी। पिछले साल तो ठाकुर ने मेरा काम बहुत सरल कर दिया था। पता ही नहीं चला कि काफी कब जंच गई। इस बार पता चला कि अकेले बैठकर काफी जांचना भी कितनी बोरियत का काम है। बहरहाल, इसके सिवाय और कोई काम नहीं था। मेरे आराम के दिन आए थे और ठाकुर के पढ़ने के।

अम्मा कह रही थीं, “तुम पहले से बहुत दुबली हो गई हो। जब ठाकुर यहां था, तब तो तुम बिलकुल ठीक थीं, मुझे डर था कि बाई की तरह फूल न जाओ। अब जब से गया है, तो पता नहीं, तुम्हें क्या होता जा रहा है?” अब मैं उन्हें क्या बताऊं? बड़ी भोली हैं वे—जब देखो तब, मन में जो बात आती है, कह देती हैं। यह भी नहीं सोचतीं कि और कोई सुने तो क्या सोचे! सच, अम्मा बहुत अच्छी हैं। मुझे बहुत ही श्रद्धा है उन पर।

वहां कलकत्ता में मकान की खोज जारी थी। कभी किसी और कभी किसी के साथ रहने का फैसला किया किंतु, सभी जगह कुछ न कुछ ऐसी बात हुई कि यही तय रहा कि मकान अलग ही लेंगे। न्यू अलीपुर में एक मकान मिला। चार फ्लैट थे, एक ही बिल्डिंग में। आफिस के हो चार लोगों ने चारों फ्लैट्स ले लिये। उनके नाम थे—एस. एन. श्रीवास्तव,

वलवंतसिंह, अमरनाथ गुप्त और ठाकुर स्वयं। घर दूर जरूर था, पर जगह खुली थी और मकान नया बना था—इससे सबको पसंद आ गया।

फर्स्ट डिपार्टमेंटल परीक्षा भी हो गई। कुल 37 प्रोबेशनर्स थे, जिनमें से 8 फेल हो गए। ठाकुर ने 'डिपार्टमेंटल' क्लीयर कर लिया। मन को संतोष हुआ कि चलो, एक पड़ाव तो पार किया। सैकिंड डिपार्टमेंटल के बारे में लिखा कि “चिंता नहीं क्योंकि तुम साथ होगी। साथ पढ़ेंगे, चाहे तुम्हें दिलचस्पी हो या न हो। पहले की तरह तुम नोट्स बनाना और मैं पढ़ूंगा।”

अब छुट्टी लेकर कानपुर आने का प्रोग्राम बना। मुझे हिदायतें दी गई कि मैं अम्मा के पास मिलूँ। शनिवार की शाम वहन के घर जाएंगे। इतवार को दोस्तों से मिलेंगे और सोमवार पूरा दिन अपने लिए। बहुत-सी बातें करनी हैं। जरूरी।

यह जिंदगी का वह महत्वपूर्ण क्षण था, जब लगता था कि अब इससे बेहतर और कुछ जीवन में होनेवाला नहीं है। सुबह की सुनहरी धूप में छतें अभी भी नींद की खुमारी में डूबी हुई थीं। सामने बाग में लाल और बैंगनी बोगनविलिया के फूल धरती चूम रहे थे। चिड़ियां चहचहा रही थीं और पूरा माहौल शोर के बीच की मीठी चुप्पी-जैसा शांत था।

धीरे-धीरे चलकर मैं कंपनी बाग के पार्क में आई। यहीं ठाकुर से मिलने की बात हुई थी। एक लंबी सांस खींचकर मैंने सारे आसपास के माहौल को आत्मसात कर लिया। उस समय वहां बाग में कोई नहीं था। यह पहला मौका था कि हम घर से बाहर किसी बाग-बगीचे में मिल रहे थे। अभी तक तो बिरहाना रोड का हमारे ड्राइंग रूम का वह छोटा-सा कमरा या फिर डी. ए. वी. कॉलेज से लौटते, शाम के अंधेरे में गहराती वह लंबी सड़क ही हमारे प्यार की साक्षी थी। मैंने कलाई पर बंधी घड़ी पर नजर डाली। 9.30 बज रहे थे। कहां रह गए? 9 बजे आने को कहा था। जरूर किसी दोस्त ने पकड़ लिया होगा। एक लंबी जम्हाई लेते हुए मैंने बैच के पीछे सिर टिका दिया।

सामने से ठाकुर को आते देखा तो बालों को हाथ के एक झटके से पीछे फेंककर चढ़ते सूरज की पहली रोशनी में नहा उठीं। आते ही पूछा, “बोर हो गई क्या? कितनी देर से आई हो?”

“नहीं तो,” मैंने अपना इंतजार छिपाते हुए कहा।

“अच्छा तो अब तुम सफाई से झूठ भी बोल लेती हो,” इन्होंने हंसते हुए कहा, “यदि बोर नहीं हुई तो और क्या हुई हो? सचमुच बता दो। वैसे, बड़ी खूबसूरती से इस बोरियत को छिपाए हुए हो,” पास ही बेंच पर बैठते हुए ठाकुर बोले।

कुछ देर इधर-उधर की बातों के बाद हम फिर खास बात पर आ गए।

“मैंने तुमको श्याम की चिट्ठी के बारे में लिखा था।”

“हां, पर उसका तो तुम जवाब दे चुके हो,” मैंने कहा।

“हां, मैंने बहुत कड़ा जवाब दिया था। एक बात और लिखी थी, जो तुमको नहीं बताई।”

“क्या?”

“मैंने लिखा था कि जो लोग मेरे अपने होने का दम भरते हैं, क्या वास्तव में मेरे हैं? दुनिया में केवल एक चीज मेरे देखने में आ रही है और वह है स्वार्थ। जब तक आप किसी के काम आ सकें, तब तक वह ठीक, नहीं तो आपकी कोई पूछ नहीं।”

“तुम्हें ऐसा नहीं लिखना चाहिए था,” मैंने कहा, “श्याम यदि भइया को बताएंगे तो उन्हें बड़ा दुख होगा।”

“श्याम की चिट्ठी पढ़कर मेरा मूड ऑफ हो गया था, उसी रात मैंने लिख दिया,” ठाकुर ने कहा।

“अब क्या करोगे?” मैंने पूछा।

“करेंगे क्या—बात पूरी तरह गलत भी नहीं है।”

“ऐसा कैसे सोच लिया?”

“कल स्टेशन पर ही भइया ने फिर शादी की बात छेड़ दी—यह नहीं सोचा, इतने दिन बाद आया हूं, घर तो पहुंचने दो। कहने लगे, अम्मा से कहकर कुंडली दिलवा दो। मैं तुमसे बार-बार इसलिए कह रहा हूं क्योंकि, जौनपुरवाला संबंध अच्छा है और लड़की भी पैसेवालों की है। अपने यहां भी बेटियां हैं, यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए। एक संबंध अच्छा हो, तो आगे भी अच्छे संबंध मिलते हैं।”

मैंने कहा, “भइया ने ऐसा कहा? वे तो कभी पैसे को महत्त्व नहीं देते थे।”

“हां, उन्होंने ही कहा। भइया ने भी आखिर अप्रत्यक्ष रूप में इशारा कर ही दिया और पैसे को ही महत्त्व दिया।” ये बोले।

“सब जानते-बूझते उन्हें ऐसा कहना तो नहीं चाहिए था। उन्हें हमारे बारे में पता नहीं है—यह बात तो वे बोल ही नहीं सकते हैं। क्योंकि, तुम्हारी चिट्ठियां रोज आती हैं, यह वह जानते हैं। तुम्हारे बारे में कुछ पूछना हो तो मुझे अक्सर बुलवा भेजते हैं। उन्हें इत्ता तो मालूम होना ही चाहिए कि कोई लड़की किसी को ऐसे ही चिट्ठी नहीं लिखती है,” मैंने बताया।

हम कुछ देर चुप बैठे रहे। फिर मैंने पूछा, सांस रोककर, “तुमने क्या जवाब दिया?”

“जवाब क्या देना था? मैंने कह दिया कि हमारे व्यापारिक संस्कार जरूर हैं, पर हमने कभी पैसे के बारे में सोचा नहीं।”

“भइया की प्रतिक्रिया क्या थी?” मैंने फिर कहा, “तुमने तो बड़ा कड़ा जवाब दे दिया।”

“मुझसे कुछ बोले नहीं। तब से बोल भी नहीं रहे हैं। बातचीत बंद है।” इनकी आवाज में तलखी थी। भइया के न बोलने से मन में जो ज्वार था, उसका उफान साफ दिखाई दे रहा था।

“मुझे यहां क्यों बुलाया है?” मैंने पूछा।

कुछ रुककर ठाकुर बोले, “तुम भइया को विश्वास में लेकर यह कह दो कि तुम मुझसे नहीं, किसी और आदमी से शादी करना चाहती हो, तो यह सारा बवंडर जो उठ खड़ा हुआ है, खत्म हो जाएगा।”

मैं अवाक् ठाकुर का मुंह देखती रही। फिर बोली, “यह झूठ नहीं होगा?”

“तुम समझती क्यों नहीं हो? हम इतना आगे बढ़ चुके हैं कि हमारा एक भी गलत कदम बड़ी मुश्किलें खड़ी कर सकता है। हर तरह की सावधानी हमें रखनी चाहिए। कहीं किसी के मुंह से कोई बात निकल न जाए। कहीं कोई ऐसी बात न करना, जिससे बात फैलने का अंदेशा हो। तुम भइया को जानती नहीं हो। नाराज होने पर वह स्वयं को मार भी सकते हैं,” इन्होंने कुछ चिढ़ते हुए-से कहा।

“अधर में लटकी बात का कोई किनारा नहीं होता और अभी तक हमने—मैंने और तुमने—कभी ‘हां’ भी नहीं कहा और ‘न’ भी नहीं कहा। सदैव यही कहा है कि डिपार्टमेंटल टेस्ट पास करने के बाद ही शादी करेंगे। किसी ने पूछा तो सदैव यही कहा है कि अभी नहीं करनी है। किससे करेंगे या नहीं करेंगे, यह तो कभी नहीं कहा, न इनकार ही किया है।” मैंने समझाते हुए कहा।

“जिंदगी में बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जिनकी वजह से कड़वाहटें भर जाती हैं। इन कड़वाहटों से जब तक हम बच सकें, क्यों न बचें? यह मेरा सिद्धांत है और मैं तुमसे शादी करने से इनकार तो नहीं कर रहा हूँ,” इन्होंने तनिक तेजी से कहा।

“कल को भइया कहेंगे, चलो कोई लड़की देख लो, तो तुम तो लड़की देखने भी चल दोगे।” मुझे भी गुस्सा आ गया, “हम इस तरह कब तक डरते रहेंगे?”

“देखने का मतलब करना तो नहीं है,” ठाकुर बोले।

उस समय मुझे लगा, जैसे किसी ने मेरा दिल मुट्ठी में रखकर मसल दिया हो। नीरज की कुछ पंक्तियां मुझे याद हो आईं :

अनजान यह नगर है
अनजान यह डगर है
न चढ़ाव का पता है
न ढलाव की खबर है।
सब कह रहे मुसाफिर
चलना संभल-संभलकर
लंबा बहुत सफर है
छोटी बहुत डगर है।

चढ़ते सूरज की रोशनी अंगार लगने लगी थी। ऐसा लगा, मानो पास आती खुशी हाथों से फिसल गई, रेत की तरह, और जिंदगी डगर से हट गई हो। हम वापस लौट पड़े

किंतु, वापसी का रास्ता बड़ा संजीदगी भरा था।

इसके बाद भी हम मिलते रहे। घर में भइया इनसे बात नहीं कर रहे थे। अम्मा भी रूठी-रूठी-सी थीं। इस कारण ठाकुर का मन बड़ा उदास था। हमेशा हंसते रहनेवाले चेहरे पर उदासी, फीकापन अच्छा नहीं लगा। मन कचोट उठा। प्यार तो बलिदान मांगता है, त्याग मांगता है। मैं इतनी स्वार्थी कैसे हो गई और मैंने लिखा :

“रात के बारह बजे हैं। नींद नहीं आ रही है। तुमने बताया, कल तुम्हें देखने कुछ लोग आ रहे हैं और फिर तुम किसी को देखने जाओगे। बहुत सी बातें तुमने कल भी कही थीं। इन बातों को मैं भूलना चाहती हूं, पर भूल नहीं पाती। तुमने बार-बार मुझसे कहा कि मुझे तुम्हारी परवाह नहीं है। तुम्हारे मन में यह बात जरूर, मन के किसी कोने में छिपी है कि तुमने मेरे लिए इतना सब कुछ किया और मैं तुम्हारा कुछ भी ख्याल नहीं रखती। कल ही नहीं, पहले भी तुम कई बार यह बात कह चुके हो। बिना इस अंदाज के कि तुम्हारे इन शब्दों से मुझे कितनी चोट पहुंचती है। कैसे मैं दूर करूं तुम्हारे इस ख्याल को। तुमने मेरे साथ बड़ा अहसान किया है। कैसे मैं चुकाऊं उसे? कोशिश तो हजार करती हूं, पर चुका नहीं पाती। मुझे लगता है, तुम्हारे दिल में जरूर यह भावना कचोटती है कि फंस गया कहां से इस चक्कर में। ‘मॉरिलिटी’ के चक्कर में पड़कर तुम एक बार पकड़े हाथ को छोड़ना भी नहीं चाहते। इसी से मन-ही-मन बुड़बुड़ाते रहते हो। अगर मैं ऐसा सोचूं तो शायद गलत नहीं होगा।

“बहुत कुछ प्रलाप कर गई। एक पागल का प्रलाप समझकर ध्यान नहीं देना, पर एक बार फिर तुमसे कहूंगी, तुम फिर से अपने निर्णय को देख लो। तुम विवाह कर लो। मां को खुश करने के लिए, समाज के लिए, तुम्हें भइया की बात माननी पड़ेगी क्योंकि, तुम्हें उनके साथ रहना है। तुम स्वतन्त्र नहीं हो। मां का बंधन, भाई का प्यार और समाज का देना-पावना तुम्हें चुकाना है। हां, एक बात जरूर कहूंगी। मुझे तो प्यार की परवाह भी नहीं थी—खबर भी नहीं थी। जैसी भी थी, मस्त थी। क्यों तुमने इस नई चाह को जगा दिया। उबारने चले थे मुझे, तो क्यों इस आग में ढकेल दिया। अब मैं क्या करूं? मेरा सारा धैर्य, साहस, संयम, संतोष खो गया है। सच ठाकुर, मैं पागल हो उठती हूं जब मैं पहाड़ से लंबे जीवन को याद करती हूं जिसमें न कोई रस होगा, न जीवन, केवल मैं रहूंगी, पत्थर की दीवारों से सिर धुनने।”

“तुमने कहा, मैं भी शादी कर लूं। पर तुम्हीं बताओ मैं नारी होकर ऐसा कैसे कर सकती हूं? तुम जैसे भी हो, मुझे प्रिय हो। कोशिश करती हूं, तुम्हें भूलने की, पर भूल नहीं पाती। तुम कहोगे, इसमें बाधा ही क्या है? पर मेरा मन तो इसे पाप कहेगा और मैं इसे कैसे सहन करूंगी? तुम्हें वरण किया है मैंने। याद है वह माला-परिवर्तन। तुम शायद उसे भूल जाओ, पर मेरे पास तो वही एक संबल है—पाप-पुण्य की सीमा निर्धारित करने वाला। कैसे भूलूं मैं उसे!”

फैसला तो एक न एक दिन करना ही था—चाहे फायदे का हो या नुकसान का और यह फैसला करके मैंने जिंदगी को हवा के रुख पर छोड़ दिया। पर रात भर सो नहीं सकी।

दूसरे दिन नहा-धोकर कॉलेज जाने के लिए तैयार हुई तो देखा ठाकुर हमारे घर की ओर ही आ रहे थे। ऊपर आए तो मैंने पूछा, “आप गए नहीं?”

ठाकुर ने जवाब दिया, “मंज़िल तो यहीं थी, फिर मैं जाता कहाँ?”

मैं इन्हें देखती रह गई। कल इतना सब कुछ होने के बाद अब फिर क्या?

ठाकुर फिर बोले, “मैं अपने दिल की बात कहने में हरज नहीं समझता। तुम्हारा कहना मानकर मैंने भइया को ‘हां’ तो कह दी और तुम्हारे यहां से वापस पहुंचने पर अम्मा को बतला भी दिया। पर अब मेरा निश्चय फिर बदल गया है। यदि मेरी शादी हो भी जाती है, तो यह निश्चित समझो कि मैं पागल हो जाऊंगा।”

मैं कुछ बोलने को हुई तो मुझे हाथ के इशारे से रोककर कहा, “आज मुझे सब कुछ कह लेने दो। तुम अपने जीवन का सबसे बड़ा बलिदान करने को तैयार हो और मैं पुरुष होता हुआ भी कायरता दिखला रहा हूं! तुम अगर तैयार हो तो चलो, हम लोग सिविल मैरिज कर लें।”

“घर के वातावरण के बारे में जान लेने के बावजूद तुम ऐसा कह रहे हो? जिंदगी-भर मैंने तुमसे इन बातों की चर्चा नहीं की और उन्हें अपने जेहन की कालकोठरी में इतना पीछे धकेल दिया था कि मैं खुद भी याद रखना नहीं चाहती थी, लेकिन कहते हैं दिलों के घाव अमरबेल की भांति लतर पर लतर फैलते जाते हैं या कैंसर की भांति शाख दर शाख बढ़ते हैं। इसलिए तुम्हारा हक बनता है उन्हें जानने का।”

“इससे पहले तो तुमने ऐसी बातें नहीं कीं?” इन्होंने पूछा।

“न करने का एक कारण तो यह था कि हम उन लोगों से, जिन्हें हम प्यार करते हैं, कुछ बातें छुपाना चाहते हैं कि उन्हें दुख न हो और फिर डर भी रहता है कि वह इन बातों को जानकर कहीं हमसे दूर न चले जाएं,” मैंने कहा।

“तुम बताना ही चाहती हो, तो चलो यह भी हो जाए,” इन्होंने हंसकर कहा।

“तुम सभी बातों को हंसकर नहीं उड़ाओ।” मैंने संजीदगी से कहा, “यह अहसास कि मेरे और तुम्हारे बीच कुछ गोपन है, सारी उम्र धूप और बारिश में भीगती मेरी आत्मा को हमेशा सालता रहेगा।”

“शब्दों को आकार देने से तुम्हारी आत्मा को चैन मिलता है, तो चलो यह भी हो जाए।” इन्होंने कहा।

“अकेलापन मेरी थाती बन गया है। क्या इसे खत्म किया जा सकता है?” मैंने पूछा।

“तुम्हारे अंदर जो अकेलेपन का अहसास है, उसको खत्म करने के लिए ही तो मैंने हाथ पकड़ा है।” इनका उत्तर था।

“पर मेरी और तुम्हारी उम्र में भी तो अंतर है। उम्र के इस अंतर को, इस फासले

को, इस 'गैप' को खत्म नहीं किया जा सकता है। इसका क्या करेंगे? यह तो उम्र के साथ घटेगा नहीं, बढ़ता ही जाएगा।" मैंने पूछा।

"दिलों की दूरी न हो, तो उम्र की दूरी क्या करेगी? मैं इस बात को जानता हूँ और जहाँ तक लोगों के हंसने या जानने का सवाल है, पहली बात तो कोई पूछेगा ही नहीं, उन्हें इस सबसे क्या मतलब और यदि पूछेगा तो तुम अपनी उम्र एक साल बाद की बता देना।" बड़ा सहज उत्तर था ठाकुर का।

इसके आगे मैं क्या कहती? इनकी जिंदगी में मुझे मेरी जगह मिल गई थी। चेहरा उठाकर ठाकुर को, अपने ठाकुर की आंखों में देखा। मेरी आंखों में आंसू भर आए। मैं फिर से जिंदा हो गई। जिंदगी मुस्कुरा उठी।

उसी दिन शाम को ठाकुर कलकत्ता चले गए।

कहते हैं, हर इत्तफाक के पीछे प्रकृति की कोई योजना होती है। यह सच है। कुदरत का यह करिश्मा ही होता है, जो दो अनजान लोगों को एक-दूसरे के इतना करीब ला देता है। हिंदू विचारधारा के अनुसार ये रिश्ते जन्म-जन्मान्तर से निर्धारित होते हैं, तभी तो एक हृदय की बात दूसरे को सुनाई देती है।

अक्सर मैंने देखा, पहले भी और बाद में भी, कि कोई बात, कोई सोच जो मेरे दिलो-दिमाग में आया, मैं बोलने को हुई कि उसी वक्त ठाकुर ने भी वही बात बोली और हम अपने वाक्य बीच में छोड़कर एक-दूसरे को देखकर हंस पड़े। कई बार ऐसा भी हुआ कि मैं कुछ बोलूँ, उसके पहले ही इन्होंने वही बात कह दी। आश्चर्य भी होता था कि ऐसा संभव कैसे होता है? किंतु फिर यही सोचा कि इसी को अंग्रेजी में 'रेपार्ट' या हिंदी में एकरूप हो जाना कहते हैं। जब आत्मा से आत्मा का मेल हो जाता है, तो उठने-बैठने, सोचने में कोई अंतर नहीं रहता। आत्मिक संबंधों की यही खूबी देखकर मेरी धारणा को बल मिला कि जन्म-जन्मान्तर के संबंध या संचित पुण्य अवश्य होते हैं, जो इस जन्म में दो अनजान व्यक्तियों को एक-दूसरे से मिलाते हैं। तभी वे मनसा, वाचा, कर्मणा एक-दूसरे के प्रति समर्पित होकर एक-दूसरे के पूरक बनते हैं। एक-दूसरे को समर्पित हो जाते हैं। दो आत्माओं के मिलन की यह पराकाष्ठा होती है।

एक बार ठाकुर ने मुझे कलकत्ता से लिखा :

"जब मैं तुमसे अलग होता हूँ, तभी मुझे अपने अस्तित्व का ज्ञान होता है।"

"जब तुम मेरे सामने उपस्थित नहीं होतीं, तभी मैं तुम्हारे प्रति अपने प्रेम का परिमाण जान पाता हूँ।"

"जब तुम दुखित होती हो, तभी मुझे यह अनुभव होता है कि तुम्हें प्रसन्न रखना ही मेरे जीवन का गौरवपूर्ण उद्देश्य है।"

"जब मैं तुम्हारे प्यार से वंचित होता हूँ, तभी यह संज्ञा जागृत होती है कि मेरे हृदय पर तुम्हारा आधिपत्य कितना अधिक है।"

“क्योंकि, तुम्हारे पास तो मैं रहता नहीं हूँ। मैं उस पक्षी की तरह हूँ जो यह जानने के लिए कि उसका नीड़ कितना सुरक्षित है, बार-बार उड़ जाता है और दूर से उसका ध्यान किया करता है।”

यह एक भाव-गीत भी हो सकता था, एक गद्य-गीत भी, जो इन्होंने पढ़ा था। पर यह कितना सच था!

समर्पण की इसी भावना को कवि सूरदास ने इस प्रकार व्यक्त किया था—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे

जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवे

आत्मा और परमात्मा के मिलन की यह चरम अभिव्यक्ति है। कबीर ने स्वयं ‘राम की बहुरिया बनकर,’ अपने मन की वेदना को उड़ेलकर, प्रिय मिलन की उत्कृष्ट उत्सुकता को अभिव्यक्ति दी है। किंतु यह तो बहुत ऊपर की बात है और यह तब संभव होता है, जब हम जीवन के सभी अंधियारे और सुनहरे क्षणों को जीवन की स्लेट पर उतारकर अंतिम चरण में वैराग्य की सीमा में पहुंच जाते हैं। इसी के लिए शायद, ऋषियों ने ब्रह्मचर्य आश्रम, गार्हस्थ्य आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम बनाया था कि मोह के सारे बंधनों को भोगकर, अंधेरी-उजली गुफाओं के बीच से निकलकर जब व्यक्ति कसौटी पर खरा उतरकर आए, तब सत्य के दर्शन करके मोक्ष-पथगामी बने। मोह और मोह-भंग की सारी प्रक्रियाओं के बीच से गुजरने के बाद ही उसे ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं।

परमात्मा की कृपा से और गुरुजनों के प्रताप से कहें या पूर्वजन्मों के पुण्य से, हमारे जीवन में मोह-भंग की स्थिति कभी नहीं आई और जीवन की सभी टेढ़ी-तिरछी पगडंडियों पर चलते हुए सुनहरे-रूपहले क्षणों को अपनी हथेली में समेटे हम उन्हें जीवंत और सार्थक कैसे कर सकें, इस प्रक्रिया के बारे में सोचने लगे।

आज आसानी से प्रेम-विवाह हो जाते हैं और परिवार तथा समाज उन्हें स्वीकार कर लेता है। आज से चालीस-पैंतालीस वर्ष पूर्व स्थिति ऐसी नहीं थी। उस समय यह एक अघटित घटना मानी जाती थी, जिसे घटना नहीं चाहिए।

इस बीच कानपुर में एक घटना घटी—

घटना यह थी कि डी.ए.वी. कॉलेज के एक छात्र, जिसका नाम अब मुझे याद नहीं आ रहा, ने एक ऐसा कदम उठाया कि सारे शहर में सनसनी फैल गई। हुआ यह कि उसका अपने ही कॉलेज की किसी लड़की से ‘इश्क’ चल रहा था। लड़का ठाकुर खानदान का था—पुराने जमींदार परिवार का। होस्टल में न रहकर बाहर किराए पर घर लेकर रहता था। लड़की किसी अच्छे उच्चपदस्थ आफिसर की इकलौती पुत्री थी या शायद, दो बहनें थीं। काफी दिनों से दोस्ती चल रही थी। मां-बाप की नजरों से दूर छिपकर ये मिल रहे थे। पत्रों का आदान-प्रदान भी हो रहा था। दोनों एक-दूसरे से शादी भी करना चाहते थे। इधर लड़की के मां-बाप ने उसका रिश्ता कहीं और तय कर दिया। हो सकता है,

लड़की मां-बाप का विरोध करने की हिम्मत न जुटा पाई हो। यह भी हो सकता है कि वह स्वयं अंदर से कमजोर हो। बहरहाल, उसने मां-बाप की इच्छा के आगे सिर झुका दिया, पर एक चिंता उसे अंदर-ही-अंदर खाए जा रही थी—उसके पत्रों का क्या होगा, जो उसने अपने प्रेमी को लिखे थे। कहीं शादी के बाद वे पत्र उसके पति के हाथों में पड़ गए तो? या उसके प्रेमी ने ही उसे 'ब्लैकमेल' करना शुरू कर दिया तो?—इसी ऊहापोह और चिंता में एक दिन उसने अपने प्रेमी को फोन कर दिया और कहा कि वह उसके पत्र वापस कर दे। लड़के ने उलाहना दिया होगा—अपने प्रेम की दुहाई भी दी होगी—पर वह लड़की तो कमजोर थी—खैर, जब लड़के ने देखा कि अब कुछ नहीं हो सकता और उसका विवाह अन्यत्र ही होना सुनिश्चित है, तब उसने फोन पर ही कहा कि वह अमुक दिन चार बजे उसके घर आकर पत्र ले जाए।

लड़की निश्चित समय उसके घर पहुंची। घंटी बजाते ही द्वार खुला—सामने वह युवक खड़ा था—अपनी आंखों में प्रेम का लबालब अमृत भरे। उसने फिर विनती की, उससे दोबारा सोचने के लिए कहा। वह वास्तव में, दिल से उसे चाहता था। एक प्रयत्न और किया—उसे ड्राइंग रूम में ले गया, दिखाया कि वहां शादी का सारा प्रबंध उसने कर रखा है। एक ओर मंडप सजा है, विवाह-वेदी बनी है। दूसरी ओर, उसे भेंट में देने की एक-एक वस्तु—साड़ी, गहने, सामान सजे रखे हैं। केवल 'हां' कहने भर की देर है, वह पंडित को बुलवा लेगा और दोनों विवाह-सूत्र में बंध जाएंगे, अन्यथा वह अपने प्राण दे देगा। उसके बगैर वह जीवित नहीं रह सकता। लड़की ने फिर इनकार कर दिया। कहा कि वह विवश है। ऐसा नहीं हो सकता। वह तो अपने पत्र लेने आई है।

अब लड़के को गुस्सा आ गया। प्रतिहिंसा की आग भभक उठी कि अगर मुझसे शादी नहीं कर सकती तो किसी और से भी शादी नहीं कर सकती। वह इस खूबसूरत चेहरे को ही नष्ट कर देगा। पास रखी तेजाब की बोतल से उसके मुंह पर तेजाब फेंक दिया। लड़की घबराकर दो कदम पीछे हटी। हाथों से अपने चेहरे को ढंक लिया। फिर भी तेजाब माथे पर और हाथों पर पड़ ही गया। भागते-भागते उसने बंदूक की आवाज सुनी। वह वापस लौटी, देखा युवक खून से तर-बतर विवाह-वेदी पर पड़ा था। उस कठोर लड़की को प्रेमी की ओर देखने की फुरसत भी नहीं थी कि सांस बाकी है या खत्म हो गई। उसे तो अपने पत्रों की पड़ी थी—पत्र दूढ़ने की कोशिश की, वे मिल भी गए थे। उन्हें लेकर वह वापस द्वार की ओर भागी। बंदूक की आवाज सुनकर लोग इकट्ठे हो गए। वह भाग नहीं सकी। लोगों ने उसे पकड़ लिया। दूसरे दिन कानपुर के अखबारों में सारा किस्सा छपा। लड़की अस्पताल में भरती थी। चारों ओर पुलिस का पहरा था। उससे मिलने की किसी को इजाजत नहीं थी। असमय काल-कवलित होनेवाले उस युवक से सबको हमदर्दी थी और क्रोध भी था कि क्यों एक संवेदनहीन प्रेमिका के लिए उसने अपनी जान दी।

20-10-52 को इलाहाबाद में हम विवाह-सूत्र में बंधे थे। 20-10-53 को इनका पत्र कलकत्ता से आया। लिखा था, “आज से एक साल पहले मैं और तुम दुनिया की कलुषित नजरों से परे, एकांत में एक सूत्र में बंधे थे। न किसी ने देखा, न किसी ने जाना, केवल एक शहनाई अपने आप, जिसे हमसे प्यार था, हमदर्दी थी, बिना कहे-सुने, एकाएक गूंज उठी थी। उस रोज से न तुम हो, न मैं हूँ—केवल ‘हम’ हैं। आज जिंदगी के उसी सबसे पवित्र और सुहावने अवसर का पहला पर्व है। जी चाहता है, उस मनोरम दिन की याद में एक ताज बनवा दूं। पर नहीं, ताज ही सब कुछ नहीं, प्रेम के प्रतीक का आरंभ और अंत नहीं। आज मैं तुम्हें वह चीज दूंगा, जो हम दोनों के बीच एक अटूट कड़ी होगी और वह है मेरा वायदा कि अगला वर्ष पूरा होने से पहले मैं तुम्हें कलकत्ता ले आऊंगा, एक अटूट बंधन में बांध कर। आज के दिन का यही वायदा है।”

किशोर मन की भावुकतावश यह पत्र मैंने उस डिब्बे में संजोकर रख लिया, जिसमें माला और सिंदूर रखा था। पता नहीं, किस तरह यह पत्र मेरे भाई के हाथ लग गया। घर में हलचल मच गई...दोनों बड़े भाइयों के बीच बहुते बातें हुईं। अंततः बड़े भाई ने मान लिया कि अब कुछ कहने-करने से कोई लाभ नहीं। दोनों वयस्क हैं। बड़ों का मान तो रखा है, नहीं तो भागकर ‘सिविल मैरिज’ कर सकते थे। कानपुर में कुछ दिन पहले घटी घटना की याद ताजा थी। शायद, सोचा होगा, ऐसा-वैसा कुछ न हो जाए। अंततः निश्चित हुआ कि भाई कलकत्ता जाकर ठाकुर से मिलकर तय कर लें कि कैसे क्या करना है। भाई कलकत्ता गए। काफी लंबी बातचीत हुई। तय हुआ कि कानपुर में तो इस शुभ कार्य के संपन्न होने की कोई गुंजाइश नहीं है, क्योंकि हमारे घर बिल्कुल पास-पास थे और एक घर की हलचल दूसरे को पता न चले, यह संभव ही नहीं था। पता लगने पर इनके भइयाजी कहीं मरने-मारने पर उतारू हो गए तो? कहीं वह बीमार हो गए तो? इसी आशंका के कारण तो ठाकुर बात नहीं करना चाहते थे अपने भइयाजी से। यही डर हमें मारे डालता था। अम्माजी को भी हम लोग उस दौरान कानपुर में नहीं छोड़ना चाहते थे क्योंकि, सब लोग उनका जीना दूभर कर देते और कहते, उन्हीं के कारण ऐसा हुआ है क्योंकि, वही बार-बार लड़की को बुलाती थीं। निश्चित हुआ कि परिणय-स्थल और तारीख पहले से न बताई जाए। उसे गुप्त ही रखा जाए। तय हुआ कि 13 जनवरी को कलकत्ता जाने के रास्ते, संक्रांति के दिन गंगा-स्नान के पर्व पर और बनारस में अम्माजी के भाई रघुनाथजी से मिलाने की बात बताकर अम्माजी को बनारस में उतार लिया जाए। 16 जनवरी को विवाह का दिन निश्चित हुआ। ठाकुर का कहना था कि अम्मा जब विवाह के बाद मंडप आदि देखेंगी, तब उन्हें यह विश्वास हो जाएगा कि विवाह धार्मिक विधि से संपन्न हुआ है और तब वे अधिक विरोध नहीं करेंगी और मन में भी प्रसन्न होंगी।

ठाकुर का कहना था कि सभी जानते हैं, कम-से-कम कयास तो लगाते ही हैं कि हम एक-दूसरे को प्यार करते हैं। और अगर नहीं जानते हैं, तो जान जाएंगे। इसलिए 16 जनवरी बिल्कुल निश्चित तिथि है। भइयाजी की प्रतिक्रिया क्या होगी, यह प्रश्न कई

बार आशंकित करता, पर उसका कोई हल नहीं था। जब हमें एक होना ही है, तो फिर दुनिया के डर से या अब और किसी डर से हम अपनी सुमधुर घड़ियों को दूर क्यों करें? जो होना है, वह होगा ही। जिंदगी में सबसे बड़ा विश्वास और आस्था यही रखनी चाहिए कि ईश्वर जो करता है, अच्छा ही करता है। फरवरी में, वायदे के अनुसार एक साल पूरा होगा और इसके पहले ही हम कलकत्ता में होंगे। आवश्यकता इस बात की है कि कम-से-कम लोगों को बताया जाए और दिन तथा स्थान की जानकारी किसी को न दी जाए। इसी के अनुसार प्रबंध किया गया।

जब सचमुच कानपुर के विरहाना रोडवाले घर से बनारस रवाना होने का समय आया, तब अजीब-सी मनःस्थिति थी। जिस सपने को सात वर्षों से संजोकर रखा था, उसके यथार्थ में परिणत होने का समय आ गया था, लेकिन दिल को जैसे कोई मुट्ठी में दबाकर निचोड़ रहा हो और खून का एक-एक कतरा आंखों से आंसू बनकर टपक रहा हो। यह घर हमेशा के लिए छूट जाएगा, बचपन से जिस घर में रही, पत्नी, बड़ी हुई, वह एक दिन में पराया हुआ जा रहा था। लेकिन, यह कैसी विदाई है? अकेले, रात के अंधेरे में बालकनी की रेलिंग पकड़े रो रही हूँ। हसरत-भरी निगाहों से घर का कोना-कोना निहार रही हूँ। वरसों से जिस घर को अपने छोटे-बड़े भाइयों के साथ जिया, वह अब इस तरह से छूटेगा, कभी सोचा भी न था। कितनी सारी शंकाएं-कुशंकाएं थीं। यदि ये समय पर न आ पाएं, यदि भइयाजी की तबियत खराब हो जाए, यदि अम्माजी ने ही कोई अड़चन खड़ी कर दी तो? अब तो बस ईश्वर, और अपने ठाकुर के आत्मविश्वास पर ही भरोसा था।

कानपुर से बनारस तक की यात्रा किस प्रकार समाप्त हुई, मुझे कोई होश नहीं था। जैसे, किसी अंधेरी गुफा से निकलकर कोई जल्दी से रोशनी की बांहों में समा जाए। मेरे दोनों बड़े भाई, उनके चार-पांच मित्र, छोटे भाई—सब बनारस पहुंच चुके थे। धर्मशाला में काफी चहल-पहल थी। भाभी और मेरी मौसी की लड़की विमला भी आई थी। हम सीधे ऊपर के कमरे में गए। नीचे मंडप की तैयारी हो रही थी। फूलों से मंडप सज रहा था, केलों के पत्तों से वितान बना था, शुभ कलश, रंगोली सजी थी। विमला ने मेहंदी लगाई, मुझे सजाया।

गोधूली वेला में विवाह का मुहूर्त था। साढ़े पांच बज गए थे। बाहर कोई चहल-पहल नहीं। हाँ, धर्मशाला के आंगन में सब इकट्ठे थे। सबकी नजरें द्वार पर थीं। मैं अपने कमरे में बैठी थी आशंकित मन लिये, न बैड़बाजे की आवाज जिसे सुनकर दुल्हन का दिल धड़क उठता है, न सखियों की खिलखिलाहट। शुभ मूहूर्त पास आ रहा था और इनका कहीं कोई अता-पता नहीं था। एक-एक पल काटना मुश्किल हो रहा था—प्राण आंखों में आ रहे थे, इनकी प्रतीक्षा में। विश्वास पूरा था। किंतु, आशंकाएं भी कम न थीं। कहीं बनारस न उतर पाए हों—अम्माजी न मानी हों, अम्माजी को कहीं पता न लग

गया हो? मन-ही-मन प्रार्थना करने लगी। उस समय रामायण की चौपाइयां याद हो आई—जब सीताजी गौरी मंदिर में जाकर पार्वतीजी की पूजा करती हैं और गौरी मां आशीर्वाद देती हैं—‘सुन सिय सत्य असीस हमारी, पूजहिं मनकामना तुम्हारी।’ मन पुकार उठा—‘हे, मां, मेरे भोलेशंकर को सुरक्षित मेरे पास भेज दो। मेरे सारे सत्कर्म, पुण्य तुम्हें ही अर्पण।’

घड़ी की सुई पौने-छह तक पहुंच चुकी थी। और अब तो केवल पांच मिनट ही रह गए हैं। मैं कल्पना कर रही थी, मन की आंखों से। सारी तैयारियां हैं, सजा हुआ मंडप उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। मंत्रोच्चार के लिए पंडित तैयार है, ऊपर दुल्हन सजी बैठी है, प्रतीक्षा है तो केवल दूल्हे की। भाई के मित्रों के चेहरों पर अविश्वास की छाया और उपहास की लकीरें किसी भी क्षण उतर आएंगी—धूप के बाद की छाया की तरह, यह दिखाते हुए कि यह तो होना ही था।

तभी ये आए। अकेले ही गाड़ी से उतरे—न कोई बैंड-बाजा, न कोई बारात, न मित्रों की मंडली, न धूम-धड़ाका। चेहरे पर संजीदगी का भाव, गंभीर मुखमुद्रा पर संकल्प की आभा। मैं अनुभव कर रही थी इनकी मनःस्थिति को। अपने मन में ये क्या-क्या कमी महसूस कर रहे होंगे? मित्रों की, भइयाजी की, अम्मा की अनुपस्थिति की। मेरा मन विह्वल हो उठा। ईश्वर को लाख-लाख धन्यवाद किया कि उसने मेरी कल्पना के पूर्ण पुरुष को मेरे सामने लाकर खड़ा कर दिया।

पवित्र मंत्रोच्चार के साथ विवाह-विधि प्रारंभ हुई। सिंदूर से मांग भरवाना और जयमाला डलवाना—वे क्षण साकार हो गए जब इलाहाबाद में इन्होंने मांग भरी थी और हमने माला बदल ली थी। अनायास ही हमने एक-दूसरे की ओर देखा और आंखों-ही-आंखों में मुस्कुरा दिए। एक जबरदस्त ताकत मैंने अपने अंदर महसूस की। कुछ भी हो, हर मुश्किल को मैं आसान करूंगी—अपने सेवाभाव, अपनी नम्रता और अपने स्वभाव की मधुरता से। आज से ‘आत्म दीपो भव’ ही मेरा संकल्प होगा।

विवाह संपन्न होने के बाद ठाकुर अपने मामाजी के घर गए और अम्मा को लेकर वापस आए। अम्मा ने मंडप वगैरह देखा तो सोचा शायद, किसी दोस्त की शादी है। मैं कमरे में घूँघट काढ़े बैठी थी। अम्मा के आने पर मैंने पैर हुए। उन्होंने पूरे मन से आशीर्वाद दिया और पूछा, “किसकी बहू है?”

इन्होंने उत्तर दिया, “अम्मा, तुम्हारी बहू।”

अम्मा चौंक गई। घूँघट उठाकर देखा, “अरे, यह तो सुशीला है!”

फिर घबराहट में वे रोने लगीं। उन्हें आभास तो था। सुशीला पसंद थी, लेकिन उस समय वे वह सब भूल गईं। लोग क्या कहेंगे, भइयाजी की नाराजगी का डर, बेटियों के विरोध का ख्याल—सभी कुछ उन्हें विचलित कर गया। अचानक इतना बड़ा निर्णय? इतना बड़ा परिवर्तन? सबका सामना करने की सोच ही ने उन्हें हकबका दिया। एक बार इन्होंने कहा था, “हम दोनों अम्मा के पैर पकड़कर बैठ जाएंगे। और मैं कहूंगा कि तुम्हारे

दिल का एक टुकड़ा मैं हूँ तो दूसरा यह," तो अम्मा मान जाएंगी। अम्मा थीं तो पुराने ख्याल की, किंतु समझदार बहुत थीं। वह जान गई कि अब तो ब्याह हो ही गया है, कुछ कहने-सुनने से कोई फायदा नहीं। काफी देर बाद सुचित्त हुई। रात भर मेरे पास ही सोई। नींद उन्हें आई कि नहीं, मुझे नहीं मालूम। हां, मैं धीरे-धीरे उनके पैर, कभी-कभी माथा सहलाती रही। सवेरे उठीं तो स्नान-ध्यान के बाद उन्होंने मुझे और इन्हें लेकर बाबा विश्वनाथ के मंदिर में जाकर पूजा करवाई। लेकिन, जब शाम की ट्रेन से हम तीनों कलकत्ता के लिए रवाना हुए, तब वे फिर बेचैन हो उठीं। पूरे रास्ते कभी रोती, कभी जगती, कभी झपकी लेते हुए उन्होंने यात्रा पूरी की। हम लोग उन्हें आश्वस्त करते रहे, कि सब ठीक हो जाएगा, पर वे यही सोचती रहीं कि सब यही कहेंगे कि उनकी मिलीभगत थी।

कलकत्ता पहुंचे तो स्टेशन पर ही इनके कई मित्र और भतीजे राधेश्याम स्वागत के लिए खड़े थे। इन्होंने राधेश्याम को तार द्वारा सूचित कर दिया था। मिनटों में हमें फूलों से लाद दिया गया। अम्मा पर भी बड़ा अच्छा 'इंप्रेशन' पड़ा। इन्होंने बताया, सब ऑफिसर लोग हैं। अम्मा भोली-भाली थीं। उन्होंने सोचा, जब इतने बड़े-बड़े अफसर स्वागत के लिए फूल लिये खड़े हैं, तो बेटे ने कोई गलत काम नहीं किया है। इनके मित्र आनंदप्रकाश की पत्नी रुक्मणीजी, एस.एन. श्रीवास्तव की पत्नी—सभी ने मिलकर वैसा ही स्वागत किया, जैसा नवविवाहिता का पहली बार ससुराल आने पर होता है।

घर बहुत अच्छा सजा हुआ था। सुहागिनों ने आरती उतारकर शुभ शकुनों के साथ वधू-प्रवेश कराया। अम्माजी भी यह सब देखकर अपनी खुशी रोक न सकीं और स्वयं सब बातों में हिस्सा लेने लगीं। उनकी मधुर मुस्कान मेरे दिल पर गहरी छाप छोड़ गई कि कितनी सरल और निश्छल हैं ये। मैंने तो उनके रूप में अपनी मां ही पा ली। स्नेह, ममत्व को खोजती मेरी आत्मा गद्गद हो उठी—सोचा, पलकों पर बिठाकर रखूंगी इन्हें। खूब सेवा करूंगी। जिंदगी में ठाकुर ने कभी मुझसे चाहकर भी कुछ नहीं कहा क्योंकि, मैं उनके कहे बिना ही उनकी बातें, उनकी इच्छा जान जाती थीं। हां, अम्मा के लिए इन्होंने जरूर कहा, "देखो मेरी मां को कभी कोई कष्ट नहीं होना चाहिए।" वे यह न भी कहते तो भी मैं वही करती जो यह चाहते थे। अब बोल देने के बाद तो मेरी जिम्मेदारी और बढ़ गई।

अगला 'स्टेप' था भइयाजी वगैरह को तार देने का। कानपुर से भइयाजी और फैजाबाद से दूसरे भाई—सभी कलकत्ता आ गए। शिकवा-शिकायत, बहस हुई, कुछ कहा-सुनी भी हुई। अंततः भइयाजी ने कहा, "मुझे पहले से बता देते, तो क्या हम आगे बढ़कर खुद विवाह न कराते? आखिर, हमारे छोटे भाई का ब्याह था।"

यह कहां तक संभव होता, यह तो ईश्वर ही जानता है, पर हमें तो यही लगता रहा कि ये सब कहने की बातें हैं। यदि उन्हें पहले से पता लग जाता तो स्थिति दूसरी ही होती। खैर, उस बात को सोचने से कोई फायदा नहीं था। मैं इस सबके दौरान रसोई

में ही व्यस्त रही, अपनी मरजी से विवाह करने का खमियाजा कुछ तो भुगतना ही था!

इस बीच परिवारवालों की ओर से साहस का एकमात्र संबल बने राधेश्याम और उनकी मां। राधेश्याम ठाकुर के सबसे बड़े भाई के बेटे थे। ठाकुर अपने पिता की सबसे छोटी संतान थे, इस प्रकार उनके हमउम्र ही थे राधेश्याम। एक साथ ही दोनों आई.ए.एस. और एलाइड सर्विसेज में आए थे। हमारे निश्चय का आभास तो उन्हें पहले से था, अतएव एक सत्य को वाणी का वरदान मिलते देखकर, उन्होंने बहुत साथ दिया। उनकी मां, जो ठाकुर की बड़ी भाभी थीं, उन्होंने सबको समझाया कि “म्हारे घर आ गई है तो म्हारी भई,” इसलिए कोई कुछ नहीं कहेगा।

भइयाजी, भाभीजी करीब दस-बारह दिन कलकत्ता रहे। भइयाजी को एक ही डर था कि पढ़ी-लिखी लड़की आई है, होटलों में ही घूमेगी—हम बड़े लोगों की बातें कहां मानेगी? मुझे समझ में नहीं आया कि लोग ऐसा क्यों सोचते हैं? पढ़ाई-लिखाई का मतलब तो अधिक शालीनता, अधिक खूबसूरत मोड़ देकर नए और पुराने का समन्वय करना होना चाहिए। एक पुराने परिवार में अपनी ‘इगो’ या अपने झूठे अहंकार को लेकर चलने से तो स्थितियां बिगड़ ही जाती हैं। मैं यह सब बात समझती थी और सोचती थी कि शायद, उनकी जगह में होती तो मेरी भी प्रतिक्रिया यही होती—और इसी सोच ने सभी विरोधाभासों को मेरे समक्ष नगण्य करार दिया। कलकत्ता के ग्रैंड होटल में हमारी शादी का रिसेप्शन हुआ। कार्ड छपवाए गए। वर-वधू का नाम लिखा गया, पर आमंत्रित केवल पुरुष ही किए गए। हमारी शादी के रिसेप्शन में घर के सभी पुरुष गए। मैं नहीं गई। आमंत्रितों में कुछ महिला ऑफिसर्स भी थीं। इस बात का शायद, पहले ध्यान नहीं रहा होगा। राधेजी के बड़े भाई जगनजी रिसेप्शन के बीच गाड़ी लेकर घर आए। बोले, “चाचीजी, चलिए, वहां लेडी ऑफिसर्स भी हैं। अच्छा नहीं लगता कि विवाह के रिसेप्शन में, जहां कुछ महिलाएं भी हों, वधू उपस्थित न हो, केवल वर ही उपस्थित हो।”

मैंने उन्हें बड़े स्नेह से मना कर दिया कि शायद, भइयाजी को अच्छा नहीं लगेगा कि नई ब्याही बहू होटल जाए। उन्होंने बहुत कहा, पर मैं नहीं गई। ऐसा मैंने किसी डर के कारण नहीं किया बल्कि, निर्णय यह सोचकर लिया था कि यदि हमें बड़ों से कुछ चाहिए, उनका प्यार, स्नेह और आशीर्वाद, तो हमें भी तत्पर रहना चाहिए उनकी मान्यताओं और भावनाओं का आदर करने के लिए। परिपाटियां एक दिन में तो नहीं तोड़ी जा सकती? उसके लिए अपने आचरण, व्यवहार से पहले एक वातावरण का निर्माण करना चाहिए, इसके बाद ही बदलाव लाया जा सकता है।

बाद में पता चला कि मेरे इस निर्णय ने भइयाजी के मन में मेरे लिए एक अलभ्य स्नेह व आदर पैदा कर दिया था, जो बाद के दिनों में बार-बार प्रकट होता रहा और जिसने मेरे सोच को सत्य का कलेवर पहना दिया। प्यार पाने के लिए पहले अपने अस्तित्व को मिटाना पड़ता है, यह बात कितनी सच उतरी!

दस-बारह दिन रहने के बाद भइयाजी और भाभीजी खुश-खुश वापस चले गए।

परिस्थितियों से उन्होंने समझौता कर लिया था। रह गई मैं, ये और अम्माजी। अम्माजी मुझे काली मंदिर, दक्षिणेश्वर आदि सभी जगहों पर ले गईं। मनौतियां मांगीं और आशीर्वादों की बाढ़ ला दी।

जीवन को एक नया अर्थ मिल गया था। दिन और रातें बीत रही थीं। अम्मा के प्यार का साया था। दिन घर के काम-काज में बीतता और शामें इनके ऑफिस से लौटने के इंतजार में। खा-पीकर रात देर तक अम्मा के पैर दबाती, तो वह गद्गद हो जातीं। कहतीं, पढ़ाई-लिखाई का असली अर्थ तो अब समझ में आया। सब लोग हमें नाहक ही डराते थे।

कलकत्ता में हम करीब दस महीने रहे। इनका ट्रेनिंग पीरियड खत्म हो गया और बंबई पोस्टिंग हो गई। सरकारी नौकरी के साथ तबादले और पोस्टिंग उसी तरह जुड़े रहते हैं, जैसे फिल्मों के साथ मनोरंजन-कर। लिहाजा, बंबई जाने की बात सुनकर कुछ अटपटा नहीं लगा।

हां, उन दिनों बंबई ऐसी लगती थी जैसे, समुद्र पार की कोई नगरी हो। दूर—काफी दूर। जहां एक ओर नए जीवन की शुरुआत का आनंद था, वहीं दूसरी ओर, फिर से एक बार, इनसे अलग रहने की बात सोचकर एक ठंडापन आत्मा को, दिल और दिमाग को घेर लेता था। सुना था, बंबई में मकानों की समस्या बड़ी विकट है। स्कूल के जमाने की सहेली सरोज बंबई के पास नासिक में रहती थी। उसे चिट्ठी लिखकर अपनी बेचैनी और हालात की दुहाई देकर कहा कि वह किसी-न-किसी तरह एक ठीक-से मकान का प्रबंध करे। एकदम से परिवार को ठाकुर बंबई ले जा नहीं सकते थे। मजबूरी में मुझे व अम्माजी को लेकर कानपुर आए।

पहली बार ससुराल में रहने का अनुभव हुआ। सर ढंककर रहना पड़ता था। प्रयत्न यही रहता था कि सभी लोगों को खुश रखूं। कलकत्ता में केवल मैं और अम्माजी ही थीं। यहां जेठ-जेठानी, ननदें, उनके बच्चे—सभी थे। बड़ा अंतर था, पहले की और अब की स्थिति में। विवाह के पहले मैं इन सबसे मिलती थी, उन्मुक्त चहकती हुई चिड़िया की तरह और अब मर्यादाशील गृहस्थिन का कर्तव्य निभानेवाली बहू की तरह। अक्सर ऐसा होता है कि जब नई बहू ससुराल आती है, तब उसकी कमियां ढूंढी जाती हैं, जबकि ऐसा नहीं होना चाहिए। एक परिवार से अलग होकर वह दूसरे परिवार में जुड़ती है। धान के पौधे की भांति एक जगह रोपा हुआ पौधा दूसरी जगह अपने लिए एक आसमान ढूंढ़ता है। उसे चाहिए स्नेह और प्यार की बरसात, जिससे वह अपने को सुरक्षित महसूस कर सके और उन्मुक्त प्यार के वातावरण में अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। पर ऐसा होता नहीं है। पड़ोसियों तक की आंखें उस पर केन्द्रित रहती हैं कि कब वह कोई गलती करे और कब उसकी बखिया उधेड़ी जाए। मैं भाग्यशाली थी कि मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ। शायद, इसका कारण यह था कि उस परिवार के लिए मैं अजनबी नहीं थी। मैं वही

थी—परिवार वही था—बस, रिश्ता बदल गया था। चड़कती चिड़िया की जगह मैं नथ पहने, ओढ़ना ओढ़े घर की वधू थी। पारंपरिक मारवाड़ी परिवार में प्रगतिशीलता की एक नई लहर!

मां की एक सहेली लखनऊ में रहती थीं। उनका पत्र आया। पढ़कर आंखों में आंसू आ गए। उन्होंने लिखा था, “बेटी, इस वक्त तुम्हारी मां, मेरी बहन होती तो कितनी खुश होती, पर उस देवी की खुशी और दुआएं स्वर्ग से भी तुम्हारे लिए शुभकामना करेंगी। मेरी दुआ से तुम फलो-फूलो। हमेशा खुश रहो। भगवान तुम्हें वह शक्ति दे कि तुम सबको खुश रख सको। तुम्हारे लिए इन सभी लोगों का प्रेम जागे और जिस देवी ने तुम्हें जन्म दिया, एक होनहार लड़की बनाया, उसका और अपने भाइयों का नाम तुम सूरज की तरह चमकाओ, यही दुआ करती हूं।”

उनके पत्र से मुझे बहुत बल मिला। उनका पत्र मानो मां का आशीर्वाद था। अम्माजी द्वारा बताई गई सभी पारिवारिक रीतियों को मैं उन्हीं के ढंग से करती। वह ओढ़ना ओढ़ने को कहतीं, मैं ओढ़ लेती, बल्कि मुझे अच्छा ही लगता। तीज-त्योहार, पर्व पर मेहंदी लगाकर, नथ पहनकर, बायना निकालने को कहतीं—मैं कर लेती। परिवार में, सब जगह मैं उनके साथ ओढ़नी ओढ़कर, सिर ढंककर ठेठ मारवाड़ी बहू की तरह चल पड़ती। फिर भी कई बार ऐसे अवसर आए कि समस्या कठिन लगने लगती।

ठाकुर की मित्र-मंडली इकट्ठा होती। इनको एक सप्ताह ही कानपुर रहना था। नित्य नए प्रोग्राम बनते। आज जाजमऊ जाना है, कल लखनऊ चलना है, आदि। वे चाहते कि मैं भी साथ चलूं, पर यहां मैं अपनी मर्जी की स्वामिनी तो थी नहीं। अम्माजी से पूछना पड़ता था। वह कहें, तभी जा सकती थी।

ऐसे ही एक दिन लखनऊ जाने का प्रोग्राम बना। मैंने अम्माजी से पूछा कि “क्या मैं चली जाऊं?” अम्माजी तो सिर में रूमाल लपेटकर लेट गई, बोलीं, “बेरो कोनी।” अर्थात् “मुझे नहीं मालूम।” मैंने भइयाजी से भी पूछा, उन्होंने भी कह दिया, “मैं क्या बताऊं?”

ठाकुर दरवाजे के बाहर खड़े थे और हाथ के इशारे से बार-बार चलने को कह रहे थे कि साथ चलो। मैं समझ रही थी उनकी इच्छा। वे घर में बैठनेवाली पुरातन-पंथी पत्नी तो नहीं लाये थे। जीवन की राह पर कदम-से-कदम मिलाकर चलनेवाली सहधर्मिणी लाए थे। मेरी स्थिति बड़ी विषम थी, इधर कुआं, उधर खाई। न तो इनको नाराज कर सकती थी और न घरवालों को। मैं साथ चली जाती तो भइयाजी और अम्माजी कहते तो कुछ नहीं, पर उस क्षण के निर्णय की नजाकत को मैं समझती थी। मैंने इनसे कहा, “जब तक भइयाजी जाने को नहीं कहेंगे, मैं नहीं जाऊंगी।” भइयाजी ने जब देखा कि इच्छा होते हुए भी मैं मन मसोसकर रुक गई हूं और चेहरे पर एक शिकन तक नहीं ला रही हूं, जाहिर है कि उनकी इच्छा का सम्मान कर रही हूं, तो उन्होंने जाने की इजाजत दे दी। यह मेरी दूसरी विजय थी। पहली विजय वह थी, जब मैं अपनी शादी के रिसेप्शन

में नहीं गई थी।

ये छोटी-छोटी, किंतु, अहम बातें थीं, जिनसे मैंने सभी का दिल जीता। अक्सर विवाह के बाद नए घर में आते ही लड़कियां अपनी चलाना चाहती हैं। उन्हें लगता है, पति अपना है तो उस पर अधिकार भी अपना ही होना चाहिए।

वह भूल जाती हैं कि आयु के पच्चीस वर्ष तक वह किसी मां के कलेजे का टुकड़ा था और उसका सारा प्रेम उसी पर केंद्रित था। धीरे-धीरे तो सास भी परिस्थितियों को समझ लेती है किंतु, एकाएक कोई उससे उसके एकाधिकार की चीज छीनने की कोशिश करता है, तो स्वाभाविक है उसे क्या, किसी को भी बुरा लगेगा। जो बात पति के बारे में सही है, वही बात गृहस्थी के विषय में भी लागू होती है। पिछले साम्राज्य की रानी के, उसके सारे अधिकार छीनने की कोशिश वैमनस्य को जन्म देती ही है। क्रमशः प्यार-दुलार से-उसके मन को जीतने के बाद तो सब कुछ सहज और सरल हो जाता है। बड़ों को केवल आदर-सम्मान चाहिए। साथ ही वह यह भी चाहते हैं कि उस घर में जहां वह इतने वर्षों तक अपनी मर्जी के मुताबिक रहे हैं, अब भी रहें और कभी-कभी उनसे सलाह कर ली जाए। उनकी सलाह पर अमल करना न करना, अपने ऊपर निर्भर करता है। सही मायनों में वे नई बहू की गृहस्थी में आदरपूर्वक रहने के साथ-साथ अपना 'इनवाल्चमेंट' भी चाहते हैं। अपना बनकर रहना चाहते हैं, बेगाना बनकर नहीं। प्रारंभ के छह महीने कसौटी पर खरा उतरने के हैं। उस समय उनकी बात मानकर उनका मन जीत लिया तो जीवन-भर तो अपनी ही चलती है, इस सूत्र को गांठ बांध लेना ही परिवार में सुख-शांति का आधार होता है।

प्रवेश : बंबई प्रवास

- अजंता-एलोरा की छाया में ● पत्रकारिता का ककहरा
- आयकर के छापे

कानपुर में हम लोग एक महीना रहे। बंबई में मकान की खोज चल रही थी। पत्रों का सिलसिला भी जारी था। पत्र आया कि कोलाबा में मकान मिल गया है। ठाकुर हम लोगों को लेने आए। सरोज का आग्रह नासिक रुकने का था किंतु, वह संभव नहीं हो सकता था। अतः उसको स्टेशन पर मिलने के लिए लिख दिया। एक बार फिर हम अपनी यात्रा पर चल पड़े। यह जीवन-यात्रा का, वास्तव में देखा जाए तो, मंजिल पर पहुंचने के बाद का पहला पड़ाव था।

नासिक स्टेशन पर सरोज मिली तो ठाकुर को देखकर बड़े आश्चर्य से बोली, 'अरे, हमारे जीजाजी तो बड़े सुदर्शन हैं। हम तो सोचे थे कि झुनझुनवाला कोई मोटे-ताजे, हाथों में बड़े-बड़े रोयेंवाले व्यक्ति होंगे!' असल में, उसने इन्हें पारसी समझ रखा था क्योंकि बंबई में पारसियों के नाम के आगे उनके व्यापार के अनुसार 'वाला' शब्द लगाते हैं जैसे, बाटलीवाला, मोतीवाला आदि। राजस्थान में झुंझनू एक जगह है जहां के वैश्य परिवार अधिकतर वहां के नाम के साथ 'वाला' लगाते हैं। इस प्रकार वास्तव में, सही शब्द झुंझनूवाला बनता है, जो कालांतर में झुनझुनवाला हो गया।

एक बार ठाकुर ने 'फिल्म इंडिया' के संपादक को एक प्रश्न भेजा था—“ह्वाट डज झुनझुनवाला मींस टु यू?” उन्होंने बड़ा ही सटीक उत्तर दिया, “द वर्ड झुनझुन इंडिकेट्स द स्टेप ऑव ए डांसिंग गर्ल, व्हाइल 'वाला' गिव्ज द स्मैल दैट अग्रवालाज ईट।” इस प्रश्न पर ठाकुर को पचास रुपए का पारितोषिक भी मिला था। बाद में यही प्रश्न आई.ए.एस की परीक्षा में भी पूछा गया और यही उत्तर सुनकर सब खूब हंसे।

बंबई में वी.टी. स्टेशन की चहल-पहल देखने लायक थी। स्टेशन पर ठाकुर के चाचाजी के बेटे लेने आए थे। उन्होंने पूछा, “किस जगह मकान मिला है और बिल्डिंग का नाम क्या है?”

इन्होंने बताया, “कोलाबा में मकान लिया है। ऑफिस के एक साथी के साथ।”

बिल्डिंग का नाम भी बताया।

बिल्डिंग का नाम सुनते ही उनके कान खड़े हो गए। कहने लगे, “यह तो बहुत खराब जगह है। वहां तो ‘कॉल गर्ल्स’ रहती हैं। अम्मा और बहू तो वहां एक दिन भी नहीं रह सकतीं।”

यह तो बड़ी मुसीबत हुई। सिर मुंडाते ही ओले पड़े। बंबई में मकान मिलना वैसे ही मुश्किल है, ऊपर से फेमिली भी आ गई है। अब इनका क्या होगा—सोच-सोचकर ये और इनके साथी भी परेशान होने लगे।

मैंने कहा, “परेशानी की ऐसी क्या बात है? एक बार तो अब उसी घर में जाना पड़ेगा, और कोई जगह तो है नहीं। वहीं सामान वगैरह रखकर कुछ सोचा जाएगा।”

खैर, हम लोग कोलाबा पहुंचे। बिल्डिंग पुरानी किंतु, अच्छी थी। एक बात जो अजीब लगी, वह यह थी कि हमारे फ्लैट के बगल में जो फ्लैट था, उस पर हाथ का छापा बना था। अक्सर ब्याह-शादी या मंगल कार्यों में देहातों में, कस्बों में घरों के ऊपर हाथ का छापा मांडते हैं, किंतु, बंबई नगरी में दरवाजे पर हाथ का छापा क्यों? कोई विशेष मतलब अवश्य होगा। राम-राम करके हम घर में घुसे, यह सोचकर कि हमें कौन यहां स्थाई रूप से रहना है। मुझे और अम्माजी को तो इन्होंने फ्लैट में छोड़ा और उल्टे पांव मकान की खोज में निकलने को तैयार हो गए। हम लोगों ने बड़ी मुश्किल से रोका कि ऐसी कोई आफत नहीं है, कल से मकान की खोज शुरू कर सकते हैं।

कोलाबा का मकान वैसे बहुत अच्छा था। सामने खुला समुद्र लहरें मार रहा था। सागर की गहराई और गंभीरता के बारे में पहले पढ़ा-भरा था। अब पहली दृष्टि में दूर-दूर तक फैला हुआ, क्षितिज को छूता हुआ नीला समुद्र देखा तो ‘गिरा अनयन नयन बिनु बानी’ वाली बात हो गई। अर्थात्, जुवान कुछ कह सकती है किंतु, उस बेचारी के पास आंखें नहीं हैं कि वह कुछ देखकर बोले और नयन जो देख सकते हैं वह बेचारे विवश हैं कि जो कुछ देखा, उसका वर्णन करने के लिए उनके पास वाणी नहीं है। समुद्र का प्रथम दर्शन मुझे रामायण की चौपाई की याद दिला गया। समुद्र की ठंडी-ठंडी हवाएं, हल्का संगीत, लगा बंबई तो स्वर्ग का द्वार है। किंतु, शाम होते-होते यह स्वर्ग फीका-फीका लगने लगा। हमारे साथ के फ्लैट पर से ही दस्तक देने की आवाज आने लगी। साधारणतया तो घंटी बजाकर ही लोग फ्लैट में प्रवेश करते हैं, फिर यह दस्तक क्यों? और तब समझ में आया कि दरवाजे पर हाथ के चिह्न का अर्थ क्या था।

सुना था, बंबई में मकान मिलना तो मुश्किल है ही, किराया भी बहुत होता है। अकेले तो इतना किराया दे नहीं सकते थे, इसलिए तभी-तभी आए एक और ऑफिस के साथी बलवंतसिंह के साथ मकान लेना तय हुआ था।

दूसरे दिन सबेरा होते ही ठाकुर और उनके साथी बलवंतसिंह घर ढूंढ़ने के लिए निकल पड़े। हमें सख्त हिदायत थी कि खिड़की बंद करके रखना और दरवाजा तो किसी भी हालत में नहीं खोलना—कोई कितना भी कुछ कहे या दरवाजा खुलवाने का प्रयत्न

अब घर में हम केवल दो प्राणी। बूढ़ी अम्माजी और मैं। सारा दिन बीत गया, भूखे-प्यासे ये लोग कहाँ भटक रहे होंगे? घर में कुछ करने को था नहीं क्योंकि, सामान भी नहीं खोला था। हम बैठे-बैठे राह तकते रहे। धीरे-धीरे धूप ढलने लगी और शाम का धुंधलका गहराने लगा। साथ ही बगल वाले फ्लैट पर दस्तकों की आवाजें आनी शुरू हुईं। एक दस्तक होती, दरवाजा खुलता और बंद हो जाता। जैसे ही, उधर दस्तक होती, हमारा जी बैठ जाता। हमें डर लगता कि कहीं कोई इधर ही न आ जाए। एक बार शायद, गलती से किसी ने हमारे दरवाजे पर भी थाप मारी। हमारी सांसें ऊपर की ऊपर, नीचे की नीचे। अंधेरे में हम सांस रोके बैठे रहे क्योंकि, मोमबत्ती भी नहीं थी और फ्लैट में बल्ब भी नहीं लगा था।

बहुत अरसे बाद हिंदी-उर्दू के प्रसिद्ध उपन्यासकार कृश्नचंदर से मित्रता हुई। तभी बातों-बातों में हमने उन्हें यह घटना सुनाई। वहीं राजेंद्रसिंह बेदी भी बैठे हुए थे। बाद में इसी घटना को आधार बनाकर उन्होंने 'दस्तक' फिल्म का ताना-बाना बुनकर, एक यादगार फिल्म बना डाली।

रात धिरते-धिरते ठाकुर और उनके साथी बलवंतसिंह, जिनके साथ मिलकर हमें घर लेना था, लौट आए। उनके निराश चेहरों को देखकर ही समझ में आ गया कि बंबई में प्लैट मिलना कितना मुश्किल है। खैर, इनके आने से सांस में सांस आई।

दूसरे दिन पता चला कि बंबई के एक उपनगर, खार, में पंद्रहवें रास्ते पर एक घर खाली है। इन लोगों ने बस पकड़ी और सीधे खार पहुंचे। मकान-मालिक एक सरदारजी थे—प्यारासिंहजी। वह तो नहीं मिले, उनके पुत्र सरदार हरभजन सिंह मिले। उन्हें देखने से ही लगता था कि गुरु श्रीनानक की उन पर अपूर्व कृपा है। मकान का नाम भी 'गुरु निवास' था। ग्राउंड फ्लोर पर दो बड़े रूम, एक छोटा कमरा पीछे, बड़ा भारी ड्राइंग रूम, किचन और सामने एक बड़ा लाउंज था। ऊपर के फ्लोर पर मकान-मालिक स्वयं रहते थे। मकान तो बहुत पसंद आया किंतु, इतने बड़े मकान का किराया, जाहिर ही है बहुत ज्यादा होगा। मकान देखकर लौटने लगे तो सरदार हरभजन सिंह ने रोक लिया। सरदारजी का चेहरा बड़ा गंभीर था। उम्र कोई तीस-पैंतीस वर्ष रही होगी। संजीदा और शांत आंखें, खुली हुई दाढ़ी, पतली-दुबली काया, उन्हें देखकर लगता था कि उनका अधिकतर समय पूजा-पाठ में ही बीतता है।

“मकान चाहिए?” उन्होंने पूछा।

“हां।”

“कहां काम करते हो?”

“इनकम टैक्स में।”

“घूस खाते हो?”

“नहीं।”

शराब पीते हो?

“नहीं।”

“सिगरेट पीते हो?”

“नहीं।”

“कल से मकान में आ जाना,” सरदार हरभजन सिंह बोले। ये लोग तो हक्का-बक्का रह गए।

“किंतु, किराया?” हिम्मत कर पूछ ही लिया।

“सरकार कितना किराया देती है?”

“एक व्यक्ति को 125 रुपए।” हम दोनों (बलवंतसिंह की तरफ इशारा था) यहां रहेंगे।

“तो फिर ज्यादा कहां से दोगे? ढाई सौ रुपए प्रतिमाह देना और आ जाना।”

घर आकर जब ठाकुर ने यह बातचीत सुनाई, तब हमें भी आश्चर्य हुआ। आज के जमाने में इतना बड़ा मकान बिना किसी सिफारिश के, न कोई जमानत, न डिपोजिट। एक तरह से मुफ्त ही मिला। सरदारजी तो जैसे भगवान के रूप में ही अवतरित हुए हमारे लिए। ईश्वर को लाख-लाख धन्यवाद दिया।

दूसरे दिन ‘गुरु निवास’ पहुंचने पर सभी कागज तैयार मिले। हां, कुछ शर्तें अवश्य लिखी थीं, जो किरायेदारों को माननी थीं। सरदार प्यारसिंहजी ने कहा, “अच्छी तरह सब शर्तें पढ़ लो। अगर मंजूर हैं, तो दस्तखत कर दो।” हम लोग तो ऐसी स्थिति में थे कि हर शर्त मानने को तैयार थे। फिर भी एक नजर शर्तों पर डाली। अजीब शर्तें थीं—

पहली शर्त : रात के आठ-साढ़े आठ बजे के बाद रेडियो और टेलीविजन जोर-जोर से नहीं बजा सकते।

सरदारजी ने बताया कि उनका बेटा, जो साथ ही में, नीचे के ही एक हिस्से में रहता है, उसका दरवाजा भी सामने ही, हमारे लाउंज में खुलता है, वह सवेरे जल्दी उठकर भजन-ध्यान में लग जाता है इसलिए।

दूसरी शर्त : सुबह चार बजे से सरदारजी ऊपर ‘बाबा साहब’ अर्थात् पूजा के कमरे में कीर्तन लगाते हैं। लाउडस्पीकर उन्होंने नीचे अपने घर में लगा दिए हैं। इस कारण नीचे कीर्तन की आवाज काफी आएगी। और यह तो अच्छी बात है—सुबह-सुबह भगवान का नाम कान में पड़ना ही चाहिए।

तीसरी शर्त : मकान में दो परिवार ही रहेंगे—टी.पी. झुनझुनवाला के परिवार में वे, उनकी पत्नी और मां। बलवंतसिंह के परिवार में वे स्वयं और उनकी पत्नी, बस।

हमने पूछा, “और सरदारजी, यदि बच्चे हुए तो?”

सरदारजी का सटीक उत्तर था, “वे तो भगवान की देन हैं।”

चौथी शर्त : हर बुधवार को शाम को कीर्तन होता है, कड़ा-प्रसाद लेना होता है। उसमें अवश्य आना होगा।

पांचवीं शर्त : सरदारजी के घर का फोन इस्तेमाल कर सकते हैं। कभी-कभी फोन आने पर सरदारजी बता भी देंगे। किंतु, फोन पर फिल्म या फिल्मवालों की बातें नहीं कर सकते।

हम लोगों ने सारी शर्तें मान ली, और कोई चारा भी नहीं था।

हमने 'गुरु निवास' में डेरा जमाया। एक कमरा मेरे पास, एक कमरा बलवंतजी के पास। हाल में एक दीवान डाला गया अम्माजी के लिए। किचन कॉमन रहा।

बंबई को 'शहरों की रानी' कहते हैं। अंग्रेजों द्वारा सजाई-संवारी गई बंबई की छटा सचमुच निराली थी। चारों ओर रोशनी की चकाचौंध, आपा-धापी में भागता हुआ जन-समुदाय, डबल डेकर बसें और गगनचुंबी इमारतें देखकर हम आश्चर्यचकित रह गए। हालांकि, कलकत्ता में भी यह सब देखा था किंतु, कलकत्ता और बंबई में एक अंतर लगा। वहां धरमतल्ला, चौरंगी, विक्टोरिया कहीं भी घूमने जाओ—भीड़-भड़क्का तो शायद, बंबई से कहीं ज्यादा ही था किंतु, एक आभिजात्य के दर्शन होते थे। बंबई अधिक आधुनिक लगी। शायद, अधिक आधुनिकता के कारण लोग एक दूसरे से उत्तरप्रदेश या मध्यप्रदेश की तरह मेल-मिलाप भी नहीं कर पाते। सुबह काम पर भागने की जल्दी रहती है, रात को थके-हारे आने के बाद आराम जरूरी हो जाता है। जो अमीर तबका है, वह अपने में मस्त है। झुग्गी-झोंपड़ियों की अपनी अलग जिंदगी है। वहां मस्ती का अंदाज ही निराला है। इस तरह सभी अपने-अपने दायरों में सिमटे हुए मस्त हैं।

बंबई पहुंचकर उस भीड़-भाड़ भरे महानगर के एक उपनगर में अपनी छोटी-सी गृहस्थी जमा लेने में देर न लगी। सामाजिक संपर्कों में इनकी दिलचस्पी ने मुझे भी कुछ हद तक 'सोशल' बना दिया था। बंबई में देखते-देखते नाते-रिश्तेदारों, मित्रों, मिलने-जुलने वालों के एक बड़े घेरे के बीच आ चुके थे हम लोग। ज्यादा से ज्यादा लोगों से मिलने के मौके मिलते रहे। नए-नए परिवारों से नाता जुड़ता रहा। इनमें से अधिकतर आयकर से संबंधित लोगों के परिवार ही थे। पारिवारिक जीवन के साथ मिल रहे इस एक तरह के सामुदायिक जीवन ने जिंदगी में एक नए तरह का रस और रंग भर दिया।

हमारी मित्र मंडली को पिकनिक मनाने का बहुत शौक था। महानगर की आपाधापी और एकरसता से उत्पन्न ऊब में, कई दिनों के बाद एक-आध दिन, इन सबसे दूर शांत वातावरण में, प्रकृति की खुली गोद में गुजारने के लिए कुछ क्षण मिल जाएं, तो सारी थकावट दूर हो जाती है। इस दृष्टि से जहां मौका मिलता, हम पिकनिक पर जाने का अवसर हाथ से नहीं जाने देते थे।

ऐसी ही एक पिकनिक में उस दिन, हम गए थे एलीफेंटा गुफाएं देखने। एलीफेंटा बंबई के पास चारों ओर समुद्र से घिरा एक टापू है, जिसमें कालजयी विशाल मूर्तियां हैं। सर्दियों की खुशनुमा धूप में नहाये एलीफेंटा में हम लोग घूम-घूमकर प्राचीन कला के नमूने देखते रहे। एक जगह शिव की मूर्ति देखी। कैलाश पर्वत पर शिव बैठे हैं। शिव-पार्वती

की आकृतियों के नीचे रावण की आकृति उत्कीर्ण देखी। रावण शायद, कैलाश को उठाने का प्रयत्न कर रहा है। शिव पृथ्वी पर अंगूठा टेककर कैलाश को उठाने से बचा रहे हैं। किंतु, यह मूर्ति काफी खंडित अवस्था में थी। दोपहर को सबने एक साथ बैठकर भोजन किया। इसके बाद फिर घूमने-फिरने का प्रोग्राम बना।

हमें घूमते थोड़ी ही देर हुई थी कि बादल का एक टुकड़ा आसमान में आया और उसने धीरे से सूरज को ढक लिया। हवा तेज हो गई। सोच ही रहे थे कि क्या किया जाए कि अचानक काली घटा घिर आई। इतनी कि शाम के धुंधलके-जैसा अंधेरा हो गया। साथ ही बूंदें भी पड़नी शुरू हो गईं। सब पानी से बचने के लिए इधर-उधर भागने लगे। जिसको जहां जगह मिली, उसने वहीं भागकर शरण ली।

मैं भी भागी। सामने विशालकाय त्रिमूर्ति थी। पानी की बूंदों से अपने को बचाते हुए मैं त्रिमूर्ति पर ही नजर गड़ाए थी। और, उस घड़ी मन ही मन उन कलाकारों के हाथों की तारीफ कर रही थी, जिन्होंने पत्थर को भी सजीव रूप दे दिया था। उस समय तक शिलाखंड में उत्कीर्ण वह मूर्ति केवल उत्कीर्ण कला का एक रूप-भर—एक कलात्मक रूप-भर, थी मेरे लिए। अचानक देखा कि मूर्ति के शीर्ष से सफेद रंग के धुएं का सैलाब फूट पड़ा। वैसा ही जैसा, रेल के इंजन से धुआं निकलता है। आंखें इधर-उधर घुमाईं, यह देखने को कि यह धुआं कहां से आ रहा है। परंतु कुछ पता न लगा। चारों ओर के धूमिल धुंधलके में धुएं के गोले फटते जा रहे थे। कुछ क्षण बाद धुआं निकलना बंद हो गया। किंतु, यह क्या? मूर्ति एकदम पारदर्शी हो गई थी, जैसे पत्थर की न होकर कांच की बनी हो। मैंने फिर अपनी आंखें मलीं और अब की दिखाई पड़ा जैसे मूर्ति के भीतर एक आकृति उभर रही हो। पहले वह आकृति बहुत साफ नहीं थी, फिर धीरे-धीरे वह साफ होकर एकदम स्पष्ट हो गई—जीते-जागते, हिलते हुए सिंह पर सवार एक देवी की आकृति, जिसके आठ हाथ हैं। पूरी आकृति एक अत्यधिक चमकीले प्रभा-मंडल से घिरी हुई!

मुझे विश्वास नहीं हो रहा था कि मैं जगी हुई हूं या स्वप्न देख रही हूं। एक बार सोचा, शायद, तूफानी हवाओं के थपेड़े उड़ाकर मुझे स्वर्ग-लोक ले गए हों। मैंने हाथ से आसपास की धरती टटोली और कसकर इनका हाथ पकड़ लिया। मैं इनसे कुछ कहती कि देखा, वह आकृति अपना एक हाथ अभय मुद्रा में उठाते हुए गायब हो गई।

कुछ ही क्षण रहा होगा यह दृश्य। मैं टकटकी लगाकर देख रही थी कि अचानक सूरज की तेज रोशनी मुझ पर पड़ी। बादल खुलने लगे थे। बारिश और हवा बंद हो गई थी। सर्दियों का सुनहरा अपराह्न एलीफेंटा में फिर जममगा उठा था। इन्होंने मुझे हिलाते हुए कहा, “तुमने तो इतना कसकर मेरा हाथ पकड़ा कि देखो, निशान पड़ गए हैं।” मैंने खोई-खोई नजरों से इन्हें देखा और फिर देखा त्रिमूर्ति की ओर, प्रस्तर पर बनी आकृतियां मुस्करा रही थीं। उस नारी आकृति का कहीं चिह्न तक नहीं था। हमारे साथ के सारे लोग सकुशल इकट्ठे हो गए थे। शाम होने तक हम सब बंबई लौट आए।

बंबई लौटकर दूसरे लोगों की तरह मैं भी अपनी नियमित दिनचर्या में व्यस्त हो

गई। लेकिन, उस दिन एलीफंटा में देखा दृश्य बार-बार आँखों के सामने आ खड़ा होता। मैं लाख सिर खपाती, पर समझ ही नहीं पाती थी कि इस सबका क्या मतलब है? किसी से कुछ कहने का तो सवाल ही नहीं उठता था, यकीन कौन करता? इनसे भी कहने में हिचक लग रही थी कि कहीं ये मजाक न उड़ाएं। कहेंगे, 'पढ़ी-लिखी होकर इस तरह की बात सोचती हो!' पर अंततः बता देने पर इन्होंने ऐसा कुछ नहीं कहा, बोले, "दुनिया में कहां कितना कुछ हो रहा है, क्या हमें सब मालूम है? मनुष्य विज्ञान के सहारे समझता है कि उसने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली, किंतु ऐसा नहीं है। हो सकता है, यह तुम्हारी कल्पना रही हो और यह भी हो सकता है कि किसी अमूर्त शक्ति ने तुम्हारी आत्मा को आलोड़ित किया हो और सचमुच में, तुम्हें उसका आशीर्वाद मिला हो। अपने को तो यही प्रयत्न सदैव करना चाहिए कि हमारी आत्मा शुद्ध रहे और हमें पग-पग पर ईश्वर का आशीर्वाद मिलता रहे। बंबई की जिंदगी शुरू करने से पहले इस घटना को प्रकृति की ओर से एक शुभ संकेत समझना चाहिए।"

गुरु-निवास में दिन अच्छे बीत रहे थे। हर बुधवार को ऊपर कीर्तन में जाते। ठाकुर भी जाते, सिर पर रूमाल बांधकर, कड़ा-प्रसाद लेते। बहुत अच्छा लगता। कभी शहर जाना होता तो फोन पर बात कर लेते कि किस समय, कहां मिलना है—मसलन, चर्चगेट में इरोस सिनेमा। लोकल ट्रेन से पहुंच जाते।

बंबई की लोकल ट्रेनों में बड़ी भीड़ होती थी। बड़ी-बड़ी टोकरियों में मछलियां लिए हुए—कांचदार, मराठी साड़ियां पहने, बाजार की ओर बढ़ती, मछुआरियों के चेहरों पर जो आत्मविश्वास और मेहनत के पसीने की गहराई दिखाई देती थी, उसे देखकर महाराष्ट्र में औरतों की जिंदगी की एक झलक मिल जाती थी। वैसे, अन्य जगहों और प्रांतों से कुछ अधिक फर्क नहीं था, यहां की इस वर्ग की महिलाओं में भी। मर्द निष्क्रिय जिंदगी जीते थे। उत्तरप्रदेश और बंगाल की तरह, यहां भी मर्दों की जिंदगी दारु की बोतल में डूबी रहती थी।

शाम को घूम-फिरकर या कभी-कभी सिनेमा देखकर हम देर से घर लौटते तो अम्मा लाउंज में खड़ी मिलतीं। अक्सर तो, दिन उनके साथ गप-शप या घर-गृहस्थी के कामों में बीत जाता था और बाहर जाती ही नहीं थी—पर जब जाती थी, तो लौटते समय सदैव एक अपराध-बोध होता था कि अम्मा अकेली हैं, उनका मन कैसे लगेगा! वे तो हमारे साथ लोकल ट्रेन में जा नहीं सकती थीं। कभी-कभी ठाकुर चुटकी लेते कि अम्मा की इतनी फिकर है, तो क्यों नहीं उनके लिए एक खिलौना ला देती हो और मैं लाज से दोहरी-तिहरी हो जाती।

धीरे-धीरे मैं इस दिशा में सोचने भी लगी। स्त्री-जीवन की पूर्णता को पाने के लिए मन मचलने लगा। ठाकुर का प्रतिरूप मेरे आंचल की छाया में पनपे, इच्छा का यह अंकुर कल्पतरु की भांति पनपने लगा और एक दिन सचमुच लहलहा उठा।

चार महीने मैं बहुत बीमार रही। चेहरा ऐसे सफेद पड़ गया, जैसे शरीर में खून का एक कतरा भी न हो। न कुछ खा पाती थी, न ही पी पाती थी। सब्जियों की तरफ देखते ही जी मिचलाने लगता। केवल अरहर की दाल के साथ ही रोटी खा सकती थी। इतनी तकलीफों के बाद भी मातृत्व का यह पहला अनुभव गूंगे के लिए गुड़ के स्वाद जैसा था, जिसे केवल गूंगा ही जान सकता है। मातृत्व की मिठास महसूस की जा सकती है, शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। शरीर के भीतर एक रहस्य पल रहा था, जो केवल मेरे अस्तित्व का एक हिस्सा था, मेरे खून-मांस से बना, मेरी सांसों से पल्लवित होता हुआ, एक नन्हा-सा कोमल पौधा, जिसे हर आंधी-झंझावात से बचाना है। पर उसे संस्कार भी तो देने हैं। खुली हवा, धरती की हरीतिमा और असीमित आकाश को छूने की क्षमताओं को भी अपनी सांसों द्वारा उस नन्हें तक पहुंचाना है। यह सब अनायास नहीं होगा। एक समूची प्रक्रिया को जन्म देना होगा। मां बनने का अहसास ही काफी नहीं है, यह एक बड़ी किंतु, निर्माण की सुखद प्रक्रिया है, जिम्मेदारी है, जिसे मैं आस्था और विश्वास के सहारे पूरा कर सकूंगी—सोचकर ही मन पुलक उठा। यह पुलक कुछ-कुछ वैसी ही थी जैसी, एक मूर्तिकार को मूर्ति गढ़ने के समय होती होगी या एक रचना को जन्म देते समय लेखक को और यह सुख सारा का सारा मेरा था, जिसे मैं इनके साथ भी नहीं बांटना चाहती थी।

माउंट आबू में इनके एक मित्र डॉ. जयसिंह का घर और होटल था। ऑफिस में चार दिन की छुट्टी थी। कार्यक्रम बना कि माउंट आबू चला जाए। अम्माजी ने बहुत मना किया कि इस दशा में पहाड़ों पर नहीं जाना चाहिए। ऊंची-नीची जगह में पैर पड़ गया तो मुश्किल हो जाएगी। मैंने उनसे वायदा किया कि मैं पहाड़ों पर नहीं चढ़ूंगी। मुझे तो केवल वहां का प्रसिद्ध 'सन-सेट' देखना है। किंतु, माउंट आबू पहुंचकर हम पहाड़ों पर चढ़ने का मोह रोक नहीं सके। खूब घुमाई हुई। गोमुख की पहाड़ियां चढ़े। अंबादेवी मां के दर्शन किए। दिलवाड़ा के मंदिर देखे। मंदिर की छतों पर की गई बारीक पच्चीकारी और पेंटिंग देखकर आश्चर्य हुआ कि किस तरह कारीगरों ने ऐसी अपूर्व चित्रकारी, मुंह ऊपर उठाए-उठाए की होगी। दिन महीने और महीने बरस बन गए होंगे। सर्दी, गर्मी, बरसात कब आई और गई होगी, उन्हें पता ही नहीं पड़ा होगा और तब कहीं जाकर ऐसी कला का जन्म हुआ होगा। ताज्जुब की बात थी!

ठाकुर का हाथ पकड़-पकड़कर दुर्गम पहाड़ियों को करीब से देखा, उन पर चढ़ाई की, चित्र खिंचवाए, पर कर्मद कहां टूटी, घर में ही। एक दिन घर में ही एक कमरे से दूसरे में जा रही थी कि पैर मुड़ गया। मोच आ गई। पहला विचार यही आया कि अम्माजी कभी नहीं मानेंगी कि मोच घर में आई है। वह यही समझेंगी कि पहाड़ियां चढ़ते समय गिरी होऊंगी।

हम आबू से वापस लौट आए। डॉ. जयसिंह अपनी पत्नी के साथ हमारे यहां ही ठहरे। पीछे के स्टडी रूम में उनका भी बिस्तर लग गया। गुरु निवास में सब कुछ ठीक

चल रहा था किंतु, कैमा-कैमा सरदार हरभजन सिंह की पंजह से हमारी शांति भंग हो जाती थी। बहुत दिनों तक तो हमने अपने पर काबू रखा कि रात के साढ़े आठ के बाद शोरगुल न हो। पर ऐसा हमेशा कैसे संभव हो सकता था! रिश्तेदार-मित्र आ जाएं और देर तक बैठे रहें तो शोरगुल हो ही जाता था। उन्हें हम कैसे कह सकते थे कि अब आप जाएं कि, छोटे बच्चों की तरह हमारे सोने का समय हो गया। सुबह-सुबह आप सोए हों और एकाएक जोर-जोर से गानों की आवाज आने लगे, तो निश्चय ही झुंझलाहट होती है, चाहे वह भगवान का नाम हो या कीर्तन की आवाज ही क्यों न हो। पहली बात तो, इतनी भक्ति करने की हमारी उमर नहीं थी। इस परेशानी से तो छुटकारा दिलाया स्वयं सरदार हरभजन सिंह की पत्नी ने। सरदारजी कीर्तन का संगीत लगाते कि सरदारजी लाउडस्पीकर उलटाकर रख देतीं और खुद चैन से सो जातीं।

एक दिन तो हद ही हो गई। सरदारजी ने हमें ऊपर बुलाया और कहा, “भाई, साहब, मान लीजिए एक फियेट गाड़ी है। उसमें चार आदमी बैठ सकते हैं। अब अगर उसमें दस आदमी बैठ जाएं तो क्या होगा? गाड़ी बैठ जाएगी न?” हमने बिना यह समझे कि यह किस बात की भूमिका है, हामी भर दी। समझ में नहीं आया कि क्या केवल यही बताने के लिए सरदारजी ने हमें ऊपर बुलाया है। हम सोचने लगे, देखो आगे क्या कहते हैं। सरदारजी ने अपनी बात जारी रखी। बोले, “इसी तरह यदि घर में चार व्यक्तियों के रहने की जगह है और उसमें दस व्यक्ति आ जाएं तो घर बैठ जाएगा न?” हम अब समझे कि सरदारजी का मतलब क्या था। किंतु, हम भी कम नहीं थे, कहा, “किंतु सरदारजी, हम तो ग्राउंड फ्लोर पर हैं। घर नीचे बैठकर और कहां जाएगा?”

हमारी शैतानियां भी बढ़ रही थीं। जितना वे हमें तंग करते, उतना ही हम उन्हें बोर करते। एक बार पीछे के बागीचे में बड़े अच्छे-अच्छे पपीते लगे थे। खिड़की से हाथ बढ़ाकर हम पपीते तोड़ लेते। सरदारजी की समझ में न आए कि अंदर घुसकर पपीते कौन तोड़ ले जाता है जबकि गेट बंद रहता है।

एक दिन वे हमारे घर आ गए। हमने तोड़े हुए पपीते गेहूं में रखकर पका लिए थे। काटकर सरदारजी के सामने रख दिए। सरदारजी ने बड़े प्रेम से पपीते खाए। बोले, “बड़े मीठे हैं। कहां के हैं?”

हमने तपाक से जवाब दिया, “आप ही के हैं।” किंतु, उनकी समझ में नहीं आया कि हमारा मतलब क्या है।

सरदारजी को फिल्मों से बड़ी चिढ़ थी। एक दिन भूल से कहीं हमारे मुंह से, उनके फोन पर उषा किरन का नाम निकल गया। बड़े नाराज हुए। जब हमने कहा कि हम तो बंबई में ‘उषा किरन’ बिल्डिंग की बात कर रहे थे, जो उस समय तक बंबई की सबसे ऊंची इमारतों में से एक थी, तब उनका गुस्सा शांत हुआ।

एक दिन सुबह सरदारजी की बेटी आई। उसके हाथ में मीना कुमारी का कैलेंडर था। उसने हमें कैलेंडर लगाने को दिया और बोली, “दारजी ने भेजा है।” हम बड़े खुश

कि आज सूरज पश्चिम में निकला क्या, जो दारजी ने हमें इतना सुंदर तोहफा भेजा। तभी बेटी बोली, “दारजी कह रहे थे, अपने घर में रखने लायक नहीं है। आंटी लोग को दे आओ।”

हल्की-फुल्की शरारतों के बावजूद हमारे और मकान-मालिक के संबंध बड़े आत्मीय और पारिवारिक रहे।

बंबई आए कई महीने हो गए थे। बारिशों के दिन आ रहे थे, और सुना था कि बंबई में जब बारिश होती है तो कई-कई दिन झड़ी लगी रहती है। पानी बंद होने का नाम ही नहीं लेता। मूसलाधार बारिश में सारा जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। आसमान खुलता ही नहीं है। अम्माजी को मेरी चिंता थी कि पानी ऐसा ही बरसा और रात-बिरात हॉस्पिटल जाना पड़ा तो मैं कैसे जा पाऊंगी!

ठाकुर के एक पुराने, साथ पढ़े मित्र पुरुषोत्तम मोदी बंबई में ही थे। शायद, मोरारजी गोकुलदास मिल में मैनेजर थे। उनसे तय हुआ कि यदि रात में आवश्यकता हुई तो वे अपनी गाड़ी और ड्राइवर भेज देंगे। क्योंकि, बारिश के समय तो टैक्सी भी नहीं मिलती। रात में तो और भी मुश्किल है और ऐसा ही हुआ भी। तीस जुलाई की रात एक बजे हॉस्पिटल जाना पड़ा। बारिश इतनी कि जैसे कोई बाल्टी भर-भरकर पानी उड़ेल रहा हो। वी.टी के पास सेंट जार्ज हॉस्पिटल जाना था। वहीं के डॉ. मिलर के पास मेरा रजिस्ट्रेशन हुआ था।

डॉ. मिलर ब्रिटिश थे किंतु, विवाह उन्होंने एक दक्षिण भारतीय नर्स से किया था। डॉ. मिलर और उनकी पत्नी के लिए हम अक्सर कहते कि, “वह देखो, रात और दिन चले आ रहे हैं।” मेरे साथ केवल ठाकुर हॉस्पिटल आए थे। अम्माजी के आने का तो सवाल ही नहीं उठता था। एक तो उनका भारी शरीर, दूसरे कितना समय लगेगा, कुछ पता नहीं था।

30 जुलाई को रात के दो बजे मैं अस्पताल में दाखिल हुई थी। पीड़ा ही पीड़ा, दर्द की उठती लहरें, पहले एक-एक, रुक-रुककर आतीं, फिर उनका क्रम बढ़ता गया। लगा, यह क्रम खत्म नहीं होगा और मैं मर जाऊंगी। पूरे समय मैं ठाकुर का हाथ कसकर पकड़े रही। एक क्षण को भी नहीं छोड़ा। मुट्ठी का वह बल, जीवन-शक्ति को जीने का संबल दे रहा था। बीच-बीच में डॉक्टर कोई इंजेक्शन लगा देते, जिससे कुछ देर के लिए बेहोशी-सी आ जाती। फिर वही पीड़ा, वही दर्द की लहरें। किंतु, इस दर्द में भी सुख की, कुछ पाने की उम्मीद छिपी थी।

31 जुलाई की रात्रि में 8 बजे शरीर के भीतर का रहस्य अनावृत होकर साकार हुआ। पर यह क्या? कोई आवाज नहीं, कोई रुदन नहीं। एक क्षण को अपनी सारी पीड़ा भूलकर, सांस रोके आशंकित स्वर में डॉक्टर से पूछा, “डॉक्टर?”

इस बीच डॉक्टर ने गर्म और ठंडे पानी के दो टब मंगवा लिए थे। मेरे दिल के

टुकड़े को उन्होंने एक हाथ में पकड़े-पकड़े हवा में उल्टा किया और पीछे से दो बार जोर से थपथपाया तो शिशु-क्रंदन की आवाज सुनाई दी। मेरी सांस में सांस आई। बच्चे के क्रंदन की आवाज स्वर्ग-संगीत के समान मधुर लगी। उस पल मैं सारा दर्द, कष्ट और पीड़ा भूल गई।

अभी तक मैंने बच्चे को पूरी तरह से देखा नहीं था। डॉ. मिलर ने पूछा, “क्या चाहिए? लड़का?”

मैं बोली, “लड़की भी होती, तो उसे भगवान का वरदान समझकर ही लेती मैं।” किंतु, मुझे तो पूर्ण विश्वास था कि मेरे पुत्र ही होगा। यहां तक कि हमने केवल लड़कों के ही नाम सोच रखे थे। डॉक्टर ने बच्चे को मेरे आंचल की छांव में सुला दिया। जीवन की पूर्णता को एक और पड़ाव मिल गया। दिन-भर की पीड़ा से क्लांत, उस रात जैसी नींद आई, वैसी नींद प्रसव के बाद की ही हो सकती है।

ऑफिस से लौटते समय हॉस्पिटल होते हुए ये घर जाते। मैं पांच-छह दिन के बाद घर पहुंची।

अम्माजी हालांकि, पुराने विचारों की थीं किंतु, बंबई आकर काफी बदल गई थीं। पहले कांच के प्लेट वगैरह किचन में नहीं जाते थे। अब जाने लगे। एक बार घर में ही एक सीढ़ी से फिसल जाने के कारण दस दिन अस्पताल में रहना पड़ा था उन्हें। उसके बाद ही उनमें परिवर्तन आया। कहने लगीं, “जब अस्पताल में ही, सबका छुआ खाया, कप-प्लेट में दूध-चाय पी, तब घर में इन सबसे परहेज क्यों?” इन सब दृष्टियों से वह बहुत समझदार थीं। बदलते जमाने के साथ और आधुनिक दृष्टि रखनेवाले लोगों से मिलने-जुलने के कारण उनका दृष्टिकोण काफी विस्तृत हो गया था। उन्हें देखकर मैं अक्सर सोचती थी कि क्या ये वही अम्माजी हैं, जिनके बारे में कहते थे कि बड़ी सख्त हैं! मुझे तो वे बड़ी कोमल, संवेदनशील और प्रेमिल लगतीं।

अस्पताल से आने के बाद अक्सर अम्माजी की तबियत खराब रहने लगी। वैसे, चोट तो उन्हें पैर में लगी थी पर हो सकता है, इसी के कारण वे ज्यादा चल-फिर नहीं पाती थीं, इसलिए खाना हजम नहीं होता होगा या फिर वृद्धावस्था में, बीमारी भी कुछ जल्दी ही लग जाती है।

एक बार उनका पेट खराब हो गया। कमजोर हो गई तो बिस्तर पर ही जीने लगीं। मैं तो अम्माजी और अपनी मां में कोई भेद समझती नहीं थी। उनकी जैसी सेवा की थी बीमारी में, वैसी ही अम्माजी की भी की। दस-पंद्रह दिन तो बहुत परेशान रही। फिर क्योंकि, बच्चे छोटे थे, इस प्रयत्न में लगे कि कोई बाई मिल जाए। अंततः एक बाई मिली किंतु, उसकी भी एक छोटी बच्ची थी। अब उसकी बेबी को खिलाने के लिए झूला लटकाया गया और उसकी देख-भाल के लिए एक छोटी लड़की रखी गई। वही कहावत चरितार्थ हुई—‘चाकर का चूकर, चूकर का पेशखाना।’

यदि सही मायनों में देखा जाए तो पीढ़ियों का अंतर बेमानी हो जाता है, यदि एक-दूसरे के प्रति अंतर से प्रेम है, अपनापन है। यदि हम नई पीढ़ी से, मतलब, अपने बच्चों से कुछ अपेक्षाएं रखते हैं, तो यह क्यों भूल जाते हैं कि उन्हें भी हमसे कुछ अपेक्षाएं हैं। बच्चों को पढ़ा-लिखाकर बड़ा बनाने तक ही हमारा उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाना चाहिए वरन, आगे भी उनको परिवार में वह खुलापन देना चाहिए, जिससे वे अपने को घुटा-घुटा महसूस न करें। बड़ों के साथ रहते हुए भी, अपने को अलग-थलग रखते हुए भी, वे सबके साथ में रहना महसूस करें, अपनी 'प्राइव्सी' बरकरार रख सकें। अम्माजी इन बातों में बहुत होशियार थीं। हमारे मित्र आते। गोष्ठियां होतीं। थोड़ी देर वे हमारे बीच बैठतीं, सबकी कुशल-क्षेम, परिवार के बारे में पूछतीं। सबके साथ हंसतीं-बतियातीं और फिर अपने-आप अपने को सबसे अलग-थलग कर लेतीं। हम लोग उनसे बैठने के लिए कहते भी तो, वे कोई बहाना बना देतीं। इस प्रकार वे सबसे घुल-मिलकर भी कभी हमारी मित्र-मंडली को यह महसूस न होने देतीं कि कोई संकोच इन्हें घेरे। उनके साथ आत्मीयता, आदर भी बना रहता और आपसी संबंधों में खुलापन भी।

मेरी दृष्टि में बुजुर्ग अपने को अवांछनीय तभी समझते हैं, जब बच्चों की गृहस्थी में उन्हें लगता है कि उनका कोई अस्तित्व नहीं है, उन्हें लगता है कि वे एक बोझ-भर हैं। या फिर एक ऐसा अस्तित्व, जिसको बच्चे जबरदस्ती ढो रहे हैं। बच्चों का तर्क होता है कि मां-बाप ने जिंदगी-भर काम किया, अब इस उम्र में तो उनको आराम ही करना चाहिए, इसलिए वे उनसे कुछ भी करने के लिए नहीं कहते। किंतु, यह स्थिति बड़ों के लिए कष्टकर हो जाती है। ऐसा मैंने कई घरों में देखा, इसलिए मैं अक्सर अम्माजी से कई बातों में सलाह ले लेती। उनसे कोई राजस्थानी 'डिश' बनाने की तरकीब पूछ लेती, कभी उनके सामने कोई सब्जी ही काटने के लिए रख देती और कहती कि आपका मन हो तो काट दीजिए, ताकि वे गृहस्थी में अपने को अलग-थलग न समझें। यह भी उन्हें समझा दिया कि उनका जब मन हो, अपने बेटे के लिए कुछ बनाने-करने का, या बनवाने का, तो वह निःसंकोच मुझे बता दें। स्वयं कर लें, नौकर को बताकर करवा लें। अब जैसे, सवा महीने बाद पुत्र-जन्म की खुशी में कुआं-पूजन की रस्म हुई, तब उन्होंने जैसे-जैसे कहा, सब पुरानी रीतियां मैंने कर लीं। इन सब बातों से वह पूरी तरह हमारे से, औरों की बनिस्बत अधिक जुड़ी रहीं। उनसे मैंने बहुत-सी बातें सीखीं।

जब कुआं पूजन के बाद पार्टी हुई, तब मेहमानों के साथ कई पड़ोसियों को भी बुलाया गया था। वे छोटे-छोटे उपहार भी लाए, जिन्हें हमने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार भी किया, वे बच्चे की आयु के अनुरूप छोटी-छोटी चीजें थीं और अधिकतर हमारे मित्र ही लाए थे।

इसी के दो-तीन दिन बाद की बात है कि एक सज्जन दोपहर में, जब घर में केवल अम्माजी थीं, आए और शिकायत की कि आप लोग हमें भूल गए, हमें बुलाया भी नहीं।

खैर, अम्माजी ने उन्हें बिठाया। चाय-नाश्ता कराया। जब वे जाने लगे तो बच्चे के लिए एक छोटा-सा उपहार कहकर उन्होंने अम्माजी को एक डिब्बा थमा दिया। अम्माजी ने उसे लेने से लाख इंकार किया, यह सोचकर कि यदि वे हमारे घनिष्ठ होते तो पार्टी में बुलाए अवश्य जाते। और फिर वे पहले भी घर में कभी नहीं आए थे। पर वे पति-पत्नी नहीं माने और जबरदस्ती पैकेट रखकर चले गए।

शाम को हम लोग वापस लौटे तो अम्माजी बड़ी नर्वस दिखीं। पूछा, “अम्मा, क्या हुआ? इतनी घबराई हुई क्यों हो?”

बोलीं, “घबराऊं नहीं! तुम लोगों ने कहा कि किसी अनजबी को घर में घुसने भी नहीं देना, उससे कुछ लेना भी नहीं। पर मैं क्या करती, पड़ोस के तीन-चार मकान छोड़कर जो रहते हैं, वे आए थे।”

मैंने कहा, “अम्मा, वह तो इन्होंने इसलिए कहा था कि जन्म-दिन की खुशी के उपहार के बहाने कोई रिश्वत-जैसी चीज घर में न घुसा दे। तुम इनके विचारों को जानती ही हो।”

“हां, जानूंगी क्यों नहीं?” अम्मा बोलीं, “बेटा है मेरा! इसीलिए तो मैं पैकेट रख नहीं रही थी।”

कई किस्से सुने थे। कैसे सरकारी अफसरों को चारा (रिश्वत) फेंककर अपना काम निकलवाने में लोग माहिर होते हैं। इन्हीं सब आशंकाओं के तहत ठाकुर ने अम्मा को बार-बार आगाह किया था। पर लगता है, वैसा ही कुछ हो गया।

मैंने अम्मा के हाथों से पैकेट लिया। घुमा-फिराकर देखा और उसे खोल दिया। हमारी आंखें आश्चर्य से फैल गईं। उसमें सोने की एक चेन रखी थी, नई चमचमाती सोने की चेन। नहीं, यह सोने की चेन नहीं हो सकती। भला, सोने की चेन हमें कोई क्यों देगा। मैंने चेन डिब्बिया में रखकर इनकी ओर बढ़ा दी। इन्होंने क्षण-भर के लिए चेन उठाई और वापस डिब्बिया में रखकर बोले, “हां, सोने की ही है।” फिर डिब्बिया पर लगी स्लिप को पढ़कर सुनाया, “बच्चे के जन्म पर बधाई, तुम्हारी रेखा।” ये मेरी ओर देखने लगे। एक-दो पल का सन्नाटा, जिसे फिर ठाकुर की आवाज ने ही तोड़ा। मेरी ओर देखते हुए बोले, “कौन है यह रेखा?”

मैंने गंभीर स्वर में कहा, “शाम को पार्क में घूमते समय अक्सर मिल जाती है किंतु वह मेरी मित्र नहीं है। मैंने सोचा भी नहीं था कि वह...।” मैं अपराध-बोध से दबी-सी जा रही थी। इन्होंने हंसते हुए कहा, “कोई बात नहीं, अभी इसका हल निकाल लेते हैं। कहां रहती है वह?”

मैंने कहा, “उधर टेंथ रोड पर कॉर्नर की जो बड़ी-सी कोठी है, उसे कुछ दिन पहले ही इन लोगों ने खरीदा है। हां, याद आया, उनके पति हैं—गोपालजी वर्मा। एक दिन अपना घर दिखाते हुए रेखा बता रही थी।”

“यह गोपालजी वर्मा करते क्या हैं?” मैं इतना ही इनके प्रश्न के उत्तर में बता

सकी कि “यह तो पता नहीं।” और वे बुदबुदा उठे, “यह महाशय जरूर कुछ न कुछ ऐसा करते होंगे, जिसके लिए उन्हें एक आयकर अधिकारी को खुश रखने की जरूरत है। सोने की यह चेन पांच हजार से कम की नहीं है। कोई बात नहीं, हम कल उनके घर जाकर यह चेन उन्हें लौटा देंगे।”

मैं आश्वस्त हुई।

दूसरे दिन ऑफिस से लौटते ही हम दोनों शाम को उनके घर पहुंच गए। निहाल हुए जा रहे थे गोपालजी। हमारे पड़ोस में आकर बसे हुए उन्हें अभी थोड़े ही दिन हुए थे। हम लोगों से उनका विधिवत परिचय हो सके, ऐसा अवसर भी कहां आया था अब तक? इतने पर भी आयकर का एक अधिकारी बाकायदा सपरिवार भेंट करने के लिए घर तक आ जाएगा, गोपालजी ने अवश्य सोचा होगा, यह चेन की करामात है।

ड्राइंग रूम की एक-एक चीज से गोपालजी की अमीरी टपक रही थी—उनके ड्राइंग रूम में घुसते ही हमने महसूस किया।

“क्या पिएंगे? ठंडा या गर्म?” उन्होंने पूछा।

“कुछ भी नहीं, प्लीज। घर से हम चाय पीकर ही निकले हैं।” फिर ठाकुर एक झटके से मुद्दे पर आ गए, “ऐसा है गोपालजी, मैं एक खास काम से आया हूं आपके पास।” और इन्होंने अपनी जेब में हाथ डालकर वही डिविया निकाली, जिसमें से रेखा के प्यार की प्रतीक वह सुनहरी चमचमाती पांचेक हजार रुपयों की सोने की चेन निकली थी। वह डिविया गोपालजी की ओर बढ़ाते हुए कहा, “यह चीज दरअसल, आपके घर की है, जो भूल से हमारे घर में आ गई थी।”

आक्रमण सीधा और सरल, किंतु सांस्कृतिक ढंग से था। गोपालजी का रंग उड़ गया। उन्होंने अपनी पत्नी की ओर देखा। उनका रंग भी उड़ा हुआ था। माहौल में जल्द ही तनाव का बादल फटनेवाला था।

सहज दिखने की कोशिश करते हुए गोपालजी ने धीमे स्वर में कहा, “नहीं, नहीं। हमारे घर की तो कोई भी चीज...” उन्होंने अपना वाक्य अधर में ही छोड़ दिया।

मैं बोली, “भाई साहब! आप डिविया हाथ में लेकर तो देखिए, यह आप ही की है।”

डिविया को गोपालजी छूना भी नहीं चाहते थे। ठाकुर सोफे से उठे, डिविया को उन्होंने गोपालजी के हाथ में एक तरह से जबरदस्ती ही पकड़ा दिया और वापस गंभीर मुद्रा में सोफे पर बैठ गए।

जबरदस्ती थमाई गई डिविया को गोपालजी खोल नहीं रहे थे। खोले बिना ही उन्हें मालूम था कि अंदर क्या है।

“खोलकर तो देखिए,” ठाकुर ने सुई चुभाई।

गोपालजी हकला गए, “...लेकिन...मैं समझ नहीं पा रहा...।”

सुई चुभाने के बाद अब ठाकुर ने भाला चुभोया, “पहले आप खोलकर देखिए,

कहीं डिबिया खाली न हो।”

“आप तो शर्मिदा कर रहे हैं,” गोपालजी बोले। स्वर में हल्की-सी आपत्ति थी। अभी भी डिबिया खोलने के लिए वह तैयार नहीं थे। ठाकुर ने ही फिर कहा, “लाइए, मैं ही खोलकर दिखाता हूँ।” दोबारा डिबिया हाथ में लेकर ठाकुर ने सोने की चेन वाकायदा बाहर निकाली और गोपालजी को धमाते हुए कहा, “देख लीजिए, आपकी ही है न!” अब तक गोपालजी संयत हो चुके थे। बोले, “दरअसल, अब यह आपकी हो चुकी है। आपका बच्चा, मेरा बच्चा है।”

इस बार मैंने कहा, “भाई साहब, बुरा न मानिए। अगर इतनी कीमती चीज हम रख लेंगे, तो इतनी ही कीमती चीज हमें भी कभी न कभी आपकी विटिया के हाथ में रखनी पड़ेगी। और इस तरह का व्यवहार हम रखना नहीं चाहते।”

अब की बार गोपालजी की पत्नी रेखाजी ने अपने पति के हाथ में से चेन ले ली और मुझसे मुखातिब होकर बोलीं, “रख लीजिए न भाभीजी, मेरे प्यार का तोहफा समझकर।”

“मुझे सिर्फ एक बात का जवाब दीजिए रेखाजी,” मैंने जरा तल्खी से कहा, “मेरे पति यदि आयकर अधिकारी न होते, सिर्फ एक मामूली क्लर्क होते, सिर्फ एक लेखक, पत्रकार या चित्रकार होते, तब भी आप क्या इतने ही प्यार और अधिकार से...।”

“हां-हां,” रेखा बोली, “बिल्कुल।”

“नहीं रेखाजी, ऐसा न होता। आप भी जानती हैं, हम भी जानते हैं।”

तभी ठाकुर आगे बढ़कर बोले, “अब हमें चलना चाहिए।”

गोपालजी नमस्कार करते हुए बोले, “देखिए, आप पहली बार हमारे घर आए और पानी भी नहीं पिया आपने, यह क्या बात हुई!”

ठाकुर बोले, “फिर कभी, नमस्कार।”

गोपालजी ने फिर भी पीछा नहीं छोड़ा। बोले, “नमस्कार साहब, नमस्कार। अब यह जो हमारी छोटी-सी भूल हुई है...”

ठाकुर ने अधिकारपूर्वक कहा, “बेहतर हो, इस भूल को हम दोनों ही भूल जाएं, ताकि दो अच्छे पड़ोसियों की तरह रह सकें।”

मैं आगे निकल गई थी। गोपालजी फिर भी बोले, “ऐसा नहीं होगा भाई साहब! आप भूल जाएं तो भूल जाएं, हम नहीं भूलेंगे इस भूल को। क्योंकि, अगर हम भूल गए तो यही भूल दोबारा कर बैठेंगे।”

इन्होंने भी वह जवाब दिया, जो दिया जाना चाहिए था, “ठीक है। भूल को याद रखना भी कोई बुरी बात नहीं है।”

गोपालजी ने फिर तुरूप की चाल चली, “सौदा मंजूर। हम भूल को याद रखते हैं, आप हमें याद रखिए। अच्छा, नमस्कार।”

अब इससे आगे हम कहते भी क्या? लंबे-लंबे डग बढ़ाते हुए हम बाहर निकल

गए, आपस में बातें करते हुए कि जन्मजात कोई अफसर बेईमान और भ्रष्ट नहीं होता। सर्विसेज में जो लड़के-लड़कियां आते हैं, कॉलेजों से पढ़कर निकले, साफ, ईमानदार छात्र-छात्राएं होते हैं। कैसे सपने संजोकर आते हैं! अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए, हर मुश्किल का सामना करने को तैयार। इनके आचरण में एक स्वच्छ खुलाव रहता है। अंधेरे की कोई किरण भी उन्हें छूकर नहीं जाती, पर गोपालजी-जैसे लोग ही धीरे-धीरे अपनी चालों से उन्हें गिरफ्त में जकड़ने की कोशिश करते हैं और कुछ होते हैं जो उनकी जकड़न में आ ही जाते हैं।

बेटे के जन्म के पौने-तीन साल बाद बेटी हुई। लोग कहते हैं, बंबई में भाईचारा नहीं है, लोग एक-दूसरे के दुख-सुख में शामिल नहीं होते। हमें ऐसा कभी नहीं लगा। निःस्वार्थ भाव से एक-दूसरे के काम आनेवाले मित्र, पड़ोसी हमें उपनगर खार में भी मिले और शहर के बीचों-बीच भी।

बेटी के जन्म के समय भी जब मैं हॉस्पिटल जाने को थी, उस दिन घर के बाहर गेट के पास हम खड़े थे। हमें पता नहीं था कि उस दिन टैक्सियों की हड़ताल है। तभी एक पड़ोसी अपनी गाड़ी से उधर से निकले। उन्होंने बताया कि हड़ताल के कारण आज टैक्सी नहीं मिलेगी। मैंने कहा, “कोई बात नहीं, कल हॉस्पिटल चली जाऊंगी।” किंतु वे सज्जन बोले, “नहीं, कोई बात नहीं। आप लोग हमारे साथ चलिए। हम आपको छोड़ देंगे। अगर लौटना हुआ तो वापसी में ले भी लेंगे।” वे कई लोग थे। फिर भी खुद वे किसी तरह सिकुड़कर बैठे और हमें आराम से बिठाया और संयोग देखिए, मुझे उसी दिन हॉस्पिटल में भर्ती होना पड़ा।

इस बार मुझे पूरा विश्वास था कि बेटी ही होगी। रास्ते में, जब हम हॉस्पिटल जा रहे थे, हाजी अली पर एक होर्डिंग लगी देखी, जिस पर ‘नीहारिका कंस्ट्रक्शन’ का बोर्ड लगा था। बस, मैंने इनसे कहा, “हमारे बेटी होगी तो उसका नाम नीहारिका ही रखेंगे।” कम से कम वह अपने लिए घर तो बनवा सकेगी, जो हमने अब तक नहीं बनवाया है। बेटी ही आई। उसका नाम ‘नीहारिका’ रखा। प्यार से हम उसे ‘नन्नी’ कहते। नन्नी छह महीने की थी कि हमें आयकर कालोनी पैडर रोड पर घर मिल गया। गुरु-निवास छोड़ते समय बहुत दुख हुआ। ऐसा दृश्य कम ही देखने को मिलता है कि मकान-मालिक भी रो रहा है और किराएदार भी। मेरे बेटे के सिर के बाल बहुत घने थे। हमारे यहां लड़के का मुंडन, राजस्थान ही जाकर, पहले, तीसरे या पांचवें वर्ष में, झुंझुनू के राणी सतीजी के, जो हमारी कुलदेवी हैं, मंदिर में होता है। बाल बड़े-बड़े थे। कमर तक आते थे। इसलिए सरदारों के बच्चों की भांति दो चुटियां बनाकर उसके बाल बांध देती थी। सरदारजी और उनकी पत्नी सदैव कहते थे, “यह तो हमारा छोटा सरदार है।”

गुरु-निवास के साथ बहुत-सी यादें जुड़ी हुई हैं। सरदार प्यारसिंहजी, जिन्हें हम ‘पिताजी’ और उनकी पत्नी को ‘माताजी’ कहते थे, बहुत ही सादे, धार्मिक व्यक्ति थे।

उनका पिस्ता-बादाम-काजू का व्यापार था। एक बेटा ईरान में था। दो बेटे यहां थे। सबसे छोटे सरदार हरभजनसिंहजी सही मायनों में संत व्यक्ति थे।

एक बार, हरभजनजी मेरिन ड्राइव पर जा रहे थे, तो बड़ा-सा पत्थर रास्ते में दिखाई पड़ा। खुद ज्यादा बलशाली नहीं थे, सो पत्थर को खिसका नहीं सके। पत्थर ऐसी जगह पड़ा था कि किसी को भी ठोकर लग सकती थी और रात के अंधेरे में वह दुर्घटना का कारण भी बन सकता था। जब स्वयं से पत्थर नहीं खिसका, तब दूसरों से प्रार्थना की। कुछ ने उन्हें पागल समझा, कुछ ने सनकी। पर सरदारजी अपने काम को पूरा करके ही हटे। दो-चार सज्जन व्यक्ति मिल ही गए, जो उनकी भावना को समझ सके। वास्तव में, हरभजनजी अपनी हस्ती भूलकर सदैव अलौकिक मस्ती में रहते थे।

अम्माजी लाउंज में बैठी रहती थीं। 'पिताजी' ऊपर से ऑफिस जाने के लिए नीचे आते तो, अम्माजी से कहते, 'अम्माजी, कैसी हैं? तुसी ठीक तो हो।' हम खूब हंसते। यह कैसा रिश्ता है? वह इन्हें 'माताजी' कहते हैं और ये उन्हें 'पिताजी'।

खार में रहते-रहते हिंदी-उर्दू के प्रख्यात उपन्यासकार कृश्चंदरजी और उनकी पत्नी सलमा सिद्दीकी से मुलाकात हुई। कृश्चंदरजी की किताबें रूस में बहुत बिकती थीं। उनके हिंदी-उर्दू उपन्यासों के अनेक संस्करण हो चुके थे। रूस में तो वह सबसे अधिक लोकप्रिय भारतीय लेखक थे। उन पर वहां की यूनिवर्सिटी में डॉक्टरेट भी की जा रही थी। रायल्टी का अधिकांश पैसा रूस में था। उस पैसे को यहां लाने में कुछ कठिनाइयां थीं। किसी ने उनसे मेरे पति के बारे में बताया कि वे कवियों, साहित्यकारों और कलाकारों को परेशानियों में से सही रास्ता दिखानेवाले एक सहृदय आयकर अधिकारी हैं। बस, इस तरह उनसे भेंट हुई और जल्दी ही पारिवारिक मित्रता में बदल गई।

ठाकुर को वे 'भाई साहब' कहते थे और मुझे 'भाभी'। लाल-लाल कश्मीरी सेब उन्हें बहुत पसंद थे और न केवल सेब, कश्मीर का प्राकृतिक सौंदर्य भी उन्हें बार-बार याद आता था। अक्सर बातों ही बातों में वह कश्मीर की वादियों में खो जाया करते थे। बाद में जब उनसे परिचय गहरा गया, तब अक्सर दोस्तों की जुटती भीड़ में हम उन्हें मिलते। कितनी भी परेशानियां हों, वे हमेशा हंसते रहते थे।

खार का मकान 'गुरु-निवास' हमने छोड़ा तो सरदारजी ने कहा, "आप अपने ही जैसे कोई दूसरे किराएदार हमें दिलवा दीजिए।"

हमारी एक मित्र थीं—सरला दुआ। उनके पति इंद्र ए.सी.सी में काम करते थे। बहुत बढ़िया व्यक्ति थे। पेशे से इंजीनियर। सरला ने हिंदी में पी-एच.डी. की थी। सपनीली आंखोंवाली सरला बड़ी रोमांटिक-सी दिखती थीं। भावनाप्रधान भी थीं। मेरा बेटा अमिताभ स्वभाव से ही बहुत शांत, निःस्पृह था। सरला का बेटा आदित्य बचपन से ही बहुत शैतान। अक्सर सरला कहती, "चलो, हम इन दोनों के नाम बदल दें। अमिताभ कुछ शैतान हो जाएगा और आदित्य शांत।"

इस बीच बलवंतसिंह ने दूसरी जगह मकान खोज लिया था। ज्यादा किराया हम दे नहीं सकते थे, इसलिए उसी मकान के एक छोटे हिस्से में रहने लगे। हमने सरला दुआ को गुरु-निवास में किराएदार बनवा दिया। इंद्र भाई साहब और सरला दुआ कुछ वर्ष 'गुरु-निवास' में रहे। हमारे यहां की कवि-गोष्ठियों में वे बेचारे आते-जाते किंतु, ऐसे बैठे रहते जैसे कोई सजा मिल रही हो। मैं अक्सर पूछती, "आपको पसंद नहीं आ रहा है?" तपाक से जवाब देते, "नहीं, नहीं, मैं तो बहुत इज्जत कर रहा हूं।"

उनके मकान को छोड़ने के बाद हमने कृष्णचंदरजी को गुरु-निवास दिलवा दिया। ख्वाजा अहमद अब्बास, इस्मत चुगताई, राजेंद्रसिंह बेदी, मजरूह सुल्तानपुरी, सरदार जाफरी से वहीं मुलाकात हुई। अक्सर अपने दोस्तों की परेशानियों को लेकर वह हम तक आ जाते थे।

एक बार प्रसिद्ध लेखक उपेंद्रनाथ 'अश्व' जी का बेटा या शायद, भाई फिल्मी आकर्षण में फंसकर हीरो बनने के लिए बंबई आया और यहां, जैसा अमूमन होता है, गलत लोगों के चक्कर में पड़कर पुलिस की गिरफ्त में आ गया। कृष्णचंदरजी राजेंद्रसिंह बेदी को लेकर हमारे घर आए। सारी कहानी बताई और बोले, "अब तो भाई साहब, उसे छोड़ना ही है।" सरकारी काम हो, पुलिस का चक्कर हो, मकान-मालिक से झगड़ा हो, उनके पास सब समस्याओं का एक ही हल था—टी.पी भाई साहब यानी मेरे पति।

पेडर रोड पर आयकर आफिसर्स कालोनी में आने के बाद हमारे परिचितों का दायरा और विस्तृत हुआ। अभी तक 'गुरु-निवास' और पास-पड़ोस तक ही हमारी दुनिया सीमित थी। अब आयकर कालोनी में ऑफिस के दूसरे लोगों से भी जान-पहचान बढ़ी। उनके परिवारों से मित्रता के संबंध कायम हुए। गाहे-बगाहे, यह भी पता चलने लगा कि ऑफिस में कौन क्या है? और, वहां क्या हो रहा है? दफ्तरों की हलचल, तत्परता और झंझटों का असर घरों में होता ही है। अक्सर वे हलचलें घर के आंगन में भी आ जाती हैं और घरवालियों के माध्यम से अड़ोस-पड़ोस में भी फैल जाती हैं। दोपहर में घर के काम-काज से छुट्टी पाकर, जब बच्चे स्कूल गए होते हैं, घरवालियां आपस में मिलती-जुलती हैं। ऐसे में ही एक बार पता चला कि ऑफिस में कोई बड़ा 'ऑपरेशन' होनेवाला है और मेरे पति ही उसके नायक हैं।

एक दिन बड़े खुश-खुश आए। बोले, "आज बड़ी मजेदार बात हुई।"

मैंने पूछा, "ऐसा क्या हुआ?"

कहने लगे, "सबेरे-सबेरे जैसे ही दफ्तर पहुंचा, फोन की घंटी बज उठी। रिसीवर कान में लगाते ही आवाज सुनाई दी। बड़े ही शायराना लहजे में कोई पूछ रहा था, 'किब्ला, आप कहां से बोल रहे हैं।' मैंने जवाब दिया, 'जी, मैं इनकम टैक्स से बोल रहा हूं।'

"फिर", मैंने पूछा, "क्या जवाब मिला?"

“फिर क्या? उधर से आवाज आई, ‘लाहौल विला-कूवत। सुबह-सुबह किस मनहूस जगह का नाम ले दिया’ और यह कहकर उसने फोन काट दिया।” हम लोग बड़ी देर तक इस बात को लेकर हंसते रहे।

यह तो सचमुच की घटना हुई। ऐसा ही एक किस्सा किसी ने एक बार सुनाया था कि एक व्यापारी बेचारा बहुत दिनों से बीमार चल रहा था। अपनी बीमारी से वह आजिज आ चुका था। एक दिन कमजोरी के कारण जो आंख लगी तो, महसूस हुआ, जैसे सिरहाने कोई छाया खड़ी है। उस व्यापारी ने झट से आंखें खोलकर पूछा, ‘कौन ...कौन है?’ सिरहाने खड़ी छाया ने जवाब दिया, ‘तुम्हारी मौत हूं।’ व्यापारी ने चैन की सांस ली और बोला, ‘कोई बात नहीं। मैं समझा कि कोई आयकर अधिकारी है।’

ये और ऐसी ही अन्य कितनी ही बातें, कितने किस्से, करदाता और आयकर अधिकारियों को लेकर प्रचलित हैं। किस्से झूठे हों या सच्चे, पर इनसे यह तो पता चलता ही है कि आयकर विभाग की तरफ से लोगों के दिलो-दिमाग पर एक अजीब-सी दहशत, एक अजीब-सा डर छाया रहता है।

इस डर के लिए जिम्मेदार होता है आदमी का मन। मन कुछ कम नहीं है। सैकड़ों ऊहापोहों से भरा एक पूरा महाभारत। कैसे अधिक धन जोड़ें? कैसे उस अधिक धन को आयकर से छिपाएं और कैसे उसे दूढ़ निकालने वाली आंखों से बचा कर रखें? तस्करी, काला-धन, कर-चोरी, लुका-छिपी का खेल—सब इसीलिए होता है।

पर क्या यह खेल बचा पाता है उसे? सारी सतर्कता नपुंसक होकर रह जाती है और खोजनेवाले खोज ही लेते हैं छिपे धन को। धरती के अंदर से, दीवारों के पीछे, मंदिरों के कोनों और बंद, अंधेरे कमरों से। आदमी लाख यत्न करे, पर उसके प्रयत्नों की बैसाखी कोई काम नहीं आती। मैली-कुचैली जैकेटों के मुंह खुल जाते हैं। जूतों के तले उधड़ जाते हैं। दीवारों में छेद हो जाते हैं। छिपा हुआ धन या ‘काली लक्ष्मी’ बाहर आ ही जाती है।

“इस अंदरवाली लक्ष्मी को बाहर लाने की प्रक्रिया क्या होती है?” मैंने इस लुका-छिपी के खेल में दिलचस्पी लेते हुए पूछा एक दिन अपने पति से।

“इस रोमांचक प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण हथियार तलाशी है। हर तलाशी के पीछे एक लंबी तैयारी, पुष्ट योजना, कार्य-कुशलता तथा निर्णय संबंधी दूरदर्शिता रहती है।” ठाकुर ने जवाब दिया, “और, खबर के बिना कोई तलाशी शुरू की ही नहीं जा सकती।”

मैंने पूछा, “खबर क्या उसके रिश्तेदार, सगे भाई-बहन, पड़ोसी और उसके असंतुष्ट कर्मचारी या अधीनस्थ लोग देते हैं?”

“स्पष्टा की दौड़ में लगा कोई अन्य व्यापारी भी हो सकता है और कभी-कभी खबर लालच के कारण भी दी जाती है क्योंकि, सफल तलाशी के बाद कुछ प्रतिशत लाभ खबर देनेवाले को भी मिलता है।” इन्होंने बताया।

“तो क्या खबर केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए दी जाती है? सामाजिक अन्याय हो रहा है, इसलिए उसे खत्म होना चाहिए, इसलिए नहीं दी जाती?” मैंने पूछा।

“कभी-कभी खबर बिना किसी व्यक्तिगत लाभ के, केवल वैमनस्य की आग बुझाने के लिए दी जाती है। सामाजिक अन्याय को खत्म करने की भावना केवल एक या दो प्रतिशत में ही होती है।”

मैंने कहा, “अब मुझे समझ में आया कि आप हर बार आयकर के छापे के पहले इतने ‘टेंस’ क्यों हो जाते हैं और देर-देर से, ऑफिस से क्यों लौटते हैं। यह छापे उस कच्चे अंडे की तरह नहीं होता, जिसे किसी ने अपनी जेब में रख लिया हो और जिसे अचानक मौका देखकर बाहर निकालकर, उस व्यक्ति के सर पर दे मारें, जिसके यहां तलाशी हो रही है।”

“हां, ऐसी चाल से ‘पार्टी’ को शर्मिदा तो किया जा सकता है किंतु, उससे किसी प्रकार के सहयोग की आशा नहीं रखी जा सकती। इसलिए पूरी तैयारी, पूरी जासूसी रखी जाती है। हम चौकाते हैं, त्रस्त भी करते हैं। पर मूलतः मैत्री-भाव को स्थिर रखकर काम करते हैं, तभी हमें अधिकांशतः उनका सहयोग भी मिलता है।”

दूसरे ही दिन अखबारों में पढ़ा कि बंबई में बहुत बड़े पैमाने पर ‘हुंडी रेड्स’ हुई हैं। यह पहली बार था जब एक व्यापारिक संस्थान के कई-कई ठिकानों पर बंबई में भी और बाहर भी एक साथ, एक समय पर छापे डाले गए थे। अब मुझे पता चला कि ठाकुर अचानक किस काम में इतने व्यस्त हो गए थे। हुंडी, बेनामी दो-नंबर की भी हो सकती है। जिससे पैसा लेना होता है, उससे स्टैंप पेपर पर या सादे कागज पर लिखवा लेते हैं कि इतना पैसा अमुक पार्टी का अमुक को देना है। यदि इस हुंडी का प्रमाण एक नंबर की बुक में नहीं हो, तो वह बेनामी हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों के पकड़े जाने से पता चल जाता है कि अघोषित कारोबार कहां, किसके साथ हो रहा है।

इस ‘हुंडी रेड्स’ के दौरान एक दिन बड़ी अजीबो-गरीब घटना हुई। रात के करीब ग्यारह बजे तक ये ऑफिस से नहीं आए थे। मुझे चिंता होने लगी कि पता नहीं कहां हैं? जिन दिनों ‘रेड्स’ चलती थीं, चिंता होना स्वाभाविक भी हो जाता था।

उस दिन भी मैं बालकोनी में खड़ी इंतजार कर रही थी। मेरी आदत थी कि जब तक घर में सब आ नहीं जाएं, मैं सो नहीं पाती थी, चाहे रात के दो या तीन ही क्यों न बज जाएं। खैर, रात साढ़े-ग्यारह के करीब अपने पांच-छह साथियों के साथ ये आए। साथ में धोती-कुर्ता पहने एक वृद्धा-सा आदमी था। दरवाजा खोला तो सब एकदम उस आदमी को लेकर ड्राइंग रूम में चले गए। वृद्ध की एक झलक ही मैं देख पाई, वह बहुत घबराया हुआ था। इन लोगों ने कमरा अंदर से बंद कर लिया।

मुझे बोले, “सब लोग खाना यहीं खाएंगे। जल्दी से कुछ बना लो।”

खाना, आधी रात को बनाने में भी कुछ नई बात नहीं थी। कई बार तो मुझे सोते से उठाकर भी इन्होंने बताया कि चार-पांच आदमी खाना खाएंगे, तो बिना किसी न-नुकुर के मैं रसोई में लग जाती थी, यह सोचकर कि बड़बड़ाने से कोई लाभ नहीं। काम करना तो पड़ेगा ही, हंसकर ही क्यों न करूं! मैं समझ गई कि कुछ परेशानी की बात है। इतनी

रात गए इतने अधिकारी, एक साथ, एक अजनबी बुढ़े को लेकर घर में आए हैं। खाना वगैरह भी सब खाएंगे तो अवश्य ही मामला कुछ गंभीर है। खैर, ड्राइंग रूम बंद था। अंदर क्या हो रहा है, यह तो नहीं मालूम पड़ रहा था किंतु, कभी-कभी एक-दो अधिकारी बाहर भी आ जाते और आपस में फुसफुसाकर बात करते। मेरे कान में अचानक आवाज पड़ी, “यार, बुढ़ा कहीं मर-मरा न जाए।”

अब तो मुझे भी चिंता हुई। पूरी बात तो मैं जानती नहीं थी किंतु, इस एक वाक्य ने कि ‘कहीं बुढ़ा मर-मरा न जाए’ मुझे आशंकित कर दिया। खाना बनाती जा रही थी और इन पर खीझती भी जा रही थी कि इतनी ‘रिस्क’ लेने की क्या जरूरत है। जिस काम को करेंगे, उसमें इतना डूब जाएंगे! अब पता नहीं यह बुढ़ा कौन है, कहां से आया है और ऑफिस न ले जाकर उसे यहां क्यों लाए हैं? अनेक आशंकाएं थीं परंतु, पूछने की हिम्मत ही नहीं थी। कमरा बंद था। कोई गोपनीय बात ही होगी! खैर, खाना बन गया। सबने खाया-पिया। मुझसे कहा गया, “एक व्यक्ति का खाना थाली-कटोरी में लगा दें क्योंकि, वह व्यक्ति प्लेट में खाना नहीं खाएगा।” मैं समझ गई कि थाली-कटोरी बुढ़े के लिए लगवाई जा रही है। रात के दो बजे तक ड्राइंग रूम में सब जुटे रहे। ढाई बजे के करीब उस बुढ़े व्यक्ति को लेकर सब लोग फिर वापस चले गए, यह कहकर कि “अभी आते हैं, फिक्र की बात नहीं है।”

किंतु, फिक्र-चिंता क्या करने से होती है! यह जानते हुए भी कि जो होना है, वह तो होकर ही रहेगा, क्या हम आश्वस्त हो सकते हैं? उस रात चार बजे सुबह ठाकुर लौटे। मैं इंतजार ही कर रही थी। इस बार ये अकेले थे। इनके मुख पर आश्वस्ति और मुस्कान थी।

सारा किस्सा दूसरे दिन मालूम पड़ा। हुआ ऐसे कि एक दिन ‘रेड्स’ के दौरान सबेरे-सबेरे जैसे ही चिड़ियों ने वृक्षों पर बोलना शुरू किया और रास्ते में लैंप-पोस्टों के नीचे अखबारों के थोक-विक्रेता अपने हॉकर्स के बीच अखबारों के वितरण में लगे, वैसे ही वार्डेन रोड स्थित दिव्यांग पटेल के घर पर ठाकुर और उनके साथी पहुंच गए। पहुंचते ही एकदम, एक विचार दिमाग में प्लैश की तरह कौंधा कि सुबह-सुबह जब सूरज की पहली किरण भी ठीक से नहीं फूटी हो और प्लैट-मालिक बिस्तर से निकला भी न हो, उस समय जाकर कोई घंटी बजाए दरवाजा खोलने के लिए तो, क्या कोई दरवाजा खोल देगा? शायद, नहीं। इसलिए एक तरकीब सोची गई। चौथे माले के सब प्लैटों के बंद दरवाजों के सामने दूध की बोतलें रखी रहती हैं—ऐसा बंबई का सिस्टम है। जब मालिक उठते हैं, दरवाजा खोलकर दूध की बोतलें उठा लेते हैं। ठाकुर ने साथ आई लेडी आफिसर को संकेत दिया कि कॉलबेल बजा दे और जैसे ही अंदर से कोई पूछे कि कौन है, झट से बोल दे कि अरे बहनजी, आपकी तो सारी बोतलें ही टूट गईं!

ऐसा ही हुआ था। घंटी दबाते ही एक नारी-स्वर भीतर से गुजराती भाषा में बोला, “कोण?”

लेडी आफीसर ने तपाक से बोल दिया, “अरे बहनजी, आपकी तो सारी बोटलें टूट गईं। दूध पानी की तरह बह रहा है।”

घर की स्वामिनी यह सुनते ही कैसे रुकतीं! झट से फ्लैट का दरवाजा खुल गया। पर बोटलें तो सब की सब साबुत थीं। उसने अब जो नजर घुमाई तो स्थिति समझते देर नहीं लगी। उसकी आंखें फैली रह गईं। साथ में मुंह भी फैल गया। भारी आश्चर्य और आंशका से उसने एक हथेली से अपना मुंह ढक लिया। वेहद चौखलाकर वह धड़ाक से दरवाजा बंद करना चाहती थी। पर दरवाजे पर तो पैर अड़ा हुआ था। विवश होकर पूछा, ‘कोण हो? कोण हो? तमे दिव्यांग ना दोस्तार छो...तमे? ना ना! दिव्यांग...दिव्यांग, जल्दी ...जल्दी आवजो, जोवो तो कोण छे?’

खैर, दिव्यांग पटेल आए। साथ में निकले उनके पिताजी, जो आते ही सोफे में धंस गए। पिताजी बिल्कुल खामोश और तटस्थ बैठे थे। वह दिखने में ही तटस्थ दिख रहे थे। पर वैसे, तटस्थ नहीं थे। उनकी आंखें गोल चश्मे के फ्रेम के पीछे से अत्यधिक सचेत होकर इधर-उधर देखे जा रही थीं। स्वयं दिव्यांग पटेल बहुत नाराज थे। अपने नाइट गाउन की ‘नॉट’ वह दो बार खोलकर बंद कर चुके थे।

बहुत हील-हुज्जत करने के बाद पटेल साहब शांत होकर बैठे किंतु, उनकी पत्नी फिर भी बाधा डालती रहीं। ठाकुर ने बताया, ‘एक कमरा बंद था। उसके दरवाजे को उन्होंने खुलवाना चाहा, तो मिसेज पटेल ने बताया, देवर का कमरा है। देवर की अभी-अभी शादी हुई है, सो रहा है। इतने में अंदर से कागज जलने की सी बदबू आई। सबने दरवाजा खोलने के लिए बार-बार कहा। किंतु, दरवाजा नहीं खुला। दिव्यांग ने भी जोर-जोर से कहा, ‘शैलेश, तमें समझो...तमें समझो।’ उसके दो-तीन बार इस वाक्य को दोहराने से और ‘समझो’ शब्द को बार-बार जोर देकर कहने से समझ में आ गया कि सांकेतिक रूप से कोई सलाह दी जा रही है। क्या हो सकती थी वह सलाह?

इधर दरवाजा धक्के देने के बावजूद नहीं खुल रहा था। बंद दरवाजे के उस ओर क्या हो रहा था, आसानी से कल्पना की जा सकती थी। दयनीय हड़बड़ी के साथ जुटे होंगे पति-पत्नी दोनों कागज जलाने में। उनके उस निजी कमरे में मिट्टी का तेल तो था नहीं, अन्यथा फाइलें फटाफट जल जातीं। कागज का टुकड़ा तो जल्दी जल जाता है। शायद, मोटी फाइलें होंगी! वह फटाफट कैसे जलतीं! अचानक एग्जॉस्ट फैन चल पड़ा, धुआं बाहर निकालने के लिए। विवाह के बाद लोगों ने, भांति-भांति के लोगों ने, भांति-भांति की सलाहें उन पति-पत्नी को दी होंगी, पर किसी ने नहीं सुझाया होगा कि मोटी-मोटी फाइलों और कागजों को अचानक अगर फटाफट जलाना पड़ जाए, तो क्या करना चाहिए और क्या नहीं। उधर दरवाजे को लगातार पीटा जा रहा था। आखिर, अंदर से आवाज आई, “बस, एक मिनट भाई साहब! मनीषा कपड़े बदल रही है।”

बाथरूम से फ्लश खींचने की आवाज आई और उसके दो निमट बाद ही शयन कक्ष के बंद दरवाजे खुल गए। कमरे की तलाशी के लिए सभी इधर-उधर फैल गए। अटैच

बाथ-रूम का दरवाजा जैसे ही खोला गया, कागज जलने की कसैली गंध कमरे में भर गई। यह गंध तो तेज से तेज जुकाम-पीड़ित व्यक्ति के द्वारा भी पहचानी जा सकती थी। एग्जॉस्ट फैन हालांकि, अभी भी चल रहा था, धुआं-धुआं करता हुआ। फ्लश अभी-अभी चलाया गया है, इस बात का ऐलान करता फ्लश की खाली टंकी के अंदर का नल चालू होकर खरखरा रहा था। संडास में जली हुई फाइलों की सारी खाक तो फ्लश हो गई थी, किंतु, टीन की बनी फाइलों की दोनों क्लिपें तेज पानी के थपेड़े खाकर भी पॉट में मौजूद थीं। यह अलग बात थी कि आग ने उन क्लिपों को झुलसाकर खराब कर दिया था। लेकिन, वे मौजूद थीं आड़ी-टेढ़ी तिरछी होकर भी, और उसी प्रकार पॉट में फंस कर रह गई थीं, जैसे मछली खानेवाले अनाड़ी के गले में उसका कांटा फंस जाता है। किसी भी प्रकार के सबूत को नष्ट करना कितना संगीन जुर्म है, यह दिव्यांग पटेल और शैलेश भाई दोनों समझ रहे थे। इसीलिए, अब उनकी बोलती बंद हो गई थी। पति और देवर की चुप्पी देखकर, अब तक विजली बरसाती गृह-स्वामिनी की नजरें भी झुक गई और वह पति के पास सिमटकर रह गई।

इस दौर का यह किस्सा यहीं खत्म नहीं हुआ था। दिव्यांग पटेल ने जब अपने भाई को जोर-जोर से, दरवाजे के बाहर से कहा था, 'तमे समझो' उस समय के इस 'समझो' का अर्थ बाद में अब जाकर पता चला।

रहस्य की वह गुत्थी अब अनावृत हुई। ऊपर आने से पहले ठाकुर ने अपने एक सहयोगी को बिल्डिंग कंपाउंड के पीछे की ओर, जहां फ्लैट्स की खिड़कियां खुलती थीं, रहने के लिए कहा था। टी.पी. साहब के आदेश का आंख मूंदकर पालन करते-करते, पिछवाड़े खड़े वह बोर हो रहा था। कहां तो वह किसी 'हाई एक्शन' की आशा में वहां आया था और कहां उसे सूने, अकेले पिछवाड़े में खड़ा कर दिया गया था। चौथे माले की खिड़कियों और बालकनियों की ओर ताकते-ताकते वह थक गया था। पिछवाड़े की दीवार से टिककर खड़ा हो गया कि ईश्वर ने दया की। पहले तो उसे लगा किसी ने जोर से थप्पड़ मारा है, उसके सिर के ठीक ऊपर। अगले ही क्षण वह समझ गया कि दक्षिण में खड़े रहने की 'दक्षिणा' मिल गई है उसे। सिर पर थप्पड़ नहीं, बल्कि कागजात गिरे थे। खोपड़ी पर सीधे और भारी चोट देने के बाद कागजात और फाइलें बिखर गई चारों तरफ। आश्चर्य और प्रसन्नता के तीव्र आवेग के साथ उसने उन्हें बिखरे मोतियों की तरह उठा लिया। साथ-साथ ऊपर चौथे माले की ओर भी नजर गड़ाई। ऊपर खिड़की में सलाखें लगी हुई थीं। सलाखों के कारण सलाखों के मालिक बाहर झांककर देख नहीं सकते थे कि जो कागजात वे फेंक रहे हैं, वे ऐन कहां पर गिर रहे हैं। हां, सलाखों के बीच से पार करके कागजात को बाहर फेंकने में उन्हें कोई परेशानी नहीं हुई। काश, वे देख पाते कि कागजात कहां गिरे?

संयोग का सिर्फ एक चमत्कार! कागजात उसी तरह झोली में आ गिरे, जैसे छप्पर फाड़कर लक्ष्मी बरसी हो। वह उन्हें लेकर ऊपर आया। उन्हें देखकर पटेल फेमिली के

सभी छोटे-बड़ों के चेहरों पर मायूसी छा गई, उधर अधिकारियों के चेहरों पर गंभीर प्रसन्नता थिरक उठी। उन्होंने उन महत्त्वपूर्ण फाइलों और कागजातों को अपने कब्जे में लेकर पटेल फेमिली का धन्यवाद किया और सीढ़ियों से उतर, सारा सामान टैक्सियों में रखवाकर, चल पड़े वापस दफ्तर की ओर। रास्ते में एक जगह और, कालबा देवी से किसी के ऑफिस से जहां 'रेड' चल रही थी, कुछ खबर इकट्ठा करनी थी।

शाम का सूरज ढल रहा था। आकाश में तारे झिलमिलाने लगे थे। सड़कों पर काफी भीड़ थी। वैसे भी बंबई में कालबा देवी क्षेत्र में शाम के समय बहुत भीड़ हो जाती है। सड़कों पर कंधे से कंधा छिलता है। रास्ता निकलना मुश्किल हो जाता है। गाड़ी तो चींटी की चाल से चलती है। क्योंकि, कहीं ठेलागाड़ी तो, कहीं झल्लीवाले मजदूरों और रास्ता चलतों की भीड़ रुकावटें खड़ी कर देती हैं। खैर, निर्दिष्ट स्थान से जो खबर लेनी थी, लेकर आयकर आफिस पहुंचे और कागजों तथा फाइलों का बंडल निकालने के लिए जो डिक्की खोली, तो पाया कि डिक्की में कुछ नहीं था। वह खाली थी। सबके मुंह फक्क हो गए, जैसे एक क्षण में हवा के तेज झोंके से पत्ते पेड़ से भरभराकर झड़ गए हों। यह क्या हो गया? सामान तो सब सामने ही रखाया था, फिर कहां गायब हो गया? जरूर पटेल ने कोई चालाकी की है। अपने को बहुत चालाक समझता है। जरूर टैक्सीवाले को इशारों-इशारों में कुछ समझा दिया होगा। जब कालबा देवी में गाड़ी चींटी की चाल से चल रही थी, वहीं किसी ने डिक्की खोलकर सामान निकाल लिया होगा। अवश्य ही ड्राइवर मिला हुआ होगा। उसने डिक्की ठीक से बंद ही नहीं की होगी। अंदर गाड़ी में बैठे लोग अपनी सफलता की खुशी में, बातों में लगे थे। किसी का भी ध्यान डिक्की की तरफ जाने का सवाल ही नहीं था।

पर अब क्या किया जाए? दिव्यांग पटेल के यहां तो लंबी-चौड़ी फेहरिस्त बनाकर दे आए हैं कि क्या-क्या सामान साथ लिए जा रहे हैं, और क्या-क्या सील करे जा रहे हैं। यदि सामान नहीं मिला तो क्या होगा? सोचकर ही कंपकंपी छूट रही थी। निराश होकर बैठने से तो काम चलेगा नहीं। हाथ-पांव तो मारने ही होंगे। सोचकर दोबारा कमर कसी गई यह पता लगाने के लिए कि कागज गए कहां? आखिर, ठाकुर की मारवाड़ी-बुद्धि ने ही रास्ता निकाला, कहा, “मालिक का सबसे विश्वस्त आदमी उसका मुनीम होता है। क्यों न उसी को पकड़ा जाए और भेद निकलवाया जाए?”

मुनीमजी कालबा देवी में ही रहते थे। बस, दोबारा रात के सन्नाटे में कालबा देवी की ओर मुड़े। मुनीमजी को नीचे बुलाया और पकड़कर ले आए अपने घर—पैडर रोड। वह बुद्धा आदमी, जो उस रात लाया गया था, वही मुनीम था, जो नर्वस होकर थर-थर कांप रहा था।

तीन घंटे की जबरदस्त पूछताछ व डांट-डपट के साथ जब उसे हर तरह से आश्वस्त किया गया तो, उसने बताया कि पटेल ने टैक्सी ड्राइवर को इशारा कर दिया था। बंबई के टैक्सी ड्राइवर वैसे भी होशियार होते हैं। टैक्सी के पीछे-पीछे पटेल के आदमी लग

गए और भीड़-भाड़वाले इलाके में धीरे से खुली डिक्की को खोलकर माल निकालना मुश्किल नहीं था। माल अब कहाँ है, पूछने पर उसने बताया कि उसका एक दूर का भाई वहीं कालवा देवी में ढावा चलाता है। माल वहीं रखा गया है। किसी और जगह रखना 'रिस्की' था। इन्होंने भगवान का लाख-लाख धन्यवाद किया और बुड़े को साथ लेकर सब लोग ढावे पर गए। वहाँ से दोबारा सब बंडल उठाकर अपनी गाड़ी में रखवाए। इस बार टैक्सी नहीं ली गई। आयकर भवन में सभी कागज रखवाने के बाद जान में जान आई।

इस प्रकार हमारा बंबई का प्रारंभिक जीवन रहस्य-रोमांच और रोमांचक घटनाओं से भरा चल रहा था। ठाकुर बहुत ही व्यस्त रहते थे। मेरी दिन-प्रतिदिन की व्यस्तता में, इस प्रकार की घटनाएं जीवन को रसहीन होने से बचा लेती थीं। जिस उत्साह और लगन से ये सब कामों को अंजाम देते थे, वह उत्साह कहीं न कहीं हमारे पूरे परिवार को छू जाता था। कहीं न कहीं से हमें रोचक और सनसनीखेज बातें पता चल जाती थीं। इन बातों को जानने के लिए अवांछनीय उत्सुकता मैंने कभी नहीं दिखाई। क्योंकि, वह सरकारी स्तर की बातें थीं। उनकी गोपनीयता का इन्होंने और मैंने, सदैव ख्याल रखा। दूसरी ओर, कभी इन्हें खतरे उठाने से भी नहीं रोका। अपने मन की चिंता को मन में ही दबा लिया, अपने आचरण और व्यवहार में कभी उसे सामने नहीं आने दिया।

मैं जानती थी कि चुनौतियों का सामना करके ही व्यक्ति आगे बढ़ सकता है, अन्यथा जीवन निष्क्रिय, बेकार हो जाता है। इसलिए व्यस्त रहना भी एक वरदान है, जिसके तहत कभी ऊब नहीं होती।

किंतु, यह व्यस्तता सदैव नहीं रहती थी। कालोनी में हमारे कुछ अच्छे मित्र बन गए थे। उनमें से एक थे—कृष्णकुमार विद्यार्थी और उनकी पत्नी शिप्रा। बिहार के रहनेवाले। साहित्यिक प्रवृत्ति के। दरमियाना कद, सांवला रंग, चश्मा लगाए, देखकर कोई भी उन्हें अधिकारी तो मान सकता था, पर कवि वह किसी तरह नहीं लगते थे। यह अलग बात है कि जैसे-जैसे परिचय बढ़ता गया और परिचय मित्रता में बदलता गया, वैसे-वैसे उनके संवेदनशील हृदय और भुलक्कड़ स्वभाव की पतें खुलती गईं। कविता सुनने के वे शौकीन थे और खुद भी कविता लिखते थे। बड़े भुलक्कड़ किस्म के आदमी थे। एक बार किसी होटल में खाना खाने गए तो नैपकिन कमर में खोंसे-खोंसे बाहर निकलने लगे। बड़े संकोच से बेयरा ने पूछा, 'साहब!' और साहब कहने के साथ ही उसकी नजरें जो नैपकिन पर टंगी तो, जब तक विद्यार्थीजी ने नैपकिन निकाल कर नहीं दिया, टंगी ही रह गईं। ऐसी गलतियां उनसे अक्सर हो जाती थीं। हम लोगों ने नियम बना लिया था कि हर ऐसी जगह पर उनसे पूछ लेते थे, "यार, कोई सुनहरी भूल तो नहीं हो गई।" विद्यार्थीजी झंपकर सिर हिला देते। हां, हमारी बात का कभी बुरा नहीं मानते थे। उनके भुलक्कड़पने का एक और किस्सा :

एक बार आयकर भवन पहुंचे तो, पांचवें माले पर अपने कमरे में जाने के बजाय

चौथे माले पर ही उतर गए, लिफ्ट से। सामने जो कमरा मिला, उसमें घुस गए। चपरासी ने सलाम किया। आफीसर झो थे। जाकर आफीसर की कुर्सी पर बैठ गए, यह सोचकर कि उनका ही कमरा है। इतने में जिनका कमरा था, वह अधिकारी भी आ गए। सामने बैठ गए। उन्होंने सोचा विद्यार्थीजी ऐसे ही मिलने आ गए होंगे। पर थोड़ी देर बाद जब विद्यार्थीजी ने पूछा, “हां भाई, और बताओ कैसे आए? कुछ काम है क्या?” तब उन्हें पता लगा कि विद्यार्थीजी अपना कमरा और अपनी कुर्सी समझकर वहां विराजमान हैं।

विद्यार्थीजी की पत्नी शिप्रा बहुत ही सुंदर थीं। पतली-दुबली काया छड़ी-सी, गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आंखें। एक बार, एक महीने के लिए अपने पीहर गईं। विद्यार्थीजी अक्सर हमारे यहां आ जाते। गपशप होती, चाय-काफी के दौर चलते और कविता-पारायण होता रहता। कुछ दिन बाद उनकी पत्नी आ गईं तो हमने सोचा, अब विद्यार्थीजी दिखाई नहीं पड़ेंगे। पत्नी जो आ गई हैं। पर दूसरे दिन ऑफिस से लौटते ही विद्यार्थीजी आ पहुंचे। हमने पूछा, “क्यों भाई! क्या हुआ?” कहने लगे, “बड़ा बुरा हुआ। तुम्हारी भाभी को इस बीच कई चिट्ठियां लिखीं और हर चिट्ठी में यही लिखा कि तुम्हारी याद में रात-रात भर जागता हूं। नींद नहीं आती। बस, पुस्तकों का ही सहारा है।”

“इसमें तो आपने ऐसी कोई गलत बात नहीं लिखी,” हमने कहा।

“गलत नहीं क्या खाक! आज बिजली का बिल आ गया है। कमबख्त कुल दो रुपए पचास पैसे का है। अब वह पूछ रही है, ‘जनाव, कहां रहते थे रात-भर और जग-जगकर क्या करते रहते थे।’”

हम खूब हंसे। कवि की चतुराई पकड़ी गई।

मैं पान नहीं खाती हूं। मेरे पति भी यह बात जानते हैं। फिर भी कई बार शाम को या रात को खाने के बाद, ये मुझसे कहते, “चलो एक चक्कर गाड़ी में लगाकर आते हैं। पान खाकर लौटेंगे।”

मैं सोचती, शायद, घर में शाम को बैठे-बैठे जी ऊब जाता है इसलिए बाहर का चक्कर लगाने के लिए कह रहे हैं। पान की कोई एक जगह भी नहीं होती थी। एक महीना एक जगह तो दूसरे महीने दूसरी जगह। साथ में होते या तो विद्यार्थीजी और शिप्रा या जयप्रकाश शर्मा और उनकी पत्नी, जो वहीं कालोनी में रहते थे और आयकर अधिकारी थे। यह तो मुझे बाद में मालूम हुआ कि तलाशी या छापा डालने से पहले अधिकारी उन सभी जगहों का छिपे रूप से निरीक्षण करते हैं, जो किसी न किसी रूप में मामले से संबंधित होती हैं। निरीक्षण हमेशा गुप्त रूप से, कभी-कभी रात के अंधेरे में, जान की जोखिम उठाकर भी किया जाता है। इस कार्य को टोह लेना या ‘रेक्की’ कहते हैं। इसमें अनेक बार बाधाएं भी आती हैं। पहली बाधा है, दरबान। बिल्डिंग में पूछताछ करते देखकर वह शंकित हो उठता है। किंतु, उसकी नजरों में धूल झोंकना कोई मुश्किल काम नहीं है। दूसरी बाधा है, मुहल्ले के आवारा लड़के। वे अपने मोहल्ले के दादा होते हैं और हर छोटे-बड़े

से परिचित होते हैं। इनसे निपटने के लिए विशेष अभिनय की जरूरत पड़ती है और इसी के लिए हमारी जरूरत होती थी। पान की दुकान मोहल्ले का ऐसा केंद्र-बिंदु होता है, जहां मोहल्ले के सभी लोग आते हैं। पनवाड़ी सबकी जानकारी रखता है। गाड़ी में महिलाएं बैठी हों तो किसी को शक नहीं होता। लोग सोचते हैं कि कुटुंब-परिवार के लोग हैं और काम भी बन जाता है। बात-बात में इधर-उधर घूमकर, नजरें दौड़ाकर सारी तहकीकात हो जाती है।

यह बात जान लेने के बाद मैंने इनसे मजाक किया, “अच्छा, आजकल मुझे भी छिपाव होने लगा। किंतु, जनाब, पढ़ाई के समय भी मेरे साथ की जरूरत पड़ती थी नोट्स वगैरह बनाने के लिए और अब सरकारी काम में भी मेरी मदद तुम्हें लेनी ही पड़ी।”

ये हंसकर बात टाल देते किंतु, इन्हें आश्चर्य अवश्य होता था कि मुझे इस भेद का पता चला कैसे। कुछ कहते तो मैं जवाब देती, “क्या तुम सोचते हो कि तुम्हारी बीबी बेवकूफ है?”

कई बार शाम को जब चार दोस्त मिलकर बैठते, तब अपने-अपने अनुभव सुनाते। इन अनुभवों को सुनने में हम सबकी दिलचस्पी रहती थी क्योंकि, वे होते ही बड़े रोचक थे। अपने अनुभव सुनाते समय ये अधिकारी इतने सतर्क रहते थे कि पार्टी का नाम और पता गोपनीय रखते थे। इसलिए यह तो पता नहीं चलता था कि कहां गए थे और किस के यहां गए थे। बाकी सब दास्तान पता चल जाती, जिसे मैं कहानी-किस्से की तरह अपने दिमाग के गलियारों में बंद कर लेती।

एक दिन शर्माजी शाम को घर आए तो बहुत घबराए हुए थे। ठाकुर से कहने लगे, “यार, आज तो बड़ी मुश्किल में फंस गए। खबर देनेवाले ने सूचना दी थी कि अघोषित संपत्ति ‘ऐसेसी’ के पारिवारिक वैध के यहां छिपाकर रखी गई है। उन वैधजी का पूरा पता मालूम नहीं था। केवल इतना मालूम था कि वे माटुंगा में कहीं रहते हैं। उनके मकान का नंबर भी नहीं मालूम था। धीमी-धीमी फुहारें पड़ रही थीं। झुटपुटा होते ही कंधे पर झोला लटकाए मैं पहुंच गया। खादी का लंबा कुरता और पाजामा पहने था, इसलिए किसी को शक नहीं हुआ। कोई देखता तो यही सोचता कि सचमुच में मैं कोई बीमार हूं, जो वैधजी को ढूंढ़ रहा हूं। तीन-चार घंटे की भागदौड़ के बाद यह तो पता चल गया कि वे माटुंगा के किस हिस्से में रहते हैं, पर उनका मकान विशेष रूप से कौन-सा है, यह नहीं पता चला। खैर, भीगते-भीगते दो-चार मकानों का दरवाजा खटखटाने के बाद एक मकान का दरवाजा खुला तो सामने धोती-कुरता पहने एक सौम्य आकृति दिखाई पड़ी। उसने पूछा, ‘कहिए, क्या काम है?’

“मैंने कहा, ‘मैं बहुत दूर से आया हूं। यहां वैधजी कहां रहते हैं, आप बता सकते हैं?’

‘मैं ही वैध हूं। कहिए, क्या काम है?’

“फिर क्या हुआ?” मैंने पूछा।

“फिर मुझे काटो तो खून नहीं,” शर्माजी बोले, “मैंने तो स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि साक्षात् वैद्यजी से टकराव हो जाएगा। अब क्या बताऊँ? क्या कहूँ? पर तत्काल ही मैंने स्थिति संभाल ली।”

“कैसे?” एक साथ कई स्वरों ने पूछा।

शर्माजी बोले, “मैंने कहा, मुझे बुखार है वैद्यजी, किसी परिचित से आपका नाम सुनकर आया हूँ।”

“आइए, आइए,” कहते हुए वैद्यजी मुझे सामने कमरे में बिछे गद्दे पर बिठाकर बोले, “देखूँ नब्ज।”

“अरे, तब तो बड़ी मुश्किल हो गई होगी। तुम्हें तो बुखार था नहीं,” मिसेज शर्मा बोलीं।

“नहीं साहब,” शर्माजी बोले, “मैंने डरते-डरते हाथ बढ़ाया कि शायद, अब पोल खुल जाएगी, पर वैद्यजी के शब्दों ने मेरी सारी उलझन समाप्त कर दी। मुझे सही में बुखार हो गया था पानी में भीगने से। उस दिन उस बुखार ने मेरी जान बचा दी। वैद्यजी की दी हुई दवा, जिसमें से एक पुड़िया वहीं उनके सामने खानी पड़ी, खाकर मैं जो उतरकर नीचे आया, तो फिर मुड़कर नहीं देखा।”

“अरे, यह तो कुछ नहीं हुआ”, वांचीनाथजी, जो शर्माजी के साथ ही आए थे और चाय पीने के लिए रुक गए थे, बोले, “एक बार मुझे परेल की एक चाल में किसी का घर खोजना था। मैं अपनी विशिष्ट दक्षिण भारतीय वेश-भूषा में चाल में पहुंचा और एक व्यक्ति से पूछा, ‘कोई वरदाराजन यहां रहते हैं? उनका कमरा कौन-सा है?’ वह सज्जन बड़ा गमगीन चेहरा बनाए थे, बोले, ‘हां, हां, आइए। मैं वहीं जा रहा हूँ।’ और लटका हुआ-सा मुंह लिए वें बड़े-बड़े पग रखते चल दिए नंगे पांव। समझ में नहीं आया कि मामला क्या है!

“कमरे का दरवाजा खुला था। काफी चप्पल-जूते बाहर पड़े थे। सहसा बड़ी वोझिलता महसूस हुई। डरते-डरते अंदर झांका तो किसी का मृत शरीर जमीन पर रखा था। गीता का पाठ हो रहा था। मृत व्यक्ति कोई और नहीं, वरदाराजन ही थे, जिनकी हार्ट फेल से उसी दिन मृत्यु हो गई थी। जिन वरदाराजन को मैं ढूंढ़ रहा था, वे कोई और वरदाराजन थे। पर अब कोई चारा नहीं था। जबरदस्ती उनकी शोकसभा में करीब दो घंटे बैठना पड़ा। और, एक दिन तो और भी गजब हो गया। जब हम जा रहे थे, एक दूसरी जगह, शानदार बगीचा, रंग-बिरंगी रोशनियां वातावरण को रोमानी बना रही थीं। अंदर कमरे में कहकहे लग रहे थे। बाहर लंबी-चौड़ी देसी और विदेशी कारें। नीचे बरामदे में एक ओर पंडितजी गृहस्वामिनी को कोई कथा सुना रहे थे। दरबान से पता चल गया था कि मकान किसका है। इतने में गृहस्वामी भी बाहर आ गए। ‘पूछने लगे—कहिए कैसे आए!’ शायद, उन्हें किसी और की गलतफहमी हो गई थी।

“जी, मेरा नाम अशोकभाई है ... ने बताया है कि पंद्रह हजार रुपए का इंतजाम

रखें।' गृहस्वामी ब्रोकर थे उस व्यक्ति के, जिसके यहां छापा पड़नेवाला था—यह जानकारी थी अधिकारी के पास। और इस प्रकार बहुत से कागजात बाद में छापे में वहां मिले भी।'

कभी-कभी परिस्थितियां सम हो जाती हैं, कभी विषम। एक बार जब आयकर अधिकारी तलाशी लेने किसी के घर पहुंचे, तब वहां बड़ी चहल-पहल हो रही थी। प्रवेश-द्वार पर ही द्वारपाल ने सलाम ठोंका। सभी आश्चर्यचकित कि यह मामला क्या है? बात यह थी कि उस दिन गृहस्वामी ने कुछ लोगों को चाय पर बुलाया था। इसलिए, दरबान इन लोगों को भी आगत मेहमान समझकर आदरपूर्वक अंदर ले गया। बाद में, जब गृहस्वामी को पता चला कि ये तलाशी लेने आए आयकर अधिकारी हैं, तब तक सब अंदर पहुंच ही चुके थे। दरबान की बाद में क्या हालत हुई होगी, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

एक दिन हम लोग कालवा देवी जा रहे थे। वहां अधिकतर ज्वैलर्स की दुकानें हैं। ठाकुर ने दूर से एक आदमी को दिखाते हुए पूछा, “इन्हें जानती हो? कौन है यह?” मैंने देखा, दूर पर एक व्यक्ति पुरबिया पोशाक में—घुटनों तक मैली धोती बांधे, कंधे पर लाल अंगोछा लटकाये, बिल्कुल पुरबिया भैया बना बिल्डिंग के चौकीदार से बात कर रहा था। मैंने कहा, “किसका नौकर है? मैं तो नहीं जानती।” ठाकुर हंसने लगे, बोले, “यह अपना जे.पी. है। ‘रेक्की’ में अक्सर भेष बदलकर भी पता लगाना पड़ता है, जिससे शक न हो।”

फिर तो यह हाल हो गया कि जहां मैं किसी को लाल रुमाल और गंजी बनियान पहने पुरबिया भेष में या चना जोर गरम बेचनेवाले को देखती, मुझे लगता यह आयकर अधिकारी ही है।

तलाशियों के आधार पर छापे सफल हो जाते, तो उस दिन सबके चेहरे बड़े खिले-खिले दिखाई देते। नाकामयाबी होती, तो चेहरों का रंग ही उतर जाता। तब मैं समझाती इन्हें, “भाग्य का भी तो खेल होता है, असफलता-सफलता में से एक ही तो हासिल होगी? अगर सफलता तुम्हें मिली है, तो असफलता, निराशा, कौन सहेगा? फूल लेना है, तो कांटे भी लेने ही पड़ेंगे।”

ठाकुर कहते, “हां, यह बात तो है। जहां छापा पड़ता है, वहां कुछ न कुछ तो मिलता ही है। कई बार तो रास्ता खुद चलकर आ जाता है। तब थोड़ी-सी बुद्धि लगाने से बिगड़ता काम भी बन जाता है। यही भाग्य का खेल है।”

“वह कैसे?” मैंने पूछा।

“वह ऐसे कि जब तलाशी जारी होती है, तब नई जगहों का पता चल जाता है। उस समय उन नई जगहों की टोह लेना बहुत कठिन होता है, क्योंकि तब तक लोग काफी सतर्क हो चुके होते हैं। ऐसे ही एक बार एक जगह तलाशी लेने गए थे। तलाशी रात के तीन बजे तक चलती रही, पर कुछ नहीं मिला। जिनके घर तलाशी हो रही थी, वे बड़े प्रसन्न थे। जब अधिकारियों की टीम वापस जाने लगी, तब उन्होंने अधिकारियों से

पूछा कि वे रात के तीन बजे वापस कैसे जाएंगे? उतनी रात टैक्सी मिलना सहज नहीं था। अपनी उदारता दर्शाते हुए उन्होंने कहा कि उनका ड्राइवर उन लोगों को घर तक छोड़ आएगा।”

मैं बोली, “पर आप लोग तो तलाशी भुगत रहे व्यक्ति के यहां की किसी चीज का उपयोग नहीं कर सकते हैं। यहां तक कि चाय-नाश्ता भी नहीं लेते, और लेना भी नहीं चाहिए। क्या पता कुछ उलटा-सीधा खिला दे!”

ठाकुर बोले, “अमूमन तो ऐसा ही होता है। हम लोग कोई सहायता नहीं लेते, पर उस दिन हमने सोचा, शायद, भगवान ही यह अवसर दे रहा था, जब हम अपनी असफलता को सफलता में बदल सकते हैं। हमने उनकी ड्राइवरवाली गाड़ी ले ली।”

“फिर क्या हुआ? क्या गाड़ी में माल रखा था?” मैंने पूछा।

“गाड़ी में माल होता तो क्या वह गाड़ी हमें देता?” इन्होंने कहा

“क्यों नहीं? उस समय तो गाड़ी सबसे सुरक्षित जगह थी। तुम लोगों को क्या पता कि माल गाड़ी में है। डिकी तो बंद थी। तुम लोग उसे खुलवाते ही क्यों? ऐसा ही हुआ होगा।”

“नहीं, कुछ दूर जाने पर ड्राइवर से मित्रता हो गई। ड्राइवर भी बात करने के मूड में था। हम लोगों ने आपस में सलाह की और ड्राइवर को सुनाते हुए कहा, ‘आज का दिन तो बड़ा खराब रहा। कुछ भी नहीं मिला।’

ड्राइवर बोला, “जब से आप लोग शहर मां धांधली मचाए हैं, तीन बक्सा तो हमरा सेठजी हिंया से हटाय दिहिन हैं।”

“सब लोगों के कान खड़े हुए। एक दूसरे की ओर देखा। आंखों-आंखों में बात हुई। स्पष्ट था कि ड्राइवर बहुत कुछ जानता था और बताने के मूड में भी था। रास्ते में एक चाय के स्टाल पर गाड़ी रुकवाई। ड्राइवर साहब की खातिर-तबज्जह की गई। काफी ऊंच-नीच समझाया गया। तब वह बोला, ‘साहब, घर तो हम दिखा सकित हन, जहां बक्सा ले गए हैं। मुला ऊ मकान का नाम हमका मालूम नहीं है।’

“अधिकारी समझ गए कि ड्राइवर कच्ची गोली नहीं खेला है। अब जब बात उसके मुंह से निकल ही गई है, तब कुछ न कुछ तो बताना ही पड़ेगा। वह इस बात पर राजी हुआ कि दूसरे दिन सुबह साढ़े सात बजे जब वह मालिक के बच्चों को छोड़ने हिल ग्रेज स्कूल जाएगा, उस समय यदि गाड़ी में और कोई नहीं होगा, तो वह मकान दिखा देगा।

“सब लोगों ने रात किसी तरह काटी और सुबह से ही हिल ग्रेज स्कूल के चक्कर लगाने शुरू कर दिए। ड्राइवर ठीक समय पर आया। गाड़ी में और कोई नहीं था। उसने इशारा किया गाड़ी के पीछे आने का। बालकेश्वर रोड पर एक बड़ी मल्टीस्टोरी बिल्डिंग के सामने उसने इशारा किया कि माल वहीं रखा गया है।”

“तब तो वह बहुत होशियार ड्राइवर था। मालिक के साथ ज्यादा गद्दारी भी नहीं की और तुम लोगों को भी खास कुछ नहीं बताया। इतनी ऊंची बिल्डिंग, इतने तल्ले,

किस तल्ले पर आसामी का रिश्तेदार रहता है या उसका कोई आदमी रहता है, नहीं मालूम। उसका नाम भी नहीं मालूम। बिल्डिंग दिखाकर तुम लोगों को खुश जरूर कर गया,” मैंने कहा।

“नहीं जनाब, हम भी कुछ कम नहीं थे। सोचा कि लिफ्ट में चला जाए और जब लिफ्टमैन अकेला मिले, तब उससे पूछा जाए कि फलां सेठ ने यहां फ्लैट में मिलने को कहा था, नंबर हम भूल गए हैं। किस तल्ले पर उनका फ्लैट है? क्योंकि, जब यह निश्चित था कि माल इसी बिल्डिंग में आया है, तो जाहिर है लिफ्ट से ही बक्से चढ़ाये गए होंगे, कोई सिर पर उठाकर तो ले नहीं गया होगा। इसलिए लिफ्टमैन की जानकारी में बक्सों की बात अवश्य होगी। लग जाए तो तीर, नहीं तो तुक्का। ऐसा ही किया और लिफ्टमैन बोल पड़ा, “हां, हां, बड़ा सेठ यहां चौदहवें माले पर आता है, फ्लैट का नंबर भी उसने बता दिया। चारों-पांचों बक्से वहां रखे मिल गए।”

उन दिनों अखबार भरे होते थे, ऐसी घटनाओं से कि अघोषित संपत्ति कहां-कहां और कैसे छिपाई जाती है। हर व्यक्ति के अपने तरीके और अपने ढंग थे। कहीं तो अधिकारियों को साड़ियों के ‘फोल्ड’ के बीच हजार-हजार के नोट छिपे मिले, कहीं सोफे के लकड़ी के हथ्यों के बीच खोखली जगहों में। अहमदाबाद के एक व्यापारी के रसोई घर की ऊपरवाली शेल्फों पर करीने से लगे चमचमाते डिब्बों को देखकर कोई सोच भी नहीं सकता था कि उनमें भी रुपए छिपे मिल सकते हैं। रजाई-गद्दों, कपड़ों के बीच सिले नोट मिलना तो आम बात हो गई थी। कंस्ट्रक्शन कंपनी के एकाउंट, धोबी के धुले कपड़ों के बीच, कार की डिकी में टायर हटाकर उसके नीचे, पेंटिंग के फ्रेम के बीच, टी.वी. और साड़ियों की कैबिनेट के अंदर खर-खर करते नोट चंचल लक्ष्मी को अधिकारियों तक पहुंचा देते।

ऐसा नहीं था कि रात-दिन छापे ही छापे पड़ते रहते हों और हम लोगों को बंबई के बाहर छुट्टियां मनाने का अवसर न मिलता हो। अक्सर रविवार के दिन पिकनिक मनाने के लिए पर्वई लेक या आसपास की ऐसी जगहों पर जहां मनोरम दृश्य होते, हम लोग निकल जाते। हमारे ग्रुप में विद्यार्थीजी, यात्रिकजी और हम दोनों ही अक्सर रहते थे। पिकनिक पर जाने की तैयारी सुबह से ही शुरू हो जाती। कोई कुछ बनाकर लाता, कोई कुछ, और हम प्रेम से बैठकर गपशप करते खाते-पीते। बच्चे भी खुश रहते। कभी जुहू चले जाते। सागर की उमड़ती लहरों के बीच नहाते बच्चे गेंद खेलते। अम्माजी किनारे बैठी सबको हंसते-खिलखिलाते देख प्रसन्न होतीं। समुद्र में नहाने का मजा निराला है, तो नहाने की टेकनीक भी निराली है। जिसे यह ढंग नहीं आता, वह नहा नहीं सकता। तरीका यह कि लहर जब पास आए तब थोड़ा उछल जाओ, लहर नीचे से निकल जाएगी। अधिक ऊंची लहर हो तो सिर झुकाकर खड़े हो जाओ। दोनों प्रकार से सतर्कता जरूरी है। नहीं तो लहर अपने साथ ही बहाकर ले जाएगी।

बंबई-जैसी वैभवशाली नगरी में, जहां एक ओर गगनचुंबी इमारतें देखीं, वहीं दूसरी ओर झुग्गी-झोंपड़ियों की जमीन पर रेंगती हुई कतारें भी देखीं। जहां एक ओर वैभव की इंतहा देखी, वहीं दूसरी ओर गरीबी की सीमा-रेखा से भी नीचे के इंसान देखे। नंबर दो की कमाई का तमाशा भी देखा और ईमानदारी की हद भी।

उस दिन हम लोग चौपाटी घूमने निकले थे। भीड़-भाड़ के बीच एक बुढ़ा दिखाई दिया। वह इतना जर्जर था कि उससे चला भी नहीं जा रहा था। एक हाथ में टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी, जिससे टिक-टिकाकर वह भीड़ में किसी तरह रास्ता बना रहा था। राह चलते लोग उससे कतराकर निकल रहे थे। कुछ ठिठकते भी थे, पर हाथों में 'चना जोर गरम' की पुड़िया पकड़े देखकर तेजी से आगे बढ़ जाते थे। शायद, उस दिन गणपति उत्सव था। उत्सव के दिन कौन खरीदे चना जोर गरम। यह दिन तो गुब्बारे, मिठाइयां खरीदने का था, समृद्धि के देवता गणेश या गणपति को प्रसन्न करने का था। गणेश के स्वागत की तैयारियों में सब लगे थे। उस बुढ़े जर्जर व्यक्ति के मन की छिपी भावनाओं के बारे में कौन सोचता! जैसे ही कोई गाड़ी आकर रुकती, बुढ़ा बड़ी आतुरता से उसकी ओर लपकता, मगर फिर सहमकर रुक जाता।

तभी हमने बुढ़े की दशा पर तरस खाकर चना जोर गरम की तीन पुड़ियां खरीद लीं और उसे पांच रुपए का नोट थमा दिया। बुढ़े ने पुड़ियां हमें पकड़ाई और बोला, "बाबूजी, फुटकर पैसे तो मेरे पास हैं नहीं। तीन रुपए की तीन पुड़ियां हुईं।" हमने कहा, "कोई बात नहीं बाबा! आज त्यौहार का दिन है। घर आई लक्ष्मी का अपमान नहीं करना चाहिए। बाकी पैसे तुम रख लो।"

बुढ़े ने जवाब दिया, "बाबू, आज दो रुपए के लिए ईमान बिगाड़ूंगा तो कल दो सौ के लिए भी बिगाड़ सकूंगा। मुझे ऐसी लक्ष्मी नहीं चाहिए। मुझे तो ईमानदारी से कमाई हुई, मेहनत की लक्ष्मी ही चाहिए।" कहकर वह फिर 'चना जोर गरम' की आवाज लगाते हुए, हमें दो पुड़िया और पकड़ाकर आगे बढ़ गया। हम उसे जाते देखते रह गए।

उसी दिन शाम को एक नजारा और देखा। मेरीन ड्राइव से आगे नरीमन पाइंट पर पहले जैसी ही भीड़-भाड़ और वैसी ही गाड़ियों की आवा-जाही। अंतर केवल यही था कि यहां 'चना जोर गरम' की आवाज लगानेवाले बुढ़े की जगह पेंट-कमीज पहने एक हष्ट-पुष्ट नौजवान गाड़ियों की पार्किंग करवा रहा था। कोई भी गाड़ी आती, वह उत्सुकता से उछलकर गाड़ी की ओर लपकता। एक लंबा-सा फर्शी सलाम ठोकता और उसके बाद नदारद। गाड़ी की देखभाल का तो बस, बहाना था। दोस्तों के साथ बैठकर बातों के लटके छेड़ते रहना और गाड़ी स्टार्ट होने पर उछलकर बख्शीश लेने पहुंच जाना—यही उसका धंधा था।

शाम को नरीमन पाइंट पर बहुत लोग घूमने आते हैं। घूम-फिरकर वहीं पड़ी बेंचों पर बैठ जाते हैं, समुद्र की लहरें और लोगों की भीड़ देखते रहते हैं। हम भी वहीं एक बेंच पर बैठ गए और तमाशा देखने लगे।

कुछ देर बाद एक नव-दंपति गाड़ी से उतरे और सामने पान की दुकान पर पान खाने चले गए। शायद, पति अपनी नव-विवाहिता पत्नी को बाजार घुमाने और गणपति बाबा की रौनक दिखाने लाया था। आधे-एक घंटे के बाद घूम-फिरकर वे लौटे और गाड़ी का दरवाजा खोलने लगे। तभी बख्शीश वसूलने के लिए वह लड़का हाजिर हो गया। पति ने अपनी नई बीबी पर रौब गांठने के लिए उससे कहा, “तुमने गाड़ी देखी थी? काहे के पैसे, काहे की बख्शीश?”

लड़के ने उदंडता से जवाब दिया, “हम तो बस ऐसे ही देखते हैं!” और यह कहकर झट से हथेली सामने कर दी।

पति-पत्नी उसके व्यवहार से चकित रह गए। फिर यह सोचकर कि कौन ऐसे आदमी के मुंह लगे, उन्होंने खन्न से चमकती अठन्नी उसकी फैली हथेली पर रख दी। सोचा होगा, चलो छुट्टी हुई। पर उसने तो अठन्नी वापस लौटाते हुए तेजी और दर्प भरे स्वर में कहा, “अठन्नी नहीं, गणपति के दिन अठन्नी नहीं जी, मैं तो आज रुपए से कम नहीं लूंगा। देना हो तो दो नहीं तो...।”

एक पल को नव-दंपति रुके। पति कुछ बोलने को हुए कि पत्नी ने रोक दिया और धीरे से कुछ कहा। पति ने जेब से रुपया निकालकर उसकी हथेली पर रख दिया और गाड़ी स्टार्ट कर दी।

मैं आज तक नहीं समझ पाई कि यह लक्ष्मी का आदर था या अनादर। लक्ष्मी का असली हकदार कौन था? वह मेहनत करनेवाला ईमानदार बुद्धा या बिना कुछ किए-धरे बख्शीश मांगनेवाला वह हष्ट-पुष्ट नौजवान।

बंबई में गणपति उत्सव कई दिन चलता है। अक्सर इन दिनों भीड़ के डर से हम शाम को घर में रहते, बच्चों के साथ समय गुजारते। पर उस दिन ठाकुर ने बाहर जाने का कार्यक्रम बना लिया।

भीड़-भड़क्के से आक्रांत बंबई की सड़कों को हमारी कार इतनी सहजता से पार कर रही थी, जैसे मक्खन के आरपार गर्म छुरी चल रही हो। बेस्ट की डबल डेकर लाल बसें डगमग डोलकर पीछे रह जातीं। धड़धड़ कर झपटती फास्ट लोकल ट्रेनें भी पांच-सात मिनट की स्पर्धा में टिक पातीं। प्राइवेट कारों और टैक्सियों आदि की तो, जैसे कोई बिसात ही नहीं थी। ठाकुर ने अपनी कार तीर की तरह छोड़ रखी थी। बंबई की सुप्रसिद्ध जहांगीर आर्ट गैलरी के सामने उन्होंने जैसे ही कार पार्क की, मैं सावधान हो गई। मॉडर्न आर्ट की पेंटिंग्स खरीदने का अजब चस्का है ठाकुर को। इन्हें बुरा लगेगा सोचकर मैं कभी कुछ कहती तो नहीं थी, किंतु ये आधुनिक कला-कृतियां सिवाय रंगों की ऊलजलूल लीपा-पोती के, उन दिनों और कुछ मुझे नहीं लगती थीं। कला और आधुनिकता के नाम पर ऐसी लीपा-पोती के लिए मोटी रकमें अक्सर खर्च करना... नहीं। हमारी आर्थिक स्थिति अभी इतनी सुदृढ़ नहीं थी। लॉक करने से पहले कार के शीशे चढ़ा ठाकुर से मैंने कहा,

“देखो, मैं तुम्हारे साथ आर्ट गैलरी के अंदर चलूंगी जरूर, मगर एक शर्त पर...।”

“कैसी शर्त?” इन्होंने पूछा। हालांकि, इन्हें पूर्वाभास था कि मैं क्या कहने जा रही हूँ।

“यही कि अब तुम कोई नई पेंटिंग नहीं खरीदोगे, बहुत पेंटिंगें हो गई हैं घर में।”

“लेकिन, ऑफिस के लिए भी तो कुछ हों।”

“घर से कुछ ले जाओ। बहुत पड़ी हैं।”

“नहीं,” कहकर तेज कदमों से ठाकुर आगे बढ़ गए।

बेमन से, कला-प्रेमी दर्शकों के बिखरे-बिखरे गुच्छों के बीच से गुजरकर हमने गैलरी में प्रवेश किया। सभी दीवारों पर छोटी-बड़ी कलाकृतियां सजी थीं। एक-एक पेंटिंग के सामने ये रुककर निहारते और निहारते ही रह जाते। जो मेरी नजरों में रंगों की लीपा-पोती थी, वही इनकी नजरों में था—रंगों का उन्मुक्त उत्सव।

एक पेंटिंग के सामने ये ज्यादा ही रुक गए। मैं समझ गई, अब आगे क्या होनेवाला है। मैंने इनकी बुदबुदाहट सुन ली थी, “कितनी अच्छी है। इसे खरीद लेते हैं। सिर्फ एक, सुशी, प्लीज!”

“एक खरीदो,, चाहे दस। ऑफिस के लिए खरीद रहे हो, तो बिल का भुगतान भी ऑफिस से करवाओ,” मैंने कहा।

“भुगतान ऑफिस से नहीं होगा, तुम अच्छी तरह जानती हो। यह मैं अपने शौक के लिए, अपने कमरे के लिए, खरीद रहा हूँ।”

“ओ.के. दैन। फटाफट देखो सारी पेंटिंग्स और चलो बाहर।”

“बिना खरीदे?”

“हां।”

“क्यों?”

“कब से फ्रिज खरीदने के लिए कह रही हूँ। वह तो तुमने आज तक लिया नहीं।” मैंने शिकायत के अंदाज में कहा।

“भई, फ्रिज के लिए तो मैंने को-आपरेटिव को लोन के लिए एप्लाइ कर रखा है। फ्रिज तो सात सौ रुपए में नहीं आएगा।”

“तो सात सौ रुपए हैं तुम्हारे पास? कहां से आए?”

“तुमसे छिपाकर जोड़ रखे हैं।”

“अच्छा, तो तुम भी काला धन रखने लगे, ब्लैक मनी!”

“यस मैडम!”

“अच्छे आयकर अधिकारी हो। खुद ब्लैक मनी लिए बैठे हो।”

“कर दूँ खर्च ब्लैक मनी! अभी पेंटिंग लेकर आता हूँ।”

“रोकनेवाली मैं कौन? हर इंसान अपनी ब्लैक मनी अपनी कमजोरियों पर ही तो खर्च करता है, तुम भी करो।”

“यह तुमने खूब कही! कला, कलाकार और कलाकृतियां, ये ही तो हैं मेरी कमजोरियां।”

“कहां से आ गए तुम आयकर विभाग में?”

“जाने क्या दाम है इस पेंटिंग का? क्यों? मिल जाएगी सात सौ में?”

“मुझसे क्या पूछते हो, पूछो कलाकार से।”

“ओहो, इतनी नाराज क्यों हो रही हो?”

हममें यह नोक-झोंक चल ही रही थी, न तो मुझे आभास हो पाया और न इन्हें कि हमारी बुदबुदाहटें सुनकर एक आदमी रुक गया है और न केवल रुक गया है, बल्कि कान लगाकर हमारी बातचीत सुने जा रहा है। हमने अचानक सिर घुमाया तो देखा, पीछे खड़ा व्यक्ति गोपालजी वर्मा है, खारवाला हमारा पड़ोसी। साथ में थी एक युवती। गोरा रंग, सुघड़ नासिका। बड़ी-बड़ी आंखें।

युवती निःसंदेह उसकी पत्नी नहीं थी। दूसरे ही क्षण गोपालजी ने परिचय कराया, “यह है मेरी मित्र कुमारी रीता फारिया।” हमने हाथ जोड़ दिए। हम आगे बढ़ते कि गोपालजी ने रोक लिया, “अच्छा, तो आपकी कमजोरी हैं पेंटिंग्स—कलाकृतियां।”

“नहीं। ऐसे ही देखने चले आए।”

गोपालजी दार्शनिक अंदाज में बोले, “होती है...हर इंसान में होती है कोई न कोई कमजोरी। अब देखिए न, मेरी कमजोरी है...।”

“न, न,” मैंने मजाक किया, “भाई साहब, अपनी कमजोरियां छिपाकर ही रखिए।”

“क्यों?”

“कमजोरियों को छिपाकर ही रखना चाहिए।”

“यह बात सही है भाभीजी, फिर भी इंसान में कमजोरियां न हों तो जिए कैसे? कमजोरियां ही तो जिंदगी को जीने लायक बनाती हैं।”

कटाक्ष करते हुए ठाकुर भी मजाकिया मूड में आ गए। बोले, “हां, लेकिन कमजोरियों को छिपाकर रखने का भी अपना एक आनंद होता है।”

“आप लेते हैं यह आनंद?” गोपालजी ने सीधा सवाल किया।

और उस सीधे सवाल के तमाम टेढ़े अर्थ, क्षण मात्र में हमारे मस्तिष्क में कौंध गए। उसका बात करने का ढंग और उस युवती का साथ—ऐसा कुछ था जो मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने इनसे कहा, “मैं चलती हूं, गाड़ी में बैठती हूं। आप पेंटिंग लेकर आइए।” मैंने मुड़कर देखा, गोपालजी उनका पीछा नहीं छोड़ रहे थे।

ठाकुर गाड़ी में लौटे तो बड़े आक्रोश में थे। धड़ से दरवाजा खोला और गाड़ी स्टार्ट कर दी। क्रोध की चरम सीमा पर इनकी खामोश रह जाने की आदत थी, और इस समय ये खामोश थे।

संसार की सभी पत्नियां एक जन्मजात दायित्व निभाती हैं—पति के आक्रोश को शांत करने का दायित्व। पति कहीं से भी झगड़कर आया हो, यदि वह आक्रोश में है,

तो उसे शांत पत्नी ही करेगी। कहीं पढ़ा था कि कुंवारे ज्यादा जिया नहीं करते हैं। कारण समझ में आता है। कुंआरों का आक्रोश कौन शांत करे? पत्नी तो होती नहीं बेचारों की। उस समय मैं अपने इस जन्मजात दायित्व को निभा रही थी। पति का आक्रोश उबला पड़ रहा था “अब मैं इस गोपालजी के बच्चे को नहीं छोड़ूंगा।”

“आखिर हुआ क्या?” मैंने पूछा।

“अरे, मैं तो उसे छेड़ रहा था। मैंने जब कहा कि कमजोरियों को छिपाए-छिपाए फिरने का, गूंगे के गुड़ जैसा आनंद होता है—वह अपनी किस्मत में कहां? हमसे तो अपनी एक कमजोरी भी नहीं छिपती, तो कहता है कि आपमें कोई कमजोरी है ही नहीं, छिपाएंगे क्या? मैंने फिर कहा, ‘दुनिया में कोई ऐसा इंसान है, जिसमें कमजोरी न हों?’ कहने लगा, ‘आप जो हैं, मेरे सामने। कहां-कहां नहीं पूछा आपकी कमजोरियों के बारे में। कोई कुछ बताता ही नहीं!’ साला...मेरी कमजोरियां पकड़ने के लिए उसने बाकायदा मेरे पीछे जासूसी की, और कहता है, ‘राम-राम! मैं आपके पीछे जासूसी करूंगा? आप-जैसे अधिकारी के पीछे? मेरी तो हार्दिक इच्छा है आपके नजदीक आने की। आपकी कुछ सेवा करने की।’ जानती हो उसने क्या-क्या और कहा। कहता था, ‘मुझे पता है, आप सुंदरता के पुजारी हैं, कलाकृतियों के पारखी हैं। यह मेरी मित्र (साथवाली लड़की से मतलब था उसका), आप चाहें तो, आपकी भी मित्र हो सकती है। आपके ‘हां’ कहने की देर है। किसी को कानों-कान खबर न होगी...’ स्साला...” कहते-कहते ठाकुर को फिर क्रोध आ गया। दांत पीसते हुए बोले, “हिम्मत देखो? कितनी सफाई से क्या चीज पेश की है।”

घर के बाहर ये जितने चुप रह जाते हैं, घर के अंदर उतने ही बिफरते हैं। घर से बाहर शांति से, जबरदस्त फैसले करते हैं और ऐक्शन की बागडोर संभालते हैं। घर के अंदर केवल शाब्दिक स्तर पर बिफरते हैं। नाजुक से नाजुक स्थितियों में भी, घर से बाहर, वे जितना शांत रहते हैं, उसे देखने के बाद घर के अंदर के नितांत भिन्न ठाकुर को, क्या कोई पहचान भी पाएगा? वह रूप तो कभी-कभी मुझे ही देखने को मिलता है। पर वे आज सचमुच ही बहुत क्रोधित थे।

“रिलैक्स...रिलैक्स,” मैंने कहा।

किंतु, वे बोले ही जा रहे थे, “पहली बार तो यों बच गया था वह कि मैंने सोचा, बेचारा नया-नया पड़ोस में रहने आया है, पहचानता नहीं है मुझे। भूल कर गया है। नादान को माफ कर दिया जाए। लेकिन, वही भूल दोबारा! और इस बार इतनी भयंकर भूल, ज्यादा ढिठाई, ज्यादा बेशर्मी के साथ। देखती जाओ तुम, अब मैं इस आदमी को छोड़ूंगा नहीं।”

मैंने कहा, “अब शांत भी हो जाओ। तुमने उसका प्रस्ताव स्वीकार तो नहीं किया न? फिर इतने उबल क्यों रहे हो?”

और फिर इनका धाराप्रवाह शुरू हो गया, “उबल इसलिए रहा हूं कि शर्मिदा हूं...और शर्मिदा इसलिए हूं कि उस मौके पर भी मैं अपनी सभ्यता और शालीनता की

रक्षा कर रहा था। बढ़ते क्रोध के साथ मेरी खामोशी बढ़ती गई थी। बजाय इसके कि मैं उसे गालियां देता, कॉलर पकड़कर उसे झिंझोड़ता, मैं तो मंद-मंद मुस्कराने लगा था। निहायत सभ्यता के साथ, पूरी शालीनता के साथ मैंने कहा था, 'नहीं गोपालजी। ऐसी बातों में मेरी दिलचस्पी नहीं है। धन्यवाद।' यानी ऊपर से धन्यवाद भी दिया। अरे, मैं एकदम विकराल क्यों नहीं हो गया? भयानक चीत्कार करके मैं उस पर टूट क्यों नहीं पड़ा? उसके भद्दे, भौंडे प्रस्ताव पर, मेरा पहले तो चुप हो जाना और फिर मुस्कराकर मना करना, क्या यह मेरी कायरता नहीं है?"

"ठाकुर, छोड़ो भी। तुम्हें तो कवि होना चाहिए था, बन गए तुम आयकर अधिकारी," कहकर मैंने जिस प्रेम-भरी नजर से इन्हें देखा, उससे ये एकदम धराशायी हो गए।

"सुनो," इन्होंने बड़े ही नम्र स्वर में कहा, "मेरी एक बात मानोगी?"

"बोलो।"

"घर चलकर नाश्ते में आलू की टिक्की बनाना।" इन्होंने नहले पर दहला मारा। इस बार चारों खाने चित होने की बारी मेरी थी। कुछ पल पहले कितना उबल रहे थे। आक्रोश के गरम तवे पर बैठे, कैसे पलटा खा रहे थे और अभी, इसी पल यकायक इस व्यक्ति को आलू की टिक्कियां याद आ गईं।

जिस आक्रोश ने सिर से पैर तक आक्रांत कर रखा हो, उसी आक्रोश को क्या इतनी आसानी से उतार फेंका जा सकता है? क्या आक्रोश केवल एक शाल है या क्रिकेट खिलाड़ी के सिर की कैप, जिसे चाहे जब पहन लो, चाहे जब उतार दो? ये कितनी सहजता से खेल सकते हैं अपने आक्रोश से। जब चाहें आक्रोश उबल पड़े और ज्यों ही इशारा करें, आक्रोश भीगी बिल्ली बन जाए। मांग-मांगकर भी, इस आदमी ने क्या मांगा? सिर्फ, आलू की टिक्की। यह तो कमाल का आदमी है। पता ही नहीं चला मुझे, कब मेरे हाथ ने स्टियरिंग के हत्ये पर रखे ठाकुर के हाथ को धीरे से दबा लिया और कब मैंने उनके पास सरककर चेहरे पर हाथ फेरते हुए कहा, 'ओह ठाकुर, तुम तो एकदम बच्चे हो अभी भी।'

क्यों बढ़ा रहा था गोपालजी इनके साथ दोस्ती? इसके दो ही कारण हो सकते थे। पहला तो यह कि उसका व्यापार बहुत लंबा-चौड़ा था और दोस्ती के माध्यम से वह अपने को सुरक्षित करना चाहता था। दूसरा यह कि वह एक 'पावर ब्रोकर' था। देश की परिवर्तित परिस्थितियों में राजनीति और प्रशासन की शक्ति उन भवनों, इमारतों के गलियारों और दलालों में केंद्रित है, जहां प्रशासन और राजनीति के वरिष्ठ लोग बैठते हैं। इस शक्ति की उपासना, सीधी करने में एक खतरा होता है कि कहीं आग की लपटों से झुलस न जाएं। इसलिए, एक नए वर्ग का जन्म हुआ है, जिन्हें 'पावर ब्रोकर' कहते हैं। इनके अपने भाव, अपने तरीके और अपने ढंग होते हैं। इनके देवता भी अपने-अपने अलग होते हैं, जो वरदान दे सकते हैं।

हो सकता है, गोपालजी उस श्रेणी में आता हो, जो केवल एक मुखौटा पहने रहते हैं। यह मुखौटा होता है कि फलां आफीसर से उनकी बहुत दोस्ती है, वे उससे कोई भी काम करवा सकते हैं। ऐसे लोग झूठे फोन घुमाकर या गाहे-बगाहे उनके साथ दिखाई पड़कर लोगों पर इस प्रभाव की पुष्टि करना चाहते हैं। अफसर बेचारे को खबर भी नहीं होती, और ये लोग पार्टी पर अपनी पकड़ का दावा सिद्ध करने की कोशिश में सदैव तत्पर रहते हैं। ये बहुत ढीठ होते हैं।

गोपालजीवाली घटना के बाद हम बहुत सतर्क हो गए थे। हमने एक 'स्टडी' की। हमने देखा कि मुलाकात बढ़ानेवालों में तीन तरह के लोग होते हैं। पहले तो वे, जिन्हें सही में कायदे-कानून की जानकारी नहीं होती, पैसे-रुपए के मामले में जो भले होते हैं, जैसे साहित्यकार, कलाकार, कवि और पत्रकार। अफसर से मेल के कारण इनकी परेशानियां कुछ हद तक दूर हो जाती हैं क्योंकि, वह भी इनकी समस्या समझकर संवेदनशील निर्णय लेता है। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जिनकी हॉबी ही होती है बड़े लोगों से दोस्ती बढ़ाने की, जिससे दूसरों पर रुआब पड़ता है। ऐसे लोग केवल दोस्ती रखते हैं, उसका नाजायज फायदा नहीं उठाते। सबसे खतरनाक वे होते हैं जो मित्रता बढ़ाकर अपना काम निकालना चाहते हैं। इसके लिए वे सब हथकंडे अपना सकते हैं। समझदार अधिकारी इनसे दूर रहना ही पसंद करते हैं। गोपालजी को हमने इस तीसरी श्रेणी में रखा और तय किया कि भविष्य में उसकी सभी कोशिशों को हम नाकाम करके रहेंगे, चाहे इसके लिए हमें अपनी शालीनता ही क्यों न छोड़नी पड़े। इस निश्चय के बाद हम आश्वस्त हो गए।

घर आकर मैंने गैस चालू की। तवा गर्म किया। आज ठाकुर को केवल आलू की ही नहीं, पनीर की टिक्कियां भी खिलाऊंगी। एक ओर आलू उबलने को चढ़ाए, दूसरी ओर हरी पुदीने की चटनी मिक्सी में डाली और स्विच ऑन कर दिया। मिक्सी की धड़-धड़ सारे फ्लैट में गूंजने लगी।

लेकिन गोपालजीवाली घटना ने जिंदगी में एक कसैला स्वाद भर दिया था। उस सारे प्रकरण को हम भूलना चाह रहे थे। ठाकुर को तो बार-बार यही बात कचोटती थी कि उसने ऐसी बात क्यों की? क्या मैं ऐसा दिखता हूँ? इस घटना को भुलाने के लिए हमने शहर से बाहर छुड़ी मनाने का प्रोग्राम बनाया। अजंता और एलोरा के बारे में बहुत कुछ सुना था। बस, कार में सामान डाला और हम चल पड़े। पहली बार था कि बच्चों को छोड़कर मैं बाहर जा रही थी। बेटी छह महीने की थी। वैसे, मेरा जाने का विल्कुल मन नहीं था, किंतु अम्माजी ने कहा, "मैं हूँ तो, चिंता क्यों करती हो?" मेरी पड़ोसिन, एक ऑफिसर की पत्नी मिसेज ईरानी थीं। वे पारसी थीं। उन्होंने भी कहा, "मैं देख लूंगी।" किसी तरह मन को कड़ा करके मैं अजंता-एलोरा देखने चल पड़ी। हालांकि, मैं उन बहुओं में नहीं थी, जो वैसे तो चाहती हैं कि उनकी सासू-मां उनके बच्चों की देखभाल करें, उन्हें प्यार दें, किंतु, यदि बच्चों ने कोई शैतानी की, दादी को तंग किया और दादी का हाथ उन पर उठ गया, तो बहूजी का पारा गरम हो जाता है कि कोई उनके बच्चे को कैसे

मार सकता है! ऐसी बहुत यह भूल जाती हैं कि जो प्यार करता है, उसे सजा देने का भी उतना ही हक है, जितना उन्हें स्वयं को। मुझे अपने से ज्यादा उन पर विश्वास था कि वे बच्चों को अच्छी तरह रखेंगी। फिर भी प्लैट की सीढ़ी उतरते-उतरते आंखों में आंसू भर आए।

वंबई से अजंता की दूरी करीब 489 किलोमीटर थी। पहले हमें 388 किलोमीटर की दूरी नापकर औरंगाबाद पहुंचना था और वहां से 88 किलोमीटर आगे अजंता।

गाड़ी में जाते-जाते बी.ए. में पढ़ी इतिहास की किताबों की इवारत दिमाग में करवट लेने लगी। मुसलमान शासकों में अलाउद्दीन खिलजी ने सबसे पहले दक्षिण की ओर रुख किया था और देवगिरि पर कब्जा किया था। बाद में मुहम्मद बिन तुगलक अपनी राजधानी दिल्ली से हटाकर देवगिरि ले गया और उसने शहर का नाम बदलकर दौलताबाद कर दिया। मोहम्मद बिन तुगलक इतिहास में एक सनकी बादशाह के नाम से मशहूर है। उसने गद्दी पर बैठते ही घोषणा कर दी कि सारी प्रजा दिल्ली से दौलताबाद को कूच करे—बच्चे-बूढ़े, अपाहिज, सब। यहां तक कि कुत्ते, बिल्ली भी यहां नहीं रहें। आधे लोग किसी तरह पहुंचे, आधे रास्ते में ही मर-खप गए। मुहम्मद बिन तुगलक के पास भी दौलताबाद बहुत दिन तक नहीं रहा। जब बहमनी शासकों ने हमला किया, तब उन्होंने अपना एक पृथक् राज्य बनाया। काल-चक्र में बहमनी भी नष्ट हुए और निजामशाही का प्रभुत्व हुआ। अपने प्रधानमंत्री मलिकाम्बर के नेतृत्व में निजामशाही ने यह सफलता पाई थी। मलिकाम्बर ने अपने बेटे के नाम पर शहर का नाम बदलकर फतेहनगर किया किंतु फतेहनगर भी बहुत दिनों तक फतेहनगर नहीं रहा और औरंगजेब ने जब दक्षिण की ओर रुख किया, तब इसे जीतकर इसका नाम औरंगाबाद रखा। औरंगाबाद शाही सल्तनत का एक प्रमुख केंद्र-बिंदु और मुगल सल्तनत की दक्षिण की राजधानी बन गया। बाद में जब 1956 में प्रांतों का पुनर्गठन हुआ, तब औरंगाबाद महाराष्ट्र राज्य में आ गया।

‘बीबी का मकबरा’, जिसे औरंगजेब की मलिका की याद में बनवाया गया था, म्यूजियम और सुनहरी महल, पनचक्की आदि जगहें भी हमने देखीं और फिर अजंता की ओर बढ़े।

अजंता की खोज इतिहास की एक बहुत ही रोचक तथा रोमांचक घटना रही है। बहुत समय तक सह्याद्री पहाड़ियों के गर्भ में ये बहुमूल्य गुफाएं छिपी रहीं। अठारहवीं शताब्दी में ब्रिटिश अफसरों की एक टोली ने अजंता-एलोरा को खोजा। अचानक खोजी और पाई गई इस अपार कला-संपदा को देखकर वे भौंककर रह गए। पास में ही स्थित अजीठा गांव के नाम पर उन्होंने इन गुफाओं का नाम अजंता रख दिया। ईसा-पूर्व पहली शताब्दी से लेकर इसवी शताब्दी आठ तक इन विशाल पहाड़ियों को काटकर इन गुफाओं का निर्माण किया गया था। पत्थरों को हथौड़ियों और छेनी से काटकर उनकी दीवारों पर प्रचुर संख्या में मूर्तियां उत्कीर्ण की गईं। ये विशाल स्थापत्य एवं मूर्तियां और भित्तिचित्र

राष्ट्रकूट शासकों के सामर्थ्य, समृद्धि एवं कला-प्रेम के स्पष्ट साक्षी हैं, ऐसा इतिहासकारों ने भी माना है।

गुफाओं के पास पहुंचते ही इतिहास के पन्ने मेरे सामने घूमने लगे। साथ चल रहे गाइड ने मेरे ज्ञान में और इजाफा किया। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसा की सातवीं शताब्दी तक तीस गुफाएं खोदी गईं। इन में से 9, 10, 19, 26, 28 नंबर की गुफाएं विहार हैं और बाकी चैत्य। विहार बौद्ध साधुओं के रहने के स्थान थे। वह एकांत में साधना करते थे। चैत्य केवल पूजा-स्थल थे। किंतु, बाद में बौद्ध साधुओं ने विहारों में भी धार्मिक कृत्य एवं उपासना विधियां संपन्न करना शुरू कर दीं और विहार रहने के साथ-साथ पूजा-स्थल के रूप में भी प्रयुक्त होने लगे। ये चैत्य और विहार पीठिकाएं थीं—ज्ञान की और सांस्कृतिक बदलावों की।

अजंता की आकृतियों में हमने एक विशेषता देखी। वे पूरी तरह बौद्ध धर्म से प्रभावित थीं। बुद्ध, बोधिसत्व, बुद्ध के जीवन की घटनाएं और जातक कथाएं इन पत्थरों पर उकेरी गई हैं। इस प्रकार का पूरा एक कैनवास-सा हमने देखा, जिस पर मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक, स्त्री-पुरुष और बच्चों की आकृतियां हैं। इन आकृतियों में राजा भी हैं, दास भी हैं, अमीर-गरीब सभी हैं, संत-साधु और पापी सभी के चित्रण में हमने मानवीय संवेदनाओं—हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, विजय-पराजय, विनय-अहंकार, दया और क्रूरता, वैभव और दरिद्रता, आशा और निराशा का एक अद्भुत समन्वय देखा किंतु, सब एक अलौकिक धार्मिक पृष्ठभूमि से बंधा हुआ, जैसा पहले कभी नहीं देखा था। ऐसा लगा, जैसे जीवन की किताब के सारे पृष्ठ एक-एक करके खुलते चले जा रहे हों।

गुफा की दीवारों व छतों पर चित्रित दृश्य तत्कालीन धार्मिक स्थिति, दैव लक्षणों को अपने में समेटे हुए थे। वे मानो आईना थे, उस समय की जीवन-शैली का, शहरों, गांवों और उनमें रहनेवाले व्यक्तियों का।

इन भित्तिचित्रों को देखते-देखते लगा, जैसे हम उस युग में पहुंच गए हों—कैसे तो वर्तन होते थे, ऐसे, जिनसे वाद्य-संगीत की ध्वनियां निकलती थीं। गहने जो प्रचलित थे, स्त्री-पुरुष जिन्हें पहनते थे। हथियार, जिनका प्रयोग होता था। यक्ष, गंधर्व, मानव और किन्नरों की वेशभूषा कैसी होती थी! वे कैसे लगते होंगे! धरती और स्वर्ग की झलक भी इन प्रस्तर-प्रतिमाओं और भित्तिचित्रों में देखने को मिली।

छतों पर तरह-तरह के फल, फूल, पत्ती, पशु-पक्षियों की आकृतियां, उड़ती हुई आकृतियां, विदूषक की आकृतियां उकेरी गई थीं।

जातक कथाएं गौतम बुद्ध के पूर्व जन्मों की कहानियां हैं। इन जन्मों में बुद्ध मनुष्य और पशु-पक्षियों की कई योनियों से गुजरे। यहीं पहली दीवार पर एक बीमार आदमी का चित्र था, जिसे देखकर सिद्धार्थ को जीवन की असरता में से सार ढूंढ़ने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उन्होंने साधना कर बोधि-वृक्ष के नीचे बोधत्व प्राप्त किया और वे गौतम बुद्ध कहलाए।

भगवान बुद्ध की करुणा और परदुःख-कातरता से अभिभूत कलाकारों ने अपनी श्रद्धा और भक्ति का पुट देकर जिन मूर्तियों को पत्थरों में ढाला, उनमें बुद्ध के सभी रूप समाहित हुए हैं। करुणा से ओतप्रोत बुद्ध, सौम्य और शांत बुद्ध, ध्यानमग्न बुद्ध, आदि। अनगिनत आकारों और मुद्राओं में बुद्ध-प्रतिमाएं यहां अंकित हैं। एक गुफा में बोधिसत्व का चित्र देखा, जो बड़ा ही विशाल और प्रभावोत्पादक था। मन को द्रवित करनेवाले इस चित्र में बुद्ध की आंखों में करुणा का ऐसा भाव था, जिसने मानो दुनिया के सारे दुख-दर्द और वेदना को अपनी झुकी पलकों में समेट लिया हो। बोधिसत्व की और भी अनेक आकृतियां थीं, किंतु, यह तो अपूर्व थी।

एक गुफा में एक अप्सरा का मनमोहक चित्रण था, जो काफी नष्टप्राय हालत में था। उसके सिर पर पगड़ीनुमा कोई वस्त्र बता रहा था कि उस काल में भी भारत फैशन की दुनिया में काफी आगे था और सही पूछिए तो आज कई आभूषणों और वस्त्रों की प्रेरणा भी अजंता काल की यह मूर्तियां और चित्र हैं।

अजंता की छब्बीसवीं गुफा, आज भी मेरे दृष्टि-पटल पर उभर आती है। यह अजंता का सबसे वैभवपूर्ण और खूबसूरत चैत्य है। इसमें उपासना-गृह, चैत्य व प्रवचन कक्ष—सभागार भी है। खंभों पर टिका हुआ एक लंबा बड़ा बरामदा। उसके साथ ही प्रस्तर को काटकर एक प्रकार का गर्भगृह, जिसमें बुद्ध को मनुष्य के रूप में दिखाया गया है। हिंदू मंदिरों की भांति अंतराल भी था, जो पत्र-पुष्प, बेल-लता आदि से सज्जित था।

हीनयान शाखा में बुद्ध की पूजा प्रतीक-चिह्नों से की जाती थी क्योंकि, बुद्ध ने स्वयं ही प्रतिमा-पूजा का निषेध किया था। इसलिए प्रतिमाओं के स्थान पर सबसे पहले धर्मचक्र की स्थापना की गई। बोध-गया में बुद्ध ने जिस बोधत्व को प्राप्त किया और बाद में सारनाथ में सबसे पहले, जो प्रवचन अपने पांच शिष्यों को दिया, उसे धर्म-चक्र प्रवर्तन के नाम से जाना गया। इसलिए प्रतीक बना—धर्म-चक्र। भगवान बुद्ध की यात्रा में उनके चरण जहां-जहां पड़े, उनकी स्मृति-स्वरूप पद-चिह्न भी प्रतीक बने। भगवान बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके अस्थि-अवशेषों पर आठ स्तूपों का निर्माण हुआ। स्तूपों की लघु प्रतिकृतियां भी उपासना हेतु प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित हुईं।

इस प्रकार हीनयान शाखा ने जहां प्रतीक-चिह्नों की उपासना को प्रधानता दी, वहीं महायान शाखा ने बुद्ध मूर्तियों को। अजंता की गुफाओं में दोनों के प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। प्रतीक-चिह्न खंभों पर उत्कीर्ण हैं, तो बुद्ध की अनेक प्रतिमाएं भी हैं। एक फलक पर एक स्तूप भी बना हुआ है, जिसमें सामने बुद्ध लेटे हैं दो शाल पेड़ों के बीच। नीचे उनके शिष्यों और अनुयायियों की भीड़ है। कहीं बुद्ध बोधि-वृक्ष की छाया में बैठे हैं। मूर्तिकारों के साथ ही चित्रकारों का योगदान भी कम नहीं है। उन्होंने भी बुद्ध और बौद्ध धर्म से संबंधित चित्रों से अजंता की गुफाओं की दीवारों को सजाया है—राज-दरबारों और सामान्य जनजीवन को हर पहलू से दर्शाया है।

कितनी मेहनत एक हजार साल तक निरंतर चलती रही! वर्षों की अनवरत साधना

और अटूट भाव-प्रवणता इन चित्रों के पीछे छिपी थी, सोचकर ही रोमांच हो जाता है। अजंता के चित्रकार बौद्ध भिक्षु थे, जो प्रतिवर्ष वारिश के चार महीने इन गुफाओं में बिताते थे। उपासना के साथ-साथ धर्म-गुरुओं के सान्निध्य में यह कला-यात्रा चलती रहती थी। रंगों का संतुलित समायोजन, कलाकार की कारीगरी और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-दृष्टि मन को मोह लेती है। मुझे लगा, संसार से विराग लेने के बाद भी संचासी के मन में कहीं न कहीं देखी-सुनी घटनाएं उभरकर आती रहती हैं और वही कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में इन गुफाओं में प्रस्फुटित हुई हैं।

अजंता की खूबसूरती आंखों में कैदकर हम लौट आए औरंगाबाद। दूसरे दिन एलोरा जाने का निश्चय किया। एलोरा औरंगाबाद से केवल तीस किलोमीटर दूर था। पूर्व-मध्यकाल का एक महत्त्वपूर्ण कला-केंद्र है—एलोरा, जहां हिंदू, बौद्ध एवं जैन धर्म से संबंधित गुफा समूह, स्थापत्य की भिन्न विकसित शैलियों को अपने में संजोए हुए, तत्कालीन धार्मिक स्थिति एवं दैविक भावनाओं को उजागर करता है।

एलोरा की बौद्ध गुफाओं में आदि-बुद्ध एवं बोधिसत्वों की परंपरा को मूर्ति-रूप दिया गया है। बुद्ध की मानवीय मूर्ति भी है। तारा, मंजुश्री आदि कई बौद्ध देवियों की मूर्तियां भी हैं यहां। बौद्ध गुफाओं में वास्तुकला की चरम उत्कृष्टता देखी जा सकती है। यहां केवल एक चैत्य है, शेष विहार हैं। चैत्य उपासना-स्थल थे, जहां बौद्ध-आचार्यों से बौद्ध-भिक्षु धर्म-चर्चाएं कर अपने ज्ञान में अभिवृद्धि करते थे। कालांतर में विहार में भी मूर्ति स्थापित करके उन्हें अजंता की तरह उपासना-गृहों में परिवर्तित कर दिया गया।

शिव को समर्पित गुफा संख्या सोलह या कैलाश मंदिर को देखकर तो मनुष्य की कल्पनाशीलता और कारीगरी पर सहज ही विश्वास नहीं हो पाता। मुझे लगा, एक विराट, अलौकिक, आध्यात्मिक लोक की सत्ता का साक्षात् स्वरूप कैलाश मंदिर है। सारा मंदिर एक पहाड़ी के मध्य भाग को चारों ओर से काटकर बनाया गया है, जो पच्चीस फुट ऊंचा है। यह गुफा नहीं, मंदिर ही है और शिखर से लेकर नीचे तक का सारा भाग पहाड़ी को काटकर बनाया गया है। मूल मंदिर द्वितल है और सीढ़ियों द्वारा ऊपर चढ़ना संभव है। बड़ी-बड़ी गज और सिद्ध मूर्तियां ऐसे रची गई हैं, मानो पूरे मंदिर को अपने ऊपर उठाए हों। मंदिर के एक पार्श्व में समूची रामायण के प्रसंग उत्कीर्ण हैं। दूसरे पार्श्व में महाभारत की कथाएं हैं। नंदी मंडप प्रांगण में है। मुख्य मंडप की छत सोलह स्तंभों पर टिकी है। उसके पीछे अर्ध मंडप, फिर गर्भगृह, उससे सटे पांच भव्य देव-प्रकोष्ठ जिनमें मूर्तियों को स्थापित करके मूर्ति-संपदा को समृद्ध और भव्य बनाया गया है। साथ में प्रदक्षिणा-पथ भी है।

मंदिर में शिव-पार्वती का अंकन बड़ा मनोहारी है। कहीं शिव-पार्वती आलिंगनबद्ध हैं तो कहीं चौसर खेलते हुए। कहीं कार्तिकेय, गणेश के साथ परिचारिकाओं से घिरे हुए दिखाए गए हैं। पार्वती कहीं वीणा बजा रही हैं, कहीं शिव से ग्रंथ प्राप्त कर रही हैं। ग्रंथ

अर्थात् पुराण। एक जगह शिव-पार्वती का पाणिग्रहण हो रहा है। स्वरूप अत्यंत भव्य है। दृष्टि एक-दूसरे के प्रति स्नेहपूर्ण। पार्वती की शरीर-रचना त्रिभंगी है। उनके शरीर की लोच और उनकी दृष्टि नववधू के संकोच को दर्शा रही है। शिव का बायां हाथ पद्मवाहिनी पार्वती के कंधे पर, जटा-मुकुट से शोभित शिव-पार्वती के मध्य विवाह-वेदिका, पुरोहित के रूप में ब्रह्मा, कन्यादान करते हिमवान। विष्णु आदि सभी देवता उपस्थित हैं। शिव-पार्वती अधिकतर मूर्तियों में आलिंगनबद्ध मुद्रा में कैलाश पर्वत पर आसीन हैं।

शिव-पुराण में एक कथा आती है। एक बार शिव अपने निवास कैलाश पर्वत पर मानसरोवर के पास पार्वती के साथ विश्राम कर रहे थे। उसी समय उनका भक्त रावण अपनी शिव-भक्ति के दर्प में वहां आया और अंतःपुर में जाने का प्रयास करने लगा। द्वारपाल ने उसे रोका। रावण बहुत क्रोधित हुआ और उसने समस्त कैलाश पर्वत को ही उठाकर ले जाना चाहा। कैलाश को उठाने की चेष्टा में रत रावण का अंकन यहां बड़ा प्रभावोत्पादक है। उसकी भंगिमा देखने योग्य है। शायद, वह कैलाश को हिलाने में समर्थ भी हुआ क्योंकि, यहां दिखाया गया है, कैसे पार्वती भय के कारण शिव के पास सरक आई हैं। शिव तो सब कुछ जानते थे। उन्होंने रावण के दर्प का नाश करने के लिए अपने बाएं पैर का अंगूठा पृथ्वी पर टिका दिया और रावण अनेक प्रयत्न करने के बाद भी कैलाश को न उठा सका।

ऐसी ही एक अन्य कथा में एक अन्य जगह स्वयं शिव ने रावण को उकसाया कि वह कैलाश पर्वत को हिलाए। पार्वती शिव से अप्रसन्न थीं। शिव चाहते थे कि वह उनके समीप आए। रावण ने पर्वत हिलाया। पार्वती भयग्रस्त होकर शिव के समीप आ गईं और उन्हें आश्चर्य से देखने लगीं कि यह कैसे संभव हो गया। पर्वत हिलाने के श्रम से चेष्टारत रावण की भंगिमा देखने लायक है। यहां शिव के चार हाथ हैं। यह अंकन रामेश्वर गुफा में भी है।

कैलाश मंदिर में एक मूर्ति और भी बहुत सुंदर गढ़ी गई है। वह है गंगाधर मूर्ति। गंगा की मूर्ति दर्शनीय है। दीर्घ, सुडौल, मांसल शरीर, तिरछी और सूक्ष्म कटि, सुनियोजित शरीर योजना—सब मिलाकर एक दैवी सौंदर्य का आभास देती हुई। उनकी कमर का ऊपर का भाग स्त्री का और नीचे का भाग बहते हुए जल का आभास देता है। भगीरथ एक पांव पर खड़े होकर तपस्यारत हैं। शिव की जटाओं में समाकर गंगा का अवतरण पुनः धरती पर होता है। सगर-पुत्रों को तारने के लिए शिव के दाहिने हाथ में खुली जटा है। शिव के बाईं ओर पार्वती खड़ी हैं, सौम्य मुद्रा में।

एलोरा से वापस लौटते हुए, बीच में हम कुछ देर रुके औरंगजेब की मजार देखने के लिए। इतिहास में औरंगजेब जहां अपनी कट्टरता और धार्मिक असहिष्णुता के लिए जाना जाता है, वहीं अपनी कर्मनिष्ठा और ईमानदारी के लिए भी। वही एक ऐसा बादशाह था, जिसने इस्लाम धर्म का पालन करते हुए अपने लिए कोई मकबरा नहीं बनवाया। औरंगजेब को

अपने पीर के पास जाकर बहुत शांति मिलती थी, इसलिए उसने अपने पीर के पास ही अपनी कब्र बनवाने का फैसला किया।

औरंगजेब टोपियां सीकर और कुरान लिखकर अपना गुजारा चलाता था। मरते समय उसके पास पास कुल 5 रुपए 12 आने जमा थे। उसने कहा कि इन पैसों से ही मेरी कच्ची कब्र बनवाई जाए। मैंने देखा कि पीर की दरगाह से बाहर की ओर सटी हुई एक कब्र है, जिसके सिरहाने काली सब्ज यानी श्यामा तुलसी का एक पौधा लगा हुआ है। औरंगजेब की तरह उसकी कब्र भी बिल्कुल सादी और आडंबररहित है।

औरंगजेब की कब्र देखने के बाद हमने उसके पास ही दौलताबाद का किला देखा। दौलताबाद का किला दुर्ग-स्थापत्य और इंजीनियरिंग का अद्भुत करिश्मा है। ऊंची-ऊंची दीवारें और भव्य मीनारें, जहां से खड़े होकर सैनिक सारी सुरक्षा पर कड़ी निगाह रख सकते थे। किले में पानी पहुंचाने के लिए जिस तरह जगह-जगह दीवारें बनाकर, पानी की एक-एक बूंद को इकट्ठा किया गया और पाइप लाइनों द्वारा ऊपर पहाड़ों तक पहुंचाया गया, उसे देखकर आज के इंजीनियर भी दांतों तले उंगली दबाते हैं।

अंजता, एलोरा तथा औरंगाबाद की मधुर स्मृतियां संजोए हम बंबई लौट आए। स्मृतियां जो एच.डब्ल्यू.लांगफैलो की 'डेफोडिल्स' कविता के डेफोडिल्स के फूलों की तरह थीं।

बंबई पहुंचते ही पुरानी दिनचर्या शुरू हो गई। बेटा पांच वर्ष का हो गया था। सुना था, बंबई में स्कूलों में दाखिले बड़ी मुश्किल से मिलते हैं। मां-बाप के भी इंटरव्यू होते हैं, जैसे उन्हें स्वयं ही पढ़ना हो। खैर, मैंने पता लगाया तो मालूम पड़ा वार्डन रोड पर ब्रीच कैंडी स्कूल है। काफी प्रसिद्ध स्कूलों में गणना होती है उसकी। पहले किसी अंग्रेज परिवार के हाथ में प्रबंध था। अब किसी जवेरी परिवार ने प्रबंध अपने हाथ में ले लिया है। मैंने समय निश्चित किया और पहुंच गई मैडम के कमरे में। गंभीर मुद्रा में जो मैडम बैठी थीं, काफी आधुनिका लग रही थीं। मैंने उन्हें बताया, "जी, मैं अपने बेटे को आपके स्कूल में भर्ती करवाना चाहती हूं। बहुत तारीफ सुनी है स्कूल की।"

"वह तो ठीक है, पर आपने उसे घर में कुछ पढ़ाया है?" मैडम ने पूछा।

"जी, अंग्रेजी की वर्णमाला यह जानता है। ए से लेकर जैड तक लिख लेता है।" मैंने बड़े ही आश्वस्त स्वर में कहा।

"ओ.के., ओ.के.। बेबी, कम हियर। लेट मी सी व्हाट हैव यू लर्न्ट एट होम," मैडम ने अमित की ओर मुखातिब होकर कहा।

अमित बेचारा कुछ समझ नहीं सका। हम तो घर में हिंदी में बातचीत करते थे। हमारे घर में अंग्रेजी में बातचीत होती ही नहीं थी। वैसे, सुना अवश्य था कि बंबई में छोटे-छोटे बच्चे भी अंग्रेजी बोलते हैं। मैं अमित के एडमीशन के बारे में शंकित हो गई। अब मैडम ने मुझसे कहा, "यू सी, योर चाइल्ड कांट अंडरस्टैंड ए वर्ड ऑव इंग्लिश। ही डज नॉट नो दि मीनिंग ऑव कम एंड गो इवन। हाऊ कैन आई एडमिट हिम।" मैंने सोचा,

बच्चे ने अंग्रेजी नहीं बोली, मां ने भी हिंदी में ही बात की तो, शायद, मैडम मुझे गंवार, बेपढ़ा-लिखा समझ रही हैं, इसलिए मैंने इस बार इंगलिश में बात की, पर मैडम ने फिर भी कहा, “नो, यू डॉट अंडरस्टैंड।”

मुझे बहुत क्रोध आया। मैं तैश में बोली, “आप मुझे लिखकर दे दीजिए कि आप इसे इसलिए नहीं ले रही हैं क्योंकि, यह इंगलिश नहीं समझता है।”

इस पर मैडम ठंडी पड़ गई। कहने लगीं, “ठीक है, मैं इसे एडमिट करती हूँ किंतु छह महीने के अंदर इसने इंगलिश बोलना पिकअप नहीं किया तो फिर मैं लाचार हूँगी।”

मैंने सोचा, बात बढ़ाने से कोई फायदा नहीं। मुझे अपने बेटे पर विश्वास था और वही हुआ। न केवल वह एक साल के अंदर इंगलिश बोलने और समझने लगा, बल्कि उसने पढ़ाई में डबल प्रमोशन भी लिया।

उस दिन ऑफिस से लौटकर ठाकुर ने बताया कि गोपालजी आज ऑफिस आया था।

मैंने कहा, “बड़ी हिम्मत है उसकी।”

“हां, मेरे कमरे के दरवाजे पर लाल बल्ब जल रहा था। इसका अर्थ कितना गंभीर है, सब जानते हैं कि भीतर हॉट लाइन पर किसी के साथ कोई खास बात हो रही है या कोई खास बैठक चल रही है—खुफिया बैठक, तभी लाल बल्ब जलता है और तब वहां किसी का भी आना मना होता है।”

“चपरासी ने रोका नहीं?” मैंने पूछा।

“रोका था। चपरासी ने तो यहां तक कहा था कि उसकी नौकरी खतरे में पड़ जाएगी। मुलाकात एक मिनट क्या एक सेकंड के लिए भी नहीं हो सकती, पर तुम गोपाल को जानती तो हो, कितना बेशरम और चिपकू आदमी है।”

“क्यों आया था?” मैंने पूछा।

“किसी शो-रूम का उद्घाटन होनेवाला है। उसी का कार्ड देने आया था।”

“अरे, उसे तो किसी के भी हाथ भेज सकता था। या फिर आपके चपरासी को देकर जा सकता था।”

“हां, वह दे, तब न! वह पट्टा तो बैठा रहा जैसे, आमरण अनशन पर बैठा हो। कहने लगा, साहब के हाथ में ही दूंगा। और एक घंटे बाद जब मैं बाहर निकला तब मेरे हाथ में पकड़ाकर ही माना। कहने लगा, ‘किसी के हाथ भी कार्ड आपको भिजवा सकता था, पर खुद आया हूँ आपको निमंत्रण देने के लिए। खास आपको बुलाने के लिए। आइएगा जरूर, भाभी और बच्चों को भी लाइएगा।’

“तो आप क्या जाएंगे?” मैंने पूछा।

“तुम भी क्या बात करती हो!” ठाकुर बोले, “मैं और जाऊंगा!”

इतवार की शाम थी। हमारी, अपनी शाम। पूरे हफ्ते में मुश्किल से तो एक शाम मिलती

है, जब सब साथ रह सकें। गोपाल के वहां न जाने का फैसला तो हो चुका था। फिर भी ठाकुर के दिमाग में कुछ उथल-पुथल हो रही थी। मैं जानती थी। मैंने पूछा, “क्या बात है?”

“कमबख्त! निमंत्रणपत्र के टुकड़े कर उसी पल फेंक दिए थे, फिर भी...एक-एक शब्द जैसे दिमाग में जमकर रह गया है।”

मैं साड़ी पर कंधे के पास पिन लगाती बोली, “नहीं जा रहे हैं। वस, बात खत्म। चलो, इस बहाने हम साथ-साथ बाहर तो निकलें।”

तभी अमित बोल पड़ा, “क्यों पापा, हम लोग जब नहीं पहुंचेंगे, तो गोपाल अंकल खुद आ जाएंगे हमें बुलाने, तब?”

मैंने सोचा, बच्चे चाहे छोटे हों, बड़ों की बात पर कैसे कान लगाए रहते हैं! जान-बूझ कर नहीं, अनजाने में ही सही। बातें जो घर में होती हैं, बच्चों के कानों में पड़ती ही हैं।

“आने दो अगर आते हैं। आएँ और देखें यह बड़ा-सा ताला दरवाजे पर लटकता हुआ।” ठाकुर ने ताले को खिलवाड़ करते हुए उछाला।

तभी अमित से एक भूल और हो गई। बच्चा ही तो था! बोला, “क्या पापा, हम गोपाल अंकल से डरकर घर से भाग रहे हैं?”

ठाकुर का चेहरा एकदम तमतमा गया।

यही गृहस्थी है और यही जीवन है। अभी पल-भर पहले लग रहा था कि शाम अच्छी गुजरेगी। मैंने व्याकुल होकर ठाकुर को देखा।

“क्या बोले तुम अमित? मैं गोपाल से डरूंगा? उस...।”

मैंने तुरंत अमित को डांटा, “अमित, जो भी मुंह में आता है, बोल देते हो। बोलना सीखो, अब तुम इतने छोटे नहीं रहे।”

अमित का चेहरा बुझ गया, “सॉरी पापा।”

बेचारा अमित! उसकी कोई गलती नहीं थी, फिर भी...

लेकिन, ठाकुर ने ‘सॉरी’ शब्द जैसे सुना ही नहीं। तैश में आकर बोलना शुरू किया तो बोलते ही चले गए।... “तुम सोचते हो यह मेरा आइडिया है। नो, दिस इज योर मम्मीज आइडिया, समझे! यह सिर्फ तुम्हारी मम्मी हैं, जो नहीं चाहती हैं कि हम घर में रहें और उसके सामने आने का खतरा मोल लें।”

और फिर लगातार मेरी ओर इशारा करके कहना शुरू किया, “क्यों, क्या मैंने लगातार नहीं कहा कि हम घर में ही रहें, आज कहीं न जाएं?”

वाह रे पुरुष! उस समय ठाकुर नहीं बोल रहे थे, पति का दंभ बोल रहा था। पति जो कभी-कभी अकारण ही कितना कठिन हो जाता है, अपने हिस्से की सारी धूल पत्नी के ऊपर डाल देता है और स्वयं धूल झाड़कर अलग खड़ा हो जाता है। ऐसे समय यदि पत्नी भी कड़क उठे तो घर में महाभारत हो जाए। स्थिति समझते हुए मैंने कहा, “अरे, अगर मैं चाहती हूँ कि आज की शाम पूरा परिवार बाहर निकले, खाए-पिए, घूमे-फिरे,

कारण कोई भी हो, तो किसी को क्या तकलीफ है?"

ठाकुर सोच रहे थे, मैं उनके अकारण चलाए बाण को सह न सकूंगी और भड़क उठूंगी। जब ऐसा कुछ नहीं हुआ, तब परम आश्चर्य से इधर-उधर ताकने लगे और बोले, "तकलीफ? किसको है तकलीफ? किसने कहा तकलीफ है?"

बच्चों ने भी स्थिति की नजाकत को पहचान लिया, बोले, "कम मम्मी, लेट अस इन्जॉय।"

हम उस दिन घूम तो आए। बच्चों को मेरिन ड्राइव पर घोड़ा-गाड़ी में घुमाया भी। किंतु, मुझे पता था कि अंदर ही अंदर ठाकुर को कुछ मथ रहा था, फिर भी मैंने कुछ नहीं कहा। उनका मन होगा तो वे अवश्य बताएंगे। अन्यथा, चुप रहना ही अच्छा है। अनजाने में अगर अमित की तरह कोई बात मुंह से निकल गई तो फिर ज्वालामुखी फट पड़ेगा।

रात हो गई थी। मैं घर के काम-काज निपटाकर जब बेडरूम में पहुंची, तब तक ये सो चुके थे। मैं भी लेट गई। थकी हुई थी, लेटते ही नींद आ गई। कितना समय बीता, जानती नहीं। अचानक आधी रात को नींद खुल गई। धीमे-से नहीं, हौले-से नहीं, अचानक खुल जाती है मेरी नींद, जब घर के किसी कोने में कोई आशंका चमगादड़ की तरह औंधी लटक रही होती है तो। भय से अपनी दोनों आंखें खोल दीं। सुना—कट-कट, कट-कट। मेज पर रखी अलार्म घड़ी के रेडियम लगे आंकड़े और सुइयां अंधेरे में चुपके-चुपके चमचमा रही थीं। घूमकर देखा, ठाकुर बिस्तर पर नहीं थे। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी। सोचा, कहाँ गए होंगे।

उठकर ड्राइंग रूम में आई तो देखा काम में लगे हैं। मैंने कहा, "रात के तीन बजे हैं। क्या नींद नहीं आ रही? कब से जाग रहे हो?"

"पता नहीं।" इन्होंने हौले से कहा।

"लेकिन क्यों?" मैंने पूछा

"मुझे अमित की बात भूल नहीं रही है।" ठाकुर बोले।

"गोपालवाली बात?" मैं फिर बोली।

"हां," ठाकुर ने उत्तर दिया।

"तो इसमें न भूलने की ऐसी क्या बात है? अगर तुम सोचते हो, वह गलत काम करता है और छिपाने के लिए ही तुमसे दोस्ती बढ़ाना चाहता है, तो उसके पीछे लगा दो अपने किसी आफ़ीसर को। सब बात सामने आ जाएगी।" मैंने सुझाव देते हुए कहा।

"वह तो मैंने जाने कब से लगा रखा है। परेशानी यह है कि उसकी आदतें कुछ कहती हैं, फाइलें कुछ कहती हैं।" इन्होंने उत्तर दिया।

"क्या कहती हैं फाइलें?" मैंने धीरे-से पूछा।

"यही कि वह हिसाब-किताब में कुछ जरूरत से ज्यादा तेज है। अपने सब कागज, बही-खाते, कैशबाक्स को इतना क्लीन रखता है कि एक रुपए की हेराफेरी भी पकड़ में

नहीं आती है। वुक्स के हिसाब में जितना टैक्स बनता है, वह बराबर भरता है।” ठाकुर ने समझाते हुए कहा।

“यानी जो कुछ भी गोपाल के पास है, वह सब डिक्लेयर्ड है—व्हाइट है, ब्लैक कुछ भी नहीं है?” मैंने हैरान होते हुए पूछा।

“फाइलें तो यही कहती हैं, जबकि उसका वर्ताव, उसका ‘बिहेवियर’ कुछ और कहता है।” ठाकुर ने फिर अपनी बात दोहराई।

“फिर तो मैं यह कहूंगी कि तुम्हारा अहम् टकरा रहा है कि तुम्हारी ‘इंट्यूशन’ गलत कैसे निकली... या फिर यह तुम्हारा वहम भी हो सकता है।” मैंने कहा।

“मेरी छठी इंद्रिय मुझे कभी धोखा नहीं देती है। आज तक तो इसने धोखा दिया नहीं है।”

“तो फिर एक काम करो। इनसान की जिंदगी बड़ी पेचीदा चीज है। सही काम करने के लिए भी सही वक्त का इंतजार करना पड़ता है। मगर वक्त ही सही न हो, तो सही काम भी गलत हो सकता है। इसलिए, चलो और सो जाओ। जब गोपाल को निश्चय हो जाएगा कि तुम सारी बातें भूल चुके हो और उसके अब तक के व्यवहार से चिढ़े नहीं हो, तब वह स्वयं ही लापरवाह हो जाएगा और कहीं न कहीं पकड़ा जाएगा।” मैंने इन्हें समझाते हुए कहा।

“सुशी, यू आर ग्रेट। इतनी-सी बात मेरी समझ में क्यों नहीं आई? यह सही है, इस समय वह जरूरत से ज्यादा चौकन्ना है। सुशी, आई लव यू,” ठाकुर ने प्यार से मुझे देखते हुए कहा।

“क्या! वही पिटी-पिट्टाई बात! अब बस भी करो!” मैंने कहा।

“नहीं, सुशी, आई रियली लव यू!”

इनकी शांति लौट आई थी। मन निश्चित हो गया था। मुझे और क्या चाहिए था! हम वापस ड्राइंग रूम से बेडरूम में लौट आए।

पैडर रोड पर रहते हुए बंबई की एक लोकप्रिय शख्सियत से मुलाकात हुई। उनका नाम था—रामरिख मनहर। मारवाड़ी समाज में उनकी अच्छी पहुंच थी। बड़े और छोटे सभी लोगों में उठना-बैठना था। वैसे, वह छोटे कद के आदमी थे, गेहुआ रंग, डील-डौल न भारी, न दुबला। हर वक्त ठहाके लगानेवाले आदमी। कोई भी बात बिना ठहाके नहीं करते थे। ठेठ मारवाड़ी स्टाइल में धोती-कुरता पहनते। बंबई की सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक गतिविधियों में उनकी अच्छी पैठ थी। वैसे, वे कविता कम करते थे, चुटकुले अधिक सुनाते थे। उनकी एक विशेषता थी—उनका एक कान आधा कटा हुआ था, जिसके बारे में वे अक्सर एक चुटकुला सुनाते थे : एक बार उन्होंने सुना कि प्लास्टिक सर्जरी से बेडौल शरीर ठीक हो जाते हैं। शरीर का कोई नुक्स हो, चोट का निशान हो, प्लास्टिक सर्जरी सभी टूटे-फूटे अंगों को ठीक कर देती है। सो, एक दिन मनहरजी पहुंच गए एक प्लास्टिक

सर्जन के यहां। अपना कान दिखाया और पूछा, “डॉक्टर साहब, इस कान को ठीक करने की क्या फीस लगेगी? कितना खर्चा आएगा?”

डॉक्टर ने कहा, “कुल एक हजार रुपया खर्चा आएगा?”

“ऐसा करिए, पांच सौ रुपए मुझे दे दीजिए और दूसरा कान भी आधा काट लीजिए।” मनहरजी ने ठहाका लगाते हुए कहा।

मनहरजी को अंग्रेजी नहीं आती थी। फिर भी यदि कोई अंग्रेजी में बोलता था तो, कोशिश जरूर करते थे अपनी टूटी-फूटी अंग्रेजी में, अपनी बात का सही मतलब समझाने की।

एक बार सुना, मनहरजी की पत्नी कई दिन से बीमार हैं। वे हमारे घर अक्सर घूमते-फिरते आ जाते थे। एक दिन आए तो मैंने पूछा, “मनहरजी, हाऊ इज योर वाइफ?” (मनहरजी, आपकी पत्नी कैसी हैं?)

“समथिंग इज बैटर दैन नथिंग,” फटाक से उनका जवाब था। उनका तात्पर्य था कि पहले से अब ठीक हैं।

मनहरजी की एक बड़ी खूबी थी कि वे साहित्यकारों, पत्रकारों, कवियों, लेखकों की खूब मदद करते थे। बाहर से कोई लेखक या कवि आ-भर जाए और मनहरजी को पता चल जाए, बस उसके रहने-खाने-ठहरने का सारा इंतजाम वह करा देते थे। कोई अजनबी कवि बाहर से आए और बंबई-जैसी नगरी में बीमार पड़ जाए, तो उसकी देखभाल, उसके खाने-पीने का इंतजाम, उसे अस्पताल में भरती कराने का प्रबंध, सब मनहरजी अपने सर ओढ़ लेते थे। बिना किसी प्रलोभन के मरीज को दवा, फल आदि पहुंचाते। बिना किसी प्रत्याशा के एक-दो दिन नहीं, महीनों तक यह सिलसिला चलता रहता। जब तक वह स्वस्थ होकर अपने घर न चला जाता, तब तक मनहरजी की जिम्मेदारी खत्म नहीं होती थी।

मेरे पति को वे ‘भाई साहब’ कहते थे। उनके माध्यम से कई लेखकों, कवियों, शायरों से हमारी मुलाकात हुई। कई शामें साहित्यिक चर्चाओं, कवि-गोष्ठियों, संगीत-सभाओं और शायरी की महफिलों के कारण रंगीन हुईं। किसी शायर या लेखक को किसी ने परेशान किया, बस मनहरजी उसे हमारे यहां ले आते। हां, व्यापारी वर्ग की सिफारिश उन्होंने कभी नहीं की। यही कारण था कि उनका हमारे यहां आना-जाना बराबर बना रहा।

एक बार वे उर्दू के प्रसिद्ध शायर कैफी आजमी को हमारे यहां ले आए। हमने कई मुशायरों में कैफी आजमी के कलाम सुने थे। उनकी शख्सियत बिल्कुल शायरों जैसी थी। उनके नज़्म पढ़ने के अंदाज़ में बड़ी गहराई थी और जब वह पढ़ते थे, तब एक तस्वीर-सी सामने खिंच जाती थी। एक बदहवासी का आलम अगर रोमानी गजलों में तारी हो जाता था, तो इंकलाबी नज़्में सुनकर जुनून-सा सवार हो जाता था। उनकी एक मशहूर नज़्म कुछ दिन पहले ही एक मुशायरे में सुनी थी :

उठ मेरी जान! मेरे साथ ही चलना है तुझे
कल्ले माहौल में लरजा शरीरे जंग है आज
हौसले वख्त के और जीस्त के यक रंग हैं आज
आबगीनों में तपा वलवल-ए-संग है आज
हुस्न और इश्क हम-उ-आवाज हमाहंग है आज
जिसमें जलता हूं उसी आग में जलना है तुझे
उठ मेरी जान! मेरे साथ ही चलना है तुझे
जिंदगी जेहद में है सब्र के काबू में नहीं
जलवे हस्ती का लहू कांपते आंसू में नहीं
जन्मत एक और है जो मर्द के पहलू में नहीं

कैफी साहब आए तो हमें अच्छा लगा। पर उन्हें देखकर ऐसा नहीं लग रहा था कि उन्हें कोई परेशानी है। सोचा, मनहरजी के साथ ऐसे ही चले आए होंगे। काफी देर बैठे। कुछ और नज्में भी सुनीं।

कैफी साहब चलने लगे तो ठाकुर ने पूछा, “कैफी साहब, कोई परेशानी तो नहीं है?”

कैफी साहब बोले, “भाई साहब! आपके विभाग में एक आयकर अधिकारी हैं। उनसे बस, एक बात कह दीजिए।”

हमने सोचा, शायद, कैफी साहब कुछ सिफारिश कराना चाहते हैं। पूछा, “क्या बात है? क्या वे आपको परेशान करते हैं?”

कैफी साहब बोले, “नहीं जी। बस, आप उनको यह कह दीजिए कि टैक्स चाहे जितना लगाएं, पर मुस्कराकर लगाया करें। उनकी गंभीर खौफनाक मुद्रा देखकर जी खुशक हो जाता है।”

हम लोग हंसते-हंसते बेहाल हो गए।

मनहरजी अक्सर बंबई के एक जाने-माने साहित्य-प्रेमी सूरजरतनजी मोहता के यहां संगीत, शायरी और कविता की गोष्ठियां रख लेते थे। मोहताजी दभोलकर रोड पर रहते थे। सुरुचिपूर्ण व्यक्तित्व के धनी सूरजरतन मोहता को भी साहित्य, संगीत और कविता से प्रेम था। वे क्या करते थे, उनका क्या व्यापार था या वे उद्योगपति थे—उस समय तक हमें यह सब नहीं मालूम था। न यह सब जानकारी रखने की हम लोगों ने कभी आवश्यकता ही समझी। विशुद्ध रूप से साहित्यिक गोष्ठियां हुआ करती थीं बस, यही करीब बीस-पच्चीस या तीस लोग हुआ करते थे। कुछ उनके परिवार के लोग, कुछ मनहरजी द्वारा आमंत्रित हम-जैसे, इन कार्यक्रमों के शौकीन। गोष्ठियों का सारा खर्च मोहताजी के जिम्मे होता था। मसलन, कवियों, संगीतकारों का पारिश्रमिक। उन दिनों यह रकम बहुत बड़ी नहीं

होती थी। इसके जरिए मनहरजी इन लोगों की मदद कर दिया करते थे। मनहरजी की देखा-देखी सभी लोग ठाकुर को 'भाई साहब' के नाम से ही पुकारने लगे, चाहे कोई छोटा हो उम्र में या बड़ा, स्त्री हो या पुरुष। मोहताजी के यहां की गोष्ठियों में वे, उनकी पत्नी, बहुएं, भाई, भावज, उनके बच्चे सभी शामिल होते थे। एक तरह से ये गोष्ठियां पारिवारिक गोष्ठियां ही हुआ करती थीं किंतु, हमारी पहचान औपचारिक ही रही, घनिष्टता में कभी नहीं बदली।

कई बार लोग ठाकुर से कहते कि तुम आयकर अधिकारी हो, एक उच्च अधिकारी। तुम्हें इस प्रकार किसी उद्योगपति के घर में नहीं जाना चाहिए। ठाकुर का उत्तर होता था, "मुझसे आज तक कभी किसी ने अपने व्यक्तिगत कार्य के लिए नहीं कहा, न किसी ने अनावश्यक मेल-मुलाकात बढ़ाने की कोशिश की। हां, मनहरजी मेरी उपस्थिति का भान कराके यदि किसी की कोई मदद करा देते हैं, तो इसमें हर्ज ही क्या है? किसी जरूरतमंद को कुछ मिल रहा है, तो इसमें व्यवधान क्यों बनूं? मेरे पास तो इतना पैसा है नहीं कि मैं उसकी मदद कर सकूं। फिर मैं चोरी-छिपे जाता नहीं हूं। दो-चार इष्ट मित्रों के साथ ही जाता हूं। साहित्य-संगीत का आनंद लेकर लौट आता हूं। साथ में मेरी पत्नी होती है। हमारी उपस्थिति मात्र से यदि कोई अपने को धन्य समझता है, तो इसमें हम क्या कर सकते हैं!"

यह बात बहुत अंशों तक ठीक है कि अक्सर बड़े लोगों का शौक होता है अपनी रईसी या दरियादिली दिखाने का। वैसे भी, पहले ऐसी महिफलें राजे-रजवाड़ों या सेठ-साहूकारों के घर ही हुआ करती थीं। कुछ अधिकारियों के पहुंचने से मोहताजी का रुतबा बढ़ जाता हो, ऐसी बात भी नहीं थी। यह दीगर बात थी कि मनहरजी अधिकारियों का नाम लेकर कि अमुक-अमुक व्यक्ति आएंगे, ऐसे कार्यक्रम रखवा लेते और वे यह सोचकर खुश हो लेते हों कि उनकी पहचान ऐसे-ऐसे लोगों से है। जहां तक हमने पाया, मोहताजी को स्वयं शौक था संगीत और कविता सुनने का। उनकी पहचान के दायरे में वहां आने वालों में साहित्यकार और पत्रकार भी होते थे। डॉ. धर्मवीर भारती, जो 'धर्मयुग' के संपादक थे और डॉ. महावीर अधिकारी से पहली बार हम वहीं मोहताजी के घर मिले थे। वे भी मनहरजी के कारण ही वहां आए थे। डॉ. कैलाश वाजपेयी से भी मोहताजी के यहां ही भेंट हुई। डॉ. कैलाश वाजपेयी उन दिनों लखनऊ से बंबई नए-नए आए थे। कविता बहुत अच्छी पढ़ते थे। स्वर भी बहुत अच्छा था। उनकी एक कविता, जो उस दिन उन्होंने सुनाई— 'आवाज न दो टकराएगी' ठाकुर को बहुत पसंद आई। गीत के बोल जितने सुंदर थे, उतने ही स्वर। कैलाशजी से बातचीत हुई, मालूम पड़ा दो-चार दिन बंबई में हैं। बंबई में किसी को जानते नहीं हैं। मनहरजी वहां पकड़ लाए तो आ गए। अब मनहरजी ही कह गए हैं कि थोड़ी देर में आते हैं। किसी सज्जन को छोड़कर, तब उन्हें ले जाएंगे।

उस रात मनहरजी लौटे ही नहीं। कैलाशजी को उस अपरिचित घर में ही रात गुजारनी पड़ी। फिर चार-पांच दिन तक न तो मनहरजी का पता चला, न कैलाशजी का। एक दिन

मनहर आए तो बोले, “कैलाशजी तो बहुत बीमार हो गए हैं। बंबई अस्पताल में भर्ती कराया है। उन्हीं की देखभाल में लगा रहा। अभी फल वगैरा देकर आ रहा हूं।

कैलाशजी काफी दिन बीमार रहे। ठीक होकर जब अस्पताल से छुट्टी पाई, तब मनहरजी उन्हें हमारे यहां ले आए, कहने लगे, “भाई साहब, मैं कुछ और बंदोबस्त करूंगा, तब तक मैंने सोचा, यह आपके यहां रह लें।”

ऐसा मनहरजी कई बार करते थे। दो-चार दिन का मेहमान हमारे यहां चार-पांच महीने तो साधारणतया रह ही जाता था।

हमारा घर दो शयनकक्ष, एक बैठक, एक स्टडी रूम, एक रसोईघर एवं बालकोनी वाला था। बंबई के हिसाब से काफी बड़ा। स्टडी रूम को हमने पूजा के कमरे में तब्दील कर दिया था। वैसे, वह ‘मल्टी-पर्पज’ रूम था। पूजा का कमरा भी था, स्टडी रूम भी और गेस्ट रूम भी—मनहरजी द्वारा लाए गए अस्थायी-कम-स्थायी मेहमानों का। हमारी एक ही शर्त रहती थी कि जो भी रहे, घर समझकर रहे, मेहमान की तरह न रहे। कैलाशजी हमारे यहां करीब छह महीने रहे। वे अधिकतर अपने कमरे में ही रहते और पढ़ने-पढ़ाने में लगे रहते। गेवर्डीन की पेंट और बुशर्ट पहनते थे। मेरी बेटी उन्हें एक ही से कपड़े पहने देखकर एक दिन उनसे पूछ बैठी, “अंकल, आपके पास क्या एक ही पेंट है? रोज आप इसी को पहने रहते हैं।”

कैलाश वाजपेयी से फिर बहुत अरसे तक बंबई में मिलना नहीं हुआ। बाद में सुना, वे दिल्ली रहने लगे हैं। कवि-सम्मेलनों में नहीं के बराबर जाते हैं। हिंदी साहित्य के व्यक्ति थे। अंग्रेजी साहित्य में पारंगत पत्नी मिली। यूनीवर्सिटी में पढ़ाने लगे। फिर मैक्सिको चले गए। वापस जब वे दिल्ली आए और हम लोग भी दिल्ली पहुंच गए, तब मुलाकात हुई। इस बीच न कोई चिट्ठी-पत्री, न खतो-किताबत।

कुछ दिन ऐसे ही बीते। एक दिन मनहरजी एक अन्य व्यक्ति को लेकर आए। नाम था—राजकमल भाटी। राजस्थान के रहनेवाले थे, देवी के भक्त। रोज सुबह उठकर मां दुर्गा की पूजा करते। फिर पानी पीते। तबला बहुत अच्छा बजाते थे। कहते थे, तबला-वादन में प्रेसीडेंट मेडल मिला था। तरह-तरह की आवाजें तबले पर निकालते थे। सबसे प्रभावोत्पादक तो शंख की आवाज थी। बच्चे राजकमल अंकल के सामने शंख की आवाज सुनने के लिए सम्मोहित बैठे रहते। राजकमलजी में बड़े गुण थे। बंबई फिल्मों में कुछ करने के लिए आए थे। मनहरजी से मुलाकात हो गई। राजकमलजी के पास रहने के लिए कोई ठिकाना नहीं था, सो टिक गए ‘झुनझुनवालाजी के आश्रम’ में और बिल्कुल परिवार के एक सदस्य-जैसे हो गए। उनकी छोटी-छोटी गोष्ठियां, ठाकुर ने कई जगह करवाई, परंतु कोई काम न बना। बस, छोटे-छोटे प्रोग्राम भर मिले। बाद में, काफी समय बाद बी.आर.चोपड़ा ने जब टी.वी. धारावाहिक ‘महाभारत’ बनाया, तब जाकर कहीं राजकमलजी को ब्रेक मिला।

मनहरजी ने एक दिन बताया, “भाई साहब, नीरज तो इन दिनों बहुत बीमार हैं।”

नीरज कानपुर के ही थे, हमारे डी.ए.वी कालेज के पढ़े हुए।

“क्यों? उन्हें क्या हुआ?”

“डॉक्टर कोई लंबा इलाज ही बता रहे हैं। बहुत कमजोर हो गए हैं।”

“फिर क्या किया जाए?” इन्होंने पूछा।

कई तरकीबें सोची गईं। कैसे उनकी मदद की जाए! कोई प्रोग्राम कराया जाए! ठाकुर ने कहा, “होना कुछ ऐसा चाहिए जो सम्मानजनक ढंग से हो।” इन्हें इस बात की फिक्र हमेशा रहती थी कि किसी की मदद भी की जाए तो इस ढंग से हो कि सामनेवाले को अंदाज ही न हो कि मदद की जा रही है।

नीरज को बंबई बुलाया गया। उन दिनों वह लिख भी बहुत अच्छा रहे थे, पढ़ने का ढंग भी उनका अपना था। गले को दबाकर, कुछ गला साफ करके ऊंची आवाज में वे स्वर निकालते थे, जो बहुत प्रभावोत्पादक होता था। ‘गीतों के राजकुमार’ तो वे कहलाते ही थे।

अंततः अभिनंदन की योजना बनी। बिरला मातुश्री सभागार में एक कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया। उन्हें पांच हजार रुपए की थैली भेंट की गई। उनके मुक्तक :

अब के सावन में शरारत ये मेरे साथ हुई

मेरा घर छोड़ के कुल शहर में बरसात हुई

आदि बहुत सराहे गए। बंबई ने उन्हें हाथों-हाथ लिया। कभी किसी ने उनसे पूछा, “आप फिल्मों में गीत क्यों नहीं लिखते?”

नीरज का उत्तर था, “मैं यहां किसी को जानता ही नहीं।”

तब तक नीरज से हम लोगों की मित्रता काफी गहरा चुकी थी और फिल्मी दुनिया से हमारी पहचान भी काफी बन गई थी। खार में हमारे घर के पास हेमंत कुमार, गीतादत्त आदि रहते थे। उनसे मिलना होता रहता था। एक बार मौका देखकर जब हम देवआनंद के स्टूडियो में शूटिंग देखने गए, तब ठाकुर ने नीरज की किताबें खरीदकर देवआनंद के पास भिजवाईं। बाद में देवआनंद ने उनका एक गीत—*एक कदम चल रहा अलग-अलग, दूसरा किसी के साथ है*—सबसे पहले अपनी फिल्म में लिया।

एक बार किसी ने ठाकुर से कहा, “लोग कहते हैं, आप अपने पद का फायदा उठाते हैं। क्योंकि आप अधिकारी हैं, तभी आपकी बात का वजन है। आपके कहने से देवआनंद ने किसी को इतना मौका दिया।”

इन्होंने कहा, “हमारे कृत्यों को हमारा मन जितना समझता है, उतना दूसरा कोई नहीं समझ सकता। इसलिए, मन की कसौटी पर यदि मैं सही हूं, तो मुझे किसी की परवाह नहीं कि कोई क्या कहता है। जहां तक अपने पद का दुरुपयोग किए बगैर हम किसी की मदद कर सकते हैं, बशर्ते उससे दूसरे का नुकसान न हो तो, मैं इसमें हिचकिचाता

नहीं हूँ।”

अपने इन्हीं गुणों के कारण वे सबके ‘भाई साहब’ बने।

मनहरजी का हमारे यहां आना-जाना बढ़ता ही जा रहा था। अक्सर शाम को ही वे आते। एक दिन उन्होंने बताया कि टाइम्स ऑफ इंडिया की पत्रिका ‘धर्मयुग’ के महिला पृष्ठों का एक महिला संपादन करती थीं, अब उन्होंने अपनी असमर्थता जताई है। फिर मेरी ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा, “भाभीजी, जानती हैं, उस दिन मोहताजी के यहां जो डॉ. धर्मवीर भारती थे, वही ‘धर्मयुग’ के संपादक हैं।”

‘धर्मयुग’ भारत की प्रमुख साप्ताहिक पत्रिकाओं में है, यह तो मैं जानती थी, पर मनहरजी मुझे यह सब क्यों बता रहे हैं? प्रकट में मैंने इतना ही कहा, “अच्छा, तो अब कौन वहां इन पृष्ठों को संभालेगा?”

“आप क्यों नहीं यह काम संभाल लेतीं?” मनहरजी ने कहा।

“मैं?” मैं चौंक गई। आश्चर्य से मैंने ठाकुर की ओर देखा।

“हां, हां, क्यों नहीं? इसमें बुराई ही क्या है?”

मुझे ऐसा आभास हुआ, जैसे मनहरजी और ठाकुर की पहले से ही बात हो चुकी है।

“तुम जानते हो क्या कहे रहे हो? मुझे पत्रकारिता का ए.बी.सी.डी भी नहीं आता और मैं इतनी बड़ी पत्रिका के महिला पृष्ठों का संपादन करूंगी, जिसे हिंदुस्तान के हर घर की महिला पढ़ती है! फिर मैंने तो अर्थशास्त्र में एम.ए. किया है। एल.टी. किया है। टीचिंग मेरी लाइन रही है।”

“हिंदी में साहित्यरत्न और विदुषी आनर्स भी तो किया है।” लगता था, इन्होंने पूरा मन बना लिया था कि मैं यह काम कर ही लूं। मैं घबरा रही थी। पता नहीं, आज इनको क्या हो गया है? कहां मैं एक गृहिणी और कहां ऑफिस जाकर काम करना, न बाबा न, मुझसे यह नहीं होगा। बच्चे भी तो छोटे हैं।”

इन्होंने मेरे मन के ऊहापोह को पहचानकर कहा, “तुम इतनी पढ़ी-लिखी हो। क्यों अपना टेलेंट नष्ट कर रही हो? जब तक बच्चे छोटे थे, मैंने स्वयं तुम्हें नहीं कहा कुछ करने को।”

अब मैं क्या बोलती! फिर भी मैंने एक आखिरी तुरूप का पता फेंका।

“काम तो कर लूं। पर भइयाजी क्या कहेंगे? मालूम है, वे पहले ही कहते थे, पढ़ी-लिखी लड़की आई है। होटलों में घूमेगी। यह तो उन्हें विश्वास हो गया कि मैं वैसी नहीं हूँ। अब कहेंगे, लो नौकरी भी करने लगी। हमारे घर में किसी औरत ने पहले नौकरी की है?”

“पहले किसी ने प्रेम-विवाह भी तो नहीं किया था।” इन्होंने आंख मारकर कहा, “और फिर क्या भरोसा कि तुम्हें नौकरी मिल ही जाएगी? एक बार, जाकर, डॉ. भारती

अब मैं क्या करती! मेरा जी धुकर-धुकर करता रहा और उधर तय भी हो गया कि दूसरे दिन मनहरजी के साथ मैं 'धर्मयुग' ऑफिस जाऊंगी।

दूसरे दिन नियत समय पर मनहरजी आ गए। उनके साथ मैं 'टाइम्स ऑव इंडिया' की ओर चल पड़ी, वेमन से।

'टाइम्स ऑव इंडिया' की इमारत बहुत ही भव्य थी। लिफ्ट से चढ़कर हम ऊपर चौथे माले पर पहुंचे। तरतीब से केविन बने हुए थे। लगता था, मनहरजी को वहां अधिकांश लोग जानते हैं। चौथे माले पर एक बड़ा-सा हाल था। बाहर लिखा था—'धर्मयुग'। मैंने देखा, बहुत-से लोग वहां बैठे काम कर रहे हैं। किंतु, सब पुरुष ही पुरुष थे। हां, दूसरी ओर अवश्य कुछ लड़कियां काम कर रही थीं। मालूम पड़ा, वे 'इलेस्ट्रेटेड वीकली' में हैं।

मनहरजी हाल के पास ही बने केविन की ओर मुड़े। धीरे-से 'नॉक' किया और दरवाजा अंदर की ओर ठेल दिया। भारतीजी से ठीक दो बजे का समय निश्चित हुआ था और घड़ी में दो ही बजे थे।

दो-तीन मिनट की औपचारिक बातचीत के बाद भारतीजी ने कहा, "तो आप 'धर्मयुग' के महिला पृष्ठों का संपादन करने के लिए तैयार हैं?"

"देखिए, मैंने पत्रकारिता की कोई ट्रेनिंग नहीं ली है, न कोई डिप्लोमा। मुझे संपादन का ककहरा भी नहीं आता। यह तो मनहरजी मुझे यहां ले आए। माने ही नहीं।" मैंने सफाई देते हुए कहा।

"जहां तक संपादन का सवाल है, वह तो काम करते-करते आप सीख ही लेंगी। और फिर हम तो हैं आपको बताने के लिए।" डॉ. भारती ने कहा।

"मुझे कोई अनुभव नहीं है। मैंने कभी किसी दफ्तर में काम भी नहीं किया है।" मैंने फिर भी बच निकलने का रास्ता ढूंढ़ा।

"यह बात तो हर किसी पर लागू होती है, जो पहले-पहल काम शुरू करता है।" डॉ. भारती ने मुस्कराते हुए कहा। मेरे असमंजस को समझकर वे शायद, उसका मजा ले रहे थे।

"मैं रोज ऑफिस नहीं आ सकूंगी। घर पर मेरी सास हैं, वे बीमार रहती हैं। फिर कोई न कोई मेहमान आता रहता है।" मैंने फिर टालने की भरपूर कोशिश की।

"कोई बात नहीं। आप हफ्ते में तीन दिन आ जाइएगा। तीन पृष्ठों का काम ही तो आपको देखना है।"

मुझे फिर लगा, शायद, डॉ. भारती को कोई मिल नहीं रहा, इसलिए वह मुझे जबरन फंसाना चाह रहे हैं इस काम में। मनहरजी भी मंद-मंद मुस्करा रहे थे। मैंने आखिर में फिर विनम्रता से कहा, "मेरे आने का कोई निश्चित समय नहीं होगा। घर की सुविधा के अनुसार, जब मैं समय निकाल सकूंगी, तभी आ पाऊंगी।"

मैंने सोचा था कि अब मुझे छुड़ी मिल जाएगी। इतनी शर्तों के साथ, कौन किसी

को रखना चाहेगा। किंतु, भारतीजी ने फिर कहा, “आप घर से तीन पृष्ठ बनाकर भेज दिया कीजिएगा। मिसेज जैन भी कभी-कभी ऐसा ही करती थीं।”

अब मैं क्या कहती? फिर भी एक कोशिश और की, “भारतीजी, आप समझते क्यों नहीं, मैं कर नहीं सकूंगी।” मैंने कहा।

किंतु, डॉ. भारतीजी पारखी आंखों ने पता नहीं मुझमें निहित क्या शक्ति देखी कि उन्होंने तत्काल मेरी आंखों में देखते हुए कहा, “मुझे पूरा विश्वास है कि आप कर सकेंगी और बहुत अच्छी तरह इन पृष्ठों को संभालेंगी।”

अब कोई उपाय नहीं था। भारतीजी के विश्वास की वह चमक मेरे अंतर में शक्ति का संचार कर गई—एक आत्मविश्वास, एक चेतना, एक दृढ़ता भर गई। मैंने नमस्ते की और कहा, “मैं कल से आ जाऊंगी।”

इस तरह ‘धर्मयुग’ में काम की शुरुआत हुई। तीन पृष्ठों को देखना, मैटर इकट्ठा करना, मेरा काम था। यह एक काट्रेक्ट काम था, जिसके लिए मुझे चालीस रुपए प्रति सप्ताह मिलने थे। मात्र एक सौ साठ रुपए प्रति माह।

यादें भी क्या हैं? बंद गठरी की तरह हैं। गठरी जब तक बंद रहती है, पता नहीं लगता कि उसके अंदर क्या-क्या है! जब खुलती है, तब सब कुछ बाहर आ जाता है। कुछ अपना, कुछ पराया। अपना तो अपना है ही, पराया भी कैसे छिपकर अपना हो जाता है—दिमाग की अंधेरी बंद गलियों में, दिल की गहराइयों में दुबका बैठा रहता है, और मौका पाते ही सिर ऊंचा करके, छाती तान, सामने आ खड़ा होता है।

अब जब मैं एक पत्रिका ‘धर्मयुग’ के दफ्तर में काम करने लगी, तब मेरे सोच के दायरे में भी परिवर्तन आने लगा। पहले आस-पास घटित होनेवाली घटनाओं में खास दिलचस्पी नहीं होती थी। कुछ हुआ—हो गया होगा, कोई खास प्रतिक्रिया नहीं। कोई बात सुनी—सुन ली, किस्से-कहानी की तरह। पर अब हर घटना, हर बात की तह तक जाने की इच्छा प्रबल होने लगी। कुछ घटित हुआ तो क्यों हुआ? किसी ने कोई बात सुनाई, तो यह बात कहां की थी? वैसा क्यों हुआ? बात के दौरान उसके साथ कौन-कौन था? उसने वहां क्या-क्या देखा, क्या-क्या सुना... क्या-क्या अनुभव किया। मतलब यह कि बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति बनने लगी। कार्य-क्षेत्र दो हो गए—एक घर, एक बाहर। जहां कहीं औरतों से मिलती तो खोजती रहती—वे क्या-क्या जानती हैं? घर में क्या-क्या पकवान बनाती हैं? घर की सजावट कैसे करती हैं? ‘कम खर्च बालानशी’ की कहावत को कैसे चरितार्थ करती हैं? उनके रहने का अंदाज क्या है? बच्चों की आदतों और नौकरों की समस्याओं को कैसे सुलझाती हैं? पर्व-त्यौहार-उत्सव कैसे मनाती हैं, और उनके पीछे क्या कथाएं जुड़ी हैं? इन्हीं सब बातों पर उनसे चर्चा होती।

दूसरी ओर, पुरुषों से बात करने में अधिकतर उनके कार्य-क्षेत्र के बारे में जानने की उत्सुकता बढ़ी। कैसे उनके कार्यक्षेत्र हैं, कैसी परिस्थितियों में वे काम करते हैं और

काम के दौरान क्या-क्या अनुभव उन्हें होते हैं—आदि-आदि। जाहिर था कि अधिकतर परिचित आयकर से ही संबंधित थे, इसलिए आयकर की बातें मुख्य होती थीं। पहले आयकर की कहानियां उनकी पत्नियों से सुनने को मिल जाती थीं। अब प्रत्यक्ष रूप से संबंधित व्यक्तियों से ही बात होने लगी।

एक ही घर में रहने के बावजूद हम अपने परिवार को उतना समय नहीं दे पाते थे, जितना देना चाहिए। यह बात मुझे कई बार कचोटती थी। यह सही था कि बच्चों की सारी जिम्मेदारी हमारे ऊपर थी और उसमें हमने कोई कोताही कभी नहीं की। ठाकुर भी सवेरे बच्चों को स्कूल छोड़ आते। दोपहर में बच्चों का लंच लेकर मैं स्वयं स्कूल जाती, क्योंकि, उन दिनों हम केवल एक ही नौकर या आया रखने की स्थिति में थे, जो घर के काम में ही व्यस्त रहती थी। शाम को चार से पांच बजे तक बच्चों को पढ़ाना, होम-वर्क कराना—यह सब मैं देखती थी। कभी अमित के किसी विषय में दो-चार नंबर भी कम होते, तो मैं स्कूल जाकर पता करती क्लास टीचर से कि ऐसा क्यों हुआ? मैंने बच्चों को पढ़ाने के लिए घर में ट्यूशन कभी नहीं लगाई, क्योंकि मैं जानती थी कि जितना ध्यान मैं दे सकती हूं, उतना ट्यूटर क्या देगी? मैंने उन्हें 'की' से पढ़ने या रटने को प्रोत्साहित कभी नहीं किया। 'फोनेटिक्स' के आधार पर अंग्रेजी में 'स्पेलिंग' याद करने पर जोर दिया। मुझे अपने बच्चों की योग्यता के बारे में, कमी या वेशी के बारे में, पूरा विश्वास था। मैं यह भी जानती थी कि यह समय बच्चों के अध्ययन की जड़ें जमाने का है। इस समय यदि नींव पुख्ता हो जाएगी तो आगे कोई परेशानी नहीं होगी।

मुझे अमित पर इतना विश्वास था कि एक बार न जाने किस बात पर टीचर ने कहा कि वह झूठ बोलता है। मैं तत्काल स्कूल गई। मैंने कहा, “मेरा बेटा कभी झूठ नहीं बोल सकता। आप पता कीजिए कि झूठ कौन बोल रहा है।”

मेरी बात सत्य निकली।

मेरा अनुभव सदैव यही रहा कि बच्चों पर विश्वास करने और उनकी गतिविधियों पर नजर रखने से बच्चे कभी बिगड़ते नहीं। बच्चों के मित्र कौन हैं, वे किस-किस के घर जाते हैं—मैंने इन बातों की जानकारी रखी। बीच-बीच में उनके बस्तों को खोलकर देखा कि कहीं ड्रग्स आदि की कोई गलत आदत तो नहीं पड़ रही है। दिन-भर उनके स्कूल में क्या हुआ, उसमें दिलचस्पी ली। अम्माजी शाम को बालकोनी में बैठ जातीं और नीचे खेलते बच्चों पर दृष्टि रखतीं। अक्सर पिकनिक आदि में भी बच्चे साथ जाते थे। किंतु इधर जब से इनके ऑफिस में काम की जिम्मेदारियां बढ़ गईं और हम लोग बच्चों को छोड़कर अजंता आदि गए, तब से बच्चे हमसे कुछ दूर सरक गए हैं, ऐसा मुझे अकसर लगता।

इतवार को भी बच्चे अलग व्यस्त, हम लोग अलग व्यस्त। हम लोगों ने इस बात पर आपस में चर्चा की और सोचा कि अब की इतवार को बच्चों को लेकर चलेंगे और

बंबई की झांकी दिखाएंगे। बच्चों को ट्रेन में सफर करने का बड़ा शौक था, क्योंकि ट्रेन हमेशा से बच्चों के लिए आकर्षण का केंद्र रहती है, वह चाहे किसी भी उम्र के बच्चे हों। उनकी कई बार मांग भी हो चुकी थी। रोज कार में आते-जाते जी भी ऊब गया था। ज्यादा आराम-तलबी भी ठीक नहीं होती, इसलिए बंबई की आम आदमी की 'रफ' जिंदगी, कशकमश, भागदौड़ से उन्हें परिचित कराना भी बहुत जरूरी था। फिर बंबई की 'डबल डेकर' लाल बस में घूमने का अपना ही मजा है। तो, हम चारों बेस्ट की डबल डेकर लाल बस में चढ़कर बंबई सेंट्रल रेलवे स्टेशन पहुंचे। प्लेटफार्म पर भीड़ का ऐसा आलम था कि देखते ही बनता था। इन्होंने बोरीवली के चार टिकट खरीदे। बोरीवली ही क्यों? समझ में नहीं आया कि यह बोरीवली ही क्यों जाना चाहते हैं। शायद, आज बच्चों की ट्रेन में घूमने की इच्छा को पूरी तरह संतुष्ट कराना चाह रहे हैं। हां, शायद, यही बात है। तभी लोकल ट्रेन आ गई तीर की तरह, जैसे रुकनेवाली ही न हो। लेकिन वह रुकी और भीड़ की ठेलमठेल में कौन किधर गया, इसका पता न चलने का खतरा पैदा हो गया। बड़ी मुश्किल से हम लोगों ने एक-दूसरे पर नजर रखी। ठेलमठेल ने हमें ऐसा ठेला दिया कि हम अपने आप डिब्बे में पहुंच गए। फिर ट्रेन ऐसी छूटी कि जैसे बोरीवली जाकर ही दम लेगी, लेकिन यह तो हर स्टेशन पर खट से रुक जाती और झट से चल देती।

गोरेगांव में उतरनेवाले कम थे, चढ़नेवाले ज्यादा। ऐसी ठेलमठेल कि चढ़नेवालों ने उतरनेवालों को मुश्किल से ही उतरने दिया। इससे उल्टी स्थिति अगले स्टेशन मलाड पर आई। वहां चढ़नेवाले कम थे, उतरनेवाले ज्यादा। जिन्हें न उतरना था वे भी उतरने पर मजबूर हो गए। आखिर, ट्रेन सरसराकर, बल खाकर, बोरीवली स्टेशन पर आई और थम गई।

अब ट्रेन यहां से चर्चगेट लौटेगी। चर्चगेट के यात्री जब ट्रेन पूरी तरह थमी भी नहीं थी, तभी से उछल-उछलकर अंदर घुस रहे थे। जूतों के बजने और कंपार्टमेंट की दीवारों से टक्करें लेने का धमाल देखने लायक था। जितने लोग उतरे थे, उतने ही ट्रेन में चढ़ आए थे। और साथ में चढ़ आई थी, मछलियों की गंध। मछलियों के भारी-भारी टोकरो के साथ मराठी ढंग से बारह हाथ की साड़ी पहने, माथे पर बड़ा-सा टीका, नाक में मराठी स्टाइल की नथ, बालों में फूलों की वेणी—ये मराठी बाइयां मछली बेचने के लिए बंबई जा रही थीं, हाथ नचा-नचाकर बातें करती हुई। मछलियों के टोकरो और जालों की गीली छुआन से बचना बहुत मुश्किल पड़ रहा था। बैठने को एक सीट भी खाली नहीं थी, पर क्योंकि हम लोग पहले से बैठे थे, ट्रेन से उतरे ही नहीं थे, इसलिए सुरक्षित थे। अब ट्रेन वापस चर्चगेट तक जाएगी। चलो, आज बच्चों की ट्रेन में घूमने की इच्छा पूरी हो जाएगी।

मैंने पूछा, “आपने वापसी का टिकट लिया है या नहीं?”

“आते वक्त ही वापसी का टिकट ले लिया था।” इन्होंने कहा।

चर्चगेट पहुंचकर हमने बच्चों को आइसक्रीम खिलाई। पास ही, एक लड़का फूलों

के गजरे बेच रहा था। पीछे ही लग गया—“एक वेणी मेम साहब, खरीद लो, एक वेणी।” “नहीं चाहिए भाई” कहने पर भी नहीं माना। पीछे ही पड़ा रहा। फिर मेरी लंबी चोटी देखकर बोला, “आप लोगों का ही आसरा है मेम साहब! बाकी सबने तो बाल ही कटा दिए हैं।” उसकी बात सुनकर हंसी आ गई। मैंने दो वेणियां खरीद लीं। फिर हम मेरीन ड्राइव की ओर चल पड़े। ट्रेन में बैठे-बैठे टांगें थक गई थीं, उन्हें सीधा भी तो करना था। मेरीन ड्राइव पर जहां अक्सर शादियों के मंडप सजे होते हैं, आज वहां शायद, कोई प्रदर्शनी लगी थी। झूला देखकर बच्चे मचल उठे। वे भी झूला झूलना चाहते थे।

गोल-गोल झूला, जिसका काम ही था लोगों की चीख निकाल देना। बच्चे भी चीख रहे थे किंतु, वे आनंद की चीखें थीं। उनकी किलकारियां हवा में गूंज रही थीं। दूसरी बार अभित और नन्नी सवार हुए थे गोल घेरे में। पहली बार हमने उनका साथ दिया था, लेकिन हम लोग दूसरी बार झूले पर सवारी करने का साहस नहीं जुटा पाए। दिमाग उछलकर आसमान पर पहुंच गया था। पेट का पानी उफनकर गले तक आ गया था। उफ, क्या झूला है! किंतु, बच्चों को डर कहां लगता है! दूसरी बार झूलों पर बैठे बिना माने नहीं। हम लोगों को भी वे खींचकर ले जाना चाहते थे, पर हमारी तो हिम्मत ही जवाब दे गई थी। आइसक्रीम बचेनेवाले के पास बेंच पड़ी थी। हम वहीं बैठकर बच्चों का इंतजार करने लगे और देखने लगे तमाशा, झूलों में कुर्सियों पर बैठे, छोटे-बड़े बच्चों का। सैलानी भी बैठे हैं। कुर्सियां जैसे खुद गोल-गोल घूम रही हैं। कभी आसमान की ओर उठती हैं, तो कभी जमीन की ओर झुक जाती हैं। जिसकी हिम्मत हो, वह बैठे इन कुर्सियों पर। हर बच्चा, हर सैलानी जानता है कि उसका बाल भी बांका नहीं होनेवाला है, किंतु, फिर भी चीख रहे हैं सब। बच्चों का तो झूले से उतरने का जी ही नहीं चाहता। हम बच्चों के खेल का आनंद ले रहे थे तभी ठाकुर ने धीरे-से हाथ दबाया और बोले, “सुशी, एक बात कहना चाहता था, पर ऊहापोह में था, कहूं कि नहीं।” मैं चौंक गई। कोई गंभीर बात ही हुई होगी, तभी इन्होंने नहीं बताई। घबराकर पूछा, “क्यों, क्या हुआ?”

“नहीं, नहीं, ऐसी कोई बात नहीं।” इन्होंने कहा, “तुम्हें याद होगा, पिछले हफ्ते मैं बहुत परेशान था। तुमने बार-बार पूछा था—क्या बात है? और मैंने तुम्हें कह दिया था कि मैं गोपाल के निमंत्रणपत्र को लेकर परेशान हूं। वह बात तो थी ही, एक बात और थी जिसके कारण मैं बहुत परेशान था। मेरे ही एक आफीसर राममूर्ति को एक सर्च के लिए शहर से बाहर जाना था। बेगाने शहर में, बेगानी परिस्थितियों के बीच, कभी भी कोई हादसा हो सकता था। कब ऐसा कुछ घटित हो जाए, पहले से कहा नहीं जा सकता। जहां उन्हें जाना था, वह व्यक्ति स्मगलर था। पता लगा था कि उसके पास पच्चीस लाख की अघोषित संपत्ति थी और वह स्वयं एक झोपड़ी में रहता था—समुद्र के किनारे मछुआरों की बस्ती में। इसीलिए मुझे नींद नहीं आ रही थी। जब तक वह लोग लौट नहीं आते, मेरी भी जिम्मेदारी थी। मैं कंट्रोल रूम में भी बहुत रात तक बैठा रहा और फिर घर का फोन नंबर छोड़कर, बोल आया कि हर बात की सूचना मुझे मिलती रहे। सर्व

चल रही थी, इसलिए मैं तुम्हें वह बात नहीं बता सका, पहले भी नहीं और बाद में भी नहीं।”

“फिर क्या हुआ, वह सर्च सफल हुई?” मैंने पूछा।

“हां, सफल तो हुई, पर समस्या और खतरा भी रहा,” इन्होंने बताया।

“खतरा? कैसा खतरा?” मैंने प्रश्न किया।

“राममूर्ति उस झोपड़ी की तलाशी के बाद, जब अपने साथियों के साथ बाहर आए, तब उन्होंने देखा कि करीब डेढ़ सौ आदमी हाथों में लाठियां लिए उनके ऊपर हमले के लिए, तैयार हैं। उनके हाथों में लालटेन भी थीं। राममूर्ति और उनके साथियों ने सोचा, आज खैर नहीं।”

“क्यों, पुलिस को साथ नहीं ले गए थे,” मैंने पूछा।

“नहीं, उस दिन जल्दबाजी में पुलिस को सूचना नहीं दे पाए थे। बाहर खड़े लठैतों को देखकर उनके रोंगटे खड़े हो गए। सोचा, अब क्या किया जाए। फिर सोचा, भीड़ से ही कुछ बातचीत की जाए। पर फिर सोचा, यह लोग उनकी क्या सुनेंगे? वे तो मरने-मारने को उतारू होकर आए हैं। खैर, हिम्मत के साथ धीरे-धीरे आगे बढ़े, सीना ताने कि मरना तो है ही, फिर हिम्मत से ही क्यों न मरा जाए! जैसे-जैसे वे उन आदमियों के करीब पहुंचते गए, उन्हें लगा कि लाठी अब पड़ी, तब पड़ी। पर ताज्जुब, किसी ने कुछ नहीं किया और वे सही-सलामत रेस्ट हाउस पहुंच गए। सारी रात पहरा देकर काटी। किंतु, फिर कहीं कुछ नहीं हुआ। मैं सोच नहीं पा रहा हूं कि उन लोगों ने लाठी क्यों नहीं चलाई?”

सारी घटना सुनकर मेरे भी रोंगटे खड़े हो गए।

परेशान होना स्वाभाविक था। पर हां, सोचने की बात है कि डेढ़ सौ लोगों के हाथ में लाठी, रात का समय, फिर उन लोगों ने लाठी क्यों नहीं चलाई? डरे तो वे नहीं थे। डरते तो लाठी लेकर सामने आते ही नहीं। शायद, हर लाठी दूसरी लाठी के उठने का इंतजार कर रही हो। फिर राममूर्ति की हिम्मत! किस्मत ने भी साथ दिया कि हर लाठी पड़ोसन लाठी का इंतजार ही करती रह गई।

बच्चे आइसक्रीम खाकर, झूला झूलकर खुश-खुश वापस आ गए। इतने दिन बाद पापा को टेंशनरहित-रिलैक्स मूड में देखा था। अब थक भी गए थे, सो वापस हम घर की ओर लौट पड़े।

सरोज कई बार साग्रह नासिक बुला चुकी थी। अब, जब बंबई में हम लोग ठीक से जम गए, तब सोचा, सरोज से मिल ही आएंगे। शनिवार-इतवार मिलकर जब चार दिन की छुट्टी पड़ी, तब हम लोग नासिक के लिए चल पड़े। जैसे ही, नासिक में प्रवेश किया, पहली नजर में ही भा गया—स्वच्छ, शांत शहर, खुला-खुला-सा। बंबई की रेलपेल से एकदम अलग। जब सरोज के बताए हुए पते—अशोक स्तंभ से होकर ‘तिवारी महल’ पहुंचे, तो उसका वैभव एवं ऐश्वर्य देखकर आश्चर्यचकित रह गए। जापानी शैली में ऊंचे कंगूरों

तथा जाली के बारजे, वेल्जियम के कांच-दर्पण तथा मुख्य बैठक में चारों ओर कटावदार डिजाइनों, गर्दन उठाकर देखते ही भव्यता का अहसास होता था। 'तिवारी महल' ऐसा था कि उसे दर्शनीय मानकर उस समय नासिक आनेवाले यात्री इस महल को देखने अवश्य आते थे।

हम लोगों को देखकर सरोज तो इतनी प्रसन्न हुई कि न जाने कितने प्लान बनाने लगी। क्या-क्या खिलाएंगी, कहाँ-कहाँ घुमाएंगी, क्या-क्या सुनाएंगी—न खत्म होनेवाली बातें। घर के सदस्यों से परिचय हुआ। सास, जेठ, सुदर्शन-शरमीले पति, नटखट देवर और चपल ननदें। भरा-पूरा विहसित, विलसित परिवार था। ससुर की मृत्यु हो चुकी थी, उनका सरोज पर विशेष स्नेह था। सरोज अपनी शिकायतें उनसे कहती और वे हमेशा मुस्कराकर उसकी शिकायतों का निपटारा करते थे। सरोज को उनकी कमी बहुत खलती थी।

सरोज की इंपाला गाड़ी में हम सब नासिक की तीर्थयात्रा पर चल पड़े। तीर्थयात्रा इसलिए क्योंकि, नासिक हिंदुओं का प्रसिद्ध पावन तीर्थ माना जाता है। मान्यता है कि सागर-मंथन से निकले अमृत-कलश से अमृत की कुछ बूंदें यहां भी छलकी थीं, इसलिए यहां हर बारहवें साल महाकुंभ स्नान-पर्व पड़ता है, हरिद्वार, प्रयाग और उज्जैन की तरह।

अतीत की अंधेरी बारहदरी में भागता मन देख रहा है आज से चालीस वर्ष पूर्व की वह संध्या, धूल-धूसरित, लालिमामय आकाश, प्रचंड आंधी के आसार लिए थमी-थमी सी हवा, झिझककर झांकती सूर्यास्त की मटमैली किरणें और गहरे स्लेटी रंग के बादल, सामने बहती 'दक्षिण की गंगा'—गोदावरी की अस्त-व्यस्त लहरें, काले पत्थरों से बने हुए घाट के ऊपर अहिल्याबाई होल्कर की असीम शिव-भक्ति के प्रमाणस्वरूप काले पत्थरों से ही निर्मित पुरातन विशाल शिव मंदिर।

जैसी हरिद्वार की हर की पौड़ी है, वैसा ही यहां का रामकुंड है। पंचवटी भी देखी। श्रीराम की कर्मभूमि, गोस्वामी तुलसीदास ने जिस पंचवटी के बारे में कहा है—'पंचवटी परम कुटी पत्तन से छाई।' ऐसा लगा कि यदि रामचरितमानस की पंचवटी कहीं है, तो यहीं है, बस यहीं। वही दंडकारण्य, पांच विशाल वटवृक्षों की लटकती हुई अनगिनत लंबी-लंबी जटाएं, कई फर्लांग के घेरे में छाया फैलाए हुए, गरुड़ के पंखों-जैसे पांच बरगद के पेड़। विशाल राममंदिर, जहां निर्माणकर्ताओं ने अपनी कला का ऐसा चमत्कार दिखाया कि सूर्य की प्रथम किरण सवेरे-सवेरे सबसे पहले श्रीराम के चरणों को चूमती है। निश्चय ही श्रीराम के चरण-कमल इसी तट से होते हुए सुदूर लंका की ओर गए होंगे। यहीं सीताहरण हुआ होगा, यहीं शूर्पनखा की नाक काटी गई होगी, तभी तो, उसी नासिका के कारण, इस शहर का नाम नासिक हुआ।

नासिक में श्रीत्र्यंबकेश्वर के विषय में बहुत सुना था। त्र्यंबकेश्वर : बारह स्वयंभू ज्योतिर्लिंगों में से एक ! सो दूसरे दिन हमने त्र्यंबकेश्वर जाने की योजना बनाई। नासिक से करीब तीस किलोमीटर दूर, शुभ्र धवल झरनों से सजे, हरे-भरे पर्वत शिखरों के बीच,

काले पाषाण से निर्मित पुरातन मंदिर, प्राचीन शिल्पकला-वास्तुशास्त्र का उत्तम नमूना आज भी शिव-भक्तों को दूर-दूर से अपने पास बुला लेता है। काले-कजरारे बादलों से घिरा ब्रह्मगिरि सदियों से अपने माथे पर चंद्रमौलि की जटा धारण किए, गूढ़, मौन मुद्रा में आज भी ध्यानस्थ खड़ा है।

नासिक की गोदावरी, जिसके लिए अक्सर कहते हैं—‘गंगा बड़ी कि गोदावरी’, उसका उद्गम स्थल भी यहीं है। ‘त्र्यंबकम्’ यानी तीन देव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश के मिलाप का यह मंदिर पिंडीविहीन है, उस स्थान पर एक गड्ढा-सा है, जहां निरंतर पानी रिस-रिसकर आता रहता है। पुजारी निर्माल्य रूप में वह पानी वाहर निकालते रहते हैं। त्यौहारों, उत्सवों, पर्वों पर चांदी के मुकुट व अन्य शृंगार-सामग्री से सजाकर रुद्राभिषेक होता है। यहीं कुशावर्त कुंड हैं, जहां गोदावरी का जल जमा होता रहता है। कहते हैं कि यह सह्याद्रि पर्वत पहले ज्वालामुखी था, वहीं से गोदावरी प्रकट हुई है।

नासिक शहर को चारों ओर से पहाड़ियों ने घेर रखा है। ये पहाड़ियां आकार में अलग-अलग हैं और इनका अपना महत्त्व है। माता सप्तशृंगी, जिनका वर्णन दुर्गा सप्तशती में महालक्ष्मी के रूप में है, उनका मंदिर सात पहाड़ों को पार करके बना है। अंजनेरी पर्वत, जहां अंजनिपुत्र हनुमानजी का जन्म हुआ, पास ही है। त्र्यंबकेश्वर महादेव के दर्शन कर हम लौट आए नासिक शहर।

रास्ते-भर हम सोचते रहे, उन पथरीले मैदानों से जूझते हुए आम जनता कितना कर्मठ जीवन जी रही है, खासकर यहां की महिलाएं जो मेहनत से कभी नहीं थकतीं। केवल शारीरिक ही नहीं, मानसिक रूप से भी यहां की महिलाओं की कार्य-क्षमता बहुत अधिक है। मराठी जूड़ा बनाकर, उसे फूलों की वेणी से सजाकर, शाम के समय जब गोदावरी तट पर उन्हें घूमते देखा, तब उनका प्रफुल्लित चेहरा देखकर अनुमान भी नहीं होता था कि ये वही श्रमधारी युवतियां और प्रौढ़ाएं हैं, जो सुबह से शाम तक घरों में, खेतों में काम और मेहनत-मजदूरी करती हैं। जैसे, पेरिस की आत्मा वहां की सीन नदी के तट पर बसती है, उसी तरह से नासिक शहर की आत्मा गोदावरी तट पर। शाम को गोदावरी के किनारे और रामकुंड के आसपास, आधुनिक फैशन सज्जा में सजे युवकों की टोलियां, चबूतरों पर बैठे बच्चों सहित परिवार, सूर्यास्त का रमणीय दृश्य निहारते, खड़े-मोटे अंगूरों, प्याज और कच्चे आम की फांकों से सजे चिवड़े का स्वाद लेते हुए समूहों को देखकर पेरिस की सीन नदी के किनारे देखे दृश्यों की याद ताजा हो आई।

दत्तू, सरोज के देवर, ने बड़े गर्व से बताया कि नासिक की समशीतोष्ण जलवायु के कारण यहां करेंसी (नोट) और डाक टिकट छपते हैं। भारत का पहला सैनिक स्कूल—भोंसले मिलिटरी स्कूल यहीं है और कि भारतीय फिल्म-जगत के जनक दादा साहेब फालके ने अपनी पहली फिल्म ‘लंका-दहन’ यहीं बनाई थी। ब्रिटेन के प्राइम मिनिस्टर चर्चिल और एटली यहां के गोल्फ मैदान में खेले हैं। ‘तिवारी महल’ में पंडित मदनमोहन मालवीय आकर ठहरे थे और नेपाल की रानी सहिबा ने यहां का आतिथ्य ग्रहण किया था। ‘त्यागपत्र’

फिल्म की शूटिंग भी यहीं हुई थी। नासिक के बारे में, 'तिवारी महल' के बारे में इतनी जानकारी मिली कि मुझे लगा, अगर हम कुछ दिन और यहां ठहर गए तो हमारा नाम भी इतिहास के प्रसिद्ध जोड़ों में, जिन्होंने 'तिवारी महल' का आतिथ्य स्वीकार किया था, जुड़ जाएगा और हम अमर हो जाएंगे। बहरहाल, हमारा अभी अमरता का वरदान पाने का कोई इरादा नहीं था। सो, हम लोगों ने सोचा कि अब 'तिवारी महल' से निकलना चाहिए वरना 'तिवारी महल' के पूर्वजों की गाथाएं शुरू हो गईं, तो उनका अंत पाना मुश्किल हो जाएगा। हो सकता है कि किसी समय—'अवध को अपनाकर त्याग से, बन तपोवन-सा प्रभु ने किया' होगा, पर अभी हमारी ऐसी कोई इच्छा नहीं थी, सो भारी मन से नासिक से भावभीनी विदाई ली और हम चल पड़े शिरडी 'साई बाबा' की पुण्य-स्थली की ओर।

कार द्वारा दो-ढाई घंटे का रास्ता था, करीब साठ मील, जो आजकल का एक सौ किलोमीटर होगा। महाराष्ट्र के लोग सत्य श्री साई बाबा को बहुत मानते हैं। वैसे, अब तो पूरा भारत तथा विदेशों के भी लोग साई बाबा की समाधि तथा पादुका-दर्शन के लिए आते हैं। पूरे रास्ते भजन गाते हुए और प्राकृतिक हरियाली तथा ठंडी-ठंडी फुहारों का आनंद लेते हुए हम साई बाबा के स्थल शिरडी पहुंच गए। बड़ा ही पावन वातावरण था—सभी ओर धूप-अगरबत्ती की सुगंध वातावरण को और पावन बना रही थी। मंदिर में और आस-पास के माहौल में बड़ी सादगी थी। बंबई में भी मेरी सहेली फ्रेनी एक बार मुझे ग्वालियर टैंक स्थित साई बाबा के मंदिर में ले गई थी। वहां की मूर्ति भी इतनी सजीव थी कि लगता था बाबा सामने ही बैठे हैं। तब से बाबा के बारे में जानने की उत्सुकता बढ़ी थी। सुना था कि वे शिरडी में वास करते थे। नीम के वृक्ष के नीचे बैठकर तपस्या करते, यौगिक क्रियाएं करते और बीमार, दुखी लोगों के कष्ट निवारण करते थे। यदि कोई धन देता तो गरीबों में बांट देते। उन्हें ब्रह्म-ज्ञान था और गीता कंठस्थ थी। उनका मंत्र था—'समस्त प्राणियों में ईश्वर के दर्शन करो', 'भूखे को भोजन कराओ, यही ईश्वर की सेवा है।'

मंदिर परिसर में चौबीसों घंटे धूनी जलती रहती है, जो कहते हैं, सन 1919 से, उनके समाधि लेने के बाद से बराबर जल रही है। साई बाबा को बाजरे की रोटी और प्याज का भोग लगता है। मंदिर में जाते ही साई बाबा के दर्शन हुए। ऐसी शांत मुखमुद्रा, आंखें अंदर तक बींधती हुई—उन्हें देखकर, उनके दर्शन करके ही मन में शांति का आभास हुआ—ऐसा लगा, यह तीर्थ प्राणवान है। यहां का कोना-कोना उस अमर दिव्यात्मा के स्पंदन से स्पंदित है।

दर्शन करके बाहर निकले तो सामने देखा कि बड़ा-सा शायद, नीम का पेड़ ही था—वहीं चाय की दुकानें थीं। हम चाय पीने लगे। एकाएक मेरी दृष्टि सामने गई। एक प्रौढ़ व्यक्ति, शरीर से न दुर्बल, न मोटा, हल्का ताम्र वर्ण, पेड़ के नीचे बैठा था। एकटक हमारी ओर देखते हुए उसने कहा, "चाय पिलाओ"। हम लोग चाय पी रहे थे। उसे भी चाय पिला देते तो कोई बात नहीं थी। एक बार मन हुआ भी, पर उसके कहने के ढंग

से ऐसा लगा जैसे, वह आज्ञा दे रहा हो। हमने उसको चाय नहीं पिलाई। उसकी वह मर्मभेदी दृष्टि मैं आज तक नहीं भूली हूँ। कितना समय बीत गया शिरडी की यात्रा को, किंतु, आज भी वह आकृति और वह दृष्टि मुझे भेदती-सी महसूस होती है।

मेरी शुरु से आदत रही है वृद्ध, दरिद्र, अपाहिज को ही मैं सहायता का पात्र समझती हूँ। कुछ करना है, तो उसके आंसू पोंछो और जो भूखा है, जरूरतमंद है, उसकी सहायता करो। यही सबसे बड़ी पूजा है—यही मंदिर है।

बाद में कई चमत्कार साईं बाबा के सुने। आज तक लगता है, कहीं वह साईं बाबा ही तो नहीं थे! शायद, मुझ पर उनकी कृपा नहीं होनी थी, इसलिए मैं हिचकिचाहट में पड़ गई। पर शायद, यह मेरा भ्रम हो, जो मैं ऐसा सोचती हूँ। सोचकर अपने को ढाढ़स भी दे लेती हूँ कि क्या हुआ, साईं बाबा ने दर्शन तो दे ही दिए। यह सौभाग्य तो मिला।

‘धर्मयुग’ में सप्ताह में तीन दिन आने की बात हुई थी, वह भी केवल कुछ घंटों के लिए किंतु, मुझे अपने काम में इतना अच्छा लगने लगा कि मैं सारे दिन के लिए ऑफिस जाने लगी। ‘धर्मयुग’ ऑफिस के लोग बहुत अच्छे थे। सहायक-संपादक कन्हैयालाल नंदन पहले बंबई के मीठीबाई कालेज में हिन्दी के ‘हेड ऑफ द डिपार्टमेंट’ थे, किंतु, छह महीने ही वहां उन्होंने हिंदी विभाग संभाला। फिर ‘धर्मयुग’ में आ गए। मनमोहन सरल थे, वरिष्ठ उप-संपादक, जिनके पास सारे फाइनल पेज जाते थे, उनके देखने के बाद सहायक-संपादक के पास जाते थे, जो उन्हें ले जाकर भारतीजी को दिखाते थे। प्रमोद शंकर भट्ट खेल-स्तंभ देखते थे। राममूर्ति विज्ञान पृष्ठों की सामग्री जुटाते थे, तो जितेंद्र मित्तल रहस्य-रोमांच की, सुकमाल जैन अर्थशास्त्र से संबंधित थे। प्रेम कपूर ‘कंचन’ फिल्म पृष्ठ देखते थे और किशोरी रमण टंडन बच्चोंवाला पृष्ठ।

भारतीजी का अनुशासन बहुत सख्त था। उनके केबिन में बिना बुलाए कोई नहीं जा सकता था। उनमें और ऑफिस के लोगों में आत्मीयता का कोई रिश्ता नहीं था, ऐसा मैंने कुछ दिनों में ही महसूस कर लिया था। भारतीजी से मिलने के सबके दिन निश्चित थे। उन दिनों में सबको अपने-अपने पृष्ठों की योजना बनाकर ले जाना होता था कि अगले तीन महीनों में अपने-अपने पृष्ठों में क्या देना है।

अपने-अपने दिन की खैर सब मनाया करते थे। पता नहीं क्यों, सब जैसे एक डर की छाया में रहते थे। ऑफिस के काम के घंटों में बस, काम से काम, कोई किसी से बात नहीं करता था। सब अपने काम में मशीन की तरह लगे रहते। हंसी-मजाक तो बस, लंच के समय होता था। केबिन से यदि कोई मुस्कराता निकलता तो मालूम पड़ता, बड़ी सरलता से छूट आया है। किसी का चेहरा उतरा हुआ या उदास दिखाई पड़ता, तो हम ताड़ जाते कि आज इसे अच्छी-खासी डांट पड़ी है। काम के बारे में भारतीजी बहुत सख्त थे। किंतु, मुझे भारतीजी के केबिन में जाते कभी कोई डर महसूस नहीं हुआ, शायद, इसलिए कि मैं कोई जरूरतवश तो वहां आई नहीं थी। न यह चिंता थी कि नौकरी चली जाएगी

तो क्या होगा। मैं तो आना ही नहीं चाह रही थी; पर जब आ ही गई तो काम मुझे भा गया और मैं ईमानदारी से उसमें लग गई। शायद, इसलिए भी कि मुझे कुछ सीखने की ललक थी कि सज-संवरकर एक पत्रिका कैसे बनती है, उसके पीछे कितने हाथ, कितने दिमाग होते हैं, कहाँ-कहाँ से और कैसे सामग्री जुटाई जाती है? उस विषय के पारंगत लोगों को कैसे खोजा जाता है? उनको बार-बार पत्र लिखकर, तार देकर, फोन से बात करके कैसे विवश किया जाता है कि वे लेख नियत समय पर भेज दें, चित्रों सहित। चित्र नहीं हैं, तो फिर चित्रों की खोज शुरू हो जाती। ये सब गुर मैंने 'धर्मयुग' में ही सीखे। मैं बड़ी मेहनत से अपने पृष्ठों की योजना बनाकर ले जाती। उन तीन पृष्ठों में कैसे गागर में सागर भर दूँ कि वे तीन पृष्ठ एक छोटी-मोटी पत्रिका बन जाएं, जिसे यदि महिलाएं काट कर रखें, और महीने के अंत में देखें, तो उन्हें अपनी रुचि के सभी लेख उनमें संगृहीत मिल जाएं।

धीरे-धीरे मैंने देखा कि ऑफिस में तीन दिन तो केवल जाने का नाम है। मैं तो पूरे सप्ताह ही उन तीन पृष्ठों में उलझी रहती हूँ। तीन-तीन महीनों की प्लानिंग एकसाथ करनी पड़ती। पर्व-उत्सवों पर हर बार नया कुछ देना है, तो उसकी खोज करनी पड़ती। परिचर्चाओं के नायाब विषय सोचती। यदि पाक-विज्ञान पर कुछ देना है, तो मेरे परिचितों में कौन-कौन, कैसे-कैसे विशिष्ट और विविध व्यंजन बना सकती हैं, उनसे वे व्यंजन बनवाकर, फोटोग्राफर को ले जाकर, इस ढंग से फोटो खिंचवाती कि वे आकर्षक लगें, व्यंजन की विधि में भी कोई त्रुटि न हो। फैशन के बारे में कुछ देना है तो विभिन्न बूटिक्स के चक्कर लगाना। फूल-सज्जा पर देना है, तो उसमें पारंगत लोगों की खोज करना, साथ ही इस बात का ध्यान रखना कि दूसरी पत्रिकाओं से अलग और अनूठी सामग्री ही हमारे पृष्ठों पर जाए। कई बार, कई नई जगहों पर भी जाना पड़ता था, ऐसे लोगों से मिलना पड़ता था, जिन्हें मैं बिल्कुल नहीं जानती थी। अपरिचित घरों में अकेले जाने का साहस मुझमें नहीं था। मेरी एक सहेली फ्रेनी ईरानी, जो हमारी कालोनी में रहती थीं और बड़ी बेधड़क महिला थीं, सदैव ऐसी जगहों में मेरी साथिन बनती थीं। उनके साथ मैंने बंबई की कई सड़कें छानीं।

ऐसा नहीं था कि यह सब काम मैं अकेले कर रही थी। भारतीजी का मार्गदर्शन, उनके द्वारा बताई जगहों पर संपर्क करना, भाग-दौड़ करना, पत्र लिखना, भारतीजी द्वारा कभी-कभी प्रशंसा करना और उत्साह बढ़ाना भी इन सब कामों के प्रति मेरी रुचि बढ़ा रहा था। भारतीजी द्वारा गाहे-बगाहे प्रशंसा के दो शब्द मेरा उत्साह बढ़ा देते। मैं पूरी तत्परता से काम में जुटी रहती। 'धर्मयुग' में ही रहकर मैंने प्रूफरीडिंग करना, ले-आउट बनाना, पेज बनाना आदि सीखा। इन कामों में मेरी रुचि दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। धीरे-धीरे विश्वास बढ़ने लगा, दृढ़ता आने लगी कि मैंने जो प्रूफ पढ़ा है, जो संपादन किया है, वह सही है। उसमें कहीं कोई गलती मेरी ओर से नहीं है। ऐसा नहीं था कि बीच-बीच में भारतीजी मेरे ऊपर गुस्सा नहीं हुए हों किंतु, तब तक इतना विश्वास अपने ऊपर हो चुका था और

इतना साहस आ गया था कि मैं उन्हें प्रूफ लाकर दिखा देती कि मेरी गलती नहीं है और कि फाइलन प्रूफ मैं नहीं देखती। जिन्होंने फाइलन देखा है शायद, उनकी नजरों से गलती छूट गई या प्रेस की भूल के कारण रह गई है।

‘धर्मयुग’ के मेरे प्रारंभिक दिनों में कन्हैयालाल नंदन ने मेरी बड़ी सहायता की। यद्यपि, वे ‘धर्मयुग’ में स्वयं जरूरत से ज्यादा व्यस्त रहते थे, फिर भी, जब भी मैं उनसे कोई सलाह लेती या मार्गदर्शन चाहती, वे सदैव देने को तत्पर रहते। सारे संपादक-मंडल की जिम्मेदारी उनके ऊपर थी। सबसे काम लेना, भारतीजी और सहयोगियों में संतुलन बनाए रखना, बिगड़े दिमागों को दुरुस्त रखना और उनकी गलतियों को अपने ऊपर ओढ़ लेना, वह बखूबी जानते थे। वे बहुत ही मेहनती और काम से काम रखनेवाले व्यक्ति थे। भारतीजी का गुस्सा या नाराजी सबसे अधिक उन्हें ही भुगतनी पड़ती थी, फिर भी कभी मैंने उन्हें अपने काम से पीछे हटते नहीं देखा।

भारतीजी एक यशस्वी, समर्थ संपादक थे। उन्होंने युग की मांग को समझा था। वे राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक जीवन एवं गतिविधियों से जुड़ी मानवीय संवेदनाओं को ‘धर्मयुग’ के माध्यम से भली-भांति स्पंदित करते थे। साथ ही लोकानुरंजन का पूरा ध्यान रखते थे कि ये और इनसे जुड़े सवाल और उनके हल पाठकों तक बोझिल रूप में न पहुंचें। उर्दू तथा भारतीय भाषाओं के अनेक लेखकों को वे हिंदी पाठकों के सामने लाए और इस प्रक्रिया के माध्यम से हिंदी को उन तक पहुंचाया। वे ईमानदारी व निष्ठापूर्वक अपने कार्य में लगे रहते थे। भारतीजी में अपूर्व कार्य-क्षमता थी और अनूठी प्रतिभा। जाहिर था कि वे अपने अधीनस्थ संपादक-मंडल से भी यही अपेक्षा रखते थे कि वे अपने काम में कोताही न करें। इसके लिए शायद, यह जरूरी था कि वे बाकी लोगों से (दफ्तर के) एक संभ्रम, एक डर, एक दूरी बनाए रखें। यदि वे ऐसा नहीं करते तो शायद, ‘धर्मयुग’ जैसा दिन पर दिन निखार पा रहा था, वैसा संभव न हो पाता। क्योंकि, अक्सर ऐसा भी होता है कि मातहत काम करनेवाले लोग, उस अफसर को, जो उनके दुख-दर्द में शामिल हो जाता है और घुल-मिल जाता है, उसे या तो कुछ गिनते ही नहीं हैं या फिर जरूरत से अधिक आजादी ले लेते हैं।

भारतीजी एक प्रखर बुद्धिजीवी, समर्थ रचनाकार, साहित्यकार थे। यदि वे ‘धर्मयुग’ में न आए होते, तो साहित्य-जगत को पता नहीं क्या-क्या दे जाते। ‘धर्मयुग’ एक तरह से उनका मानस-पुत्र था, जिसे सजा-संवारकर वे ऊंचाइयों की सीमा पर ले गए। इसीलिए दफ्तर में उनका जो रूप रहता था, वह बाहर के रूप से नितांत भिन्न था। दफ्तर से बाहर भारतीजी एक आत्मीय, स्वजन, सहृदय मित्र के रूप में मिलते थे। उनकी पत्नी पुष्पा भारती ठाकुर के अभिन्न मित्र और सहयोगी आनंद प्रकाश की साली थीं। हम अक्सर उनके घर जाते। वे हमारे घर आते। रात के भोजन के बाद पान खाने की भारतीजी को आदत थी। ठाकुर को भी पान खाने का बड़ा शौक था। कितनी बार ऐसा होता कि भारतीजी और पुष्पाजी रात्रि में आते, नीचे से हॉर्न बजाते और कहते, “टी.पी. चलो, पान खाकर

आते हैं।”

पान खाने भी हम कहां जाते? पैडर रोड से या तो भारतीय विद्या भवन, या वर्ली चौराहे पर या कालबादेवी। कभी-कभी पान खाने से पहले मिठाई खाने निकल पड़ते—खार की ओर, जहां मोती हलवाई की मिठाई की दुकान थी। मोतीजी स्वयं भी कविता करते थे और साहित्यकारों, कवियों को देखकर विभोर हो जाते थे। कभी हम केवल एक लंबी ड्राइव के लिए निकल जाते ‘मारेवे बीच’, ‘सिल्वर बीच’ या ‘मड आईलैंड’। अक्सर हमारे साथ गिरधारी वैद्य, उनकी पत्नी उर्मिला वैद्य और नीना भी चल पड़तीं। नीना—जो आजकल फिल्मिस्तान देखती हैं, भारतीजी और पुष्पा की अच्छी मित्र थीं और जिनके लिए हम अक्सर मजाक करते थे कि वे किंशुक (भारतीजी का बेटा) की बुआ हैं, पर भारतीजी की बहन नहीं हैं।

उन्हीं दिनों गुलशन नंदा से भेंट हुई। घरों और फिल्मों तक कोहरे की तरह छाए हुए गुलशन नंदा और उनके उपन्यास, उनके उपन्यासों पर बनी फिल्में। युवक और युवतियों के एक व्यापक समूह की चाह के एकमात्र मालिक गुलशन नंदा। क्या बात है इस लेखक में कि इतने लोग दीवाने हैं? इसको जानने की इच्छा हुई। जब मिली तो पाया कि शराब और सिगरेट—इन दोनों का उनसे कोई संबंध नहीं है। सब कुछ शीशे की तरह साफ—साफ-दिल, साफ-आदमी। नारी की मनःस्थिति का चित्रण इतनी बारीकी से करनेवाले लेखक को पता ही नहीं था, चौदह वर्ष की उमर तक, कि नारी क्या है। तब उसे केवल इतना ही अनुभव था कि जब स्काउटिंग का कैम्प लगता है और जंगल में रहना होता है, तब बड़ा मजा आता है। जगह, जहां वह रहता था, कुदरत ने बड़ी खूबसूरत बनाई थी। वह बलूचिस्तान का इलाका था। वैसे, वह खेल-कूद में रमा रहता था, पर अंतर्मन कुछ और जानना चाहता था—फूल, कली और भंवरे में क्या संबंध है? धरती से उठता बादल कहां जाता है, आदि-आदि। यही कारण है कि उसकी कहानियों में ‘लोकल’ का चित्रण अधिक है, बचपन में किए गए प्रकृति-दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है कहानियों पर। अचानक खेल-कूद से उसका मन भर गया। अकेलापन मन को भाने लगा। पिता सेवा-निवृत्त हुए तो मैट्रिक की पढ़ाई के कारण गांव में नानी के पास छोड़ दिया गया। यहां पहली बार अनुभव हुआ कि साइंस उसका विषय नहीं है। शायद, संगीत या पेंटिंग या कविता ज्यादा रास आएगी। इसी दौर में फिल्मों में मन लग गया और वह कोई भी फिल्म देखकर आता, दूसरे दिन साथियों को पूरे डायलॉग के साथ सुना मारता। साथी दंग रह जाते। इतना सब इसे कैसे याद रहता है! अकेलेपन और फिल्मों ने एक साथी और दिया—ग्रामोफोन। सहगल, पंकज मलिक और बेगम खुशींद के इतने रिकार्ड जमा हो गए कि गांव में होनेवाली एक शादी में उससे कहा गया कि शादी के दस-बारह दिन पहले से रोज रिकार्ड बजाकर सबका मन बहलाए। आसपास के घरों की लड़कियां आने लगीं, उन्हें घेरे रहतीं। यहीं से शुरुआत हुई रोमांस की। गांव से कॉलेज आया, तब पहले-पहल लिखने की बात दिमाग में आई। सबसे पहले

जो कहानी लिखी, वह मजदूरों के हितों को लेकर थी। उसके बाद 'एक रात' कहानी भाई-बहन की भावनाओं पर आधारित थी।

मैंने पूछा, "राष्ट्रवादी, मजदूरों का हिमायती लेखक रोमांस की कोमल भावनाओं की ओर कैसे झुक गया?" तो बताया था गुलशनजी ने कि अपनी शुरू-शुरू की रचनाएं वे अपने एक मित्र की बहन को दिखा देते थे। उसकी रुचि भी कहानी-लेखन में थी। दोनों का मेल-जोल बढ़ता देख लड़की के घरवालों ने मिलने-जुलने पर पाबंदी लगा दी। यद्यपि, उनकी मित्रता निश्चल थी। बहुत दिन बाद मालूम हुआ कि वह लड़की बीमार है और उसने गुलशन को मिलने को बुलाया है।

वह उससे मिलने गए। वह लड़की बहुत रोई और बोली, "मैंने अपने भाई से बढ़कर तुम्हें चाहा था, पर दुनिया नहीं समझी। यदि मुझे कुछ हो जाए तो इस पर एक कहानी लिखना। दूसरे दिन आने का वायदा करके वह लौट आए। अगले रोज वह जाते कि उससे पहले ही वह लड़की चल बसी। इस घटना का उन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। ऐसी बीसियों घटनाओं ने उन्हें रोमांस, घरेलू जिंदगी, जीवन-संघर्ष को समझने का अवसर दिया।

मैंने पूछा, "क्या आपका पहला उपन्यास ही लोकप्रिय हो गया था?"

"नहीं, ऐसा नहीं हुआ।" पढ़ाई समाप्त करने के बाद वे व्यापार करने लगे। उसी सिलसिले में बंबई गए। अपने चाचा निर्माता-निर्देशक जे.के. नंदा की फिल्मों की शूटिंग देखी और लिखने की चाह फिर जाग उठी। वापस लौटकर लिखने लगे और जिस दिन उपन्यास पूरा हुआ, उसे प्रकाशक के पास ले गए। कोई भी प्रकाशक उपन्यास छापने को तैयार नहीं हुआ, इसलिए अपने खर्चे से उपन्यास छपवाया। उपन्यास का नाम था—'घाट का पत्थर।' उसके बाद उस उपन्यास की एक-एक प्रति उन्होंने अपने मोहल्ले के दस-बारह घरों में दी, यह कहकर कि सुबह वह इसे वापस ले जाएंगे और उनकी प्रतिक्रिया पढ़ेंगे। रात को एक बजे साइकिल पर पूरे मोहल्ले का चक्कर लगाया कि किन घरों की बत्तियां रात देर तक जलती रहीं। जहां-जहां उपन्यास दिया था, सभी जगह रोशनियां मुंह उघाड़े खड़ी थीं। बस, उन्हें प्रतिक्रिया पूछने की जरूरत नहीं रही। उन्हें पता लग गया था कि उनका उपन्यास लोकप्रिय होगा और वही हुआ। इसके बाद 'जलती चट्टान', 'कटी पतंग', आदि-आदि अनेक उपन्यास आए। साहित्य की दुनिया में तो वे स्थापित नहीं हुए, किंतु, लोकप्रिय लेखक बन गए। उनके उपन्यासों पर अनेक फिल्में भी बनीं और खूब प्रसिद्ध भी हुईं।

उपन्यास की लोकप्रियता जानने का यह मापदंड अभूतपूर्व था और पहली ही बार सुना था मैंने।

रोमांस का मानवीय पक्ष उन्होंने देखा था। व्यापारिक दृष्टिकोण से सामना इस प्रकार हुआ कि जब व्यापार में घाटा हुआ तो उनकी दीवानी प्रेमिका उन्हें धोखा दे गई और बोली, "तुम ढाई सौ रुपए में मुझे रखोगे कैसे? सौ रुपए तो मेरे मेकअप का खर्च है और जो लेखक होने की तुम बात कर रहे हो, उसकी कद्र कहाँ है?" युवक-युवती के आकर्षण

के अतिरिक्त जो पारिवारिक 'टच'—कथा-प्रवाह और घटनाओं के घटित होने का जोड़ा हुआ मसाला, अपने अनुभवों के आधार पर गुलशन नंदा ने प्रस्तुत किया, उसने उन्हें सस्ती किस्म के लेखक का ही खिताब दिला दिया। यह बात उनको कई बार बहुत दुख देती थी। एक बार उन्होंने इच्छा प्रकट की हिंदी साहित्य के उच्च-स्तरीय लेखकों से भेंट करने की। यदि ऐसा हो जाए तो वे उसे अपना बहुत बड़ा सौभाग्य समझेंगे। डॉ. धर्मवीर भारती के तो वे बहुत बड़े प्रशंसक थे, जिसे फिल्मी भाषा में 'फैन' कहते हैं। हमने वायदा किया कि हम उनकी यह इच्छा अवश्य पूरी करा देंगे।

कुछ ही दिन बाद एक साहित्यिक आयोजन हमारे यहां हुआ। हिंदी के गई गणमान्य लेखक वहां आए थे। हमने गुलशन नंदा को भी बुला लिया कि इस प्रकार उनकी इच्छा पूरी हो जाएगी। वे एक साहित्यकार के रूप में आमंत्रित नहीं थे, केवल एक श्रोता के रूप में ही बुलाए गए थे। किंतु, उस दिन, उन्हें वहां देखकर हमारे कई साहित्यिक मित्र भड़क उठे कि हमने उन्हें साहित्यकारों की इस गोष्ठी में क्यों आमंत्रित किया! गुलशन नंदा तो उनके साथ बैठने योग्य भी नहीं हैं। हमारी स्थिति बड़ी ही विचित्र हो गई। गुलशन नंदा ने भी बार-बार कहा, "मैं तो आप लोगों का 'फैन' हूँ," पर स्थिति संभली ही नहीं। काफी देर तक सबके वाक्-वाण सहते-सहते जब वे बुरी तरह आहत हो गए, तब उठते हुए उन्होंने कुछ तलखी से कहा, "आप लोग मुझे लेखक मानें या नहीं, मुझे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, पर आज आप यूनिवर्सिटी और कॉलेजों के लड़के-लड़कियों, छात्र-छात्राओं के बीच चले जाइए, कितने लोग होंगे, जो आपको जानते होंगे? पर मेरे तो लाखों-हजारों फैन समाज के हर तबके में, शायद, आप जिसे नीचा तबका ही क्यों न समझें, मिल जाएंगे। यह मेरा दंभ नहीं है, आपको चुनौती है। मैंने तो आप लोगों से मिलना अपनी खुशकिस्मती समझा था, पर मुझे नहीं पता था कि आप लोगों के 'मन' इतने छोटे हैं?"

उस दिन के बाद मैंने भी महसूस किया कि उच्च-स्तरीय लेखकों की बात तो छोड़ दीजिए, हिंदी का छोटा-मोटा लेखक भी इस दर्प और झूठे दंभ से पीड़ित है। जिसने भी दो-चार कहानियां लिख लीं, वह अपने को उच्च-स्तरीय मानने लग जाता है और दूसरों को हिकारत की नजर से देखने लगता है। यही कारण है कि हिंदी उतनी पुष्पित और पल्लवित नहीं हुई, जितना कि उसे होना चाहिए था। यह एक अच्छी-खासी बहस का विषय हो सकता है कि श्रेष्ठ साहित्य क्या है? उसकी कसौटी क्या है? क्या न्यूजप्रिंट पर पॉकेट बुक्स में छपा साहित्य घटिया ही होता है और अच्छे किस्म के चिकने कागज पर सज-धजकर छपी कोई कृति श्रेष्ठ हो जाती है? उस दिन गुलशन नंदा पर बरसनेवाले एक परम श्रेष्ठ साहित्यकार का एक बहुचर्चित उपन्यास भी गुलशन नंदा के उपन्यासों—जैसा ही था, पर चूंकि वे एक बड़े प्रतिष्ठित साहित्यकार थे, इसलिए उनका वह उपन्यास 'उच्च-कोटि' का माना गया था—मगर उसके बारे में ही एक प्रसिद्ध समालोचक ने कहा था—'वह किशोर-वय-बुद्धि के लोगों का उपन्यास है।' जबकि, इसी 'किशोर-वय-बुद्धि' के कारण नंदा के उपन्यासों को घटिया माना जाता है।

भारतीजी के साथ ही हमारी भेंट मोहन राकेश से हुई। मोहन राकेश उन दिनों 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आधे-अधूरे' जैसे नाटकों के रचयिता, भाव-प्रवण, चेतनाशील कलाकार और लेखक के रूप में प्रसिद्ध थे। जितना व्यवस्थित उनका लेखन था, उतने ही अव्यवस्थित वे अपने जीवन में थे। यह हमने सुना-भरा था। मोहन राकेश से मिलकर लगा कि यह बात बहुत अंशों तक सच है। एक जगह टिककर वह कहीं रहे ही नहीं, आज इस मकान में तो कल दूसरे मकान में। भारतीजी जब हमारे घर आते, तब पान खाने तो हम घर से निकलते ही। कई बार, जब मोहन राकेश बंबई में होते, तब उनके उधर भी चल पड़ते। बंबई की सड़कों की खाक छानने के बाद बारह-साढ़े बारह बजे रात्रि को हम पहुंचते मोहन राकेश के घर। नीचे से घंटियों पर घंटियां बजाते। कार का हॉर्न देते। मोहन राकेश नींद में आंखें मलते हुए उठते और आंखें मलते हुए ही दरवाजा खोलते हुए कहते, "यार, क्यों हमें यहां से भी निकलवाने पर तुले हो, यह मकान भी खाली करवाना चाहते हो। यदि तुम लोगों की मेहरबानी ऐसे ही बरसती रही तो यह भी हो जाएगा।" फिर पाजामा बदलकर नीचे आ जाते। मैं, मेरे पति, भारतीजी, उनकी पत्नी पुष्पा भारती, मोहन राकेश और उनकी मित्र अनीता—हम छहों जने मेरीन ड्राइव के चक्कर लगाते। मोहन राकेश, भारतीजी और टी.पी. के ठहाकों से चौपाटी की फिजाएं गूंज उठतीं। वे आसमान फाड़नेवाले ठहाके सुनकर आस-पास चलते लोग ठिठककर खड़े हो जाते और हमें घूरने लगते। बीच-बीच में होतीं तराशदार बातें। कैसे-कैसे तो रिमार्क कसे जाते! मेरी या पुष्पाजी की किसी हाजिर-जवाबी पर फिर ठहाका, ऐसा ठहाका कि निस्पंद पड़ी रेत में भी हलचल हो जाए। समकालीन लोगों की खिंचाई होती, हल्के-फुल्के मजाक, गपशप। लोगों की खिंचाई करना भारतीजी को बहुत पसंद था किंतु, इनमें किसी के प्रति कोई दुर्भावना नहीं रहती थी। कभी बस, मजा लेने-भर के लिए यह सब 'एक्सरसाइज' होती थी, जैसे कभी कोई गंभीर अध्ययन के बाद मिल्स या ब्रूस की किताब पढ़ ले या कोई कॉमिक देख ले। तब मैं भारतीजी के बारे में अक्सर सोचती, यह कैसे बुद्धिजीवी हैं, कभी कोई गंभीर बात ही नहीं करते हैं?

इतनी सब घनिष्टता होने के बाद दूसरे दिन फिर सवेरे 'धर्मयुग' पहुंचती तो भारतीजी का वही संपादकवाला चेहरा सामने आ जाता—सख्त, कठोर, निर्विकार। यह निर्विकारता कभी-कभी फूट भी पड़ती लावे के रूप में। अक्सर लोग फिकरा कसते, "आदमी जब घर से डांट खाकर आता है, तब ऐसा ही होता है।" उन दिनों भारतीजी के परिवार में उलझन चल रही थी, उन्हीं बातों को लेकर ऑफिस में खुरसर-पुसर होती रहती थी।

मेरे साथ शुरू-शुरू में ऑफिस के लोगों को शायद, यह डर था कि भारतीजी से चूंकि हमारे पारिवारिक संबंध घनिष्ट हैं, इसलिए आपस की बातचीत में या गाहे-बगाहे उनकी 'अफसरशाही' के खिलाफ जो बातें होती हैं, वह मैं भारतीजी को बता दूंगी और इन लोगों की परेशानी और बढ़ जाएगी। भारतीजी भी अप्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में शायद, ऐसा ही कुछ मुझसे चाहते थे, ऐसा मुझे कभी-कभी उनकी किसी बात से लगता था।

हो सकता है, यह मेरा भ्रम ही हो। पर धीरे-धीरे सबको पता लग गया कि मेरा स्वभाव कैसा है। मेरी अंतरात्मा कभी यह गवारा नहीं करती कि अपने सहयोगियों के विश्वास को भंग करूं। इसलिए बाहर जो बातें होतीं, मैं उन्हें वहीं खत्म कर देती थी। उन्हें संपादक के केबिन तक कभी नहीं ले जाती थी। मित्रता और कार्य-क्षेत्र में सदैव हमने एक दूरी रखी। न कभी उस समय और न बाद में ही कोई फायदा, मित्रता के कारण उठाया, और न ही किसी को नीचे गिराया। इन सब कारणों से जल्दी ही सबसे एक आत्मीय रिश्ता कायम हो गया, जो 'धर्मयुग' छोड़ने के बावजूद बना रहा।

भारतीजी के केबिन में जाकर मैं केवल अपने पृष्ठों की बात करती। इसके सिवाय पांच वर्षों के कार्यकाल में, न तो परिवार की, न सहयोगियों की कोई बात कभी भारतीजी से उनके केबिन में हुई, इस कारण सब कुछ अच्छा चल रहा था। किंतु, बीच-बीच में ऑफिस में जो हड़कंप छिपे-दबे होता था, उसे मैं देखती जरूर थी, पर उससे मैं बेलाग रहती। कई बार देखती, दो अच्छे मित्र एक-दूसरे से बातचीत एकाएक बंद कर देते हैं और वातावरण बोझिल हो जाता है। ऐसा क्यों हुआ, इस पचड़े में मैं कभी पड़ती नहीं थी।

इसलिए जब एक दिन एक घटना घटी, तब मुझे बड़ा बुरा लगा। धक्का लगना ही कहेंगे उसे। बात ऐसे हुई कि मैं कमरे से निकलकर लेडीज रूम की ओर जाने लगी। उसी समय नंदनजी भी उठे और शायद, किसी काम से भारतीजी के केबिन में गए। या शायद, उन्हें वहां बुलाया गया था। मैं जब लेडीज रूम से बाहर निकली, उसी समय नंदनजी भी भारतीजी के केबिन से बाहर निकले। उनका मुंह तमतमा रहा था। वे एकदम मेरे पास आए और बोले, "भारतीजी आपको बुला रहे हैं।" मैं यह तो समझ गई कि कोई गंभीर बात है, क्योंकि यह इबारात तो नंदनजी के चेहरे पर लिखी हुई थी। मैं उनसे पूछती कि क्या बात है, इसका मौका ही नहीं दिया उन्होंने, और मुझे ले जाकर खड़ा कर दिया भारतीजी के सामने। मैंने एक बार भारतीजी को देखा, एक बार नंदनजी को। समझ नहीं आया कि माजरा क्या है? मुझसे एक सांस में नंदनजी ने कहा, "भारतीजी कहते हैं कि मैं आपसे शालीनता से बात नहीं करता हूं। आपके प्रति बे-अदबी दिखाई है मैंने। आपको अफसरशाही का रुतबा दिखाता हूं। मैंने कब आपसे बेकायदे बात की है?" नंदनजी ने तो मुझे एकदम कठघरे में ले जाकर खड़ा कर दिया। मैं भौंचक रह गई। मैं करीब-करीब रोज ही ऑफिस में अपने पृष्ठों के बारे में नंदनजी से बात करती थी, सलाह लेती थी और उन्होंने मुझसे बात करने में कभी अपनी संस्कारशीलता नहीं छोड़ी और न ही अफसरशाही झाड़ी। अतएव, मैंने जो सही और सच्ची बात थी, वह कह दी। मैंने कहा, "भारतीजी, मैंने तो कभी आपसे नंदनजी के बारे में ऐसी कोई बात नहीं की!"

अब निरुत्तर होने की बारी भारतीजी की थी किंतु, वे ऐसा कैसे कर सकते थे! अफसरशाही का रुतबा असल में उनको दिखाना था। नंदनजी को उखाड़ने के लिए वे मुझे मोहरा बनाना चाहते थे। अतएव उन्होंने कहा, "आपने मुझसे नहीं कहा था कि काम के बारे में नंदन चाहे जो कुछ कहें, पर कायदे से तो, मुझसे बात किया करें!"

मैंने जब कोई ऐसी बात कहीं ही नहीं थीं, तब मैं कैसे मान लेती! अतएव मैंने कहा, “नहीं, भारतीजी, मैंने आपसे कभी ऐसा नहीं कहा।”

भारतीजी का चेहरा देखने लायक था। वे झूठे पड़ गए थे और वह भी नंदनजी के सामने। वे फिर अब की बार जोर से बोले, “आप झूठ बोलती हैं।” मुझे गुस्सा तो आया कि इतने बड़े व्यक्तित्व का यह कैसा आदमी है, जो सच को झूठ बता रहा है! फिर भी मैंने शायस्तगी से कहा, “भारतीजी, मैं फिर कहती हूँ कि मैंने आपसे ऐसा कभी कुछ नहीं कहा।”

भारतीजी ने शायद, सोचा भी नहीं था कि कोई उनके केबिन में उनकी बात को यूँ नकार देगा। वह कुर्सी से आधे उठ खड़े हुए, मेज पर हाथ मारते हुए और क्रोध से मेरी ओर देखते हुए गरजे, “आप झूठ बोलती हैं।”

अब तो मुझे भी गुस्सा आ गया। मैं उनके पद की गरिमा को देखते हुए, उनसे आराम से बात कर रही हूँ और यह मुझे बार-बार झूठा वतला रहे हैं। मैं भी कुर्सी से उठ खड़ी हुई और जरा जोर से, पर गुस्से से बोली, “भारतीजी, आप झूठ बोल रहे हैं। मैंने आपसे कभी ऐसा कुछ नहीं कहा। और यह बात आप जानते भी हैं।”

कोई भारतीजी-जैसे आदमी को झूठा कह दे, यह तो एक अनहोनी बात हो गई। भारतीजी गुस्से से विफरते हुए फिर बोले, “आप झूठ बोल रही हैं।”

मुझे भी तैश आ गया। मैंने हाथ की नोट-बुक मेज पर पटककर गुस्से से कांपते हुए कहा, “भारतीजी, आप जानते हैं कि सही बात क्या है! यह रखिए अपनी ‘धर्मयुग’ की नौकरी। अपना लिखित त्यागपत्र आपके पास शाम तक पहुंचा दूंगी।” कहकर तीर की तरह मैं बाहर आई, अपनी मेज पर पहुंची, किताबें उठाई और ऑफिस के बाहर आ गई। मुझे सच में, बहुत गुस्सा आ रहा था। कभी किसी ने मुझसे इतने तेवर दिखाकर बात नहीं की थी और न ही मैंने गुस्से से कभी किसी के साथ, इतने जोर से बात की थी।

मैं ऑफिस से सीधे अपने पति के ऑफिस आई क्योंकि, अपने मन का आक्रोश मैं किसी के सामने निकालना चाहती थी। जैसे ही मैं लिफ्ट में चढ़ी, मैंने देखा, एक मिनट बाद ही भारतीजी उसी लिफ्ट में आ गए हैं। मैं पीछे खड़ी थी, आगे कई और लोग थे, इसलिए वे मुझे देख नहीं पाए। मैं चौथे माले में, इनके कमरे में न जाकर एक फ्लोर ऊपर, जहां इनके भतीजे आर.एस. झुनझनवाला का कमरा था, वहां चली गई। वहां से ठाकुर को फोन करके बता दिया कि क्या हुआ और मैं ऊपर ही बैठी हूँ।

बाद में पता चला कि मेरे आने के बाद ही भारतीजी भी ऑफिस से निकल पड़े। ऑफिस में हड़कंप-सा मच गया था कि यह क्या हो गया? यह भी पता चला कि भारतीजी ने मेरे पति को बताया कि भाभी नाराज होकर चली गई हैं। ऑफिस के बाहर भारतीजी मुझे ‘भाभी’ ही कहते थे, ऑफिस में ‘शीलाजी’। मेरे पति ने कहा कि आपकी बात तो मैंने सुनी, पर शीला से बात किए बगैर मैं कुछ कह नहीं सकता कि असल में क्या बात

हुई और वह इतनी नाराज कैसे हो गई? उसका स्वभाव तो ऐसा नहीं है।

इसके बाद पंद्रह दिन मैं ऑफिस नहीं गई। ऑफिस में सबको सब बातें मालूम हो गई थीं। खैर, पंद्रह दिन बाद हमारी शादी की सालगिरह थी। भारतीजी उस दिन घर आए। बहुत ही उमंगते हुए हमें बधाई दी। मुझसे कहा, “अरे, भाभी, आप तो नाराज हो गई। ऐसे भी कहीं नाराज हुआ जाता है?” फिर अपनी एक पुस्तक ‘सूरज का सातवां घोड़ा’ उपहार में दी और कहा, “अब कल से ऑफिस आ जाइए।”

यह भारतीजी की विशालहृदयता थी कि वे अपने आप आए या हो सकता है, मेरे पति ने अपनी मित्रता निभाते हुए उन्हें उस दिन आने को कहा हो, मुझे नहीं मालूम। पर उनके-जैसे व्यक्तित्व का इतना बड़ा लेखक-पत्रकार स्वयं आकर कहे कि ऑफिस आ जाऊं सो, सब भूलकर मैं दूसरे दिन से फिर ऑफिस जाने लगी। पर फिर, सब कुछ वैसा नहीं रहा। काम तो मैं वैसे ही लगन से, निष्ठा से करती रही, भारतीजी से मेरे पति की और परिवार की मित्रता भी चलती रही, मैं उनका आदर भी करती रही, पर जैसा कि कहते हैं :

*रहिमन धागा प्रेम का मत तोड़ो चटकाय
जोड़े तो फिर न जुड़े जुड़े गांठ पड़ि जाए।*

ऐसा ही कुछ हुआ। और शायद, भारतीजी भी उस घटना को पूरी तरह भुला नहीं पाए।

बहुत दिनों बाद की बात है। दिल्ली आकर जब मैं एक-एक सीढ़ी लांघते हुए ‘साप्ताहिक हिंदुस्तान’ की संपादक बनी, तब साहित्य कला मंच, बंबई ने मेरे स्वागत में एक सम्मान-समारोह आयोजित किया। अध्यक्ष थे डॉ. धर्मवीर भारती। मेरे लिए यह बड़े गौरव की बात थी कि जिस ‘बरगद’ की छाया में मैंने इतना सीख लिया कि दैनिक, साप्ताहिक और मासिक—तीनों तरह की पत्रकारिता का संपूर्ण ककहरा पढ़ सकी, वे भारतीजी आज मेरी ही सम्मान सभा के अध्यक्ष थे। उस दिन उन्होंने संपूर्ण मन से, जो कहा वह आज तक मेरे हृदय-पटल पर अंकित है।

भारतीजी ने कहा, “मुझसे पहले के वक्ताओं ने शीला झुनझुनवाला की पत्रकारीय उपलब्धियों को रेखांकित करते हुए जो कुछ कहा है, उसी संदर्भ में मैं कहना चाहूंगा कि महत्त्व केवल सूर्य की रोशनी का नहीं होता, महत्त्व पौधे का भी होता है। सूर्य की रोशनी तो सब जगह पड़ती है, हर पौधे को मिलती है, किंतु, गुलाब का फूल केवल गुलाब के पौधे पर ही खिलता है। एक ओर जहां यह सच है कि शीलाजी ने अपनी पत्रकारिता ‘धर्मयुग’ से शुरू की थी, वहीं दूसरी ओर यह भी सच है कि ‘धर्मयुग’ में तो बहुत से पत्रकार आते और जाते रहे हैं, आते और जाते रहेंगे। ‘धर्मयुग’ को यदि सूर्य मानें, तो इस सूर्य की रोशनी न जाने कितने पत्रकार पा चुके हैं और भविष्य में भी पाएंगे किंतु,

पत्रकाररूपी इन सभी पौधों पर गुलाब नहीं आए। शीलाजी की प्रगति उनकी अपनी क्षमता, कार्य-निष्ठा, दायित्व-भावना और प्रतिभा की घोटक है।

“यहां यह भी कहा गया है कि पिछले डेढ़ दशक में कोई महिला इतने बड़े साप्ताहिक की संपादकीय कुर्सी तक नहीं पहुंची, जितना बड़ा ‘साप्ताहिक हिंदुस्तान’ है। वास्तविकता यह है कि केवल डेढ़ दशक में ही क्यों, पिछले डेढ़ सौ वर्षों के हिंदी साहित्य के, अब तक के इतिहास में इतने बड़े संपादकीय पद पर कोई महिला आसीन नहीं हुई। यों शीलाजी की यह प्रगति केवल घटना नहीं, इतिहास बन गई है।

“टी.पी. झुनझुनवाला और शीलाजी के साथ मेरे अत्यंत घनिष्ठ घरेलू संबंध हैं। यदि ‘धर्मयुग’ न होता, स्वयं मैं पत्रकार न होता, शीलाजी पत्रकार न होतीं और यदि टी. पी. साहित्य एवं विविध कलाओं के पोषक न होते, तब भी मेरे स्नेह संबंध इनके साथ वही होते, जो आज हैं।

“आज का अवसर मेरी ओर से शीलाजी को आशीर्वाद देने का ही अवसर है, किंतु, मैं आशीर्वाद से भी अधिक, एक कुशल मशाल—जिम्मेदार पत्रकारिता की मशाल, जिसे माखनलाल चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी ने जलाया था, शीलाजी के सक्षम हाथों में सौंपता हूं, इस विश्वास के साथ कि यह मशाल कभी बुझेगी नहीं। हिंदी के सामने आज अनेक सांस्कृतिक चुनौतियां हैं। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी मोर्चों पर आज हिंदी को दबाया जा रहा है। हमने हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर बिठाया जरूर किंतु, इसी हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए आज यदि हम मुंह भी खोलते हैं, तो संकीर्ण और शठ घोषित कर दिए जाते हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी जागरूक पत्रकार को आशीर्वाद की नहीं, मशाल की ही जरूरत है।

“पत्रकारिता की दुधारी तलवार पर चलना कितना दुष्कर है, शीलाजी खूब जानती हैं और अपने दायित्व को अब तक पूर्ण निष्ठा से निभाती रही हैं। ‘साप्ताहिक हिंदुस्तान’ के रूप में इन्हें इसी दायित्व की पूर्ति का नया माध्यम और शक्तिशाली संबल प्राप्त हुआ है। मेरे आशीर्वाद, बधाई, शुभकामनाएं शीलाजी के साथ हैं। और जहां तक स्नेह का प्रश्न है, टी.पी. और शीला को मैं पहले ही से इतना स्नेह दे चुका हूं कि उससे अधिक स्नेह आज यदि दूं भी तो कैसे दूं?”

भारतीजी के ये शब्द मैं आज तक नहीं भूली हूं। ‘साप्ताहिक हिंदुस्तान’ का स्वरूप बदला, उसमें आश्चर्यजनक परिवर्तन किए। पांच वर्षों तक मैंने ‘साप्ताहिक हिंदुस्तान’ का संपादन किया। पाठकों ने ‘साप्ताहिक’ को सराहा भी खूब। मैंने पूर्ण निष्ठा, दायित्व और ईमानदारी से ‘साप्ताहिक हिंदुस्तान’ को सजाया-संवारा, बिना कोई गुट बनाए। किसी व्यक्ति को नहीं, बल्कि रचना की गुणधर्मिता को ही प्रश्रय दिया।

भारतीजी के प्रति मेरा और मेरे पति का अनन्य स्नेह और आदर का संबंध अंत तक बना रहा परंतु, उस समय मेरे मन को बड़ी चोट लगी, जब साप्ताहिक पत्रिका ‘रविवार’ में प्रकाशित एक भेंटवार्ता में भारतीजी से पूछा गया कि पत्रकारिता के क्षेत्र में उनकी परंपरा

को बढ़ानेवाले (ध्वजवाहक) कौन-कौन हैं, तब उन्होंने उदयन शर्मा, सुरेंद्रप्रताप सिंह और गणेश मंत्री का नाम तो लिया लेकिन, कन्हैयालाल नंदन और शीला झुनझुनवाला का कहीं नाम नहीं लिया।

इसके बावजूद, कहीं मिलता-जुलता एक अदृश्य तार हमें उनसे सदैव बांधे रहा। मेरे पति की तो एक कमजोरी ही कहिए, भारतीजी थे। मैं स्वयं भारतीजी को पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना गुरु मानती रही हूँ और इसी कारण वे सदैव मेरे आदर और स्नेह के आधार रहे। जब कभी बंबई जाती, उनसे मिले बिना न आती। फोन पर भी, जब कभी बात होती तो, वे इतने उमगते-से स्वर में पूछते, “भाभी, कब आई दिल्ली से? कब मिल रही हैं?” कि मन के सारे दुख तिरोहित हो जाते।

विस्तार

- फिल्मी हस्तियों से परिचय ● रामगढ़ में छिपा बंबई का सोना
- रहस्य-रोमांच के तिलिस्म

उन दिनों आयकर विभाग में मेरे पति के अधिकारी कमिश्नर थे श्री विश्वनाथन। कलकत्ता में भी वह ट्रेनिंग इंचार्ज थे। पर वहां उनसे और उनके परिवार से कम ही मिलना हुआ था। विश्वनाथनजी साउथ इंडियन थे। उनकी पत्नी श्रीमती विश्वनाथन बहुत ही चुस्त और हर गतिविधि में हिस्सा लेनेवाली महिला थीं। उनकी सबसे बड़ी खूबी थी कि वह बारह भाषाएं जानती थीं। हर भाषा में वह उतनी ही पारंगत, जितनी अपनी मातृभाषा में। विश्वनाथन दंपति के तीन बेटियां थीं—सुशीला, प्रेमा और गीता। जब हमारी उनसे बंबई में भेट हुई, उस समय सुशीला शायद, कहीं बाहर पढ़ रही थी। प्रेमा और गीता ही बंबई में थीं और आयकर कालोनी के पीछे ही कारमाइकल रोड पर एक बिल्डिंग में रहती थीं।

गीता उनकी सबसे छोटी बेटी थी। करीब दस वर्ष की रही होगी उस समय। सांवले रंग की बड़ी-बड़ी आंखोंवाली वह गुड़िया मानसिक रूप से अस्वस्थ थी। वह न तो बोल सकती थी और न ही चल-फिर सकती थी। कोई एक जगह से उठाकर दूसरी जगह बैठा दे, तो बैठा दे, अपने आप वह असहाय थी। अपनी बात को कभी-कभी हाथों के इशारे से, बड़ी मुश्किल से समझा पाती थी। हम उसके इशारे मुश्किल से ही समझ पाते थे। गीता में पता नहीं क्या आकर्षण था कि उससे खिंचे हम अक्सर शाम को उसके घर पहुंच जाते, दूसरे-तीसरे दिन। हमें देखकर वह बड़ी प्रसन्न होती। जोर-जोर से ताली बजाने लगती। श्रीमती विश्वनाथन ने हमें बताया कि जन्म के बाद तो कितने वर्षों तक वह मांस का एक लोथड़ा भर रही, न चल सकती थी, न बैठ सकती थी। विश्वनाथनजी कलकत्ता में आफिस से लंच में आते तो गीता के सामने हाथ-पैरों के बल, जैसे छोटा छह महीने का बच्चा चलता है, चलकर दिखाते—आधा घंटा, तब कहीं वह देख-देखकर एक इंच सरकती थी। इस प्रकार कलकत्ता से बंबई आने के दौरान विश्वनाथनजी और उनकी पत्नी ने कितनी तपस्या की होगी, यह गीता को देखकर अनुमान भर किया जा सकता है। अब तो वह हाथ-पैर चलाकर,

इशारे कर लेती है और अस्फुट स्वरों को उसके माता-पिता और बहन बखूबी समझ लेते हैं।

गीता को संगीत से बहुत लगाव था। रेडियो चलाकर वह घंटों बैठी रहती। वह कितना कुछ समझती थी—हम नहीं कह सकते, पर जहां तक हम समझते थे, उसके पल्ले केवल ध्वनि ही पड़ती थी। संगीत के मधुर स्वर ही उसकी दिनचर्या के विशिष्ट और अपने क्षण थे, जब वह विभोर हो जाती थी। एक आश्चर्यजनक बात और थी कि किसी संगीतकार की आवाज पर या गानों के बोलों पर उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती थी, पर जैसे ही फिल्मों के प्रसिद्ध पार्श्व गायक मुकेश की आवाज कानों में पड़ती, वह मुंह से अस्फुट स्वरों में जोर से बोलती और हाथ उठा-उठाकर इशारा करती कि उसे वही संगीत सुनना है। मुकेशजी का 'डम-डम-डीगा-डीगा' गाना तो उसे बहुत ही प्रिय था। यह गाना रेडियो पर आता तो, वह झूम-झूम उठती।

हमने सोचा कि यदि मुकेशजी कहीं मिलें और हम उन्हें यह कहानी सुनाएं तो शायद, मुकेशजी गीता से मिलने उसके घर आ जाएं। शायद इसलिए कि उस समय तक फिल्मी दुनिया से हमारा परिचय बहुत गहराया नहीं था। यह भी ख्याल था कि फिल्मी-ग्लैमर में रहनेवाले लोग क्या इतने संवेदनशील होंगे कि वह एक ऐसी लड़की से मिलना पसंद करें!

गीता को मुकेशजी से मिलाने का अवसर शीघ्र ही आ गया। बंबई के रंग भवन में फिल्मी सितारों की भीड़ थी। कोई संगीत का प्रोग्राम चल रहा था। शायद, लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल नाइट मनाई जा रही थी। हम लोग गीता को भी उस प्रोग्राम में ले गए। मुकेशजी आर.के. बैनर की सब फिल्मों में गाते ही थे और लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल संगीत देते थे। उस शाम को जब मुकेशजी ने गाना गाया तो गीता खूब ताली बजा-बजाकर खुश होती रही। कार्यक्रम के बाद हमने गीता को ले जाकर मुकेशजी से मिलाया। ताली बजाकर कहा, 'गीता, डम-डम डीगा-डीगा' और मुकेशजी की तरफ इशारा किया, तो वह समझ गई कि गाना उन्होंने गाया है। मुकेशजी ने वायदा किया कि वे गीता से मिलने उसके घर आएंगे और गाना स्वयं गाकर सुनाएंगे। और ऐसा ही हुआ। अगले हफ्ते ही वह विश्वनाथनजी के घर आए। गीता को स्वयं 'डम-डम डीगा-डीगा' गाकर सुनाया—उस बच्ची की खुशी को देखकर हमारी आंखों में आंसू भर आए।

मुकेशजी एक संवेदनशील कलाकार थे। गीता-जैसा प्रशंसक उन्हें शायद, पहली बार मिला था और उसकी खुशी से वह इतना प्रभावित हुए कि बाद में, अक्सर जब भी मौका मिलता, वे विश्वनाथनजी के घर जाते, कुछ देर गीता के पास बैठते, उसे गाना सुनाते। गीता की वह खुशी, वह ताली बजा-बजाकर उछलना—आज भी मेरे मन में उसकी याद ताजा हो आती है। बाद में श्रीमती विश्वनाथन उसे लेकर लंदन गईं। वहां गीता को गोदी में उठाए-उठाए बसों में, बर्फ में मीलों चलकर वे उसे अस्पतालों में ले जाती रहीं, इलाज के लिए। उनकी एक ही इच्छा थी कि वह आत्मनिर्भर हो जाए। तीन वर्ष

पहले जब मैं मद्रास गई, (जहां विश्वनाथन दंपति रिटायरमेंट के बाद रह रहे हैं), तब गीता को देखकर बड़ी खुशी हुई। वह अपना काम अपने आप कर लेती है। टाइप कर लेती है। उसकी सुविधानुसार घर में उसका कमरा व बाथरूम आदि बना है। मांस के लोंदे-सी कल की उस गीता को आज की यह गीता बनाने में उसके माता-पिता की कितनी तपस्या, कितनी प्रार्थनाएं और कितनी आस्थाएं निहित रहीं—यह भली-भांति हम समझ सकते हैं। आत्मविश्वास के संबल को साथ लेकर चलने से बड़ी-से-बड़ी बाधाएं दूर हो जाती हैं और मंजिल मिल जाती है—यह साक्षात् देखा मैंने।

‘धर्मयुग’ मैं दोबारा जाने लगी थी। अक्सर मैं ऐसे समय आफिस जाती कि शाम को लौटते समय ठाकुर के साथ वापस आ सकूं। इस प्रकार टैक्सी के पैसे बच जाते थे। टाइम्स ऑफ इंडिया बिल्डिंग से निकलर मैं आयकर भवन पैदल आ जाती और वहां से, साथ ही घर के लिए निकल पड़ते। जब तक ये अपने काम में व्यस्त रहते, मैं पास ही पड़े सोफे पर, अपने ध्यान में बैठी चुपचाप कुछ सोचती रहती, अपने काम के बारे में, अगली योजनाओं के बारे में। अगर कोई सीक्रेट मीटिंग होती या रेड के बारे में योजना संबंधी बातचीत होती तो ये मुझे पहले ही, ‘धर्मयुग’ में फोन करके बता देते कि मैं सीधे घर चली जाऊं।

बंबई रहते हुए जिन और फिल्मी हस्तियों से परिचय हुआ, उनमें सबसे पहला नाम उभरकर आता है अचला सचदेव का। ‘धर्मयुग’ के महिला पृष्ठों के लिए उनसे बातचीत करनी थी—उनके घर के रख-रखाव के चित्र खींचने थे और उनकी पाक-विज्ञान की कुशलता पर लेख लिखवाना था। जब उनसे मिली, तब पाया कि मां का रोल करनेवाली संवेदनशील अचलाजी के हृदय में प्यार का समुद्र भरा पड़ा है। फिल्मी माहौल में रहते हुए भी वे एक कुशल गृहिणी और ममतामयी सखी हैं। फिर तो उनके कई रूप देखे। फिल्मी जिंदगी की दौड़-धूप से परे उन्हें पंजाब के गांव में उनकी अपनी बहन के यहां देखा, जहां वह शांति पाने के लिए गई थीं। वहां उनका एक सीधा-सादा रूप देखा, उस सादी-सी महिला की बहन का रूप, जिसने अपने आंचल तले उन्हें ऐसे छुपाकर रखा, जैसे एक डरे हुए मेमने को अपने तई छुपा ले। खेतों में, सरसों के बड़े-बड़े पीले खेतों में उन्हें घूमते देखा और खेतों से उखाड़-उखाड़कर गाजर-मूलियां खाते देखा। दही की लस्सी, सरसों का साग, मक्का की रोटी और सफेद मक्खन के गोले ऐसे गपकते देखा, जैसे वह तरस गई हों इन चीजों के लिए। आश्चर्य यह कि इतनी खुराक खाकर भी उन्हें ‘गैस्ट्रिक ट्रबल’ नहीं हुई। चने-मुरपुरे, गजक, ताजा गरम-गरम गुड़ मांग-मांगकर उन्होंने खाया और किसी को पता भी नहीं लगने दिया कि वे फिल्म-अभिनेत्री हैं।

अचलाजी के साथ कभी ऐसा नहीं लगा कि वे कोई अभिनेत्री हैं। घंटों तक बिजली के बिल, टेलीफोन के बिल, फोन कॉल्स, व्युअर्स के निमंत्रणपत्र और आया से साधारण गृहस्थिन की तरह सिर खपाते मैंने उन्हें देखा। उनकी बीती जिंदगी एक स्ट्रगल थी। हमेशा उन्हें आशा रही कि कोई पूछे, ‘तुझे क्या चाहिए? तू क्यों परेशान है?’ पति सिर्फ पति

न होकर प्रेमी हो जाए, कहे कि तुम थक गई हो, आराम कर लो, तुम्हें चेंज चाहिए। पति, जो मन का दुख-दर्द बांटे। किंतु, यह एहसास उस वक्त उनकी जिंदगी में नहीं आया, और इसका गिला उन्हें बहुत दिन रहा। अचलाजी से बहुत कुछ सीखा। खाना पकाने की कला और घर को सजाने-संवारने की कुशलता। जब वे घर पर रहतीं तो सेट, शूटिंग सब भूल जातीं। सिर में तेल चुपड़कर, पूरी गृहस्थिन बनकर वे अपना एक्ट्रेसवाला रूप भूल जातीं और जब सेट पर रहतीं, तब घरेलू परेशानियों को उठाकर ताक पर रख देतीं। यही तन्मयता और अलगाव उनके अभिनय को सजीव और स्वाभाविक बना देता था। बंबई में अनेक दोपहरियां मैंने उनके साथ बिताईं।

एक दूसरा नाम, एक दूसरी शख्सियत, जिससे हम बहुत प्रभावित हुए, देवआनंदजी की थी। एक दोपहर हम शूटिंग देखने उनके स्टूडियो पहुंचे। तब तक हम उन्हें तनिक भी नहीं जानते थे। हां, फिल्में उनकी देखी थीं, जिससे उनकी छवि एक रोमांटिक हीरो के रूप में सामने आई थी। एक दिलफेंक नौजवान की शख्सियत—एक हल्के-फुल्के इंसान की शख्सियत किंतु, जब उस दिन उन्हें सेट पर काम करते देखा और बाद में उनसे बातें कीं और, कई बार मिले भी, तब पाया कि वह हल्के-फुल्के इंसान नहीं हैं बल्कि, उनकी सोच में गहराई है और यही कारण है कि वह बहुत बेचैन से रहते हैं। हरदम काम में लगे। एक मिनट में सेट पर हैं, दूसरे मिनट अपने आफिस में। यह बेचैनी ही शायद, उन्हें तरो-ताजा रखती है और एक फिल्म पूरी होते ही दूसरी फिल्म शुरू करने की ऊर्जा प्रदान करती है। देवआनंद से कई बार भेंट हुई। एक बार ठाकुर ने उनसे कहा, 'हिंदी के अच्छे गीतकारों को आप अपनी फिल्मों के गाने लिखने के लिए क्यों नहीं लेते हैं?' बस, देव आनंद ने कहा, 'कोई नाम बताइए।' इस प्रकार नीरज का फिल्मी में प्रवेश हुआ। यह अलग बात है कि वे फिल्मी दुनिया में ज्यादा दिन टिक नहीं सके।

उस दिन ड्राइंग रूम में बैठे थे। तभी एक गीत वातावरण में गूंजने लगा, 'चांद छुपा और तारे डूबे, रात गजब की आई'—फिल्म थी 'सोहनी-महिवाल'। संगीतकार नौशाद, गीतकार शकील बदायूनी और गायक? हमारे साथ कुछ और लोग भी बैठे थे, गीत सबने सुना और यही माना कि गायक कलाकार हैं—मुहम्मद रफी। हूबहू उन्हीं की आवाज और उन्हीं जैसा अंदाज। आवाज बेसुरी किए बगैर और इतने ऊंचे स्वर में कोई गा सकता है, तो केवल रफी साहब। पर तभी रेडियो पर गीत खत्म हो गया और गायक का नाम बताया गया—महेन्द्र कपूर। एकाध बार तो ऐसा लगा कि शायद, उद्घोषक गलत नाम बता गया है। पर जल्दी ही मालूम हो गया कि फिल्मी दुनिया में एक और पार्श्व-गायक आ चुका है, जिसकी आवाज की 'रेंज' मुहम्मद रफी जैसी ही, बहुत ऊंची है।

फिर शुरू हो गया महेन्द्र कपूर के नाम को लेकर चर्चाओं और बहसों का दौर। कुछ ने कहा कि चल नहीं पाएगा। बस, रफी की नकल करता है। किसी दूसरे ने कहा,

‘सात साल पहले ‘नगीना’ से सी.एच. आत्मा आए थे। स्वर्गीय कुंदनलाल सहगल से मिलती-जुलती शैली और उन्हीं के जैसी आवाज। उस समय सहगल साहब नहीं थे, फिर भी उनकी नकल चल नहीं पाई। आज तो रफी साहब अपने पूरे जमाल के साथ हमारे बीच मौजूद हैं, फिर भला महेन्द्र कपूर को कौन मौका देगा?’ पर सभी कयासों को झुठलाकर महेन्द्र कपूर चल निकले। सभी संगीतकार अपनी फिल्मों में महेन्द्र कपूर से गीत गवाने लगे। गीत ‘हिट’ होने लगे तो उन्हीं के साथ महेन्द्र कपूर भी तेजी से सफलता की सीढ़ियां चढ़ते हुए, देखते ही देखते चोटी के पार्श्व-गायकों की श्रेणी में पहुंच गए। काम का ऐसा अंवार लगा कि फिर पीछे मुड़कर देखने के लिए वक्त ही नहीं मिला। शुरू के कुछ गीतों में जरूर उनकी शैली पर मुहम्मद रफी का असर महसूस होता रहा, पर वे जल्दी ही अपनी अलग शैली बना लेने में कामयाब हो गए। उसके बाद, दो दशक दरम्यान, फिल्म संगीत के क्षेत्र में कितने ही परिवर्तन आए लेकिन, महेन्द्र कपूर अपनी जगह पर पहले जैसे ही बने रहे।

हम लोग कला-संगीत से बराबर जुड़े तो रहते ही थे, किसी ने उनके परिवार से परिचय करा दिया। कहा, “भाई साहब, बड़ा होनहार बच्चा है। इसका ख्याल रखिएगा।” धीरे-धीरे महेन्द्र कपूर से और उनके परिवार से अच्छी-खासी जान-पहचान हो गई। जब कभी उनके घर जाते, पिताजी से खूब बातें होतीं। उनकी बातों का केंद्र महेन्द्र ही होते। एक दिन उनके पिताजी बड़े मूड में थे। उन्होंने बताया, “महेन्द्र की मां को भी गाने का शौक था। विरादरी में कहीं कोई उत्सव होता तो पूरे परिवार के आने की फरमाइश की जाती क्योंकि, वे लोग हर उत्सव को रंगीन बना देते थे अपने गानों से।” स्कूल-कॉलेज तक महेन्द्र का यह शौक चलता रहा। रफी साहब के गीत सुनने का महेन्द्र को बहुत शौक था और उनसे मिलने की बड़ी तमन्ना थी। एक दिन उनके एक मुस्लिम दोस्त ने बताया कि उसने रफी साहब का पता लगा लिया है। वह थोड़ी ही दूरी पर रहते हैं, जहां स्टार लाउंड्री की दुकान है। बस, महेन्द्र फौरन भागकर अपने ड्राइवर के पास पहुंचे और उसके पीछे पड़ गए कि स्टार लाउंड्री चले। उस समय शहर में हिंदू-मुस्लिम दंगों का जोर था। पहले तो उसने बड़ी आनाकानी की, पर जब पीछा नहीं छुड़ा सका, तब उन्हें लेकर वहां गया। जब वहां पहुंचे तो स्टार लाउंड्री बंद थी। ड्राइवर ने आवाज दी, “रफी साहब हैं क्या?”

उत्तर में एक काला-सा आदमी अंदर से बाहर आया। ड्राइवर ने उसे बताया कि साथ में उनके साहब का लड़का है। उसे गाने का बहुत शौक है और आपके गानों का आशिक है, इसलिए मिलने आया है। उस आदमी ने जोर से ठहाका लगाया, बोला, “भाई साहब, नाम हमारा भी मुहम्मद रफी है। हमको भी गाने का शौक है। पर हम वह रफी नहीं हैं, जो फिल्मों में गाते हैं, जिनसे मिलने आप आए हैं। पर मैं आपको उनका पता बता देता हूं। वे भिंडी बाजार में, किताब मंजिल नाम की जो दुकान है, वहीं रहते हैं।”

महेन्द्रजी ने बताया, “मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। दूसरे दिन अपने पिताजी

और भाई को लेकर उनके पास गया। उस समय रफी साहब बैठे हुए फिल्म 'जुगनू' का अपना गाना गुनगुना रहे थे— 'यहाँ बदला वफा का, बेवफाई के सिवा क्या है।'।

"जब रफी साहब को पता लगा कि पूरे परिवार को ही गाने का शौक है, तो बड़े खुश हुए। बोले, 'पहली बार ऐसा बच्चा आया है, जो अपने पिता और भाई को लेकर आया है वरना, बच्चे अपने पिता और भाई को बताए बिना ही फिल्मी जिंदगी की ओर भागते हैं।'।"

महेन्द्रजी ने बताया, उस समय उनकी उम्र बारह वर्ष की थी। रफी साहब ने अपना शार्गिद बना लिया, गंडा भी बांधा। उस समय शकील बदायूनी और नौशाद साहब भी मौजूद थे। उनसे गाना सीखने का सिलसिला पूरे बारह वर्ष चला।

महेन्द्रजी के परिवार से हमारा नाता जुड़ा रहा। गाहे-बगाहे, कहीं न कहीं, किसी पारिवारिक गोष्ठी में उनसे भेंट हो जाती और उनका गाना सुनने को मिलता।

उन्हीं दिनों फिल्मिस्तान में 'हीर' फिल्म बन रही थी। फिल्मिस्तान के मालिक जालानजी थे। फिल्मिस्तान स्टूडियो काफी प्रसिद्ध था। 'हीर' फिल्म का संगीत अनिल विश्वास तैयार कर रहे थे। अनिल विश्वास से हमारा परिचय हेमंत दा, जो खार में, हमारे घर से तीन-चार घर छोड़कर ही रहते थे, के माध्यम से हुआ था। एक दिन अनिल विश्वास ने बातों-बातों में कहा कि 'हीर' फिल्म में गाने के लिए उन्हें ऐसी आवाज की तलाश है, जो पंजाब की संस्कृति के विशिष्ट गायन को पूरी तरह उभार सके। गायक ऐसा हो, जिसे 'हीर' गाने का अंदाज और तौर-तरीके की जानकारी हो। महेन्द्र कपूर दोनों ही कसौटियों पर खरे उतरते थे, इसलिए हम लोगों ने उनका जिफ्र कर दिया। यह तो बाद में पता चला कि अनिल विश्वास को हमारी बात जंच गई और उन्होंने खैयाम साहब को भेजकर महेन्द्रजी को बुलवा लिया।

महेन्द्रजी को भी आश्चर्य हुआ। अचानक यह 'ऑफर' कहां से आया! इस बीच वे अपने पिताजी की फैक्टरी, जहां छपाई और रंगाई का काम होता था, वहां काम करने लगे थे। हालांकि, उनका दिल वहां नहीं लग रहा था। शादी भी हो गई थी। जिस समय खैयाम साहब से संदेश मिला, महेन्द्रजी को 102 डिग्री बुखार था। घर में केवल वे और उनके भाई थे। बाकी सब अमृतसर गए हुए थे। भाई ने कहा, चले जाओ। 102 डिग्री बुखार में तपते हुए वे शाम साढ़े छह बजे गोरेगांव में, फिल्मिस्तान स्टूडियो पहुंचे और गाने की बारी में इंतजार में बैठ गए। बैठे-बैठे रात बीतने लगी, पर बारी नहीं आई। मुंह लाल, हाथ-पैरों में बेहद दर्द। बदन तपकर तंदूर-जैसा हो गया था। अनिल'दा उस समय पार्श्व-संगीत तैयार करने में व्यस्त थे। सबेरे चार बजे जब गाने की बारी आई, तब अनिल'दा ने खैयाम साहब से कहा कि आप ही गाना रिकार्ड कर लो। महेन्द्र ने 'हीर' गाई। जब लौटकर आए तब दिन चढ़ आया था। तेज बुखार, रात-भर का जागरण। घर आते ही बिस्तर पर गिरे तो कई दिनों तक उठ नहीं पाए। बुखार के साथ चेचक भी निकल आई।

इस घटना को हुए चार महीने हो गए थे। स्टूडियो से पैसे ही नहीं मिले, सो स्टूडियो

पहुंचे। पारसी मैनेजर था। उससे मिले और कहा, “पैसे लेने आया हूँ।” मैनेजर उखड़ गया, बोला, “फिल्म तो कब की ‘रिलीज’ हो चुकी और पिट भी गई।” फिर भी उसने रजिस्टर खोला, पर उसमें महेन्द्र कपूर का कहीं नाम ही नहीं था। फिर पैसे कैसे मिलते? लौटने लगे तो अनिल विश्वास मिल गए। उन्हें सब बात बताई तो उन्होंने खेद प्रकट किया और कहा, “चिंता मत करो, फिर कभी मौका मिलेगा।” खाली हाथ घर लौट आए। आंखों में आंसू थे। उसी दिन शाम को जब हम उनके घर पहुंचे, तब देखा, बड़े उदास हैं। पूछा, “क्या बात है” तो रुकते-रुकते बोले, “भाई साहब, फिल्म लाइन में कोई सार नहीं है। यहां कला की कोई कदर नहीं है।” पिताजी बोले, “मैं तो पहले ही कहता था कि घर के काम-धंधे में मन लगा।” ठाकुर ने महेन्द्रजी को बहुत समझाया, कहा, “अभी तुम्हारी उम्र ही कितनी है? और भी मौके आएंगे। ईश्वर पर भरोसा रखो। इसमें भी कोई अच्छाई छिपी होगी। ईश्वर जो करता है, अच्छा ही करता है।”

और ऐसा ही हुआ। उस दिन की हताशा आगे चलकर बड़ा वरदान साबित हुई। तीन-चार महीने बाद ही ‘मेट्रो-मर्फी प्रतियोगिता’ बंबई के मेट्रो सिनेमा और मर्फी रेडियो के निर्माताओं के संयुक्त तत्त्वाधान में आयोजित की गई, पार्श्व-गायन के क्षेत्र में नयी प्रतिभाओं की खोज के लिए। इस प्रतियोगिता में केवल शौकिया गायक ही भाग ले सकते थे, पेशेवर गायक नहीं। यदि ‘हीर’ में गाने का पैसा मिल गया होता और उस दिन उनका नाम गायकों की श्रेणी में लिखा गया होता, तो वह इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते थे। प्रतियोगिता का परिणाम आया तो पुरुष-गायकों में महेन्द्र कपूर विजेता रहे।

इस प्रतियोगिता के बाद महेन्द्रजी को गाने के अवसर मिलने लगे। हमारी मित्रता प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होती गई। महेन्द्रजी सदैव मेरे पति के पैर छूकर अपना आदर प्रदर्शित करते थे। उनकी पत्नी भी बड़ी सुघड़ और सीधी-सादी थीं। उनकी एक बात मुझे नहीं भूलती कि जब कभी किसी पारिवारिक गोष्ठी में महेन्द्रजी के गाने होते, वे आंख मूंदकर सो जातीं। मैं अक्सर उन्हें हिला-हिलाकर कहती, “भाभीजी, आप सो रही हैं” और वे आंखें खोलकर एकदम इधर-उधर देखकर कहतीं, “नहीं भाभीजी, मैं तो आंख मूंदकर गाना सुन रही थी, ‘इंचाय’ कर रही थी।” और हम हंस पड़ते। वैसे, वे उनकी सच्ची सहधर्मिणी थीं। पर रात-दिन एक ही व्यक्ति का गाना सुनते-सुनते कोई भी तंग आ सकता है, चाहे गानेवाला अपना पति ही क्यों न हो!

महेन्द्रजी का घर पैडर रोड पर मित्र कुंज में था। हम लोग पैडर रोड पर ही आयकर कालोनी में रहते थे। उनके कुछ गाने तो ठाकुर को बहुत ही पसंद थे, जैसे—‘चांद छुपा और तारे डूबे’, ‘नील गगन के तले’ आदि। जब हम दिल्ली आए, तब भी, जब कभी महेन्द्रजी का दिल्ली आना हुआ, एकाध गोष्ठी हमारे यहां हो ही जाती थी। गोष्ठी नहीं होती तो आयकर के किसी कार्यक्रम में या राजस्थान क्लब के आयोजनों में महेन्द्रजी आ जाते।

प्रारंभ में जब हम बंबई पहुंचे तो, सबसे बड़ा आकर्षण शूटिंग देखने का था। हमारे साथ कलकत्ते से ट्रांसफर होकर आए बलवंतसिंहजी रहते ही थे। साथ में उनकी पत्नी थी। पति आफिस चले जाते तो हम दोनों के प्लान बनते-बिगड़ते कि दिन में क्या-क्या किया जाए! सिने-स्टारों को देखने के लिए मन मचलता ही था। बंबई में हम किसी को जानते नहीं थे। मेरे पति के लिए तो वह बाएं हाथ का खेल था किंतु, उनसे मैं कहना नहीं चाह रही थी क्योंकि, मालूम था कि वे डांट पिला देंगे। अपनी 'आफिशियल पोजीशन' का प्रयोग वे बिलकुल नहीं करते थे। हमने सोचा, क्यों न हम स्वयं शूटिंग देखने पहुंच जाएं।

एक दिन दोपहर को मैं मिसेज बलवंतसिंह तथा दो-तीन अन्य महिलाओं के साथ चल पड़ी महबूब स्टूडियो की ओर। गेट पर रौबोला दरवान खड़ा था। उससे कहा भी कि हम लोग बाहर से आए हैं और शूटिंग देखना चाहते हैं, पर वह कुछ सुनने को ही तैयार नहीं था। बोला, "चिट्ठी लाइए। बिना चिट्ठी दिखाए अंदर नहीं जा सकतीं। किसके द्वारा आप भेजी गई हैं?"

चिट्ठी हमारे पास कहां से आती! फिर भी पूछा, "किसकी शूटिंग हो रही है?" दरवान इस बार कुछ ज्यादा ही अकड़ से बोला, "दिलीप साहब की शूटिंग है।" अब तो हम लोगों ने सोच लिया, शूटिंग जरूर देखेंगे। उनके तो हम सभी 'फैन' थे। दोबारा हमने बड़े रुआब से कहा, "अंदर जाकर बोलो, कलकत्ता से कुछ महिलाएं आई हैं। शूटिंग देखना चाहती हैं।" दरवान फिर भी टस से मस न हुआ। इतने में अंदर से एक आदमी निकलकर आया। हमने उससे भी कहा कि अंदर जाने दे। किंतु, उसने भी मना कर दिया। अब कोई और उपाय नहीं था। 'ट्रंप कार्ड' चलाना ही पड़ेगा। हमने उस व्यक्ति से कहा, "हमारे पति इनकम टैक्स आफिसर्स हैं। हम उन्हें बताए बगैर ही आ गए हैं, नहीं तो कोई समस्या ही नहीं होती। वे तो एक मिनट में सब कुछ 'फिक्स' कर देते।" ताज्जुब! हमारी बात का मनचाहा असर फिर भी नहीं हुआ। शायद, वह सोच रहा था कि यहां तो सब ऐसे ही कहते रहते हैं।

लेकिन किस्मत हमारी अच्छी थी। इसी दौरान, जब हमारी बहस चल रही थी, दिलीप साहब किसी काम से या फिर किसी को देखने एक मिनट के लिए बाहर आए। मैंने झट आगे बढ़कर अपनी परेशानी बता दी। कहा, "हम लोग तो आपके बड़े 'फैन' हैं। सीधे चले आए हैं। कोई सिफारिश नहीं लाए। बड़ी दूर से आए हैं और यह दरवान अंदर ही नहीं आने देता।" एक तो हम महिलाएं—गृहिणियां, ऊपर से उनकी 'फैन'—उन्होंने दरवान से कहा "अंदर आने दो।" फिर हम लोगों से बोले, "शूटिंग में तो अभी देर है। आप कब तक इंतजार करेंगी?" जब हमने कहा, "कोई बात नहीं, हम इंतजार कर लेंगे," तब खुद "आई मेरे साथ" कहकर अंदर ले गए। हम तो गद्गद हो गए, उनका यह मानवीय व्यवहार और बातें करने का अंदाज देखकर। यह थी—दिलीप साहब से हमारी पहली मुलाकात।

उधर। एक और दिलीप साहब बैठे थे, तीन-चार लोगों से गप-शप करते हुए। शायद, अपने बचपन की कुछ बातें बता रहे थे। हमने भी अपने कान उधर ही लगा दिए। वह बोल रहे थे, “बचपन ऐसे इलाके में गुजरा, जहां हर वक्त फिजां में वहशत और खूरेजी तारी रहती थी। मिट्टी के मकानात और उनमें लकड़ी का ज्यादा से ज्यादा काम। जैसे-जैसे खानदान बढ़ता, मकान हिस्सा-दर-हिस्सा बढ़ता जाता। अंगूरों की लताएं मकान के इर्द-गिर्द फैली रहतीं। ढेर के ढेर अंगूर। भारी, वजनी गुच्छे और उन नाजुक अंगूरों के गुच्छों पर चढ़ी सफेद थैलियां। सर्दियां आतीं कड़ाके की, तब भी विस्तर नहीं बिछाए जाते थे। फर्श पर, जितना बड़ा कमरा, उतना बड़ा लिहाफ, दीवार से दीवार तक, बिछा दिया जाता। हम सब बैठ जाते उसके अंदर, साथ में होती कश्मीरी कांगड़ी। एक चीज और होती—ईरानी विल्लियां, गोद में लोग दाब-दाब लेते और ठंड से छुटकारा पा लेते। खानदान की बड़ी-बूढ़ियां बच्चों को घेरकर बैठ जातीं और पुराने, बहुत पुराने जमाने की कहानियां सुनातीं। कहानियां सुनते-सुनते, लिहाफ के अंदर ही अंदर हम एक कोने से दूसरे कोने की तरफ निकल जाते, पर उधर भी किसी खाला यानी मौसी को आंसू पोंछते देखते, इससे अंदाज लगाया जा सकता है कि कहानियां जरूर ‘ट्रैजिक’ होती होंगी क्योंकि, कहानी कहनेवाली कहानी कहते-कहते रुक जाती थी। हिचकियां आती थीं, आंसू पोंछे जाते थे और हम सब बच्चों पर एक सक्ता-सा छा जाता था। इस बीच हमारी न जाने कब आंख लग जाती, पर बड़ी-बूढ़ियां किस्से कहती ही रहतीं तब तक, जब तक नींद उनकी खुद की पलकें बोझिल न कर देती।”

दिलीप साहब की आवाज़ में बड़ी संजीदगी और गहराई थी। चेहरे पर भावों की परछाइयां एक के बाद एक आ-जा रही थीं। जैसे उन क्षणों को दोबारा जी रहे हों। वे अपने ख्यालों में डूबे हुए थे। स्वाभाविक अंदाज में वे बातें कर रहे थे। सबकी आंखें उनके चेहरे पर गड़ी थीं। वे उस समय ‘एक्टिंग’ नहीं कर रहे थे, पर न जाने क्यों, मुझे लगा कि वे इस बात से ‘कांशस’ जरूर हैं कि उनके सामने कुछ दर्शक बैठे हैं और उनको प्रभावित करने के लिए, स्वभावतः ही अभिनय का कुछ ‘पुट’ जरूर उनकी वातचीत में शामिल हो गया था।

एक बार वे दिल्ली आए। इधर-उधर की बातों के दौरान उन्होंने बताया, “जब मैं दिल्ली आता हूं तब चिड़ियाघर देखने जरूर जाता हूं। वहां जाकर मुझे बड़ा सुकून मिलता है। यहां तक कि अगर मेरे सर में दर्द भी हो रहा हो, तो वहां जाकर ठीक हो जाता है।” उस दिन वे चिड़ियाघर से लौटकर ही शायद, हमारे घर आए थे। उन्होंने पिंजड़े में बंद शेर की परेशानी—उसकी चहल-कदमी, कैसे उसके सामने गोشت रखा गया, उसके चेहरे का क्या भाव था, उस वक्त, जब खाना बीच में हटा लिया गया और लोगों की भीड़ को उसने देखा तो उसे कितना नागवार गुजरा, वह किस तरह गुराया, और जब पेट भर गया, तब कैसे निर्लिप्त भाव से अपनी मांद में चला गया—आदि बातें बताईं तो वह सब ‘एक्टिंग’ नहीं थी। ‘सिचुएशन’ के अनुसार भावों का चेहरे पर आना, हाथों की मुद्राएं, आवाज

का उतार-चढ़ाव—इतने स्वाभाविक रूप से होता है कि सामनेवाले को लगता है वह चलचित्र देख रहा है। बनावट से दूर, यही स्वाभाविक अंदाज दिलीप साहब के कलाकार की वह क्षमता है, जिसने उन्हें अभिनय के श्रेष्ठ मुकाम पर पहुंचाया है।

दिल्ली और बंबई के बीच, वे शीघ्र ही दिलीप साहब से दिलीप भाई और यूसुफ भाई बन गए। जब कभी उनसे किसी कार्यक्रम में आने के लिए कहा, तुरंत तैयार हो गए। राजस्थान क्लब, आयकर और कस्टम बोर्ड के कार्यक्रमों में वे कई बार आए। उनके साथ एक अच्छी पारिवारिक दोस्ती जम गई थी। सायरा भाभी मेरी भाभी बन गई थीं और नसीम बानो आपा। एक बार किसी 'चैरिटी' कार्यक्रम के तहत आए। जब उन्हें प्लेन का टिकट देने लगे, तो उसे लेने से इनकार कर दिया। अशोका होटल में ठहरे थे। सायरा भाभी भी साथ थीं। शॉपिंग के लिए बाजार जाना चाहती थीं। मैंने कहा, "दूसरी गाड़ी नीचे खड़ी है, आप उसमें हो आइए, जब तक दिलीप साहब तैयार होते हैं।" पर वे बोलीं, "साहब से पूछे बगैर, न बाबा न!" उस समय वे पूरी गृहस्थिन पत्नी लग रही थीं। हम सब लोगों की तरह, पति से पूछे बगैर कोई काम न करनेवाली पत्नी।

एक बार दिलीप साहब ने एक 'कहानी' सुनाई थी। कहानी उसे यों नहीं कह सकते क्योंकि, वह उनकी जिंदगी में घटी एक घटना से ताल्लुक रखती थी। बचपन में उस वाक्य को वे बड़े होने तक नहीं भूल सके थे। थी ही वह घटना ऐसी रोमांचक कि मैं भी उसे कभी भूल नहीं सकी :

दिलीप साहब के दादा के बागीचों की देखभाल का काम मामा गनी के हाथों में था। मामा गनी अच्छे तंदुरुस्त जवान थे। ताकत उनमें इतनी थी कि दोनों कांधों पर एक-एक अच्छा सेहतमंद बच्चा बैठा लेते और काम में लगे रहते। बच्चों से उनको बड़ी मुहब्बत थी और बच्चे भी उनसे खासा प्यार करते थे। एक बार बच्चों ने पाया कि मामा गनी बड़ी-बड़ी, सख्त जंजीरों में जकड़े हुए हैं। पागलों-जैसा जुनून उन पर सवार है। पता नहीं, क्या बुदबुदा रहे हैं। दिलीप साहब को देखा तो एकदम चिल्लाए, "यूसुफ मेरी जान, मेरे बच्चे, यहां आ मेरे पास।" और उन्होंने दोनों हाथ फैला दिए, जैसे उस छोटे यूसुफ को अपने आगोश में समेट लेना चाहते हों। यूसुफ आगे बढ़ा, मामा गनी के सीने में समा जाने के लिए कि उन्होंने उसे दोनों बाजुओं से बुरी तरह जकड़ लिया। वह चीख पड़े पर बच्चे की चीख-पुकार किसी ने नहीं सुनी। मामा गनी चीखते ही रहे। बार-बार "यूसुफ मेरी जान, मेरे बेटे" आवाज लगाते रहे, तब तक, जब तक कि खुद निढाल होकर एक ओर लुढ़क नहीं गए। एक गफलत-सी उन पर तारी हो गई। यूसुफ ने बाद में अपने दादाजी से पूछा कि मामा गनी को जंजीरों में जकड़कर क्यों रखा है, तो जवाब मिला, "मामा गनी अच्छा आदमी नहीं है।" क्यों अच्छा आदमी नहीं है, पूछने पर उसे घुड़क दिया गया। धीरे-धीरे बच्चे मामा गनी से खौफ खाने लगे और उनकी तरफ जाना बंद कर दिया। दिलीप उस समय छोटे बच्चे ही थे, अक्सर उनकी चीखों में अपने नाम की पुकार सुन रुक नहीं पाते थे। चोरी-छिपे वहां पहुंच जाते और दूर से मामा गनी को अपनी मासूम

निगाहों से ताकते रहते। अच्छी की जगह उनकी इस हरकत की पता लगा, तो बहुत नाराज हुए। एक दिन वे उन्हें साथ ले गए और जबरदस्ती मामा गनी की गोद में बिठा दिया। मामा गनी भी बार-बार 'यूसुफ, मेरा बेटा' कहते और जार-जार रोते। बच्चे को ऐसे भींच लिया, जैसे कंगाल को दौलत मिल गई हो। खूब प्यार किया। बड़ी मुश्किल से बच्चे को उनसे अलग किया गया। हालांकि, मामा गनी को अच्छी खुराक दी जाती थी, पर वे ढलते ही गए और एक दिन उनका इंतकाल हो गया।

दिलीप साहब के दादाजी पैदल हज करके आए थे। उन दिनों हज करना बड़ा मायने रखता था। यही सबब था कि इलाके में सब उनके साथ बहुत इज्जत से पेश आते थे। दादाजी सुबह तीन बजे उठकर तहज्जुद की नमाज पढ़ते थे। उन दिनों मामा गनी दादा के साथ मुखिया थे और बागों की देखभाल के काम पर तैनात थे। नमाज पढ़ने के बाद दादाजी बगीचों का दौरा करते थे। दो-तीन बार के दौरे में जब उन्हें मामा गनी दिखाई नहीं पड़े, तब उन्होंने उनके बारे में पता लगाया कि वे आखिर जाते कहां हैं! यह भी शक हुआ कि जवान आदमी हैं, कहीं किसी गलत सोहबत में तो नहीं पड़ गए! पर किसी को कुछ पता ही नहीं था। एक दिन दादाजी ने मामा गनी को घेर लिया और पूछा, "कहां रहते हो तुम?" यह वो जमाना था कि बुजुर्गों के किसी सवाल के जवाब में झूठ नहीं बोला जाता था। मामा ने कहा, "आप मुझसे यह न पूछें कि मैं कहां जाता हूं। वैसे, मैं आपको यकीन दिलाता हूं कि आपके बगीचों से एक पत्ता तक चोरी नहीं हुआ है। चाहें तो आप जांच करा लें।"

लेकिन दादाजी, मामले की तह तक पहुंचना चाहते थे। खुदा का वास्ता दिया। कसम दिलाई और उन्हें सच-सच कहने पर मजबूर कर दिया।

मामा गनी ने जो कुछ बताया, वह बड़ा हैरतअंगेज और खौफनाक था। रात होते ही मामा एक घोड़े पर सवार होते और निकल जाते। मीलों का फासला तय कर लेते। तेरह-चौदह मील निकल जाने के बाद रास्ते में किसी दरख्त से घोड़ा बांध देते और फिर आगे पैदल जाते बड़ी दूर और जहां कोई अकेला आदमी दिखाई पड़ जाता, वहां मामा उस पर शेर की तरह झपट पड़ते और उसे दबोच लेते। फिर धीरे-धीरे उसका गला दबाते। गले से घर-घर की जो आवाज आती, उसे सुनकर उन्हें खूब मजा आता। फिर किसी तेज धारवाले औजार से उसके गले की नस काट डालते। गले से खून गिरने की जो शक्ल सामने आती और धीरे-धीरे चेहरा सफेद पड़ता जाता और फिर सिर एक ओर को लुढ़क जाता—यह सब देखकर उन्हें बड़ा सुकून मिलता। फिर तेज धारवाले औजार को पोंछकर वे अपनी जेब में रख लेते, घोड़े पर चढ़ते और लौट पड़ते। हर रात उन पर कोई ऐसा खौफ-सा बरपा हो जाता और वह बस, बेबस 'शै' के साये में, अपने शिकार की तलाश में निकल पड़ते। इस तरह उन्होंने कई आदमी हलाल कर डाले थे।

दादा ने यह जुर्म-इकबाली सुनी और कहा, "तुम बहुत गंदे इंसान हो।" मामा गनी उस वक्त होशो-हवास में थे। उन्होंने कहा कि अपनी इस हैवानियत से वे खुद बहुत ज्यादा

परेशान हैं। इसलिए कोई भावूला सजा उनके लिए तजवीज जाए। दादा ने उनसे ही सजा तजवीज करने को कहा और फिर उनकी ही सलाह पर उन्हें रस्सों से जकड़ दिया गया, पर रात चढ़ते ही उन पर फिर वही जुनून सवार हो गया और उन्होंने रस्से तोड़ डाले। दूसरा कोई उपाय नहीं था। आखिर, उन्हीं की सलाह पर उन्हें मोटी-मोटी जंजीरों से जकड़ दिया गया। अब चूंकि, इंसान के खून की उनकी हवस पूरी नहीं हो पाती थी, वह घुलने लगे और एक दिन चल बसे।

मैंने कई बार सोचा कि मामा गनी की यह बात शायद, यूसुफ भाई ने अपने ड्रामाई अंदाज में गढ़कर सुनाई होगी। उसी रूप में, उस दिन हमने उसे लिया भी था, किंतु, बहुत दिनों बाद जब अखबारों में पढ़ा एक कुख्यात अपराधी रमन राघव के बारे में, तब दोबारा मामा गनी की बातें दिमाग में करवट लेने लगीं। रमन राघव कुछ-कुछ समय के अंतराल से बंबई की संकरी गलियों, छोटे पाकों में, सड़कों के किनारे, पेवमेंट्स पर पत्थर से निर्दोष लोगों की हत्या करता था। इसमें उसे एक हिंस्र आनंद मिलता था। बहुत दिनों तक तो पकड़ा ही नहीं गया वह, बंबई उसके आतंक की गिरफ्त में रहा बहुत दिन। फिर एक दिन वह पकड़ा गया। मानसिक रोगों के विशेषज्ञों ने उसका निरीक्षण किया तो कोर्ट में साबित हुआ कि वह मानसिक रोग से ग्रस्त एक बीमार व्यक्ति है। डॉक्टरों ने कहा कि उसे मेंटली पेरानोइड सीजोफ्रेनिया नामक बीमारी है। मैंने अपनी मित्र डॉक्टर रमोला कक्कड़—बंबई अस्पताल में मनोरोग विशेषज्ञ—से बात की तो उन्होंने बताया कि ऐसे रोगी होते हैं। रमन राघव की, बाद में, जेल में ही मृत्यु हो गई। उस दिन हमने सोचा कि फिल्मवालों के बारे में हम अक्सर कई बातें कितने गलत अंदाज में ले लेते हैं।

यूसुफ भाई से ठाकुर की दोस्ती पकती गई। अपनी बेटी की शादी के अवसर पर हमने अपने इन मित्रों को केवल कार्ड ही भेजा था। सोचा था, इतनी दूर से आना संभव नहीं होता है। इतना व्यस्त उनका कार्यक्रम होता है, इसलिए हमने फोन भी नहीं किया था कि उन्हें अकारण ही दुविधा में क्यों डालें! बल्कि, उस शाम तो बंबई से सायरा भाभी की मां, अपने समय की मशहूर फिल्मी हस्ती, जिन्हें हम आदर से नसीम आपा कहते थे, उनका फोन आया कि दिलीप भाई और भाभी विवाह में शरीक नहीं हो सकेंगे क्योंकि, उसी शाम बंबई के एक प्रसिद्ध बैरिस्टर रजनी भाई की नेमप्लेट बर्ली के चौराहे पर लगनेवाली थी और दिलीप साहब को ही उसका उद्घाटन करना था। मैंने ही फोन उठाया था। मैंने कहा, “कोई बात नहीं। वह भी जरूरी काम है” और कि “उनके आशीर्वाद ही काफी हैं जो हमें पत्र के रूप में पहले ही मिल गए हैं।”

लेकिन हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब हमने देखा कि रात्रि को ग्यारह बजे वह विवाह-स्थल 2 नंबर तिलक मार्ग पर पहुंचे और पूरी रात्रि विवाह की सारी रस्मों को दिलीप भाई और सायरा भाभी ने न केवल देखा, सुना बल्कि, गुना भी।

विवाह करा रहे थे पंडित गिरधारीलाल गोस्वामी, संस्कृत और ज्योतिषशास्त्र के

परम ज्ञाता। हम उनका बड़ा आदर करते थे, उनका स्नेह तो हमारे ऊपर बहुत ही अधिक था। विवाह कराते समय उन्होंने एक-एक विधि को इतनी अच्छी तरह समझाया कि उस दिन अधिकांश को पता चला कि विवाह-विधि का असली मतलब क्या होता है। विवाह में एक विधि के तहत कन्या का पैर पत्थर पर रखवाते हैं। सायरा भाभी ने पूछा, “ऐसा क्यों करते हैं?” पंडितजी ने बताया, “यह रस्म इस बात को दर्शाती है कि आज से यह डोर जो बंधी है, वह पत्थर की तरह सुदृढ़ और मजबूत हो।” बात आई, गई हो गई।

दो-तीन दिन बाद सायरा भाभी का बंबई से फोन आया, “भाभी, आपके यहां शादी में आना तो बहुत मुफीद रहा। साहब ने आयशा को तलाक दे दिया है, शायद, पत्थर पर पैर रखवानेवाली बात के माने उनके दिमाग में नक्श हो गए थे।”

उन दिनों दिलीप साहब के हैदराबाद की आयशा से इश्क और फिर निकाह के चर्चे सुनाई पड़ रहे थे। हमारी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। उनके परिवार से हमारे रिश्ते ऐसे थे, जो किसी पद या कुर्सी या ग्लैमर के मोहताज नहीं थे। महज दिल की डोर से बंधे थे।

उन दिनों अखबारों में बड़ी-बड़ी हेडिंग्स में छपा था—रामगढ़ में छिपा बंबई का सोना। भारतीजी तो इस तलाश में रहते ही थे कि कोई ऐसी खबर, जो दिलचस्प हो, ‘धर्मयुग’ के पृष्ठों के लिए पहले से लिखवा ली जाए। सो उन्होंने एक दिन मुझे कैबिन में बुलाकर कहा, “शीलाजी, आजकल आयकर के बहुत छापे पड़ रहे हैं। कल ही अखबारों में छपा था कि बंबई के किसी व्यापारी ने राजस्थान के रामगढ़ में सौ किलो सोना छिपाकर रखा था और आयकर अधिकारियों ने छाप डालकर उसे खोज निकाला। बड़ी सनसनीखेज तलाशी थी वह। आप इसके बारे में अंदरूनी खोज-खबर लेकर पता लगाइए कि कैसे और कब वह सोना वहां ले जाया गया और कैसे आयकरवालों को उसका पता लगा?”

ओ.वी. कुरुविला बंबई के आयकर कमिश्नर थे। यह छाप उनके निर्देशन में पड़ा था और इसका संचालन बंबई से मेरे पति टी.पी. झुनझुनवाला कर रहे थे। बस, मैं अपने काम में लग गई। मालूम पड़ा कि इस तलाशी के दौरान अधिकारियों को अनेक रहस्यमयी परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था और उन्हें बहुत तत्परता से काम लेना पड़ा था। इस तलाशी का भार वांचीनाथ को, जो मेरे पति के सहयोगी और मित्र थे, सौंपा गया था। मैं वांचीनाथजी के घर की ओर चल पड़ी। उनकी पत्नी मेरी अच्छी मित्र थीं। शाम को जब वांचीनाथजी आफिस से आए तो मैंने पूछा, “भाई साहब, आजकल अखबारों में रामगढ़ की तलाशी की बहुत चर्चा हो रही है। आप कैसे वहां पहुंचे?”

“पहुंचना तो था ही। हमें सूचना मिली थी कि बंबई के एक व्यवसायी ने बहुत अधिक मात्रा में सोना, रामगढ़ स्थित अपनी हवेली में छिपा रखा है। इसलिए हम वहां पहुंच गए।”

“पर आप लोगों को विश्वास कैसे हुआ कि सूचना देनेवाला व्यक्ति सच ही बोल रहा है? बंबई में ही वह व्यक्ति अपने धन को छिपाकर रख सकता था, फिर रामगढ़ इतनी दूर क्यों?” मैंने पूछा।

“हां, पहले तो हमें भी यह बात बहुत आश्चर्यजनक लगी थी कि बंबई का व्यक्ति सैकड़ों मील दूर जाकर सोना रामगढ़ स्थित अपनी हवेली में क्यों छिपाएगा? हमें सहसा विश्वास नहीं हो रहा था पर उसकी बातों की सत्यता में संदेह की गुंजाइश कम ही लगती थी, फिर भी हमने एकदम उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। अपने तौर पर भी हमने सच्चाई का पता लगाया था, खुफिया तौर पर जांच की थी और सब प्रकार से निश्चित होकर ही हम वहां पहुंचे थे।”

“आप अकेले गए थे?” मैंने फिर पूछा।

“नहीं, मेरे साथ मेरे एक अन्य सहयोगी राममूर्ति भी गए थे। जयपुर पहुंचकर हमने वहां से कुछ अन्य अधिकारियों को भी अपने साथ ले लिया था। राजस्थान पुलिस की भी मदद ली गई थी।”

मैं सब अधिकारियों को तो जानती नहीं थी, फिर छापा पड़े कई माह भी बीत गए थे। अब क्या किया जाए—इसी ऊहापोह में थी कि ठाकुर ने रास्ता सुझाया, कहा, “अगर तुम वास्तव में अंदरूनी कहानी जानना चाहती हो और ‘फर्स्ट हैंड नालेज’ पाना चाहती हो, तो रामगढ़ चली जाओ। वहां जाए बिना पूरी बात सही से समझ नहीं आएगी। वापस आकर, जो-जो जानकारी रह जाए, उसे फिर यहां संबद्ध लोगों से मिलकर पूरी कर लेना।”

“लेकिन, मैं इतनी दूर अकेले कैसे जाऊंगी?” मैंने आशंका व्यक्त की। ठाकुर ने हिम्मत बंधाते हुए कहा, “तुम पहली बार तो राजस्थान जा नहीं रही हो, अमित के बाल उतरवाने यानी मुंडन के लिए हम लोग झुंझनू गए थे। वहां की धरती से तुम परिचित हो, लोग भी काफी संयत और सहयोग देनेवाले हैं। वस, तुम झुंझनू पहुंच जाना। वहां से मैं ऐसा प्रबंध कर दूंगा कि तुम्हारे साथ कोई व्यक्ति रामगढ़ तक चला जाएगा।”

मैंने सोचा, पत्रकारिता के क्षेत्र में आई हूं, तो यह सब पापड़ बेलने ही पड़ेंगे। बंबई से दिल्ली पहुंचना कोई मुश्किल नहीं था। दिल्ली से मेरी एक सहेली और मेरे एक मुंहबोले भाई साथ हो लिए, और हम सब झुंझनू पहुंचे। वहां, इनके बताए हुए एक सज्जन हमारी राह देख रहे थे। झुंझनू से हमने चूरूवाला ‘हाई वे’ लेने की सोची। किंतु, उसके पहले अपनी कुलदेवी राणी सती के दर्शन किए और पूजा की। चूरू झुंझनू से पैंतीस किलोमीटर की दूरी पर था। बीच में बिसाऊ पड़ता था। बिसाऊ से पांच किलोमीटर पर रामगढ़ था। रामगढ़ के कई परिवार बहुत ही प्रसिद्ध उद्योगपति हुए हैं। पर वे सब रामगढ़ से बंबई जाकर बस गए। इनमें प्रमुख नाम पोद्दारों का था। उस समय रामगढ़ की आबादी थी करीब चालीस हजार। रामगढ़ पहुंचकर हम हवेली की ओर चल पड़े। हवेली कोई साठ साल पुरानी थी और जमीन से कुछ ऊंचाई पर, एक टीले पर बनी थी। हवेली के नीचे के हिस्से में बारह कमरे थे। बीच में एक ‘कामन’ रास्ता। ऐसा नहीं था कि हमारे वहां

पहुँचते ही हवेली के लोगों ने हमारा स्वागत किया हो। नहीं जी, वह तो हवेली में घुसने भी नहीं दे रहे थे। सोच रहे थे कि अभी-अभी तो छापा पड़ा, अब यह नई मुसीबत कहाँ से आ पड़ी। पर जब हमने बताया कि हम तो झुंझनू के रहनेवाले हैं, अखबारों में पढ़कर केवल उत्सुकतावश देखने चले आए हैं और ऊपर से जब उन्हें बख्शीश का लालच दिया, तब कहीं वह हवेली दिखाने पर राजी हुए।

वहाँ के लोगों ने बताया कि विगत पंद्रह वर्षों से, सिवाय चौकीदार के और कोई इस हवेली में नहीं रहता। हवेली के तीन खंड थे, नीचे का खंड, पहला खंड और दूसरा खंड। इन तीनों खंडों में से केवल एक खंड उस व्यापारी का था, बाकी उसके भाइयों या उनके परिवार के लोगों के हिस्से में थे। उन्होंने बताया कि जब छापा डालनेवाले 'साहब' लोग आए, तब उन्होंने सभी जगहों पर मोहर लगाकर बंद (सील) कर दिया था।

इतने में एक दूसरा आदमी बोल पड़ा, "मोहर लगाकर 'साहब' लोग तो जा रहे थे, तभी उनकी नजर इस आलमारी पर पड़ गई," वह एक आलमारी की ओर इशारा करते हुए बोला। आलमारी इस समय तो बंद थी, पर जब आकर अधिकारी आए, तब वह खुली पड़ी थी। उसमें सीमेंट की बोरियाँ भरी हुई थीं। लोगों के लाख यह कहने पर कि 'यह तो सीमेंट की बोरियाँ हैं, इन्हें पड़ी रहने दें', पता नहीं क्यों, साहब लोगों को शक हो गया, और उन्होंने वह आलमारी भी 'सील' कर दी। शायद, उन लोगों ने सोचा हो कि क्यों कोई जगह बिना सील किए छोड़ी जाए।

"उसके बाद क्या हुआ?" मैंने पूछा।

"उसके बाद एक अफसर और उनके दो-तीन साथी रुक गए। बाकी सब वापस लौट गए।"

"तुम लोगों ने सेठ को खबर नहीं दी बंबई में?" मैंने कहा।

"दी क्यों नहीं? दी। सेठजी उसी समय बंबई से आ भी गए। उनके साथ एक-दो वकील भी थे।"

"कुछ कहा-सुनी हुई होगी?"

"हां, वैसे तो कौनऊ खास नहीं। पहले तो सेठजी बहुत आराम से बात करिन और कहिन कौनऊ बात नहीं है, अब आ गए हैं तो एक-आध दिन मां काम खतम करके सब अपने-अपने घर जाएं।" एक पुरबिया से लगते चौकीदार ने बताया।

"फिर?" मैंने पूछा।

"फिर का। ऊ अफसर लोग ऐसन तो मानन वाले थे नहीं। पूरी हवेली के चार-पांच चक्कर लगाए। उनका लगा कि चार-पांच दिन से कम तो पूरी तलाशी लेने में लगि हैं नाहीं, काहे कि हवेली बहुत बड़ी है। सो वह माने नाहीं और सेठजी को बताय दिहिन कि अबहीं तो वे चार-पांच दिन वहाँ रुकेंगे।" मंद-मंद मुस्काते हुए वह बोला।

"तुम्हारे सेठ तो बहुत नाराज हुए होंगे?" मैंने कहा।

"नाराजी की तो बात ही थी। सेठ का काम कौनऊ छोटा-मोटा काम है! किता

बड़ा काम फैला है वहां बंबई मां...सो ऊ कहि दिहिन, हम सारा कामकाज छोड़कर आए हैं। हम इसे दिन नाहिं रुक सकित। कौनऊ मजाक की बात है कि हम इहां इत्ते दिन बैठे रहें। सो ऊ तो बंबई चले गए, पर अफसरन को कहि गए कि उनका अपना कमरा जो नीचे है, तीन-चार दिन तक नाहीं खोला जाए। बंबई जाकर वह अपनी सेठानी से पूछेंगे कि उस कमरे में का है। तभी उसे खोलें, क्योंकि, सेठानी बड़े गरम दिमाग की हैं, उनसे पूछना जरूरी है।”

मैं समझ गई कि बस, बात यहीं अटक गई होगी। इतना बड़ा व्यापारी अवश्य ही बहुत व्यस्त होगा, सब छोड़कर इतनी दूर आया और यह रहस्य उसका दबा-छिपा रहस्य नहीं हो सकता जिसकी जानकारी उसे न हो। और फिर उसका यह हिदायत देना कि सेठानी का कमरा नहीं खोला जाए? वह क्यों आया और क्यों चला गया? शक की काफी गुंजाइश थी। और आयकर अधिकारियों की समझ में आ गया होगा कि कुछ बहुत ही संजीदा बात है।

मैंने हवेली को अंदर-बाहर से देख लिया था। वह जगहें भी देख ली थीं, जहां तोड़ा-ताड़ी हुई थी। सेठानी का कमरा भी देख लिया था, जो अब खाली पड़ा था, सिवाय एक दीवान के, जो अपनी जगह से हटा हुआ था, साइज से कहीं अधिक ऊंचा, जो आम दीवानों की तरह नहीं था। नीचे जाती हुई सीढ़ियां भी देखीं। सारी जगह का जायजा ले लिया। अब वहां रुकने से कोई लाभ नहीं था। अनजान जगह थी, इसलिए सोचा कि अब अगली कड़ी स्वयं उन अफसरों से मिलकर जोड़ूं, जो छापे में यहां आए थे। वापस लौटने लगे तो चौकीदार ने बताया, “उन दिनों तो यहां इतना हंगामा हो गया था कि आसपास के गांवों से करीब, कुछ नहीं तो दो हजार लोग इस छिपे हुए तहखाने को देखने आए थे।”

हम सर्किट हाउस लौट आए। तब तक सर्किट हाउस के ‘केअर-टेकर’ को भी पता चल गया था कि हमारे आने का उद्देश्य क्या है। उसने बताया कि सारे गांव में इस बात की बड़ी चर्चा, बहुत दिनों रही कि इतना बड़ा ‘स्ट्रॉंग रूम’ लग गया और गांव में, कानों-कान किसी को खबर तक नहीं हुई। बंबई से इतनी दूर राजस्थान के एक छोटे-से गांव में, कैसे तो लोहे का इतना सामान लाया गया होगा और कब उसे वहां जमाया गया होगा, आश्चर्य की बात तो थी ही।

बंबई वापस आकर मैं वांचीनाथजी से दोबारा मिली। उनसे बातचीत हुई तो उन्होंने बताया कि हवेली की सब जगहों को सील करने के बाद, वह तो वहीं रुक गए थे। राममूर्तिजी वापस चले आए थे। फिर यहां से वे जी.एस. साहनी तथा कुछ और अधिकारियों के साथ गए थे, उनसे भी मिल लूं तो वे काफी कुछ बता सकते हैं। साहनीजी पैडर रोड पर ही ‘सी’ ब्लॉक में रहते थे। उनकी पत्नी से मैं कई बार मिली थी। वे मुझे बहुत अच्छी और मिलनसार लगती थीं। खैर, उनके द्वारा जी.एस. साहनी से भेंट का समय निश्चित हुआ। प्रत्यक्ष रूप में इन सब कामों में मैं अपने पति की मदद नहीं लेती थी। किंतु, परोक्ष रूप

में तो टी.पी. झुनझुनवाला की पत्नी होने के नाते मुझे सभी का सहयोग मिल ही जाता था।

चाय के कप पर बातचीत करते हुए साहनीजी ने बताया कि “शक तो उसी दिन हो गया था जब ‘एसेसी’ बंबई से इतनी दूर रामगढ़ पहुंचा। फिर उसका यह कहना कि ‘उसे कुछ पता नहीं है, पत्नी से पूछकर बताऊंगा!’ ऐसा कैसे हो सकता था कि स्वयं उसे पता न हो कि अंदर क्या है? फिर यह कहना कि वह कमरा सबसे बाद में खोला जाए—इन सब बातों ने संदेह पैदा कर दिया था। इसलिए निर्णय लिया गया कि सबसे पहले उसी कमरे को खोला जाए। अगले दिन ग्राउंड फ्लोर का दरवाजा तोड़ा गया। दरवाजा मामूली-सा था। आसानी से टूट गया। अंदर, कोई चीज पहली नजर में नहीं दिखाई पड़ी। केवल कुछ कंबल पड़े थे। एक दीवान दीवार के साथ ‘फिक्स’ था। दीवान कोने में था और काफी ऊंचा था। दीवान के नीचे के हिस्से में छोटे-छोटे दरवाजे भी थे, जिन्हें खोलने पर पता लगा कि उसमें बर्तन तथा कुछ अन्य चीजें रखी हुई हैं। ऐसा लगता था कि दीवान हमेशा के लिए उसी जगह पर स्थिर है और उससे आलमारी का काम लिया जाता रहा है। फर्श और दीवारों का हमने चप्पा-चप्पा छान मारा था। शक की कोई गुंजाइश शेष नहीं बच रही थी। सारे कमरे को देख लिया था, सिवाय दीवान के नीचे की जगह और किनारों की दीवारों को छोड़कर, जहां दीवान, दीवार से लगा हुआ था।”

“फिर, फिर क्या हुआ? आपको शक कैसे हुआ कि वहां कुछ गड़बड़ है?”

साहनीजी ने बताया, “बस, एक विचार बिजली-सा कौंधा। क्यों न दीवान को वहां से हटाकर देखा जाए। दीवान के ‘साइज’ ने भी शक के बीज बो दिए। कोई नुकसान तो था नहीं? सलाह-मशविरा हुआ। निर्णय की देर थी कि सबने मिलकर दीवान को उस जगह से खिसका दिया। खाली हुई जगह को ध्यान से देख रहे थे कि अचानक लगा एक स्थान पर चार-चार टाइलें, एक किस्म की, एक-सी कटी हुई हैं। उस टूटे हुए हिस्से पर पांव रखा ही था कि फर्श के अंदर और फिर उसके नीचे सीढ़ियां नजर आईं।”

मैंने कहा, “उस दृश्य की मैं कल्पना कर सकती हूं कि आप लोग तो हर्ष से पागल हो गए होंगे!”

“पागल! हमारे चेहरे तो खुशी से चमक उठे। हाथों में दुगुनी शक्ति आ गई। अंदर झांककर देखा तो घुप्प अंधेरा ही अंधेरा। रोशनी कैसे की जाए? तभी देखा, बिजली का एक तार कमरे में पड़ा था। तार में बल्ब लगाने के लिए प्लग भी लगा हुआ था। हमने सोचा, जिस मतलब से हम बल्ब खोज रहे थे, यह तार उसी अर्थ में प्रयुक्त किया जाता रहा होगा। रोशनी होते ही हम आगे बढ़े। सीढ़ियां उतरते ही गोदरेज का मजबूत दरवाजा दिखाई दिया। दरवाजा कोई साढ़े-तीन फुट ऊंचा था और खुला हुआ था। उसके पीछे लोहे के सरियों का एक और दरवाजा था। इस दूसरे दरवाजे पर गोदरेज का ताला लटक रहा था। हमारे पास बंबई में ‘एसेसी’ के घर से बरामद हुई अनेक चाभियों का गुच्छा था। एक चाभी उस ताले में भी लग गई।

मैंने कहा, “आप लोगों की स्थिति तो बड़ी विषम हो गई होगी?”

शाम का अंधेरा गहराने लगा। साहनी साहब के यहां बातों में मैं इतना मशगूल हुई कि समय का पता ही नहीं चला। उनके बच्चे भी बीच-बीच में दो-तीन चक्कर लगा चुके थे। उनसे दूसरे दिन मिलने का वायदा लेकर मैं घर आ गई। घर आते-आते उन दिनों का, जब यह 'रेड' चल रही थी, सारा दृश्य आंखों के सामने घूम गया। ठाकुर का सुबह-सुबह शीघ्र आफिस के लिए निकल जाना। आफिस में कभी फोन करूं तो 'हू-हां' के सिवाय और कुछ नहीं बोलना। मेरा यह सोचकर फोन काट देना कि शायद, बहुत व्यस्त होंगे और कि शायद, कोई सामने बैठा हो, जिसके कारण बात नहीं कर पा रहे हैं। देर रात तक घर लौटना। न खाने की फिकर, न बातचीत करने की फुर्सत। बीच-बीच में रामगढ़ से टेलीफोन के तार खटकते, ट्रंक कॉल आते देर रात तक और फिर इनका कमिश्नर कुरुविलाजी से बात करना। बीच-बीच में ऐसे अधूरे वाक्य... 'चौथी दीवार खाली है। वहां कोई लॉकर नहीं'... 'ध्यान से देखो... फाल्स तो नहीं है'... और फिर एक दिन फोन आया तो कमिश्नर साहब से बात करने के बाद ठाकुर का जोरों से कहना, 'तोड़ दो—बिलकुल तोड़ दो।' उस तरफ की बातें तो सुनाई नहीं देती थीं, परंतु, इधर से कमिश्नर साहब से बातचीत करने के बाद जो आदेश दिए जाते थे, उनसे अंदाज तो लग ही गया था कि कोई बड़ा खजाना हाथ आनेवाला है। उधर से फिर कुछ बातें और फिर दूसरी रात फोन आने पर ठाकुर का उत्साह के अतिरेक में कहना, "हां, तोड़ो, उसे भी तोड़ो।"

वे बोले, “नहीं सी, यह बात नहीं है। मुझे तो आभास के बताव बहुत आनंद आ

रहा है। लगता है, वे सब क्षण फिर से आंखों के आगे उजागर हो गए हों। वह उत्साह, वह लगन, सफलता का वह नशा—एक बार फिर महसूस कर रहा हूँ।”

मैंने बात की कड़ी बढ़ाते हुए कहा, “कल हम लोग वहां तक पहुंचे थे, जहां लॉकर खुले थे, और माल नदारद था। उसके बाद क्या हुआ?”

साहनीजी ने बताया, “एक बार तो हम लोग लौटने को हुए। सोचा, अब रुकने से कोई लाभ नहीं। एक-एक कर सभी अधिकारी कमरे से बाहर आने लगे। किंतु, तभी गोदरेज का जो दरवाजा खुला हुआ था, उस पर अचानक नजर पड़ी, वहां कुछ मिट्टी-सी दिखाई दी। उंगली से मिट्टी को छुआ तो मिट्टी में गहरा निशान पड़ गया, इसका अर्थ कि मिट्टी काफी गहरी जमी थी। गोदरेज के दरवाजे ‘एअर टाइट’ होते हैं। मिट्टी का यहां प्रवेश कैसे? ऊपर-नीचे इधर-उधर कहीं कोई रोशनदान या खिड़की नहीं थी। वापस लौटकर लॉकर को फिर से देखा तो पाया कि लॉकर के निचले हिस्से पर भी मिट्टी पड़ी थी। सोचा कि यह मिट्टी दस-पंद्रह दिनों की तो नहीं हो सकती। सिद्ध यह हुआ कि लॉकर और स्ट्रांग रूम पिछले दस-पंद्रह दिनों में तो निश्चित ही नहीं खुले थे। तो क्या यह केवल भुलावा देने के लिए खोलकर छोड़े गए हैं, जिससे खुदा न खास्ता, कोई व्यक्ति अंदर यदि आए तो समझे कि लॉकर खाली हैं?

“यह भी सोचा गया कि कमरे की तीन दीवारों पर लॉकर थे, तो चौथी दीवार पर लॉकर क्यों नहीं? कहीं चौथी दीवार ‘फाल्स’ तो नहीं है? दीवार की सत्यता जांचने के लिए लोहे की एक सरिया से दीवार में छेद करने की कोशिश की गई। चार-पांच इंच सूराख होने के बाद आगे सरिया किसी चीज से अटकने लगा। उत्साह बढ़ा। सूराख भी थोड़ा और बड़ा किया गया। रोशनी अंदर फेंकी गई तो एक अखबार और कुछ कपड़ा नजर आया...अब तो सब कुछ सामने था। एक लाइन से दीवार पर सूराख करने शुरू कर दिए गए। सूराख करते-करते जब दीवार के अंत तक पहुंचे तो नीचे कोई चीज चमकती-सी नजर आई। ध्यान से देखने पर पता चला कि गोदरेज सेफ के ऊपर की निकल प्लेट थी।”

साहनीजी ने बताया कि बंबई से पूरी ‘रेड’ का संचालन टी.पी. यानी मेरे पति कर रहे थे, इसलिए उन्हें मिनट-मिनट की खबर दी जाती थी, और वे कमिश्नर साहब से बातचीत करके मामले की गंभीरता को समझते हुए, जो निर्देश देते थे, उसी पर अमल किया जाता था। इसलिए जब यहां से बात हुई और उन्होंने कहा, तोड़ दो, एकदम तोड़ दो, तब फाल्स दीवार को तोड़ने के लिए लोहारों को तत्परता से बुलाया गया। चाभियों के सूराख के करीब और सूराख किए गए। तीसरे दिन वाद जाकर कहीं सेफ खुला। सेफ के अंदर से करीब बीस-पच्चीस हजार के सोने के आभूषण मिले।

इसी बीच बंबई से एक अन्य अधिकारी आर.एस. झुनझुनवाला तथा उनके साथ कुछ और अधिकारी भी रामगढ़ आ गए। इन सबने मिलकर विचार-विमर्श किया कि बीस-पच्चीस हजार की संपत्ति को छिपाने के लिए ‘एसेसी’ को इतना सब मायाजाल रचने की क्या जरूरत थी? अवश्य ही कोई बड़ा हिसाब-किताब होना चाहिए।

“तीन दिन बीत चुके थे। वांचीनाथजी की बात सच साबित हुई थी कि इतनी बड़ी जगह को सर्च करने के लिए चार-पांच दिन तो लगेंगे ही। फिर बंबई फोन खटखटाए गए और वहां से निर्देश मिलने पर चौथा कमरा भी खोला गया। उसमें भी एक छोटा प्लेटफार्म दृष्टिगत हुआ। उसको तोड़ा गया तो नीचे फिर सीढ़ियां—एक और तहखाना।”

“यह तो पूरी ‘चंद्रकांता’ उपन्यास की तिलिस्मवाली बात हो गई,” मैंने कहा।

“हां, ऐसा ही कुछ था। वह तहखाना भी जब तोड़ा गया, तब मालूम पड़ा कि वह तो उस बरांडे के नीचे था, जहां अधिकारीगण पूरे दिन घूमते रहे थे। तहखाने में एक पुरानी सेफ मिली। उसके अंदर केवल एक रुपया रखा हुआ था (जैसा कि ‘ऐसेसी’ ने पहले ही स्वयं कहा था कि रामगढ़ में केवल एक रुपया ही रखा है। केवल इतना अंश मात्र सत्य था।) इस तहखाने की दीवारों को भी अच्छी तरह परखा गया, तो सीढ़ियों के साथवाली दीवार ‘फाल्स’ निकली। यह दीवार आसानी से टूट गई। अंदर एक ‘सेफ’ दीवार में ‘फिक्स’ थी, जिसे सीढ़ियों के नीचे बैठकर ही खोला जा सकता था। पूरा एक दिन लगा इस सेफ को खोलने में। हालांकि, सेफ छोटी थी किंतु, उसके अंदर सोने की बार्स और गिन्नियां निकलीं। जब इन बार्स और गिन्नियों को तोला गया, इनका वजन करीब 100 किलोग्राम निकला। सारी रात सोने को तौलते हुए, उन पर निशान और नंबर लगाते ही बीती।”

यह एक बड़ी सफलता थी, पर इसकी कहानी यहीं खत्म नहीं हुई। अधोषित संपत्ति को बचाए रखने की कोशिश ने अपराध की कड़ियों में एक नयी कड़ी जोड़ी और उसके साथ फिर से शुरू हुआ—रहस्य, रोमांच, साहस और सूझ-बूझ का नया सिलसिला।

जाहिर था कि उस व्यक्ति को स्वप्न में भी यह विचार नहीं आया होगा कि उसका इतना बड़ा खजाना, जिसे उसने न जाने कितनी मेहनत से, लोगों की आंखों से छिपाकर रखा है, ऐसी आसानी से उसकी पकड़ से निकल जाएगा। हालांकि, उसके पास अभी भी बेशुमार दौलत थी। उसका परिवार भी छोटा था। दो बेटियां थीं, जिनका विवाह हो चुका था। बेटा कोई था नहीं। पत्नी भी बीमार रहती थीं। फिर धन की इतनी लिप्सा क्यों? और किसके लिए? क्या वह अपने को अमर समझता था? क्या इसीलिए वह सांप की तरह अपने धन पर कुंडली मारे बैठा था? न अपने लिए उसका उपभोग कर पा रहा था, न समाज के लिए। मैंने तो जब उसे देखा, बंद काला कोट और धोती पहने ही देखा। बाद में उसने अपनी एक बेटी के पुत्र को गोद ले लिया था। इस प्रकार दत्तक-पुत्र से अपनी आगे आनेवाली पीढ़ी के लिए वह शायद, सोने की सनातन भूख के चक्कर में आ गया था। और सोने की भूख ने उसे इतना आक्रांत किया कि उसके संचय के लिए उसने धर्म-कर्म-नियम भी छोड़ दिए। एक ही ध्येय रह गया, कैसे बचाऊं इस अपार सोने के भंडार को?

अपराधी वृत्तिवाला व्यक्ति अपनी तरह ही सबको समझता है। अब उसने प्रयत्न शुरू किया, यह जानने के लिए कि छापे की धुरी कहां है। उसे पता लगा कि सारी योजना

बनानेवाले टी.पी. झुनझुनवाला यानी मेरे पति ही हैं। किन-किन लोगों से उन पर प्रभाव डाला जा सकता है—उन तक पहुंचने के मार्ग खोजने उसने आरंभ कर दिए। पहल कानपुर से हुई। हम लोग कानपुर के रहनेवाले थे, यह उसने पता कर लिया। मेरी बड़ी ननद के पति प्यारेलालजी काफी बड़े व्यापारी थे। शक्कर का काम करते थे। वह रिश्तेदारी ढूंढकर उनसे मिला और कहा कि उसका काम हो जाए तो वह मुंह मांगी रकम देने को तैयार है। उसकी दूसरी लड़की का संबंध निकल आया, इनके अनन्य मित्र नंदकिशोर झाझरियाजी से, जो एक बड़े समृद्ध घराने से थे। उन्हें भी कहलाया गया कि वे अपने मित्र से बात कर लें। सबने उससे कहा कि टी.पी. ऐसे आदमी नहीं हैं, वह सीधे रास्ते चलनेवाले व्यक्ति हैं और इस तरह की सिफारिशें करवाकर वह अपना ही नुकसान करेगा। पर जैसे, दलदल में फंसा व्यक्ति अंत तक येन-केन प्रकारेण उसमें से निकलने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार वह भी अपने प्रयत्नों में लगा ही रहा। कोशिशों के इस दौर में जब कानपुर से हताशा मिली, तो वह बंबई में 'चारा' डालने की कोशिश करने लगा। उसे पता लगा कि मैं भारतीजी के पास 'धर्मयुग' के संपादकीय मंडल में 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में काम करती हूँ।

एक दिन भारतीजी, हमारे घर आए और बोले, "टी.पी., तुम अमुक व्यक्ति को जानते हो?"

"हां, पर आप उसे कैसे जानते हैं?" इन्होंने पूछा।

"उसने मुझसे संपर्क किया था। वह हिंदी के किसी लेखक को पचास हजार रुपये का पुरस्कार देना चाहता है," भारतीजी ने बताया।

"अच्छा, यह तो बहुत अच्छी बात है। किस लेखक को आप पुरस्कार दिलवा रहे हैं?" मैंने पूछा।

"वह तो आपको ही पुरस्कार देना चाहता है," भारतीजी मंद-मंद मुस्काते बोले।

"मुझे? पर क्यों? और मैंने तो कोई पुस्तक अभी तक लिखी नहीं है।" आश्चर्य से मैंने कहा।

टी.पी. ने हंसते हुए कहा, "वह तुम्हारे माध्यम से मुझे ही खरीदना चाहता है," और फिर भारतीजी की ओर मुखातिब होते हुए बोले, "भारतीजी, आपने उससे यह भी कहा होगा कि शीला ने तो कोई पुस्तक नहीं लिखी है तो उसने कहा होगा कि आप किसी से लिखवा दीजिए। पुरस्कार तो उन्हें ही देना है।"

और फिर टी.पी. और भारतीजी के ठहाकों से घर गूंज उठा। मैं तो आश्चर्यचकित देखती ही रह गई। ऐसा भी होता है क्या? झूठ, दंभ, चालाकियों का क्या कोई अंत नहीं है, इस संसार में!

रामगढ़ की घटना को छह महीने बीत गए थे। हमने राहत की सांस ली थी क्योंकि, जिन दिनों कोई रेड चलती थी, उन दिनों ये बाहर तो व्यस्त रहते ही थे, सारे दिन घर में भी,

छुट्टी के दिन भी, आफिसर्स का आना-जाना लगा रहता था। कुछ नहीं तो फोन की घंटी ही घनघनाती रहती थी। इन दिनों घर में काफी शांति का माहौल था। मैं भी टेंशनरहित थी। दोपहर में आराम कर रही थी कि अचानक मेरी एक सहेली का फोन आया। उसने बताया कि एक सिद्ध-तांत्रिक अरजरिया महाराज अपने किसी काम से दो-तीन दिन के लिए बंबई आए हुए हैं। मिलना हो तो आ जाओ।

वैसे तंत्र-मंत्र की दुनिया से मैं दूर ही रहती हूँ, किंतु, मन में सदैव एक उत्सुकता रहती है कि कहीं कुछ अजीबोगरीब हो रहा है या कोई प्रभावशाली व्यक्तित्व है, तो उसके पीछे छिपी शक्ति को देखूँ तो सही।

इसी उत्सुकता के वशीभूत मैं पहुंच गई अपनी सहेली के घर बंबई के उपनगर खार में। घर के अंदर का दृश्य बड़ा ही भव्य था। एक विशाल तख्त पर अरजरिया महाराज बिराजे हुए थे। उनके आगे पूजा की सामग्री और फल व मिष्ठान्न से भरे थाल रखे थे। सामने चौकी पर मां दुर्गा की मूर्ति स्थापित थी। मैं जड़ होकर रह गई। हाथ वरबस माथे से जा जुड़े। मुझे एकदम एलीफेंटा का ध्यान आ गया। मूर्ति वैसी ही थी, जैसी मैंने उस दिन एलीफेंटा में त्रिमूर्ति के पारदर्शी हो जाने के बाद, उसके भीतर देखी थी। मेरे तर्कशील मन ने मुझे समझाया कि देवी की मूर्ति तो एक-सी ही होती हैं। वही, सिंह पर सवार, आठ भुजावाली मां, शक्ति की प्रतीक दुर्गा-मूर्ति और कि अरजरिया महाराजवाली दुर्गा की मूर्ति और एलीफेंटा की मूर्ति में कुछ समानता है, तो वह इसी साम्य के कारण है। मेरा मन तो तर्क दे रहा था किंतु, मेरी दृष्टि मूर्ति पर एकटक लगी थी। जैसे, दृष्टि किती मंत्र से बांध दी गई हो। आसपास क्या हो रहा है, मुझे कुछ ज्ञात नहीं था। अचानक उस छोटी-सी दुर्गा-मूर्ति को फिर एक धुएं के बादल ने ढक लिया। कुछ सेकेंड बाद ही धुएं का गुबार हटा तो सिंहवाहिनी मां का हाथ हिलते देखा। मन प्रकाश से भर उठा। नत-मस्तक हो, जो दृष्टि उठाई तो कहीं कुछ न था। सारे तर्क शांत हो गए थे।

मैंने देखा, अरजरिया महाराज एकटक मुझे देख रहे थे। मैंने महाराज को अपनी एलीफेंटा की अनुभूति की बात सुनाई। पूछा, “महाराज, यह कोई अनिष्ट की सूचना तो नहीं है?”

महाराज बोले, “बेटी, तेरे अहोभाग्य। मां ने स्वयं तुझे आकर दर्शन दिए हैं। संकट का अब क्या काम! तेरे पूर्व-जन्म के संस्कार हैं।”

फिर तो अरजरिया महाराज से बहुत बातें हुई। उन्होंने बताया कि किस प्रकार मेरे जन्म के समय मेरी आंखों की पुतली के चारों ओर खून जमा था, कैसे मेरा शिशु-शरीर एक झिल्ली के आवरण में लिपटा था और कैसे उस समय सबने यह सोचा था कि यह कोई ऋषि-आत्मा है, जो बड़े क्रोध के बाद भूतल पर आई है। और क्योंकि, आना नहीं चाहती थी, उसे बांधकर भेजा गया है, जैसा कि मेरी मां मुझे बताया करती थीं। किंतु, अरजरिया महाराज को यह सब कैसे पता लगा? वे तो मध्यप्रदेश के जबलपुर नगर में अन्नपूर्णा मंदिर की छाया में बने घर में रहते थे। वहीं उनका तांत्रिक आसन था, जिस

पर बैठकर वे रोज कितनी ही समस्याएं सुलझाते थे और लोगों के काम पूर्ण करते थे। पूछने पर उन्होंने बताया, यह सब तंत्र की शक्ति है। संस्कारवश बचपन से ही उन्हें तंत्र-मंत्र का चस्का लग गया था। वर्षों की कठोर साधना के बाद मां ने दर्शन दिए। महाराज ने सिद्धि की कामना की। मां ने उन्हें अपना एक गण सौंपा था, जिसका नाम था—गंगाराम। वह पलक झपकते विलायत-पार तक की खबरें ला देता था। मेरे देखते ही देखते महाराज ने आए हुए भक्तों में एक के लिए देश में अप्राप्य कोई दवाई विदेश से मंगाकर दी थी। किसी को केवल भूति मिली तो किसी को अंगूठी या छल्ला। आश्चर्य की बात, महाराज ने मुझे कोई वस्तु नहीं दी।

अरजरिया महाराज से उसके बाद फिर कभी भेंट नहीं हुई। बाद में सुना कि वे नहीं रहे। काफी दिन हो गए, उनके न रहने की खबर सुने। पर मुझे कभी-कभी लगता है कि उनकी रूह भी तो कहीं किसी तांत्रिक की 'गंगाराम' न बन गई हो। उन्होंने मुझसे कहा भी था, "बेटी, इस विद्या में बहुलों के पुण्य-पाप अपने हिसाब में आ जाते हैं। फिर रूह भटकती है। न जाने कितनी योनियों से गुजरना पड़ता है। कौन जाने मुझे भी कितनों का गंगाराम बनना पड़े और दौड़-दौड़कर उनके काम करने पड़ें। मोक्ष का, मुक्ति का रास्ता नहीं है यह।"

एक अदृश्य शक्ति के आशीर्वाद को सिर-माथे लेकर मैं उस दिन वापस लौट आई अपने घर, इस विश्वास के साथ कि कहीं कुछ अप्रिय घटित हुआ भी तो मां का वरद हस्त है मेरे ऊपर। फिर भी मैं उस घटना को नहीं भूल सकी।

मां की कृपा के अहसास का प्रत्यक्ष प्रमाण इतनी शीघ्र मिल जाएगा, सोचा भी नहीं था। उस दिन शायद, छुट्टी थी। अलसाई-सी दोपहरिया हो रही थी। सप्ताह में एक ही दिन तो ऐसा होता है, जब दोपहर में भी नींद ली जा सकती है। ठाकुर बिस्तर में लेटे हुए थे। मैं घर के काम-काज निपटा रही थी कि अचानक टेलीफोन की घंटी बज उठी, ट्रिंग-ट्रिंग... मैंने दौड़कर फोन उठा लिया कि कहीं इनकी नींद खराब न हो जाए।

"हलो," मैंने कहा, "आपको किससे बात करनी है?"

"टी.पी. झुनझुनवालाजी से बात करवा दीजिए," उधर से आवाज आई।

"आप कौन बोल रहे हैं?" मैंने पूछा। कोई जवाब नहीं मिला। एक मिनट की चुप्पी के बाद फिर आवाज आई, "साहब को फोन दीजिए न, जरूरी बात करनी है।" इनकी भी नींद उचट गई थी, झट फोन हाथ में ले लिया, कहा, "बोलिए, मैं झुनझुनवाला बोल रहा हूँ।"

उधर से क्या कहा गया, यह तो नहीं मालूम पड़ा, पर ठाकुर ने कहा, "क्या कह रहे हैं आप? कैसी खोजबीन?" फिर एक-दो सेकेंड कुछ बात हुई और ठाकुर 'हैलो-हैलो' करते ही रहे कि फोन कट गया। अब मैं अपनी उत्सुकता रोक न सकी। मैंने पूछा, "क्या हुआ? कौन था? और तुम इतने परेशान क्यों हो गए हो?"

ठाकुर ने बताया कि वही रामगढ़वाली रेड का किस्सा है। वहां सोना छह दिसंबर

को मिला था। 'एसेसी' की ओर से कानूनी कार्यवाही की कोई भी सूचना मई तक नहीं मिली। अचानक मई में उसने जोधपुर हाईकोर्ट में एक रिट फाइल कर दी। रिट में कहा गया है कि उसके यहां से जो सोना प्राप्त किया गया है, वह उस सोने को 'गोल्ड बांड' के लिए, सर्च प्रारंभ होने से पहले ही घोषित कर चुका है।

"किंतु, यह फोन?" मैंने पूछा।

"पता नहीं, किसका फोन था। कह रहा था, 'आप अपनी खोजबीन बंद करिए। नहीं तो, आपके हक में अच्छा नहीं होगा।'"

मैंने पूछा, "क्या वह किस्सा खतम नहीं हुआ?"

ठाकुर ने बताया, "एसेसी का कहना है कि सर्च 24 नवंबर को प्रारंभ हुई थी और उसने 18 नवंबर को 'गोल्ड बांड' के लिए आवेदनपत्र स्टेट बैंक ऑफ इंदौर की इंदौर स्थित शाखा में स्वयं जमा किया था। उसके यहां जो तलाशी की गई है, वह आयकर विभाग के कुछ अधिकारियों के व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण की गई है।"

एक अजीब परिस्थिति इस रिट पिटीशन से उपस्थित हो गई थी। ठाकुर को पूरा विश्वास था कि रिट पिटीशन में जो दावा किया गया है, वह नितांत गलत है। यदि 'एसेसी' ने आवेदनपत्र 18 नवंबर को दे दिया था, तो उसने एक दिसंबर को रामगढ़ में, जब वह उपस्थित था, तब यह बात क्यों नहीं बतलाई थी? उस दिन उसका रामगढ़ में 'स्टेटमेंट' भी लिया गया था, और उसमें उसने यह बात जोर-जोर से कही थी कि रामगढ़ में एक रुपये के सिवाय और कुछ नहीं है। 'एसेसी' बंबई में रहता है और सोना रामगढ़ में पाया गया है, अतः इंदौर में 'गोल्ड बांड' के लिए आवेदनपत्र भरने का प्रश्न ही नहीं उठता। कितनी ही बार दिसंबर और मई के बीच वह आयकर आयुक्त कुरुविलाजी से अपने सालीसिटर्स, एकाउंटेंट्स और एडवोकेट्स के साथ मिला, किंतु, उस आवेदनपत्र की बात उसने कभी नहीं की। ये सारी बातें इस बात का प्रमाण हैं कि उसने दिसंबर और मई के बीच स्टेट बैंक ऑफ इंदौर में पिछली तारीख में किसी तरह आवेदनपत्र रखवा दिया है। किंतु, न्यायालय में बातें नहीं, प्रमाण चाहिए। 'एसेसी' के पास स्टेट बैंक ऑफ इंदौर के मैनेजर के द्वारा दिया गया प्रमाणपत्र था, जिससे यह बात सिद्ध होती थी कि आवेदनपत्र 18 नवंबर को ही दे दिया गया था।

आयकर अधिकारियों ने यह सूचना मिलते ही विचार-विमर्श शुरू कर दिया। उन्हें विश्वास था कि झूठ के पैर नहीं होते और वे निश्चित रूप से कोई प्रमाण जुटा लेंगे, जिससे आवेदनपत्रवाली बात गलत साबित हो जाए।

प्रमाण जुटाने का जिम्मा ठाकुर को सौंपा गया। उनके पास आस्था और आत्मविश्वास था, और था सत्य का संबल। उन्होंने सोचा कि ऐसे प्रमाण जुटाने चाहिए, जिससे यह साबित हो सके कि 'एसेसी' 18 नवंबर को इंदौर में नहीं बल्कि बंबई में था। सबसे पहले 'एसेसी' जहां से अपनी गाड़ी में पेट्रोल डलवाता था, वहां जांच की गई थी कि 18 नवंबर की तिथि में उसने वहां कोई 'क्रेडिट वाउचर' पेट्रोल लेने के लिए, सही

तो नहीं किया है। भाग्य ने साथ दिया और एक 'क्रेडिट वाउचर' मिल गया, जिस पर 18 नंबर के 'एसेसी' के हस्ताक्षर हुए थे। बस, फिर क्या था! हिम्मत और शक्ति अपने आप आ गई।

इसके बाद उन दो पोस्टऑफिसों में जांच की गई, जिनके अंतर्गत 'एसेसी' का घर और कार्यालय पड़ता था। दोनों ही पोस्टऑफिसों से, एक सवेरे की डाक और दूसरी अपराह्न की डाक से रजिस्टर्ड चिट्ठियां प्राप्त करने के, 18 नवंबर के उसके हस्ताक्षर प्राप्त हुए, जिससे यह और सिद्ध हो गया कि 'एसेसी' 18 नवंबर को बंबई में ही था, इंदौर में नहीं।

जब ठाकुर ने सरकारी वकीलों को यह बात बतलाई, तब उन्होंने सलाह दी, यह प्रमाण अच्छे तो हैं किंतु, शत-प्रति-शत केस को जिताने में संभवतः काम न आ सकें। कोई ऐसा प्रमाण और मिलना चाहिए जिससे यह पूर्ण रूप से साबित हो सके कि आवेदनपत्र 18 नवंबर को नहीं बल्कि मई में ही दाखिल किया गया है।

अब फिर समस्या सामने आ गई। कठिनाइयां और परेशानियां मनुष्य को अधिक सोचने के लिए विवश कर देती हैं। रिजर्व बैंक से पता लगाया गया कि नवंबर और मई के बीच, रिजर्व बैंक ने 'गोल्ड बांड' के आवेदनपत्र कब छपवाए थे। पता लगा कि नवंबर में जो फार्म प्रचलित थे, वह पहली बार अक्टूबर में छपवाए गए थे और दोबारा फार्म अप्रैल में छपवाए गए थे। रिजर्व बैंक से दोनों तिथियों के प्रमाणपत्र ले लिए गए। स्टेट बैंक ऑफ इंदौर में 'एसेसी' का जो आवेदनपत्र बैंक में था, उस पर प्रिंटलाइन अप्रैल की थी, जब कि वह अक्टूबर की होनी चाहिए थी।

मैंने ठाकुर से पूछा कि आप लोग जो जांच-पड़ताल करते हैं, इंदौर से जो कुछ पता लगा, उसकी खबर उस व्यक्ति को कैसे हो गई?

स्टेट बैंक ऑफ इंदौर का एक अधिकारी 'एसेसी' से मिला हुआ है। वह सारी जांच-पड़ताल की खबर उसे तत्काल पहुंचा देता है, ऐसा ठाकुर ने बताया।

मैंने पूछा, "आज जो फोन आया, उसे सुनकर आप बहुत विचलित दिखाई पड़ रहे थे। क्या बात थी?"

"फोन हमारे एक विश्वस्त व्यक्ति का था। वह 'एसेसी' के बहुत करीब का आदमी है, इसलिए उस पर संदेह नहीं किया जा सकता। वह हमें यदा-कदा इस तरह की सूचनाएं देता रहता है कि आगे 'एसेसी' कौन-सी चाल चलनेवाला है या हमारे प्यादे के सामने उसका कौन-सा मोहरा बढ़नेवाला है।" ठाकुर ने बताया।

मैंने कहा, "यह वही व्यक्ति तो नहीं है, जो उस दिन आपके ऑफिस में बैठा था, जब मैं अपने ऑफिस से लौटते समय आपके ऑफिस आई थी—ढीला-ढाला एक व्यक्ति, काइयां-सा लगता हुआ, चश्मा लगाए, और जिसे देखकर मैंने कहा था कि यह आदमी ठीक नहीं मालूम पड़ता?"

"हां, हां, वही व्यक्ति है। चार्टर्ड अकाउंटेंट है 'एसेसी' का। वही फोन पर बता

रहा था कि, स्टेट बैंक ऑफ इंदौर में जो खोजबीन और जांच-पड़ताल हम कर रहे हैं, उसके बारे में सेठ को पता लग गया है। मैंने उसे टालने की बहुत कोशिश की। कहा भी, 'कैसी खोजबीन? क्या कह रहे हैं आप?' पर उसे तो सब जैसे पता ही था, ठाकुर ने बताया।

मैंने कहा, "आप तो हलो-हलो करते ही रह गए, फोन बीच में ही कट गया।"

"हां, पर उसके पहले उसने बता दिया था कि साहब आप न बताना चाहें तो न बताएं, पर एक बात मैं आपको बताना अपना धर्म समझता हूं। सेठ कल सुबह इंदौर पहुंच रहे हैं। वहां जो गलत फार्म पर 'गोल्ड बांड' का एप्लीकेशन है, वे उसे बदलने की कोशिश करेंगे। बस, इसके बाद फोन कट गया।"

सूचना बहुत महत्वपूर्ण थी और उसे नकारा नहीं जा सकता था। जिन वस्त्रों में ठाकुर लेटे हुए थे, उन्हीं वस्त्रों में कुरुविलाजी के घर चल दिए। मैं सोचती रही कि कहीं यह कोई चाल तो नहीं है? कहीं वह व्यक्ति 'डबल रोल' तो नहीं खेल रहा? कहीं यह सारा खेल अधिकारियों को फंसाने के लिए तो नहीं खेला जा रहा है? इसी उधेड़बुन में पड़ी मैं इंतजार करती रही कि कब ठाकुर वापस आएंगे और वस्तुस्थिति का पता चले। करीब चार बजे शाम को ठाकुर वापस आए और आते ही फैसला सुना दिया, "अभी-अभी इंदौर जाना है।"

ठाकुर ने बताया, "और कोई उपाय नहीं है। हमारे सामने दो ही रास्ते हैं। एक तो यह कि इंदौर-स्थित आयकर अधिकारियों को सूचना दे दी जाए कि वे सुबह होते ही बैंक पहुंच जाएं और किसी भी हालत में 'एसेसी' को फार्म न बदलने दें। किंतु, इस निर्णय को कार्यान्वित करने में एक कानूनी अड़चन आ रही है कि जब तक अधिकारियों के पास बैंक के कागजात सर्च और जब्त करने का अधिकारपत्र (सर्च वारंट) न हो, तब तक वे अधिकारी, हो सकता है कि इस निर्देश को पूरा न कर सकें। 'सर्च वारंट' केवल आयकर आयुक्त ही दे सकता है और इन दिनों इंदौर में कोई आयकर आयुक्त नहीं है। दूसरी बात, जिस आयुक्त का केस होता है, 'सर्च वारंट' वही दे सकता है।"

मैंने इन्हें अपनी आशंकाएं बताईं, पर इनका कहना था, "प्रयत्न करना मनुष्य की अनिवार्य नियति है, भय तो केवल कल्पना-प्रसूत होता है। शतरंज की सभी चालों को समझकर मोहरों से खेलना ही, असली खेलना है। सामनेवाला किस स्थिति में क्या करना चाहता है, यह पता होने पर भी, उस स्थिति में अपने को डालने से अगर दूसरा सोचता है कि वह सफल हो जाएगा, तो वह भी करके देख लेने में क्या हर्ज है?"

ठाकुर ने बताया कि कुरुविलाजी ने 'सर्च वारंट' एक मिनट में ही तैयार कर दिया हैं। किंतु, कठिनाई यह है कि इस वारंट को इंदौर कैसे पहुंचाया जाए? बंबई से उन दिनों कोई हवाई जहाज इंदौर नहीं जाता था। ट्रेन से जाने में चौबीस घंटे से अधिक का समय लग जाता। तब तक तो चिड़िया दाना चुगकर उड़ भी जाती। केवल एक ही रास्ता था कि कार से तुरंत इंदौर के लिए रवाना हो जाया जाए। इंदौर की दूरी करीब 371 मील थी और यह दूरी रात-भर में ही पूरी करनी थी।

जितना मैं अपने पति को जानती थी, मुझे पूरा विश्वास था कि उन्होंने कुरुविलाजी से कहा होगा कि वह स्वयं इंदौर जाएंगे। कार से इतनी दूर का सफर और वह भी रात-भर चलकर! मुझे तो सुनकर ही चक्कर आने लगा। किंतु मना करने से कोई लाभ नहीं था। ठाकुर माननेवाले नहीं थे।

मैंने एक बात जरूर जोर देकर कही कि अकेले न जाएं, अपने साथ दो-तीन और आफीसर्स को भी ले जाएं। जी.एच. केसवानी सामने ही आयकर बिल्डिंग में रहते थे। केसवानी में बाकी गुण तो थे ही, वे कार चलाने में भी माहिर थे। अकारण खतरा मोल नहीं लेते थे और कार के कल-पुर्जों के बारे में भी उनकी जानकारी अच्छी थी। बाकी के दो अफसर एम.एल. वधावन और एस.वी. सुब्बाराव थे। वधावन पंजाबी ऊर्जा से युक्त थे, तो सुब्बाराव विपरीत परिस्थितियों में धैर्य न खोनेवाले। तय हुआ कि शाम को छह बजे रवाना हुआ जाए और अपनी फियेट कार से ही जाया जाए। हमारी फियेट गाड़ी नयी थी और कुछ महीनों पहले ही आई थी।

उत्साह के अतिरेक में ठाकुर ने एक काम जो किया, वह मुझे अच्छा नहीं लगा, उसने अनेक कुशंकाओं को जन्म भी दिया किंतु, उस समय मैंने कुछ कहना उचित नहीं समझा। वे घर से निकलनेवाले ही थे कि उस व्यक्ति (विश्वसनीय व्यक्ति) का पुनः फोन आया। उसने फिर बतलाया कि “फार्म बदलने की सारी योजना तय हो चुकी है और यदि सुबह तक आप लोग उस पुराने फार्म को अपने कब्जे में नहीं लेते हैं, तो फिर सारा खेल खत्म हो जाएगा।”

ठाकुर को लग रहा था कि लक्ष्य अब मुट्ठी में ही है, और इसी रोब में उसे बता दिया कि, इसी क्षण वे लोग इंदौर रवाना हो रहे हैं और चिंता की कोई बात नहीं है। वस, यही बात मुझे खटक गई।

इन लोगों का पहला पड़ाव नासिक था। वहां मेरी स्कूल के समय की सहेली सरोज रहती थी। एक बार जब वह बंबई आई थी, तब वह बाकी के तीन लोगों से मिल भी चुकी थी। तय हुआ कि नासिक में उसी के यहां पहुंचकर खाना खाया जाए और फिर आगे की दूरी तय की जाए।

उस पूरी रात मैं सो न सकी। नाना प्रकार की चिंताएं सिर उठाए रहीं। कैसे वह रात और उसके बाद के चौबीसों घंटे बीते, सोचकर आज भी आंखों की नींद उड़ जाती है। बार-बार सोचती, पता नहीं, वहां ठीक से पहुंचे कि नहीं, रास्ते में कोई गड़बड़ तो नहीं हुई! उन लोगों को तो चलने का समय तक पता चल गया है। उनकी चालों को नाकाम करने जा रहे हैं, तो क्या वे भी नाकारा बैठे होंगे? जैसे, मकड़ी जाला बुनती है, फिर उसमें से निकलने का मार्ग ढूंढने की कोशिश में और जकड़ जाती है, वैसा ही मेरे साथ हुआ। एक शंका, दूसरी कुशंका को जन्म देती और मैं कमरे में चक्कर लगाने लगती। मुझे लग रहा था कि कुछ गड़बड़ जरूर है।

चार दिन बाद, जब वापस लौटे तो खबर मिलते ही दौड़कर बालकोनी से झांका

और देखा कि हमारी गाड़ी का हुड बुरी तरह टूटा हुआ है, किसी तरह लटक-भर रहा है। लोग चारों ओर से गाड़ी को घेरे खड़े हैं। हमारी नयी गाड़ी इतनी टूट-फूट चुकी थी कि अब 'ऐंटीक' नजर आ रही थी। ईश्वर को लाख-लाख धन्यवाद दिया कि गाड़ी का जो हुआ, सो हुआ, सब लोग कुशलतापूर्वक वापस तो आ गए।

दूसरे दिन मैं वधावन, केसवानी और सुब्बारावजी से अलग-अलग मिली, यह जानने के लिए कि आगे का घटनाक्रम क्या रहा और कैसा रहा? पर उन्होंने मुझे दो-तीन दिन बाद का समय दिया। तब तक अखबारों में सब कुछ छप चुका था, पर अंदरूनी कहानी किसको मालूम थी? गाड़ी का एक्सीडेंट हुआ कैसे? पूछने पर ठाकुर ने तथा अन्य लोगों ने जो बताया, उसके आधार पर टुकड़े-टुकड़े जोड़कर, जो कहानी बनी, वह इस प्रकार थी : नासिक पहुंचते-पहुंचते रात्रि के 9.30 बज चुके थे। शरीर और गाड़ी दोनों को ही भोजन-पानी की जरूरत थी। मिनटों में तिवारी महल पहुंच गए। अचानक आया देखकर और वह भी अकेले नहीं, साथियों के साथ, सरोज को आश्चर्य तो हुआ ही। क्यों और कैसे आए—स्थिति का जायजा लेने की कोशिश की किंतु, उसे 'ब्लफ' कर दिया गया। अचानक आए जीजा की खातिरदारी में, ज्यादा पूछताछ करना भूल, वह रसोई के इंतजाम में जुट गई। काफी जल्दी करने के बावजूद नासिक से निकलते-निकलते रात्रि के 11 बज गए। आगे की दूरी तय करने के लिए ठाकुर ने स्टियरिंग संभाल ली।

निस्तब्ध, सघन रास्ता, रात के अंधेरे में यदा-कदा गूंजती जंगली जानवरों की आवाजें। छोटी फियेट गाड़ी में लंबे रास्ते का सफर। सब कुछ उपाय करके भी, यदि समय पर न पहुंचे तो? काफी तकलीफदेह स्थिति थी। एक और अनजाना भय भी मन को कुरेद रहा था कि चलते समय ही उस व्यक्ति का फोन क्यों आया? क्या यह 'चेक' करने के लिए कि इंदौर रवाना हो रहे हैं या नहीं? अपनी गलती का भी एहसास कि अपने जाने की सूचना उसे दे दी। मन बार-बार आक्रांत हो उठता किंतु, फिर इधर-उधर की बातें करके मन को भयरहित करने का प्रयत्न करते क्योंकि, भय मनुष्य को कमजोर बना देता है और कमजोर व्यक्ति जीत नहीं पाता।

गाड़ी की गति को बढ़ाया नहीं जा सकता था। पहाड़ी इलाका जो था। दोनों ओर खड्ड। पीछे की सीट पर बैठे थे सुब्बाराव, जिन्हें सब 'गुरुजी' कहते थे। जैसे ही, सामने से आते किसी ट्रक की आंखें देखते, निर्देश देने लगते, 'गाड़ी किनारे करो...गति धीमी ...'चांस' नहीं लिया जा सकता!' मेरी हिदायत भी ठाकुर को बार-बार याद आ रही थी! 'गाड़ी के मामले में केसवानी की बात सुनना, तुम गाड़ी बहुत तेज चलाते हो।' इस 'प्रोसेस' में गाड़ी स्पीड नहीं पकड़ पा रही थी। समय बहुत लगता जा रहा था। इतने में, सामने एक पेट्रोल पंप दिखाई पड़ा। तय किया गया कि वहीं रुककर कार की टंकी को पूरा भरवा लिया जाए। फिर पता नहीं पेट्रोल पंप कितनी दूरी पर मिले! गाड़ी रोकी। मुश्किल से पेट्रोल पंपवाले को जगाया। वधावन और सुब्बारावजी इधर-उधर टहलने लगे। इधर गाड़ी की टंकी फुल होने लगी। तभी अचानक केसवानी ने सबका ध्यान एक जीप की ओर

आकर्षित किया। जीप मेन सड़क पर पेट्रोल पंप से थोड़ी दूरी पर खड़ी थी और उसमें कुछ व्यक्ति बैठे थे। यह जीप इतनी रात गए वहां क्यों खड़ी है? जब यहां पहुंचे थे, तब तो जीप वहां थी नहीं। इसका मतलब यह हुआ कि यह जीप काफी दूर से पीछा कर रही है। मेन सड़क पर लाइट बंद करके जीप का खड़ा होना, कुछ समझ में नहीं आया। सोचा कि कुछ गड़बड़ जरूर है।

आपस में बहस चल रही थी कि जीप चल दी। जीप को काफी दूर तक, जहां तक दृष्टि जा सकती थी, जाते हुए देखते रहे। यह भी सोचा कि शायद, संदेह गलत था। वे भी या तो कोई मुसाफिर थे या खोजी। ठाकुर ने बताया, “इस बार दूसरे साथी ने स्टियरिंग संभाली। मैं उसकी बगल में बैठ गया। पीछे सीट पर सुब्बाराव और वधावन। रात बढ़ चुकी थी और गरमी कम होने लगी थी। केसवानी ने मुझे सुझाया कि सभी इसी प्रकार रात-भर जागते रहे, तो सुबह काम करने में बड़ी परेशानी होगी। विशेष रूप से, तीनों साथियों ने मुझे सो जाने के लिए कहा, क्योंकि, दूसरे दिन की पूरी तलाशी का नेतृत्व मुझे ही करना था। पता नहीं बातों-बातों में कब मेरी आंख लग गई। अचानक रात के सन्नाटे को चीरते हुए, मेरे अवचेतन मन को झकझोरते हुए एक आवाज सुनाई दी, ‘ठाकुर उठो, तुम फंस गए हो।’

“मेरी आंखें तो पहले ही खुल गई थीं। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा। सेकिंडों में हम गाड़ी के बाहर थे। सामने विशालकाय ट्रक के अजगर जैसे मुंह में फंसी मेरी गाड़ी, संकरा पहाड़ी रास्ता, दूसरी ओर एवरेस्ट की ऊंचाई को लीलता हुआ गहरा खड्डा। यह तो केसवानी की सूझबूझ, तत्परता तथा सावधानी थी, जिसने एक बड़ी दुर्घटना होते-होते बचा ली। कहीं जरा-सी चूक हो जाती और स्टियरिंगवाला हाथ बाएं की जगह दाएं मुड़ गया होता, तो ट्रक और गाड़ी की टक्कर सबके प्राण ही ले लेती।”

ठाकुर की ओर स्नेह से देखते हुए मैंने कहा, “मैं तो उस रात-भर सो नहीं सकी। पता नहीं मन क्यों घबरा रहा था! सारी रात भगवान के मंदिर के सामने कमरे में टहलते-टहलते बिता दी। सुबह कुरुविलाजी को फोन किया, तो मिसेज कुरुविला ने बताया, “साहब तो सारी रात जागते ही रहे। वह तो पहले ही नहीं चाहते थे कि कार से इतनी दूर का सफर, और वह भी रात-भर चलकर किया जाए। किंतु, शीला! गॉड इज ग्रेट, एवरी थिंग विल बी आल-राइट। डॉट वरी।” बात तो सही थी। प्रार्थना के सिवाय मैं कर भी क्या सकती थी! आस्था और विश्वास के बल पर ही समय काटना था।

ठाकुर ने बताया, “आगे की घटना तो और भी रोमांचक है। ट्रकवाले के मुंह से ‘फूल’ बरस रहे थे—‘गाड़ी चलानी नहीं आती तो क्यों चलाते हैं? चले आते हैं रात को शराब पीकर गाड़ी चलाने। अर्थात्, जो बात हम उसे कहते, वे सब बातें वही दोहरा रहा था। मैं आप लोगों को सुबह, तब तक यहां से हिलने नहीं दूंगा, जब तक पुलिस नहीं आ जाती।’

“यह हादसा नेशनल हाईवे पर हुआ था। चंद मिनटों में ही दोनों ओर से आनेवाले

ट्रकों की लाइन लग गई। भय, आशंका और एक अजीब-सी असहायता की भावना, एक नपुंसक आक्रोश, आगे की दूरी आंखों में कौंध गई। स्टेट बैंक ऑफ इंदौर की बिल्डिंग, वह फार्म, सर्च-वारंट। कैसे हम पहुंचेंगे? कैसे, कैसे? सौ किलो सोना सरकार के हाथों में आकर भी निकला जा रहा है। कैसी विडंबना है?

“तभी एक और डर मन में झांक गया। कहीं यह सब ‘सर्च-वारंट’ को कब्जे में करने की योजना तो नहीं है? गाड़ी में नजर डाली तो अटैची का कहीं पता नहीं था। क्या टकराव के दौरान कहीं गिर गई, जिसमें ‘सर्च-वारंट’ था, या जब हम गाड़ी के बाहर थे, उसी समय, किसी ने मौका पाकर, अटैची पार कर दी...कुछ भी हो सकता था। अरे.. ‘गुरुजी’ भी नहीं दिखाई पड़ रहे। कहां गए? तभी वे एक ओर से आते दिखाई दिए। वे स्थिति की गंभीरता को भांप गए थे और अटैची कहीं छिपा आए थे।”

केसवानी से मेरी बात हुई तो उसने बताया कि “मैं एक्सीडेंट के समय पूरी तरह सतर्क था। मैंने साफ देखा था कि दूर निस्पंद खड़ा एक ट्रक गाड़ी को देखते ही अपनी जगह से सरका था और उसके साथ खड़ी जीप आगे बढ़ गई थी। इसीलिए मैंने गाड़ी की गति बहुत धीमी कर दी थी। मन में सोचा भी, क्या यह एक सुनियोजित षड्यंत्र की भूमिका थी? क्या यह जीप वही जीप थी, जो हमें रास्ते में मिली थी?”

केसवानी की बात सुनकर मैंने ईश्वर को बार-बार याद किया और धन्यवाद दिया उस असीम संसार की शक्ति को, जिसके तहत मैंने ठाकुर को बार-बार केसवानी को साथ ले जाने की बात कही थी। क्योंकि, पता नहीं क्यों, मुझे डर लग रहा था कि ये गाड़ी तेज चलाएंगे और आगे मैं सोच भी नहीं सकती थी।

मैंने ठाकुर से ‘आगे कैसे क्या हुआ’ पूछा तो उन्होंने बतलाया कि आपस में सलाह-मशविरा करने के बाद यह तय हुआ कि जिस विषम स्थिति में हम फंस गए हैं, उससे आसानी से छुटकारा नहीं होगा : “क्योंकि, सारा माहौल उस वीहड़ जंगल में हमें रोके रखने का पहले से रचा गया षड्यंत्र नजर आ रहा था और यदि हमने नाटकीय ढंग से काम नहीं लिया तो इंदौर पहुंचना तो दूर, शायद, वापस बंबई भी नहीं पहुंच पाएंगे।

“इस बीच करीब सात-आठ ट्रकों के ड्राइवर, जो सभी सरदार थे, वहां इकट्ठे हो गए। सबका क्रोध हम पर ही था क्योंकि, हम उनकी बिरादरी से बाहर के लोग थे। अचानक अंधेरे में एक सफेद दाढ़ी चमकती नजर आई। सोचा, इनके मन में अवश्य दया-भावना होगी। सरदारजी को अलग ले जाकर बात करें, तो शायद, वे स्थिति की गंभीरता समझ लें। योजनानुसार, उन्हें बताया गया कि हम सरकारी कर्मचारी हैं और किसी काम से इंदौर जा रहे हैं। यदि हम कल दस बजे तक इंदौर नहीं पहुंचेंगे, तो सरकार के हाथ से 100 किलो सोना निकल जाएगा। और उन्हें विश्वास दिलाया कि ट्रकवाले ने जान-बूझकर हमें टक्कर मारी है।

“सरदारजी की राष्ट्रीय भावना में उफान आया। बात उनकी समझ में आ गई। बोले, ‘असी त्वाडी मदद जरूर करांगे। सानूं देखना है कि त्वानूं किस तरह वे वहां जाने

नहीं देवांगे।”

“असल में ट्रक की पूरी मार तो हमारी गाड़ी पर पड़ी थी। ट्रक की केवल सामने की लाइटें ही टूटी थीं। सरदारजी से कहा कि वे फैसला करा दें। जितने रुपये वे कहेंगे, हम देने को तैयार हैं। मुआवजा मिलने के बाद उसका हमें रोकने का हक नहीं बनता था। सरदारजी को बात समझ में आ गई। बोले, ‘ठीक है। तुसी दो सौ रुपये इनानू दे देयो।’ पर ट्रकवाला कहां माननेवाला था? वह तो अड़ा था कि पुलिस के आए बिना, हमें जाने नहीं देगा क्योंकि, यदि पुलिस ने जांच नहीं की, तो उसका मालिक उसे दोषी ठहराकर नौकरी से हटा देगा। अब तो सरदारजी को विश्वास हो गया कि यह हमें वहां रोके रखने के लटके हैं। उन्होंने गुरु गंभीर स्वर में, जो गालियां उस ट्रक ड्राइवर को सुनाई और सरदारजी के अन्य साथियों ने, जो हाथ-पांव फैलाए, तो ड्राइवर इतने लोगों को अपने विरुद्ध बोलता देखकर घबरा गया और दो सौ रुपये में हमें छोड़ने को राजी हो गया।”

“अब समस्या थी कि आगे जाएं कैसे! गाड़ी का हुड बुरी तरह चकनाचूर हो चुका था। रेडियेटर से पानी बह रहा था। दोबारा उन्हीं बुजुर्ग सरदारजी से निवेदन किया कि उन्होंने जब इतनी मदद की है तो एक मदद और कर दें। किसी न किसी तरह इंदौर तक पहुंचाने की कोशिश करें।

“सरदारजी ने साथियों के साथ कार का निरीक्षण किया। दोनों ओर दो ट्रक लगा दिए और उनकी पावरफुल लाइटें जला दीं। लाइटों के प्रकाश में कार के पहिए को फ्री किया। कार की हालत बुरी थी। ऊपर का हिस्सा टूटकर अंदर घुस गया था और अभावग्रस्त निर्धन की तरह हमारी जरूरतों का मजाक उड़ा रहा था।

“सरदारजी ने पूछा, ‘सौ किलो सोना कहां से आया और आप लोगों का उससे क्या संबंध है?’”

“उन्होंने आप लोगों को हिंदी मूवीज की भांति दूसरे गिरोह का आदमी तो नहीं समझा, जो उस सोने को हथियाने की दौड़ में शामिल हो,” मैंने पूछा।

“हां, सौ किलो सोने की बात सुनकर उनमें हलचल तो हो गई थी...यह तुमने ठीक पूछा,” ठाकुर बोले, “इधर गाड़ी ठीक हो रही थी, उधर आपस में फुसफुसाहटें हो रही थीं। आखिर, उनसे रहा नहीं गया और वे पूछ ही बैठे, ‘आप क्या कस्टम अधिकारी हैं?’”

“चाहकर भी सच्ची बात बताने में हम अपने को असमर्थ पा रहे थे। उन्हें अपने आइडेंटिटी कार्ड दिखाए। किसी तरह उन्हें संतुष्ट किया। सरदारजी ने अपनी रौबीली आवाज में तत्काल कहा, ‘तुसी बैठो जी। गड़्डी चलने लायक हो गई है।’ सरदारजी और उनके साथियों ने दो मोटे-मोटे रस्सों से गाड़ी को ट्रक के साथ बांध दिया था। वे बोले, ‘आप लोग बैठिए। हम आपको इंदौर समय से पहुंचाने की पूरी कोशिश करेंगे।’ ‘सर्च वारंट’ की अटैची सुब्बारावजी छिपी जगह से ले आए। हममें से किसी को भी पहाड़ी इलाके में ट्रक से बंधी कार की स्टियरिंग संभालने का अनुभव नहीं था और न ही बहस करने का समय था। अतः जब मैंने स्टियरिंग संभाली तो किसी ने कुछ नहीं कहा। भगवान

का नाम लेकर हमने यात्रा प्रारंभ की।”

उस रात के दृश्य की कल्पना कर मन आशंका से भर उठा। हर व्यक्ति को विश्वास था कि एक्सीडेंट ‘प्लांट’ किया गया है, जिसमें ट्रक और जीप दोनों का ही हाथ था। जिस ट्रक ने टक्कर मारी थी, उसका नंबर नोट कर लिया गया था। यह नंबर बंबई का था। मैं सोच रही थी कि क्या स्थिति होगी उस समय, इन सबके मन की। मैं स्वयं कल्पना में सारे दृश्य को आंखों के सामने घटित होते देखने लगी थी। मद्धम रफ्तारों के ट्रकों के बीच एक कार चली आ रही है, रस्तों से बंधी हुई। ढलान पर कम स्पीड में भी, ब्रेक के सहारे कार को साधना, अपने आप में कठिन होता है, फिर यह तो पहाड़ी रास्ता था, घुप्प अंधेरा और सामने आशंकाओं के बादल।

दो घंटे की लगातार यात्रा के पश्चात लगभग चार बजे इन पांच-छह ट्रकों का काफिला एक अड्डे पर रुका। सफेद दाढ़ीवाले सरदारजी और उनके साथी सब लोग ट्रकों से निकलकर पास के चाय के स्टाल पर जा पहुंचे। सरदारजी अपनी प्रतिदिन की यात्रा के विषय में बताने लगे। उनके लिए इस प्रकार की घटनाएं बहुत सामान्य थीं। अक्सर एक ट्रकवाले को दूसरे की मदद करनी पड़ती है। यह ‘प्रोफेशनल एटीकेट’ है। लेकिन उनके लिए यात्रियों की मदद करने का यह पहला मौका था।

मेरे सामने एक ओर उस धनी व्यक्ति का चेहरा था, जो नाजायज तरीके से एकत्रित किए हुए अपने सोने को बचाने के लिए हर तरह का प्रहार कर रहा था, और दूसरी ओर यह सहज-निर्मल और धन-हीन लोग थे, जो बिना किसी बदले की भावना के, हर प्रकार की सहायता कर रहे थे। कुल्हड़ की गरम चाय ने मन में कुछ गर्मी पैदा की, तो पुनः उन सरदारजी से निवेदन किया, “सरदारजी, सुबह के पांच बज रहे हैं और अभी इंदौर 225 किलोमीटर है। जिस चाल से हम चल रहे हैं, उससे ग्यारह-बारह बजे से पहले तो इंदौर पहुंच नहीं सकते। क्यों नहीं दोबारा कार का निरीक्षण किया जाए। यदि गाड़ी आधा-पौना घंटे में अपने-आप चलने योग्य हो जाए तो शायद, समय से पहुंचा जा सके।” सरदारजी तत्परता से राजी हो गए। ट्रकों की बलवती रोशनियां दोबारा जल उठीं। अनुभवी आंखें, सधे हुए हाथ फिर अपने करतब दिखाने लगे। चंद मिनटों में कार का लटकता हिस्सा काट कर अलग कर दिया गया। साथी ठाकुर की ओर निहार रहे थे। कार उनकी थी और वह भी बिल्कुल नयी। उन पर क्या गुजर रही होगी किंतु, ठाकुर ने विश्वास दिलाया कि उन्हें सचमुच में, इस समय और कुछ नहीं दिख रहा है, सिर्फ गंतव्य पर समय से पहुंचना ही दिख रहा है। नहीं तो अब तक की सारी मेहनत अकारथ चली जाएगी।

फिर से कार स्टार्ट की गई। किंतु, रेडियेटर बुरी तरह चू रहा था। सब एक-दूसरे का मुंह देख रहे थे। हताश-निराश सरदारजी की ओर देखा। इस समय भगवान के रूप में वही दिखाई पड़ रहे थे। सरदारजी के पास ऐसे मौकों के लिए हर दवा तैयार थी। ट्रकों से साबुन के बार्स निकाले और उनसे रेडियेटर की लीकेज को बंद किया। सरदारजी ने कहा, “आप लोग कार को थोड़ी दूर तक हमारे सामने चलाकर देख लें।” वैसा ही

किया गया। कार अपने आप चलने योग्य हो गई। किंतु, लाइट और हॉर्न नहीं थे। अब बैटरी से हॉर्न का डायरेक्ट कनेक्शन कर दिया और बिना लाइट के ही आगे की यात्रा की तैयारी की गई।”

दोबारा कार का सफर शुरू हुआ। सरदारजी और उनके साथी फिर से चाय का कुल्हड़ ले आए। गरम चाय से फुर्ती आई। सरदारजी ने साबुन के चार बक्से साथ में रख दिए कि यदि फिर कहीं लीकेज हो, तो काम आएंगे। श्रद्धा से उन लोगों के सामने सिर झुक गए। कैसे उतारा जाएगा उनका अहसान! उनके अहसान तो भुलाए नहीं जा सकते थे किंतु, उनका खर्चा भी हुआ था। साबुन, चाय, सब उनकी ओर से था। दबी जवान से पैसे देने का प्रस्ताव रखा तो सरदारजी मुस्कराकर बोले, “भगवान करे आपको सफलता मिले। जब सोना मिल जाए तो एक सिल्ली हमें भी दे दीजिएगा।” एक ठहाका हवा में गूंज गया। विदा में ऊंचे उठे हाथों को हिलते हुए दूर तक सब देखते रहे। सरदारजी ने यह भी आश्वासन दिया कि वे सब हमारे पीछे-पीछे आ रहे हैं और किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई आई तो वे एक ट्रक को ही पूरी रफ्तार से इंदौर दौड़ा देंगे। सरदारजी के इन शब्दों ने सबका मनोबल और बढ़ा दिया।

सुबह की ठंडी हवा मन और शरीर को सुकून पहुंचा रही थी। ऐसा लग रहा था मानो वेदना, क्लान्ति और थकन की रात बीत चुकी है। एक दुखद स्मृति की तरह केवल उसकी कसक ही मन में चुभ रही थी। कार पुनः तेजी से भागने लगी। रास्ते में कहीं-कहीं मुरगों की बागें सुनाई पड़तीं, मानो संकेत दे रही हों कि सवेरा दूर नहीं है। उगते सूरज की किरणों के साथ गाड़ी की गति और बढ़ने लगी।

ठाकुर ने बताया कि उस समय मन तो यह कह रहा था कि गाड़ी की गति सौ तक पहुंचा दूं किंतु, सरदारजी ने हिदायत दी थी कि अधिक से अधिक साठ-सत्तर या अस्सी से अधिक स्पीड न पकड़ें।

लगभग 9.30 बजे गाड़ी स्टेट बैंक ऑफ इंदौर के गेट के अंदर घुसी। दूसरे दरवाजे से उसी समय ‘एसेसी’ की गाड़ी आई। पोर्टिको में इंदौर के सहायक-आयकर आयुक्त नेहरूकर और अन्य आयकर अधिकारी खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें बंबई से कुरुविलाजी ने टेलीफोन पर निर्देश दे दिए थे।

‘सर्च-वारंट’ लिए हुए अधिकारी बैंक मैनेजर के कमरे में घुसे और इसके पहले कि ‘एसेसी’ कोई कार्यवाही कर सके, नेहरूकर व उनके सहयोगी पूरे बैंक में बिखर गए। लगभग दो घंटे तक कार्यवाही चलती रही। वह एप्लीकेशन कब्जे में आ चुकी थी, जिसके ऊपर केस का पूरा दारोमदार था। एप्लीकेशन पर जिस बैंक अधिकारी के दस्तख्त 18 नवंबर की तारीख के थे, वह अधिकारी उस दिन यानि 18 नवंबर को छुट्टी पर था। उसने 15 नवंबर से 24 नवंबर तक की छुट्टी ले रखी थी, उसकी वह छुट्टी की अरजी भी कब्जे में आ गई। उसने अपना एक घर बनवाया था। 20 नवंबर को उस घर के गृह-प्रवेश का आयोजन था, इसी कारण वह अधिकारी उन दिनों छुट्टी पर था। प्रमाणस्वरूप उसके

गृह-प्रवेश समारोह से संबंधित एक निमंत्रणपत्र भी मिल गया था। इससे यह बात और पुष्ट हो गई कि अधिकारी, जिसने एप्लीकेशन मिलने की सही दी है, उस दिन बैंक में अपनी इयूटी पर था ही नहीं, छुट्टी पर था। बैंक आया ही नहीं था तो गोल्ड बांड एप्लीकेशन पर सही कैसे कर सकता था? कहते हैं, झूठ के पांव नहीं होते—यह बात सत्य सिद्ध हो गई।

सबके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब बैंक के बाहर निकलने पर, रास्ते में देवदूतों की तरह मिले सरदारजी और उनके साथी ट्रकों से उतरते दिखाई पड़े। 'वाहे गुरुजी दा खालसा' के नारों से आसमान गूंज उठा। प्रश्न अनबूझा था कि 'सरदारजी को यहां का पता कैसे मिला?' सरदारजी हंस पड़े, बोले, "जैसे ट्रक चलाते हैं, वैसे ही थोड़ी बुद्धि भी दौड़ाई तो लगा कि सरकारी काम है, तो सरकारी बैंक में ही होगा और आप लोगों की बातचीत में भी ऐसा कुछ सुनाई पड़ा था।"

समझ में आ गया कि रास्ते पर चलनेवाली आंखें सब ओर का ध्यान न रखें ओर आंख-कान खुले न रखें तो रास्ते में भटक सकती हैं। मंजिल पर पहुंचने के लिए हाथ-पैरों की कुशलता जरूरी है, तो यह भी जरूरी है कि बुद्धि का भी पूरा इस्तेमाल किया जाए। मेरी आंखों के सामने घूम गया खार की अपनी सहेली के आंगन का दृश्य, जब अरजरिया महाराज से बात हुई थी और सिंहवाहिनी मांदुर्गा का हाथ अभय-मुद्रा में उठते देखा था। इंदौर के रास्ते में मां का आशीर्वाद ही मेरे पति के साथ चल रहा था, उन्हें अभय दान देते हुए—यह सिद्ध हो गया। नहीं तो, इस भयानक सफर में कहीं भी कुछ भी हो सकता था। मन ही मन मां को प्रणाम किया, प्रार्थना की कि यह अभय कवच सदैव हमारे साथ रहे।

सारा किस्सा सुनकर एक ओर तो प्रसन्नता हुई कि इतने दिन की मेहनत से समूची अर्थव्यवस्था व कानून को नकारनेवाली एक ईंट खिसकाने में तो सफलता मिली। इस एक ईंट के खिसकने से समाज के ऐसे ही कितने औरों के दिल में एक डर तो पैदा होगा कि सतर्क और अनुभवी आंखों के सामने उनकी सब चालें बेकार होंगी। पति की सफलता पर हर स्त्री का मस्तक गर्व से उन्नत हो जाता है, मेरा भी हुआ। उसके आगे मैं अपनी कार की बदशक्ली, टूट-फूट, सब भूल गई। किंतु, एक चिंता तो थी मन में, जिसे मैं कह देना चाहती थी, मौका मिलते ही। पर मौका मिल ही नहीं रहा था। दिन-भर कालोनी के और लोग आते-जाते रहे, हाल-चाल पूछने। ठाकुर समझ रहे थे—इतने बड़े हादसे के बाद मैं उनसे कुछ कहना चाहती हूं, सबसे अलग कुछ क्षण के लिए उन्हें केवल अपने लिए पाना चाहती हूं। एक-आध बार मेरे पास आकर बुदबुदाए भी कि 'सर्वश्रेष्ठ एकांत भीड़ में ही होता है।' मैं भी यह जानती थी कि सर्वश्रेष्ठ एकांत भीड़ में ही होता है, किंतु, अब हमारे वह दिन बीत चुके थे, जब भीड़-भरे माहौल में भी, हम एक-दूसरे की आंखों में आंखें डालकर ऐसा महसूस करते थे, मानो उस अपार हुजूम में केवल हम दो ही व्यक्ति

हैं, केवल दो, और सब अस्तित्वहीन हैं। उस समय उस देखा-देखी में भी इतनी बातें, आंखों ही आंखों में हो जाती थीं, पर अब? अब तो शिकवे-शिकायतों के दिन हैं। हां, वैसे इस तरह की शिकवा-शिकायतों के दिन ईश्वर की कृपा से हमारी जिंदगी में अभी तक कभी नहीं आए थे, आज से पहले। इसलिए मैं चाहती थी कि जब एकांत हो, तो धीरज से बैठकर बातें करूं।

एकांत मिला रात्रि में। यात्रा और दिन-भर की गहमा-गहमी से क्लांत ठाकुर कमरे में आते ही सो गए। पर मैं करवटें बदलती रही। चिंता के बादल उमड़ते-धुमड़ते रहे। नाइट लैंप की अधियारे जैसी नीली, धीमी रोशनी में इनकी मुंदी पलकों को मैं देखती-भर रह गई। प्यार उमड़ आया। अपने दोनों हाथों से उनका चेहरा थाम लिया, फिर उंगलियां बालों में पिरो दीं और धीरे-धीरे सिर सहलाने लगी। मुझे नींद कहां आनी थी। उत्तर-रात्रि में इनकी नींद टूटी, तो मेरे सिर को कोमलता से अपने कंधे पर रखकर थपकते हुए पूछा, “कब से जाग रही हो?”

“पता नहीं, मैं तो सोई ही नहीं। हां, एक-आध बार झपकी लग गई हो, तो अलग बात है,” मैंने हौले से उत्तर दिया।

“क्यों?”

अगर उस वक्त रात का सन्नाटा न होता, तो शायद, यह ‘क्यों’ का स्वर मैं सुन भी न पाती, इतने अस्फुट स्वर में ये बोले थे। बस ‘ऐसे ही’, कहकर मैं इनके और पास खिसक आई।

“चलो, चलो! मुंह बंद। आंखें बंद करके, अब सो जाओ।”

मैं जानती थी कि अब नींद नहीं आएगी। इंसान के मूड को विजली के स्विच की तरह ‘आन’ या ‘आफ’ नहीं किया जा सकता। जिसकी आंखों की नींद उड़ गई हो, उसे कैसे सुलाया जा सकता है! इनके अवचेतन मन ने यह बात जान ली और करवट बदलकर सीधे लेट गए। अब हम दोनों कमरे की छत की ओर देख रहे थे। हालांकि, उस ओर देखने-जैसा कुछ भी नहीं था, सिवाय उस धीमी, नीली रोशनी के, जो नाइट लैंप से निकलकर न केवल छत पर बल्कि, कमरे की हर चीज पर पुती हुई थी।

कुछ क्षण बाद इन्होंने पूछा, “हां, अब बताओ, क्या बात है?”

मैंने कुछ रुक-रुककर अपनी बात कही, “तुम्हारा इस प्रकार के खतरों में पड़ना मुझे अच्छा नहीं लगा। अगर तुम्हें कुछ हो जाता तो! उस आदमी ने तो पूरी तैयारी कर रखी थी तुम्हें नुकसान पहुंचाने की...।”

“पर कुछ हुआ तो नहीं। जो नहीं हुआ, उसके लिए सोच-सोचकर परेशान होने से कोई फायदा?” ठाकुर बोले।

“पर, अगर उस समय तुम ड्राइव कर रहे होते तो? मुझे पता है तुम कितनी तेज गाड़ी चलाते हो। अगर गाड़ी खड़ की ओर सरक गई होती...अगर सरदारजी-जैसे भले आदमी न मिले होते...!”

ठाकुर ने गहरी सांस लेकर मुझे ऐसे भींच लिया, जैसे, न जाने कौन-सी तसल्ली देना चाहते हों, बोले, “सुशी, तुम यह क्यों भूलती हो कि मैं एक आयकर अधिकारी हूँ। सरकारी कार्य, सरकारी ड्यूटी अंजाम देना मेरा कर्तव्य है। कठिन से कठिन जगहों पर मुझे जाना होता है। मैं जानता हूँ, मेरे सीने पर रिवाल्वर भी कभी तन सकती है जबकि, मैं हमेशा निहत्था होता हूँ। कई बार ऐसी स्थितियाँ आई भी हैं। पर मैंने तुम्हें शायद ही कभी बताया हो। इसलिए कि तुम घबरा जाओगी। वैसे, मैं अपने आपको ‘सुपरमैन’ नहीं मानता। मौत को सामने देखकर मेरा दिल भी धक् से होकर रह जाता है। किंतु, यह भी सच है कि इस बार जो कुछ हुआ, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। फिर भी, यह हमारा कर्तव्य है और तुम जानती हो, ऐसे समय मैं सब कुछ भूल जाता हूँ।”

“पर मुझे डर लगता है...,” मैंने कहा।

“धत् पगली! मैं तुम्हारा हूँ, फिर डर कैसा? और फिर यह कभी मत भूलो कि भगवान भी सच्चाई का साथ देता है। चलो! अब एक नाटक करते हैं। आंख मूंदकर तुम सो जाओ, मैं भी सो जाता हूँ। दोनों मान लेंगे कि हम घोड़े बेचकर सोए हैं। ओ.के.,” कहकर इन्होंने आंखें मूंद लीं।

मैंने भी आंख मींचकर कहा, “ओ.के.,” पर नींद कहां आनी थी!

आफिस की सरगरमियां चलती रहीं। कभी प्रत्यक्ष रूप से ठाकुर को स्वयं रेड्स पर जाना पड़ता और कभी अप्रत्यक्ष रूप से यानी कंट्रोल रूम से ही बागडोर संभालनी पड़ती। और, यह अप्रत्यक्ष हिस्सेदारी भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती थी। एक ही दिन, एक ही समय ढेर सारे छापों के शिकंजे में कसे गए सभी मामलों की एक-एक सूचना कंट्रोल रूम में टेलीफोन के जरिए मिलती। जिस तरह नृत्य का, संगीत का अपना एक अनुशासन होता है, उसी तरह छापों का भी एक अनुशासन होता है। सब साथी इस अनुशासन से बंधे होते हैं। शहर में मशहूर हो गया था कि आयकर भवन में टी.पी. झुनझुनवाला के कमरे के बाहर यदि लाल बल्ब जलता है, तो निश्चित मानो, किसी न किसी के यहां गाज गिरने वाली है। सुनने में यहां तक आने लगा कि लोगों ने उनके कमरे के लाल बल्ब पर नजर रखने के लिए अपने आदमी तैनात कर रखे हैं। ऐसी बातें सुनकर हम सब खूब हंसते। घर में भी टेलीफोन की घंटी घड़घड़ाती रहती। जब रेड होती तो अक्सर सूरज निकलने के पहले से ही सरगरमी चालू हो जाती थी क्योंकि, सभी लोग सूरज निकलने के पहले से ही, एक जगह मिलते और वहां से अपने निर्दिष्ट स्थानों को चल पड़ते थे।

इधर आफिस में काफी दिनों से शांति थी। फलस्वरूप, ठाकुर घर में बच्चों के साथ ज्यादा समय बिताने लगे थे। बेटी नीहारिका आठ वर्ष की हो गई थी और बेटा अमिताभ चौदह वर्ष का। सुबह की कच्ची धूप की तरह, गिलहरी की तरह बेटी घर में फुदकती फिरती।

छोटी-छोटी बातों पर, दोनों बच्चों के झगड़ों से घर गूँजता रहता। कभी बाल-पेन नहीं मिल रहा होता तो कभी कोई किताब। इधर-उधर, यहां-वहां, हर चीज को हटा-हटाकर मैं भी देखती उनके साथ-साथ। पता नहीं कहां रख दिया है? स्कूल को देर हो रही है। दीवार घड़ी का लाल कांटा क्षण-क्षण आगे बढ़ता, एक-एक सेकेंड को छेद रहा है। नीचे ये इंतजार कर रहे हैं और बाल-पेन, किताबें मिल ही नहीं रहीं—हड़कंप-सा मचा है। और लो, यह मिल गई किताबें भी, बाल-पेन भी। ड्राइंग रूम की सेंटर टेबल पर अस्तव्यस्त पड़े अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं के बीच छिपी पड़ी थीं दोनों की चीजें। बेटी को दिखतीं भी तो कैसे?

इनसे कितनी ही बार कहती कि बेतरतीब किताबों के ढेर अच्छे नहीं लगते, जरा करीने से मैं उठाकर रख देती तो शोर मचा देते कि मेरी यह चीज नहीं मिल रही, वह चीज नहीं मिल रही।

और बेटा अमिताभ! गत तीन महीनों में उसमें आया शारीरिक परिवर्तन साफ दिखने लगा है। पैर उसके लंबे होने लगे हैं और स्वर बदलने लगा है। हर हफ्ते लगता कि स्वर बदल गया है। आवाज का अंतिम स्वर निखरकर कैसा बनेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। अमित चाहता तो बहुत है कि अपने सहपाठियों की तरह वह भी स्कूल बस से जाए, पर ठाकुर ने मना कर दिया। बस, यही शिकायत मन में बसाकर बैठ गया कि आप लोग तो मुझे बच्चा ही समझते हो। किंतु, इनसे कौन वहस करे?

नीचे से फिर हॉर्न बजा—स्कूल को देर हो रही है। जूते के तस्मे बांधते-बांधते अमित नीचे को लपका। आंखों के ऐन सामने मां खड़ी है, पर वह उसे नजर नहीं आती। छुपा-छुपा लपक लिया। अभी से चश्मा लगाने का इरादा है क्या?

मैं पीछे-पीछे भागी, “अरे, कहां भागा जा रहा है? रुक, आज तेरी बर्थ-डे है। स्कूल में टाफियां नहीं बाटेगा?” कार्नर टेबल पर रखा टाफियों का डब्बा उसके हाथ में थमाया। डब्बे को बस्ते में भरते-भरते, भागने की तैयारी में था कि मेरा ममत्व उमड़ पड़ा। हुलसकर बेटे के मस्तक का चुंबन लिया किंतु, जिन क्षणों में मैं उसे चूम रही थी, उन्हीं क्षणों में उसके व्याकुल शब्दों को सुन भी रही थी—“मम्मी प्लीज, देर हो रही है।” और दूसरे ही क्षण, बांहों की गिरफ्त से अपने को छुड़ाते हुए वह लपका नीचे जाने को। मैं लरजते स्वर में बोलती ही रह गई—“हैप्पी बर्थ-डे टू यू।”

“थैंक्यू मम्मी! शाम को प्लीज”—और पूरी शक्ति से तड़पकर वह हाथों की गिरफ्त से आजाद हो गया। छोड़ना नहीं चाहती थी मैं उसे पर, कब तक बांधकर रखूंगी? ऐसा लगा, उसकी तड़प मानो कह रही हो, अब मैं छोटा नहीं रहा। जब चाहूं, छूट सकता हूं।

मैं देखती-भर रह गई और डूब गई यादों में। पढ़ाई-लिखाई में दोनों बच्चों ने कभी तकलीफ नहीं दी। बेटे ने तो बिलकुल भी नहीं। सदैव क्लास में फर्स्ट आता रहा। उसकी पढ़ाई पर मेरा ध्यान भी ज्यादा था। इसलिए नहीं कि वह लड़का था। बल्कि, इसलिए कि बेटी अभी छोटी थी। जब वह बहुत छोटी थी, तब स्कूल से रिजल्ट निकलने के दिन बड़ी खुश-खुश लौटती। रिजल्ट देखकर मैं डांटती कि, “अरे, यह क्या? तू तो क्लास में

सबसे 'लास्ट' में है," तो वह हुलसकर बोलती, "भइया ऊपर से फर्स्ट आया है, मैं नीचे से।"

पढ़ने का ढंग भी दोनों का अलग-अलग था। अमित को, पढ़ते समय जोर-जोर से म्यूजिक बजाना चाहिए था, और बेटी को पूरी शांति। बेटा कुरसी पर एक जगह बैठकर, टांगें सामने टेबुल पर पसारकर पढ़ता तो बेटी कमरे में एक छोर से दूसरे छोर तक की दूरी नापते हुए, घूम-घूमकर पढ़ती। और इसी बात पर दोनों में झगड़ा हो जाता। मैं अमित को डांटती, 'बंद करो म्यूजिक'। वह बंद तो कर देता किंतु, बहन को छेड़ने के लिए कुछ देर बाद फिर धीमे-से चालू कर देता, लो वाल्यूम पर।

ठाकुर कब बच्चों को स्कूल छोड़कर लौटे, पता ही नहीं चला। तभी ख्याल आया, अरे, अभी तो ढेर सारा काम पड़ा है। सीधे बैडरूम की ओर कदम उठाए। 'अटैच्ड बाथरूम' के बंद दरवाजे को हौले से खटखटाया, "अरे, अभी तक नहा रहे हो?"

भीतर चलते नल की आवाज रुकी नहीं। उस आवाज के आर-पार से ठाकुर का स्वर आया, "यस मैडम!"

"नहा चुके?"

"नहा तो रहा हूं, यार!"

"आज तुम्हें जल्दी नहीं जाना है आफिस?"

"तो क्या, नहाता-नहाता चला जाऊं?"

"फिर न कहना, मैंने बताया नहीं।"

और जुट गई मैं ठाकुर के कपड़ों पर प्रेस करने में। प्रेस का स्विच ऑन ही किया था कि बाथरूम के अंदर नल की आवाज बंद हो गई। बाथरूम का दरवाजा हौले से खुला, जैसे कोई चोर डरते-डरते खोल रहा हो। कछुए की तरह गर्दन निकालकर ठाकुर ने पुकारा, "ए सुशी, इधर आओ।"

दोनों बच्चों को स्कूल विदा करने के तनाव से मैं अभी-अभी मुक्त हुई थी, कपड़ों पर प्रेस करना जारी रख, उलाहने के स्वर में बोली, "क्या सुशी-सुशी लगा रखा है, नहाओ जल्दी।"

ठाकुर ने न तो अपना सिर पोंछा, न सिर के बाल। पूरा चेहरा धुला-धुला-सा लग रहा था। स्वर भी धुला-धुला-सा था, "तुम जरा पीठ मल दो और साबुन रगड़ दो—मैल की परतें जमी जा रही हैं!"

"सब समझती हूं। खाक मैल की परतें जमी जा रही हैं।"

"सुशी, आई लव यू।"

"क्या ठाकुर, वही पिटी-पिटाई बात।"

"नहीं सुशी, आई रियली लव यू।"

"खुद इतने बड़े अफसर हो, बेटा जवान हो रहा है और मजनूं जैसी बात कर रहे हो, किस मुंह से!"

“मुंह तो वही है, जो पहले था, जब हमारी आंख लड़ी थी, नई-नई।”

“होश में आओ। आफिस लेट पहुंचोगे।”

“धतु। सारा मजा किरकिरा कर दिया,” कहकर तौलिया लपेटते ये बाहर निकले। उस समय कोई इन्हें देखता तो उसे विश्वास नहीं होता कि लगन, समय की पाबंदी, सूक्ष्म दृष्टि व अंतःप्रेरणा के धनी, यह वही ठाकुर हैं, जिनके नाम से लोग आतंकित हो जाते हैं।

अमीरी के खिलाफ नहीं थे ठाकुर। अक्सर वे कहते, “काश, भारत का एक-एक व्यक्ति अमीर होता, इतना अमीर होता कि इस देश की तुलना विश्व के बड़े अमीर देशों में की जाती।” किंतु, वे काले धन से या गलत तरीके से आई अमीरी के खिलाफ थे। उनका कहना था, “लोग सरकार को ईमानदारी से कर अदा नहीं करेंगे, तो सरकार चलेगी कैसे? करों की चोरी करनेवालों को अक्सर समझाते कि यदि वे सारे कर नियमानुसार चुकाएं, तब भी उनके पास इतना धन बचेगा कि कई पीढ़ियां उसे खा सकेंगी। बदले में उन्हें मिलेगी शांति, चैन और सुख की नींद—हर तनाव से मुक्ति। इससे अधिक और क्या चाहिए? वे अमीरों की अमीरी में कुदाल चलाना नहीं चाहते थे। उनका अभिप्राय था कि वे इतने आतंकित हो जाएं कि स्वयं आगे बढ़, कर अदा करें और ईमानदार नागरिक बनें।

एक रहस्यमय व्यक्ति अक्सर ठाकुर से फोन पर बात करता था। रहस्यमय इसलिए कि यदि घर में, हममें से और कोई फोन उठाता तो वह बात ही नहीं करता था, लाइन काट देता था। शुरू-शुरू में जब इस तरह के फोन आने शुरू हुए, तब दो-चार बार तो ध्यान ही नहीं दिया। यही सोचा कि ‘रिंग नंबर’ होगा या गलत लाइन मिल गई होगी। लेकिन, जब कई बार और अक्सर ऐसा हुआ, तो मन में संदेह की खिड़की खुल गई। कौन हो सकता है, जो फोन करता है? अमित के लिए तो हो नहीं सकता, वह तो अभी छोटा है। यदि उसके स्कूल के किसी फ्रेंड का फोन होता तो वह बात कर ही लेता। बेटी बहुत ही छोटी है। निष्कर्ष जो ऐसी हालत में निकलता है, वही निकला—जरूर कोई इनसे ही बात करना चाहता है। मेरी आवाज सुनकर फोन काट देता है। अवश्य, कोई लड़की ही होगी! किंतु, मुझे इन पर पूर्ण विश्वास था। आंख मूंदकर मैं विश्वास कर सकती थी और मेरे विश्वास की परतों इतनी पतली भी नहीं थीं कि फोन की घंटी उन्हें काट सके। यदि ऐसी आशंका उठी भी, तो उसे मैंने वहीं दबा लिया। हम सभी इनके समेत पशोपेश में थे कि कौन हो सकता है! फिर एकाएक फोन आना बंद हो गया। सोचा, जरूर कोई शरारत कर रहा होगा—जब हमने कोई कदम नहीं उठाया, तब तंग होकर उसने फोन करना बंद कर दिया होगा।

एक दिन ठाकुर आफिस से घर लौटते तो बोले, “रहस्य की गुत्थी आज सुलझ गई।”

मैंने पूछा, “कौन-सा रहस्य?”

“वही, टेलीफोन पर फोन करना और बिना बात किए काट देना।”

“कौन था वह?” मैंने पूछा।”

“यह तो मैं भी नहीं जानता। पर, आफिस में एक रहस्यमय व्यक्ति समय-समय पर मुझे फोन पर सूचनाएं दिया करता था कि काला धन कहां-कहां छिपा है। इन सूचनाओं के आधार पर मैंने कई बार छापे मारे और सभी सफल हुए। वह व्यक्ति कभी मेरे सामने नहीं आया। न ही मैंने उसे अपने घर का फोन नंबर दिया। आफिस में ही वह फोन करता रहा है।”

“फिर, उसे घर का फोन नंबर कहां से मिला? और वह फोन काट क्यों देता है?”

“कोई बहुत जरूरी सूचना वह देना चाहता रहा होगा। इसीलिए कहीं से घर का फोन नंबर उसने ढूँढ निकाला होगा। तुम लोगों की आवाज सुनकर वह फोन काट देता था। अब मैंने उसे कह दिया है कि फोन पर वह मुझे पूछ ले। यदि मैं घर पर होऊंगा तो बात कर लूंगा, अन्यथा मुझे सूचना मिल जाएगी और मैं समझ लूंगा कि फोन पर अपना नाम न बतानेवाला इंसान वही है।”

“पर वह दूसरों की, ऐसी सूचनाएं देता क्यों है?”

“अक्सर तो इसलिए ऐसे लोग सूचनाएं देते हैं क्योंकि, उन्हें पाई गई राशि का दस प्रतिशत इनाम मिलता है। कई बार, कई लोग इनाम के लालच में सूचना नहीं देते बल्कि, ऐसे लोग बड़े जज्बाती होते हैं और सिर्फ अपने जज्बात के लिए काम करते हैं। मसलन, सामनेवाले से उन्हें कोई भावनात्मक चोट पहुंची हो और वे उसका दंड उसे देना चाहते हों, तो ऐसी सूचनाएं अक्सर आकरवालों को या कस्टम विभाग को दे देते हैं।”

हम लोगों ने इस इल्हामी आवाज का नाम रख दिया—‘आकाशवाणी’।

जब कभी उसका फोन आता, सब चहक उठते कि ‘आकाशवाणी’ हो रही है या ‘आकाशवाणी’ फोन पर। शुरू-शुरू में यह सब बड़ा खेल-सा लगा। हम लोग इंतजार में रहने लगे कि कब ‘आकाशवाणी’ का फोन आए।

ठाकुर भी बड़े उत्सुक रहते, कई बार तो आफिस से ही फोन करके पूछते, ‘आकाशवाणी’ का कोई फोन तो नहीं आया। एक दिन मैंने इनसे कहा, “एक सलाह दूं! तुम्हारी यह जो इल्हामी आवाज है न, वह ‘आकाशवाणी’, इसके साथ कभी अपने जज्बात को मत जुड़ने देना। वह सिर्फ एक आवाज ही रहे और कुछ नहीं।”

इन्होंने हंसकर कहा, “अरे, अब भी क्या तुम कुछ और समझ रही हो! ‘आकाशवाणी’ तो मेरी इयूटी का एक हिस्सा है। आवाज अपनी इयूटी निभा रही है और मैं अपनी इयूटी निभा रहा हूँ।”

‘आकाशवाणी’ ने बताया कि रामगढ़वाले सेठ का कहना है कि बंबई से ट्रांसफर न करा दिया तो मेरा नाम भी अमुक नहीं। सब जगह वह कहता फिर रहा है कि देख लूंगा। सरकारी नौकरी में इस प्रकार की धमकियां मिलना कोई विशेष बात नहीं है। अक्सर देखा गया है कि जो अफसर बहुत ईमानदारी से अपना काम करते हैं और जिनकी सख्ती के आगे करदाताओं की एक नहीं चलती तथा जो अफसर दो नहीं, तीन-तीन आंखें रखते

हैं, उनसे वे लोग बहुत परेशान रहते हैं। सब तरह की जोड़-तोड़ करते हैं। मंत्रियों तक पहुंच रखते हैं। जब अफसर किसी तरह पकड़ में नहीं आता, तब ऊपर से जोर डलवाते हैं। उससे भी काम नहीं बनता तो ट्रांसफर का ब्रह्मास्त्र निकालते हैं।

हमारे बच्चों की बेसिक शिक्षा की नींव पुख्ता हो गई थी। अमित आठवीं में था। ट्रांसफर इस स्टेज पर हो जाने पर भी, कम से कम नवीं और दसवीं में एक जगह स्थिर होकर पढ़ाई हो सकती थी। बेटी अभी तीसरी कक्षा में थी। मेरी सर्विस तो कांट्रैक्ट की थी। फुलटाइम काम भी नहीं था। इसलिए हम लोग सब ओर से निश्चित थे। फिर भी अनिश्चय के दौर में कुछ दिन बीते। अंततः आशंका सही निकली और दिल्ली ट्रांसफर हो गया।

इससे पहले भी बंबई से हमारा ट्रांसफर बड़ौदा हुआ था। ट्रांसफर आर्डर आने के बाद से ही मुझे पता नहीं क्या हुआ—बुखार आने लगा। कभी 99 डिग्री, कभी 100 डिग्री। बुखार रोज हो जाता। डॉक्टरों की समझ में भी कुछ नहीं आ रहा था। मित्रगण मजाक बनाते कि 'ट्रांसफर फीवर' है। एक सप्ताह तो इंतजार किया कि बुखार उतर जाए। किंतु, बुखार उतरने का नाम ही नहीं ले रहा था। हारकर एक सप्ताह बाद ठाकुर स्वयं बड़ौदा चले गए। वैसे तो अक्सर इनकी छुट्टियां बेकार ही जाती थीं क्योंकि, 'अर्न्ड लीव' लेना इन्होंने सीखा ही नहीं था। अबकी बार, मेरी बीमारी के कारण छुट्टी ली। करीब एक महीना हम बंबई रहे। उसके बाद जैसे ही मेरा बुखार उतरा और मैं ठीक हुई, हमने वोरिया-बिस्तर बांधा और एक सुबह सामान ट्रक में लादकर, घर की चाभी अपने सहयोगी मित्र एल.पी. धीर को दे, हम बंबई से बड़ौदा चल दिए। कलकत्ता के बाद यह पहला ट्रांसफर था।

हम लोग बड़ौदा पहुंचे। बंबई की तुलना में यह छोटा शहर था। बंबई में कभी भी आफिस का चपरासी या इंसपेक्टर हमारे घर नहीं आया और न ही हमने उससे व्यक्तिगत काम कराया। सुना था, छोटे शहरों में इस सबका बहुत आराम रहता है। इसका नमूना भी देखा। शाम के समय हम बड़ौदा पहुंचे। कई लोग 'रिसीव' करने आए। दूसरे दिन सवेरे भी चपरासी और इंसपेक्टर घर आ गए। बोले, "बच्चों को भेज दीजिए, घुमा लाएं।" मैं तो आश्चर्यचकित रह गई। इनकी तरफ देखा तो यह बोले, "ऐसे क्या देख रही हो? अभी तो ये तुम्हारे घर का सारा काम भी कर देंगे। तुम्हें बाजार जाने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी—बाजार का सारा काम भी ये लोग कर देंगे। यहां तो बाजार में तुम शापिंग करने जाओगी तो तुम्हारे पहुंचने से पहले ही, तुम्हारे 'स्टेटस' की पूरी जानकारी उस दुकानदार के पास पहुंच जाएगी और वह हाथ बांधे तुम्हारे सामने खड़ा मिलेगा।"

बंबई में तो ऐसा नहीं होता था। कहीं जाएं, कहीं शापिंग करें, किसी को कोई मतलब नहीं। बड़े शहरों में कोई इतनी खोज-खबर नहीं रखता। मुझे तो सुनकर ही उलझन हुई।

बड़ौदा जिस दिन हम पहुंचे, ठाकुर को बुखार हो गया। उन्होंने आफिस से छुट्टी ले ली। मैंने सोचा, और कोई काम तो है नहीं, क्यों न सामान की पैकिंग खोलना शुरू

कर दूँ? मैं सामान खोल-खोलकर रखने लगी। घास-फूस वगैरह, जो पैकिंग से निकली, उसे सामने खड़ी गाय को डालने लगी। शाम को, पांच-साढ़े पांच बजे आफिस से हमारे एक मित्र बी.जी. गुप्ता, जो बड़ौदा में ही पोस्टेड थे, आए (कलकत्ता से उनकी पोस्टिंग बड़ौदा हुई थी) और बोले, “भाभीजी, आप बेकार सामान खोल रही हैं, आपको तो वापस बंबई जाना है। ठाकुर की पोस्टिंग वापस हो गई है।” मैंने सोचा, वे मजाक कर रहे हैं। ऐसा भी कहीं होता है!

पर ऐसा ही हुआ था। शनिवार की रात हम बड़ौदा पहुंचे थे। वैसे तो सोमवार को आफिस खुलने पर ही पता चलता। किंतु, ठाकुर के मित्र महाजनजी हैड क्वार्टर्स में थे, वे इतवार के दिन भी आफिस गए थे, रुके हुए बाकी काम को निपटाने। उन्होंने वहां डाक खोली तो उसमें टी.पी. झुनझुनवाला का ट्रांसफर रद्द करने की चिट्ठी थी। साथ ही बंबई पोस्टिंग का आर्डर भी। महाजन मेरे पति की सहयोगी श्रीमती प्रेम महाजन के पति थे। प्रेमजी कलकत्ता में ट्रेनिंग पीरियड में ठाकुर के साथ एक ही बैच में थीं। महाजन दंपति—पति-पत्नी दोनों ही आयकर अधिकारी थे और बहुत ही सौम्य स्वभाव के, ईमानदार, कर्तव्य-निष्ठ लोगों में थे। हमारे अच्छे मित्र थे। उन्होंने ही तत्काल एल.पी. धीर को फोन किया और कहा कि मकान की चाभी अभी ‘हैंड ओवर’ नहीं की है, तो न ही करें, क्योंकि, झुनझुनवाला का ट्रांसफर वापस बंबई हो गया है। इधर बड़ौदा से ठाकुर ने बंबई कमिश्नर आर.एन. जैन से बात की और सारी बात उन्हें बताई। उन्होंने सलाह दी कि यदि बंबईवाला घर नहीं छोड़ा है, तब तो लौट आएँ, अन्यथा नहीं क्योंकि, बंबई में तो घर मिलना बहुत कठिन है। फिर बंबई फोन खटखटाया गया। धीर साहब ने बताया कि पता चलते ही उन्होंने चाभियां रोक ली हैं। अब बड़ौदा के कमिश्नर से बात करनी थी। वे उस समय ‘टूर’ पर थे। उनसे भी बात की गई। उन्होंने फोन पर ही आर्डर दे दिया, वापस बंबई जाने का। आयकर के इतिहास में शायद, यह पहली बार हुआ था कि एक महीने की पोस्टिंग के बाद ही दोबारा कोई अपनी जगह लौट आया हो। बहरहाल, मैं तो खुश थी। मुझे बंबई का जीवन ही पसंद था, जहां अपवादों को छोड़कर कोई किसी से मतलब नहीं रखता। आफिस के काम करनेवालों की तो शक्ति ही देखने को नहीं मिलती थी।

इस प्रकार हम बंबई लौट आए और बंबई का नया ‘टर्म’ शुरू हो गया। अधिकांश को तो पता ही नहीं चला कि हमारा ट्रांसफर भी हुआ था।

प्रस्थान बंबई से

- रामेश्वरम् के समुद्रतट पर ● दिल्ली के गली-कूचे
- अंगजा का प्रकाशन

और अब बंबई से हमारा दोबारा ट्रांसफर हुआ—दिल्ली।

जब हम कलकत्ता से बंबई आए थे, तब बंबई बड़ा बेगाना लग रहा था। अब बंबई में इतने वर्ष रहते-रहते बंबई से एक मोह-सा हो गया था। बंबई के लिए एक बात प्रसिद्ध है कि यह शहर कभी सोता नहीं। इसका जीवंत प्रमाण किसी भी लोकल ट्रेन का स्टेशन है। सुबह चार बजे भी लोकल ट्रेन के स्टेशन पर भीड़ देखने को मिलेगी, पर हां, सुबह आठ बजेवाली ठेलम-ठेल नहीं होगी, किंतु, सन्नाटा भी नहीं होगा। भारत के किसी भी शहर में वह चहल-पहल नहीं दिखाई पड़ती है, जो बंबई के लिए आम बात है। घड़घड़ाती लोकल ट्रेनें आ-आकर रुकती हैं और रुक-रुककर जाती हैं। कालबादेवी की खाऊ गली में रात तीन बजे भी पाव भाजी खाने को मिल जाती है। कई बार कवियों को, रात में कवि-सम्मेलनों से लौटते वक्त, वहीं खाना खिलवाया गया है। सुबह चार बजे, जब सूर्योदय नहीं हुआ होता है, तभी से चिड़ियों की सुगबुगाहट धीरे-धीरे जोर पकड़ने लगती है और पांच-साढ़े पांच बजते ही पक्षियों का कलरव तेज हो जाता है।

बंबई की एक और बात, जो सबसे अधिक बांधती हैं, वह है यहां का समुद्र। कहीं से भी चलिए, सड़क का एक मोड़ पार करते ही, अचानक सामने समुद्र आ जाता है। सुंदर और शांत। हर सुबह अपने सीने पर अधियारे-उजियारे को आंख-मिचौनी खेलते हुए देखती है तो रात में लहरों को प्रचंड रूप से ऊपर-नीचे उतारते-चढ़ते। भीषण उतार-चढ़ाव। समुद्र ने सदैव मुझे अपनी ओर खींचा है। कितना गंभीर, पर अपने हृदय में कितनी उथल-पुथल समाए—शांत, निर्विकार, योगी की भांति। कितनी-कितनी शामें जब ठाकुर आफिस में देर से लौटे, तो मैंने इसी समुद्र की ओर देखते-देखते गुजार दीं। कभी मन ही नहीं भरा समुद्र को देखने से और अब यह समुद्र, यह शहर जो बेगाना होते हुए भी अपना हो गया था, छोड़ना पड़ेगा। पर यह तो सृष्टि का क्रम है। इससे क्या मुंह चुराना!

बंबई से जाने के दिन आए, तब लगा कि इतने दिन, इतने बरस यहां रहे, और आसपास की जगहें तक नहीं देखीं। उत्तर भारत में पहुंचकर फिर दक्षिण आना कहाँ संभव होगा! इसलिए विचार किया कि बंबई छोड़ने से पहले दक्षिण भारत के दर्शनीय स्थानों को देख लिया जाए।

दक्षिण में उन दिनों हिंदी के विरुद्ध आंदोलन चल रहा था। अकेले जाने में दक्षिण भारतीय भाषाओं की जानकारी के बगैर समस्याएं खड़ी हो सकती थीं। सहयोगी वांचीनाथजी बहुत अच्छे मित्र थे। उनको तैयार किया गया कि वे दक्षिण की यात्रा में हमारे गाइड के रूप में रहेंगे। केसवानी दंपती भी साथ चलने के लिए तैयार हो गए। एक कार हमारी और एक केसवानीजी की। दो कारों का यह काफिला चल पड़ा दक्षिण की ओर।

इस यात्रा में कुछ बड़े ही अच्छे अनुभव हुए। पहला अनुभव तो यह कि आई.आर.एस. अर्थात् इंडियन रेवेन्यू सर्विस के अंतर्गत आयकर के दफ्तर सभी जगहों पर होने से कोई व्यक्तिगत जान-पहचान न होने के बावजूद, कोई भी समस्या आने पर, वहां के अधिकारी सदैव तत्पर रहे—परेशानियों का हल ढूंढने के लिए। इतनी लंबी यात्रा में बच्चों के साथ अक्सर कोई न कोई समस्या आ ही जाती थी। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर हम सीधे आयकर आफिस पहुंच जाते। ऐसा लगता रहा जैसे, अपने परिवार के लोगों से ही मिल रहे हैं। बेहिचक अपनी कठिनाई उनके सामने रख देते और वे सभी प्रबंध करवा देते। अखिल भारतीय सेवा से संबंधित होने के नाते एक लंबे, बड़े विस्तृत परिवार से पहली बार संबंध बने।

गर्मी के दिन थे, इसलिए सुबह-शाम हम यात्रा करते और दोपहर व रात्रि में गेस्ट हाउस में ठहरते, जहां के चौकीदार खाने-पीने का प्रबंध कर देते। कई जगह तो हम दक्षिण के अंदरूनी हिस्सों में भी गए। वांचीनाथजी की ससुराल निरंजालकुडा में बड़ा ही भव्य स्वागत हुआ। नारियल के पेड़ों की छाया में बिस्तर लग गए। वांचीनाथजी निरंजालकुडा में ही रुक गए। तय हुआ कि अब वे हमें मदुरई में मिलेंगे। आगे की यात्रा में केवल केसवानीजी, उनकी पत्नी और बच्चे हमारे साथ रहे।

भीषण गर्मी पड़ रही थी। खाने के नाम पर इडली, दोसा, उत्तपम, हर जगह मिल जाता था। कुछ वाक्य हमने सीख लिए थे जैसे, 'रंड काफी कुंडवा' अर्थात् 'दो काफी लाओ।' धूप की गर्मी में तपते-तपते ठाकुर का रंग इतना गहरा गया कि अनेक जगह तो उन्हें मद्रासी ही समझा गया। गर्मी के कारण बेहाल, रास्ते में पड़नेवाले गांवों के लोग शाम होते ही सड़कों पर निकल आते। कई बार रात के अंधेरे में सांप की तरह बल खाती रेंगती पंगडंडी पर आगे की ओर दौड़ती केसवानीजी की कार, उसके पीछे हमारी कार। सड़क के दोनों ओर नारियल के लंबे पेड़ों के अक्स और हुजूम की तरह उमड़ती लोगों की भीड़, घुटनों तक धोती लपेटे। दूर से देखते तो लगता जैसे—केवल कुछ हिल रहा है,

सफेद-सफेद। पास जाने पर पाते कि ये तो गांव के आदमी हैं, जिनका रंग गहराती रात के अंधेरे में समरस हो गया है, केवल उनकी सफेद धोती या लुंगी ही दिख रही है। गर्मी के कारण कमर के ऊपर वे कुछ पहनते ही नहीं हैं।

इस यात्रा में कई बार बड़े संकट से भी गुजरे। एक रात तो घने जंगल में केसवानीजी की कार के पीछे की लाल लाइट को देखते गाड़ी दौड़ाते ही रहे, यह सोचकर कि उस भाई को क्या हो गया है, जो इतनी तेजी से गाड़ी भगाए जा रहा है। बाद में पता चला कि वह बड़ा घना जंगल था और कोई रात्रि में उधर से जाने का साहस नहीं जुटा पाता था—पर हम फंस गए थे अनजाने में ही—तो किसी तरह निकलना ही था। यह तो बाद में देखा कि हमारी गाड़ी में उस समय पेट्रोल बहुत कम था। ऐसे क्षणों में उस असीम शक्ति का सान्निध्य और आशीर्वाद पग-पग पर कवच के रूप में हमारी रक्षा करता रहा।

उत्तर में काशी की तरह दक्षिण में रामेश्वरम् का महत्त्व है। वैसे भी चार धाम, जो हिंदुओं के प्रसिद्ध तीर्थ माने गए हैं, उनमें रामेश्वरम् भी एक है। द्वादश ज्योतिर्लिंग क्षेत्रों में भी रामेश्वरम् की गणना है। इसलिए, जब मदुरई पहुंचकर यह प्रश्न उठा कि रामेश्वरम् के दर्शन किए जाएं या कन्याकुमारी के, तब मैंने रामेश्वरम् के दर्शन करना ही श्रेयस्कर समझा। मदुरई से एक ओर जाने से कन्याकुमारी का रूट था तो दूसरी ओर से रामेश्वरम् का।

रामेश्वरम् का संबंध रामायण काल से है। रामायण में पढ़ा था कि यहीं समुद्र तट पर शिवलिंग स्थापित कर भगवान राम ने समुद्र से लंका की ओर प्रस्थान करने का मार्ग मांगा था। कई दिन की पूजा-अर्चना के बाद भी जब समुद्र देवता ने सहयोग नहीं दिया तो श्रीराम को क्रोध आ गया और उन्होंने वाण संधाया। समुद्र के वक्ष में खलबली मच गई और समुद्र-देवता ने प्रकट होकर श्रीराम के चरणों में शीश नवाया तथा उपाय बताया कि नल और नील, जो वानर सेना के प्रमुख दो वानर हैं, उन्हें वरदान मिला हुआ है कि वे पानी में पत्थर तैरा सकते हैं। यदि वे राम का नाम लेकर पत्थर समुद्र में फेंकें तो पत्थरों का पुल बन सकता है और वानर सेना लंका पहुंच सकती है।

एक अन्य कथा के अनुसार भगवान श्रीराम ने लंका से लौटने पर रावण-वध की ब्रह्म-हत्या के पाप से निवारण के लिए समुद्र तट के इस स्थल पर शिवलिंग की स्थापना कर पूजा-अर्चना की थी। तभी से यह स्थल तीर्थ-स्थल के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

एकता और समन्वय के आधार को बल देने के लिए हमारे ऋषि-मुनियों ने चार धामों की कल्पना की। उत्तर में बद्री-केंदार, पश्चिम में द्वारका, पूर्व में जगन्नाथ पुरी और दक्षिण में रामेश्वरम्। इस प्रकार उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम को सांस्कृतिक-धार्मिक एकता के सूत्र में पिरोया। दक्षिण पहुंचकर यदि रामेश्वरम् न जाते तो यात्रा अधूरी ही रह जाती। फिर इतने समीप आकर चार धामों में से प्रसिद्ध एक धाम के दर्शन का पुण्य-लाभ करने का आत्म-सुख भी शामिल था।

रामेश्वरम् की यात्रा में अनेक कठिनाइयां आईं। हर बार ऐसा लगा जैसे, स्वयं

भगवान हमारी परीक्षा ले रहे हैं कि हमें उनके स्थल तक पहुंचकर दर्शन करने की उत्कट इच्छा है भी या नहीं। प्रातः पांच बजे जब सूरज की किरणें फूटी भी नहीं थीं—कुछ-कुछ अंधेरा था, हम निकल पड़े अपनी यात्रा पर। ठाकुर गाड़ी चला रहे थे, वांचीनाथजी साथ में बैठे थे। मैं और श्रीमती वांचीनाथ पीछे की सीट पर। करीब पंद्रह-बीस किलोमीटर गए होंगे कि हमारी कार की लाइट चली गई। शायद, कोई तार ढीला हो गया था। घुप्प अंधेरा था रास्ते में, कहीं कोई आदमी नहीं। टार्च हम गाड़ी में साथ रखना भूल गए थे—क्या करें? आगे का लंबा रास्ता कैसे कटेगा, सोच ही रहे थे कि सड़क के किनारे बने एक कच्चे घर के सामने एक जलती हुई डिभरीनुमा छोटी लालटेन रखी दिख गई। लगा, जैसे हमारी समस्या के निदान के लिए ही किसी ने उसे वहां रख दिया है, अन्यथा कोई तुक नहीं थी वहां उसके रखे होने की। डिभरी उठाकर बोनट खोलकर जो देखा तो पाया गया कि सही में, कोई तार ही ढीला हो गया है, जिसे जोड़कर हम पुनः रवाना हुए। पंद्रह-बीस किलोमीटर और आगे गए होंगे कि अबकी गाड़ी का हॉर्न दगा दे गया। अंधेरा अभी भी था किंतु, सुबह होनेवाली थी। पर इतने सुबह-सुबह कहां कोई मिलेगा, जो हॉर्न ठीक करेगा! वहां के घने प्रांतरो में, गांवों के रास्तों में जहां हम वहां की भाषा भी नहीं जानते, और भीड़-भड़क्का भी धीरे-धीरे बढ़ेगा, 'गाड़ी चलाना मुश्किल है', कहकर ठाकुर ने तो गाड़ी एक ओर खड़ी कर दी और कहा कि अब लौट चलते हैं। हम लोग कुछ नहीं बोले। शायद, हमारे भाग्य में यह दर्शन वदा नहीं था, कुछ कहना बेकार था क्योंकि, कोई हल भी तो नहीं दिखाई दे रहा था। करीब दस-पंद्रह किलोमीटर वापस आए तो सामने के शीशे में शायद, हम लोगों के उतरे चेहरों पर इनकी नजर पड़ गई। मायूसी साफ दिखाई पड़ी होगी। इन्होंने पता नहीं क्या सोचा, फिर गाड़ी मोड़ी और हम दोबारा मजिल की ओर बढ़े।

कुछ ही दूर गए होंगे कि सामने एक छोटी-सी दुकान दिखाई पड़ी, जिसका शटर कोई व्यक्ति उतने सुबह खोल रहा था। शायद, भगवान ने हमारे लिए ही उसे भेज दिया था। गाड़ी दिखाई गई। दो मिनट में उसने हॉर्न ठीक कर दिया।

पूरे रास्ते हमें लगता रहा, कम से कम मुझे तो यही लग रहा था कि स्वयं राम-लक्ष्मण-सीता हमारे साथ-साथ चल रहे हैं और रास्ते की सभी बाधाएं इसी तरह दूर होती जाएंगी।

यह आस्था थी, जो हमारे मन में थी, यह आस्था, जो केवल किसी पूजागृह या मंदिर में जाने से ही नहीं मिलती, हमारे अंदर ही होती है, हमारे मन में। यह वही विश्वास था, जो पग-पग पर हमारे जीवन को जीने की शक्ति देता है, गति देता है। आस्था और विश्वास का यह चक्र, जिसका कोई रूप नहीं है, कोई आकार नहीं है, इसने समय-समय पर जब भी कठिनाई आई है, मुझे व्यवस्थित किया है, संबल दिया है और जीने की शक्ति, संघर्षों से जूझने की चाह दी है। इस चाह के होते मैंने कभी अपने को निर्बल नहीं समझा। इसी आस्था और विश्वास के सहारे हम रास्ते की ओर भी अनेक कठिनाइयां पार करते

हुए मंडपम् पहुंच गए।

मंडपम् उस स्थान का नाम है, जहां ट्रेन से आनेवाले यात्री उतरते हैं। यहां चारों ओर बालू ही बालू थी। हमारी गाड़ी फियेट थी। बालू में धंस गई। न एक सुई भर आगे बढ़े, न पीछे हटे। किंकर्तव्यविमूढ़ हमें फिर भी विश्वास था कि यह संकट भी दूर होगा। हमने ऐसे बुरे कर्म तो नहीं किए हैं कि भगवान दर से लौटा देंगे। और वही हुआ। पीछे से एक बस यात्रियों से भरी आई। ड्राइवर ने हमारी कठिनाई देखी। वह उतरा और आकर गाड़ी की चाभी मांगने के इरादे से हाथ फैला दिया। अमूमन ठाकुर अपनी गाड़ी की चाभी किसी को देते नहीं हैं, पर उस दिन बिना कुछ पूछे चाभी उसके हाथ में रख दी। ड्राइवर ने चाभी ली और एक झटके में गाड़ी स्टार्ट कर, बालू के ढेर से गाड़ी निकाल दी। अब हम पहुंच गए धनुषकोटि, जहां से ट्रेन पकड़नी थी रामेश्वरम् मंदिर के लिए। यह पुल समुद्र पर बना है। रेल-स्टेशन पर इतनी तेज हवा, जैसे पवन देवता आज उड़ाकर ही ले जाएंगे। पता चला कुछ अरसे पहले एक बड़ा भारी तूफान आया था, जिसमें पुल ही उड़ गया था—सैकड़ों लोग मारे गए थे।

यह नया पुल बना था। ट्रेन धीमी गति से सरक रही थी—चींटी की चाल से भी धीमी। समुद्र की ओर नजरें घुमाई कि शायद, नल-नील द्वारा डाले गए पत्थर दिखाई पड़ जाएं। हां, बहुत दूर तक पत्थरों के बड़े-बड़े ढोके अवश्य नजर आए, जिन पर चढ़कर लोग कुछ दूर तक जाते हैं। मालूम पड़ा, जिस ट्रेन से हम आए हैं, वही ट्रेन शाम को लौटेगी। इन्होंने कहा, बस, जल्दी-जल्दी दर्शन कर लो, इसी ट्रेन से लौटना है।

अंततः हम रामेश्वरम् पहुंच ही गए। चारों ओर विशाल समुद्र लहरें मार रहा था। सामने रामेश्वरम् मंदिर था। मंदिर के लंबे प्राकार इसकी विशिष्टता हैं। बाहरी प्राकार में करीब बारह सौ स्तंभ हैं और यह दो हजार फुट लंबा है। शायद, यह विश्व में सबसे लंबा प्राकार होगा। इसकी छत पर रामायण अंकित है। 22×12×17 फीट आकार का एक विशाल नंदी द्वार पर विराजमान है। प्राकार के बाहर दोनों ओर कुंड बने हैं—सात कुंड, जिनमें स्नान कर मंदिर में दर्शन को जाते हैं। हमने एक लोटे में सातों कुंडों का पानी भरा और अपने ऊपर छिड़कते हुए 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' की धारणा को बल देते हुए, प्रायः भागते-भागते लंबे प्राकार को पार कर मंदिर में भगवान शिव के दर्शन किए। आरती हो रही थी। हम बिल्कुल सही समय पर पहुंचे थे क्योंकि, आरती के बाद मंदिर के पट बंद हो जाते हैं। सारी थकावट, सारी क्लॉत्ति, जो केवल शरीर की थी—मन की नहीं, यहां आकर धुल गई। एक अपूर्व शांति मन में समा गई।

हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रही, जब मंदिर के मुख्य पुजारी ने बताया कि वह राजस्थान के हैं। उन्होंने मंदिर के बारे में बतलाया कि बहुत पहले यहां नारियल के पत्तों से बनी छत का यह मंदिर, एक साधु की देखरेख में था। बारहवीं शताब्दी में मूल मंदिर राजा पराक्रम बाहु ने बनवाया, जो उस समय लंका का राजा था। बारहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य रामनाथपुरम्, मदुरई तथा अन्य स्थानों के सेतुपति नरेशों ने मंदिर को विस्तृत

आकार दिया।

महाशिवरात्रि पर्व पर यहां विभिन्न उत्सव होते हैं। कुछ उत्सव प्रतिदिन होते हैं, जिनमें पुजारियों द्वारा रात्रि में रामनाथ स्वामी, जो शिवजी का ही यहां प्रचलित नाम है, की स्वर्ण की मूर्ति पालकी में बिठाकर मंदिर के विभिन्न प्राकारों में घुमाने के बाद देवी पार्वती के मंदिर में लाई जाती है। ढोल, ताशे और शहनाइयों की ध्वनि पर भक्त जन नाचते-गाते, भाव-विभोर हो जय-जयकार करते चलते हैं। इस शोभा-यात्रा के पश्चात् शयन-आरती होती है।

दक्षिण की यात्रा और छुट्टियां खत्म होने के बाद अब हमें नयी पोस्टिंग पर दिल्ली रवाना होना था।

उस दिन बंबई से रवाना होते समय इतने लोग विदा देने आए थे कि स्टेशन पर मेला-सा लग गया था। मित्र, परिचित, परिवार के लोग, लेखक और कवि, संगीतज्ञ और नृत्यकार, दफ्तर के लोग और पड़ोसी भी। मैं तो बुरी तरह रो रही थी। ऐसे कि जैसे पहली बार पीहर से विदा ले रही होऊं। बंबई में इतना लंबा अरसा जो बिताया था, फिर भाई लोग भी वहीं थे, इस कारण बंबई छोड़ते दिल भर-भर आया था। हम भीगी आंखों से सबसे मिलकर अपने कंपार्टमेंट में चढ़े ही थे कि तभी देखा एक आदमी ट्रेन चलने से थोड़ी देर पहले ही दौड़ता हुआ हमारे कंपार्टमेंट के पास आया। उसके हाथों में फूलों की एक डलिया थी। पहले ही हमारा कंपार्टमेंट फूलों के गुलदस्तों से भर गया था। अब यह एक और फूलों की बास्केट। जो आदमी फूल लाया था, उसे हम पहचान नहीं पा रहे थे। बहरहाल, सोचा, कोई शुभचिंतक होगा। फूलों की बास्केट लेकर एक ओर रख दी। दूर-दूर तक हाथ हिलाते हुए सबसे विदा लेकर ट्रेन चलने के बाद जब इत्मीनान से बैठे, तब फूलों की वह बास्केट उठाई। कार्ड पर नजर डाली, बस इतना ही लिखा था—‘आपका शुभचिंतक।’ फूल हटाए तो दिखाई पड़ा, फूलों के नीचे छिपा जूते के आकार का एक खिलौना—जिसमें बैठा था एक बंदर मुंह चिढ़ाता हुआ। समझ गए, यह किसकी भेंट है। ऐसे काले दिल की भेंट जो शायद, मुंह चिढ़ाकर बता रहा है कि ‘देखा, करा दिया न ट्रांसफर।’ जीत उसकी हुई थी यह सच था—कड़वा सच। पर साथ ही इनका असिस्टेंट कमिशनर के रूप में प्रमोशन भी हुआ था और वह भी दिल्ली में। दिल्ली हम जा रहे थे—उदासी के साथ एक खुशी लिए हुए।

प्रमोशन न भी होता तो भी, हम यह जानते ही थे कि पुलिस का महकमा हो या कस्टम, इनकम टैक्स या कोई भी सरकारी डिपार्टमेंट, यदि कई हथकंडे अपनाने के बाद भी दाल नहीं गलती तो प्रभावित लोगों की यही कोशिश रहती है कि आफ़ीसर की कुर्सी किसी न किसी प्रकार खिसकाई जाए। ऐसे लोगों की चाल कई बार सफल हो जाती है। कुर्सी हिल जाती है। कई बार उन्हें खुशी मिलती है, कई बार मायूसी। इससे अधिकारी

को कोई फर्क नहीं पड़ता, उसे तो अपनी झूठी निभानी है। एक शहर नहीं, दूसरा सही, हमारे मामले में भी यही सत्य था—बंबई न सही, दिल्ली सही।

इससे पहले मैं कभी दिल्ली नहीं आई थी। दिल्ली का इतिहास अवश्य कोर्स की किताबों में पढ़ा था। बहुत दूर अतीत के झरोखों में झांकने से याद आया कि अरे, यह दिल्ली तो वही दिल्ली है जहां खांडव वन हुआ करता था। घने जंगलों से ढंके इस प्रांतर को चंद्रवंशी राजाओं ने साफ करवाकर सुंदर शहर बसाया था और उसका नाम रखा था—इंद्रप्रस्थ। खांडवप्रस्थ पांच गांवों में फैला हुआ था। जब युधिष्ठिर ने दुर्योधन से आधे राज्य की मांग की और उसने उन्हें आधा राज्य क्या, एक इंच भूमि भी देने से मना कर दिया, तब श्रीकृष्ण ने उसका प्रतिनिधित्व करते हुए मांग की कि पांच गांव ही दे दिए जाएं, तो वे पांडवों को किसी प्रकार मना लेंगे। दुर्योधन ने बहुत इंकार किया किंतु, फिर दबाव में आकर पांच गांव देना स्वीकार कर लिया। खांडवप्रस्थ के यही पांच गांव थे, जहां पांडवों ने अपनी राजधानी का निर्माण किया और उसका पुराना नाम भी अपना लिया—इंद्रप्रस्थ।

नेशनल म्युजियम के डायरेक्टर डॉ. लक्ष्मीप्रसाद सिहारे ने एक बार बताया था कि सिकंदर के भूगोलवेत्ता प्लाटेमी ने इंद्रप्रस्थ के करीब किसी शहर का जिक्र किया था, जिसका नाम था 'दाईदला', हो सकता है, यही दाईदला देहली हो। किंतु, बाद में इसका कोई प्रमाण नहीं मिला। हां, बाद में की गई खुदाइयों में एक पत्थर मिला था, जिसे बलवन के समय का बताया जाता है। इस पत्थर पर ढीलिका लिखा था। इससे यह अनुमान लगाया गया कि शायद, यह ढीलिका ही दिल्ली है। पत्थर द्वारा यह भी ज्ञात हुआ कि 'ढीलिका' हरियाणा का एक हिस्सा है। यह पत्थर राष्ट्रीय संग्रहालय में आज भी रखा हुआ है। डॉ. सिहारे ने वह पत्थर मुझे दिखाया और इस प्रकार दिल्ली की कहानी बताई।

जब दिल्ली थोड़ी-थोड़ी देखी तो पाया कि यहां एक मिली-जुली संस्कृति पनप रही है। इसका कारण संभवतः यह था कि मुगल शासकों के काल में दिल्ली एक शक्तिशाली साम्राज्य का महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गई थी और इसीलिए समस्त समाज के हर अंग पर एक मिली-जुली संस्कृति की छाप अमिट हो गई। दिल्ली ने कई साम्राज्य देखे। राजपूतों को देखा तो सुलतानों की सल्तनत भी देखी। दिल्ली कई बार बसी, कई बार उजड़ी, मगर मर-मरकर भी वह फिर उभरती रही अपने आंचल में ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक ताना-बाना बुनते हुए। यह गंगा-जमुनी प्रभाव यहां के मुहल्लों, बाजारों और इलाकों पर भी पड़ा। उनके नाम भी मिले-जुले रखे गए। एक ओर कूचा खुशहाल राय, कूचा महरान, कूचा महजबीन, कूचा मीर कासिम, कूचा भाईदास, कटरा मशरूह, कटरा शहंशाही, कटरा नवाब, जैसे नाम रखे गए तो दूसरी ओर कटरा हीरालाल, कटरा प्यारेलाल, कूचा लच्छू सिंह, कूचा घासीराम, कूचा महाजनी, कूचा पातीराम जैसे हिंदू नाम रखे गए। काम के अनुसार या पेशे के अनुसार जो कटरे बने, उनके नाम भी पेशों पर ही रखे गए। उदाहरण

के लिए, दाई बाड़ा, जहां पहले दाइयां ही रहती थीं, माली बाड़ा यानि मालियों की बस्ती, नाई बाड़ा, तेली बाड़ा, आदि। आज इन बाड़ों या मुहल्लों में सभी वर्ग के लोग रहते हैं, पहले की तरह केवल पेशे से ही संबंधित लोग नहीं। इनके अलावा दिल्ली के बाजार जैसे, मोती बाजार, नया बाजार, खारी बावली, बाजार सीताराम, फैज बाजार, किनारी बाजार, बताशेवाली गली, परांठेवाली गली आज भी मशहूर हैं। अभी भी इन कूचे-कटरों में गलियों के अंदर गलियां-दर-गलियां ऐसी बनी हैं कि अजनबी आदमी तो भूल-भूलैया में फंसकर ही रह जाए।

इन नामों में जैसी एक गंगा-जमुनी तहजीब की गंध है, वैसी ही यहां के रीति-रिवाज, रहन-सहन, परंपराओं, मेले-त्यौहारों, झूलों और बागों में भी महसूस होती है। फूलवालों की सैर लगती है जिसमें, हजरत बख्तियार काकी की मजार पर पंखे चढ़ते हैं तो योगमाया के मंदिर में भी पंखे चढ़ते हैं। तारीफ यह कि दोनों जगह हिंदू-मुसलमान दोनों ही सम्मिलित होते हैं।

एक ओर दिल्ली में जहां कटरों, कूचों और बाड़ों की भीड़ है, वहीं दूसरी ओर शहर के दरवाजे भी बहुत हैं। मुगल बादशाह शाहजहां बड़ा कला-प्रेमी था। उच्च कोटि की इमारतें बनवाने में दिलचस्पी रखता था। आगरे में वह गद्दीनशीन हुआ, पर उसने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाने का निश्चय किया। इस दृष्टि से किले और शहर का काम शुरू हुआ। दस वर्ष लगे। इस नये शहर का नाम रखा गया—शाहजहानाबाद। यह सात मील में फैला हुआ था और इसके चारों ओर दीवार थी जिसमें सात गेट बने थे, जिनमें से कुछ अभी भी बाकी हैं, जैसे, दिल्ली गेट, अजमेरी गेट, लाहौरी गेट, कश्मीरी गेट, तुर्कमान गेट आदि।

दिल्ली की मिली-जुली संस्कृति का प्रभाव वास्तुकला पर भी पड़ा। उसने भी नयी करवट ली और बाद की इमारतों में भारतीय और इस्लामी कला का सुखद संगम दिखाई पड़ने लगा। दिल्ली में जो भी शासक आए, उन्होंने महलों, मकबरों, बाग-बगीचों और अन्यान्य इमारतों में वृद्धि की। सूफी संत हजरत निजामुद्दीन की दरगाह बनी गयासुद्दीन तुगलक के जमाने में, तो लोदी शासकों ने लोदी गार्डन और मस्जिद मोठ बनवाई। कुतुबमीनार को गजनी की प्रसिद्ध मीनार के नमूने के आधार पर कुतुबुद्दीन ऐबक ने शुरू किया किंतु, उसको अंतिम स्वरूप दिया अल्लुतमिश ने, जो कुतुबुद्दीन ऐबक का दामाद था। वह उस समय उसका उत्तराधिकारी भी था। तोमरों के राजा अनंगपाल और फिर पृथ्वीराज चौहान ने लाल कोट का निर्माण कराया। कुतुबमीनार के परिसर में लोहे का जो स्तंभ स्थापित है, उसे चौथी सदी में चंद्रगुप्त मौर्य ने यहां के विष्णु मंदिर के समक्ष गरुडध्वज के रूप में लगवाया था। अद्भुत है, यह प्राचीन स्तंभ—हमारे भारतीय धातु-विज्ञान का नमूना, जिस पर सदियां गुजर गईं, लेकिन जंग का नामोनिशान नहीं है। निजामुद्दीन इलाके में स्थित हुमायूं का मकबरा वास्तुकला की दृष्टि से अद्वितीय है।

दिल्ली की प्राचीनता और महत्त्व को अंग्रेज भी नजरअंदाज नहीं कर सके। इतिहास

ने एक बार फिर करवट बदली। एक लंबे समय के लिए अंग्रेजों के पैर भारत में जम गए, तो सन् 1911 में आयोजित दरबार में जार्ज पंचम ने, जो उस समय ब्रिटेन के शासक थे, अंग्रेजी शासन की राजधानी दिल्ली को बनाया। दिल्ली को क्यों राजधानी बनाया, उसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा था, 'दिल्ली को भुलाया नहीं जा सकता। हिंदुओं के लिए यह पांडवों की राजधानी रही है और मुसलमानों के लिए इससे बड़ी बात क्या होगी कि मुगलों की पुरानी राजधानी की शान-शौकत उसे, अंग्रेजी शासन का मुख्यालय बनाकर लौटा दी जाए।' और इस प्रकार दिल्ली एक बार फिर बस गई, राजधानी के रूप में, जो आधुनिकता का पुट लिए निखरती, बनती, फैलती और पनपती रही। पर अपनी गंगा-जमुनी संस्कृति की छाप, जो उस पर पड़ी थी, वह नहीं छोड़ी उसने। आज भी यहां की सड़कों के नामों से उसकी झलक मिल जाती है। एक ओर कर्जन रोड, कनॉट प्लेस, विंडसर प्लेस हैं, तो दूसरी ओर पृथ्वीराज रोड, सफदरजंग रोड, अकबर रोड, मानसिंह रोड, औरंगजेब रोड, तुगलक रोड और फिरोजशाह रोड भी हैं।

इसी दिल्ली की फिरोजशाह रोड पर 20 नंबर की कोठी में हमने दिल्ली में अपना पहला घर बसाया। यह समय छठे दशक के उत्तरार्द्ध और सातवें दशक के पूर्वार्द्ध का समय था। इस समय दिल्ली एक ओर तो नव-निर्माण की तरफ तेजी से भागने को व्याकुल थी, दूसरी ओर अपनी परंपरागत संस्कृति और धार्मिक, सामाजिक मान्यताओं पर भी पकड़ मजबूत बनाए हुए थी।

कहते हैं, बंबई और दिल्ली का पानी ही कुछ ऐसा है कि कोई भी उससे स्थायी रूप से दूर रह ही नहीं सकता। हमारे साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। बंबई अभी तक हमारे जेहन में छाया हुआ था। दिल्ली में सब कुछ बेगाना, अनजाना लग रहा था। नये शहर में बसने की अनेकानेक समस्याएं भी हजार मुंह बाये खड़ी थीं। सबसे पहली समस्या थी मकान की।

मकान की समस्या जितनी बंबई में थी, दिल्ली में भी उससे कम नहीं थी। आने से पहले बहुत-से लोगों से बात की थी। दिल्ली में ही बंबई के सूरजरतन मोहता का मकान 20 फिरोजशाह रोड पर था। काफी आलीशान बंगला था। सूरजरतनजी के यहां अक्सर मनहरजी कवि-गोष्ठी या संगीत-गोष्ठी रखवाते थे। इस कारण उनसे अच्छा परिचय हो गया था। सज्जन व्यक्ति थे। जब उन्होंने कहा कि दिल्ली में उनके बंगले में हम लोग रह सकते हैं, तब ठाकुर ने बिलकुल मना कर दिया। सूरजरतनजी ने कहा कि "भाई साहब, हम लोग आते-जाते ही वहां ठहरते हैं—आप रहिए, कोई समस्या नहीं है।"

ठाकुर ने कहा, "यदि आप किराया लेने को तैयार हो जाएं, तब तो मैं सोच सकता हूं।"

मोहताजी के बंगले के पीछे आउटहाउस में एक आयकर अधिकारी बहुत वर्षों से किराए पर रहते थे। टंडन थे वह। और भी दो-तीन लोग दूसरे आउटहाउसेज में, बंगले

से बिलकुल अलग रहते थे। मोहताजी ने किराया लेने में काफी नानुकर की किंतु, जब देखा कि ऐसे तो ये माननेवाले हैं नहीं, तब किराया लेने पर राजी हो गए। मुख्य बंगले में ही पीछे की ओर एक बड़े कमरे व बाथरूम के साथ-साथ एक दालान था। 400 रुपये महीने पर हमने वह कमरा और कमरे से जुड़ा आधा दालान ले लिया। उसको बांस की जाफरी लगाकर चारों ओर से बंद करा दिया। उसी के आधे हिस्से में किचन बनाया और आधे में एक छोटा कमरा, जो ड्राइंग रूम-कम-अम्माजी का कमरा बना। वैसे, अम्माजी दिन-भर तो अंदर कमरे में रहती थीं, केवल रात में सोने के लिए ही वह दालान, जो अब बेडरूम की शक्ल ले चुका था, काम में आता।

इन्होंने सरकारी परमिशन भी ले ली कि प्रतिमाह 400 रुपये पर मकान अमुक व्यक्ति से किराए पर लिया है। मोहताजी से हमने वायदा किया था कि एक वर्ष के अंदर, जैसे ही सरकारी मकान मिल जाएगा, वह हिस्सा हम खाली कर देंगे। इस प्रकार हमने सोचा कि भाग्य साथ दे रहा है। कोई बात नहीं, बंबई की आयकर कालोनी जैसा घर नहीं है, फिर भी सिर छिपाने की जगह तो है और शहर के बीचोंबीच है। हमें क्या पता था, इस मकान को लेकर भविष्य में एक बड़ी मुसीबत खड़ी होनेवाली है।

वह एक दूसरी ही कहानी है। फिलहाल तो बच्चों के एडमीशन की भागदौड़ थी। बेटे को तो सेंट कोलंबस स्कूल में आसानी से एडमीशन मिल गया, किंतु, बेटी के एडमीशन के लिए समस्या आई। सेंट कोलंबस स्कूल के पास ही लड़कियों का जीसस एंड मेरी स्कूल है। वहां प्रयत्न किए, पर किसी भी तरह वहां की प्रिंसिपल से मिलने का समय नहीं मिल सका। हम बहुत परेशान। तभी किसी ने बताया कि एक बास्केट तैयार करो, उसमें कुछ फूल, कुछ मिठाइयां, एक शराब की बोतल और कुछ नकदी रखकर वहां के आफिस के हेडक्लर्क के पास ले जाओ, बस, वह प्रिंसिपल से एक मिनट में ही मिलने का समय तय कर देगा।

सरस्वती के मंदिर में घुसने का यह तरीका! न बाबा न, मुझे तो यह बिलकुल मंजूर नहीं। तब उसी व्यक्ति ने कहा, “फिर आप बैठे रहिए, आजकल एडमीशन मिलना बहुत मुश्किल है।” पर मेरी आत्मा पिछले दरवाजे से प्रवेश लेना पसंद नहीं कर रही थी। निराश होकर मैं सेंट कोलंबस स्कूल के हेडमास्टर से मिली। उन्हें बताया कि क्योंकि, मेरा बेटा उनके स्कूल में है, इसलिए पास के स्कूल में ही बिटिया का एडमीशन हो जाए तो सुविधा रहेगी। स्कूल भी अच्छा है। उनसे प्रार्थना की, कि “बस, आप एक बार ‘मदर’ से मिलने का समय निश्चित करा दें।” हेडक्लर्क को बास्केट देनेवाली बात हमने उन्हें नहीं बताई क्योंकि, हमने तो सुना-भर था, वैसा किया तो नहीं था। बात झूठ भी हो सकती थी। पर कहनेवाला इतने विश्वास से कह रहा था कि विश्वास करना ही पड़ रहा था।

खैर, ‘मदर’ से मिलने का समय निश्चित हो गया। ‘मदर’ बड़ी ही सौम्य थीं, देखकर ही आदर का भाव उमड़ आया। उनसे अपनी समस्या बताई। उन्होंने कहा, “अब तो एडमीशन खत्म हो गए हैं। फोर्थ स्टैंडर्ड में तो एक भी सीट नहीं बची है।” हमारा बहुत

ही आग्रह देखकर उन्होंने कहा, “आप चाहें तो थर्ड स्टैंडर्ड में एडमीशन दिला सकती हैं।” इस प्रकार हमारी बेटी को जीसस एंड मेरी में एडमीशन मिल गया। हालांकि, उसे छह महीने का नुकसान हुआ, पर वह एक प्रकार से अच्छा ही रहा क्योंकि, उसकी नींव और पुख्ता हो गई। आगे के वर्षों में वह भी अपनी क्लास में प्रथम आने लगी।

बंबई से आते समय डॉ. भारती ने बहुत कहा था कि दिल्ली से भी मैं ‘धर्मयुग’ के महिला पृष्ठ बनाकर भेज सकती हूँ किंतु, वह बात मेरे गले नहीं उतरी। मैंने उनसे यह वायदा अवश्य किया कि जहां तक होगा, मैं दिल्ली से अच्छी से अच्छी सामग्री महिला पृष्ठों के लिए भेजने का प्रयत्न करूंगी। परंतु, दिल्ली आए छह महीने ही हुए थे कि अम्माजी बीमार हो गई। वैसे तो बीमार वे अक्सर ही रहती थीं। किंतु, इस बार उनको रोगों ने ज्यादा ही घेर लिया। नई जगह की परेशानियां तो थीं ही, ऊपर से अम्माजी की बीमारी। दिल्ली में हम किसी को इतना जानते भी नहीं थे। इस कारण आया या कोई ऐसी परिचारिका भी नहीं मिली, जो उनकी सेवा-सुश्रूषा में कुछ मदद कर सकती। परिणामस्वरूप, घर की देखभाल, बच्चों को देखना, पढ़ाना-लिखाना, घर-गृहस्थी के काम, खाना बनाना वगैरह सब मेरे ऊपर आ पड़ा। इन सबमें मैं बहुत व्यस्त रहती, पर अंदर से एक खालीपन-सा लगता कि मानसिक, बौद्धिक संतुष्टि के लिए तो कुछ नहीं कर पा रही। बाकी के सब काम आवश्यक तो थे, पर यह संतुष्टि नहीं दे पाते थे कि मैं कोई सार्थक काम कर रही हूँ। इसलिए, जब ठाकुर के एक सहयोगी रामपालजी और उनकी पत्नी कृष्णा रामपाल ने एक प्रस्ताव रखा, तो एकदम से हमारा भी ध्यान उसको पूरा करने में लग गया।

रामपालजी कश्मीरी थे। बहुत ही स्पष्टभाषी, हंसमुख, और सीधे-सच्चे इंसान। उनके वहनोई वी.एस. पुरी सेंट्रल न्यूज एजेंसी के मालिक थे। कनाॅट प्लेस में उनकी दुकान थी, जहां हिंदी-अंग्रेजी के सब अखबार और किताबें मिलती थीं। वी.एस. पुरी की पत्नी संतोषजी एक वर्ष पहले तक जम्मू में थीं। विवाह के बाद दिल्ली आ गई। वहां जम्मू में वे सेंट्रल गवर्नमेंट सेकेंडरी स्कूल में प्रिंसिपल थीं। दिल्ली आकर उनके पास कुछ विशेष करने को नहीं था, सो काम के वगैर मन नहीं लग रहा था उनका। वह कुछ करना चाहती थीं, कोई सार्थक काम। रामपाल दंपती से हम लोग अक्सर ही मिलते थे क्योंकि, दिल्ली आने से पहले वे बंबई में थे और वहां उनसे अच्छी घनिष्टता थी। बातों-बातों में तय हुआ कि क्यों न एक पत्रिका हिंदी में निकाली जाए। पुरी साहब पैसा लगाने को तैयार हो गए।

अब तो हम लोग काफी व्यस्त हो गए। रोज शाम को मीटिंग्स होतीं, योजनाएं बनतीं। यही सोचा गया कि महिलाओं की पत्रिका निकाली जाए क्योंकि, उस समय तक महिलाओं की कोई अच्छी पत्रिका हिंदी में नहीं थी। महिला पत्रिका के उपयुक्त नाम की तलाश शुरू हुई। अंततः एक नाम पर सबकी सहमति हुई। नाम था ‘अंगजा’ अर्थात्, जो अंग से उत्पन्न हुई हो—वह अंगजा। कृष्णा रामपाल प्रबंध-संपादिका बनीं, मैं संपादिका।

सोचा गया, शुरु में ज्यादा खर्चे नहीं बढ़ाए जाएं, न्यूनतम खर्चे में ही प्रबंध और प्रकाशन किया जाना चाहिए। इसलिए, किराए पर आफिस लेने का प्रस्ताव भी छोड़ना पड़ा। निश्चय किया कि मैं अपने घर से ही सब काम करूंगी। 'अंगजा' को छपवाने का प्रबंध वीरेंद्रा प्रिंटेर्स, करोलबाग में किया गया। इसके प्रोपराइटर श्री मलिक बहुत दिलचस्प व्यक्तित्व के आदमी थे, दोस्तों के दोस्त तो थे ही, दुश्मनों के भी दोस्त थे। जब प्रूफ तैयार हो जाते, तो पढ़ने के लिए चाहे फर्स्ट रीडिंग हो या आखिरी, हम लोग—कृष्णाजी और मैं—वहीं पहुंच जाते। काम भी होता और साथ में खाना-पीना भी चलता रहता। मलिकजी की श्रीमतीजी भी वहीं छत पर धूप में बैठ जातीं और हमें काम करते देखती रहतीं। उनके साथ परिवार का-सा नाता बन गया। बाद में उन्होंने अपनी छत का एक कमरा हमें दे दिया, जहां बैठकर हम प्रूफ रीडिंग आदि करने लगे।

एक पूरी पत्रिका को संभालने का काम मेरे कंधों पर आ पड़ा। कहां 'धर्मयुग' के तीन पृष्ठों की जिम्मेदारी और कहां एक समूची चौंसठ पृष्ठ की पत्रिका। इस समय, 'धर्मयुग' में सीखी गई पत्रकारिता की ट्रेनिंग बहुत काम आई। 'अंगजा' आफसेट में छपती थी। कई बार कलर पृष्ठों के प्रूफ बहुत देर से मिलते। ठाकुर और रामपालजी बराबर आफिस से निकलकर घर आते और घर से हमें लेते हुए प्रेस पहुंचते, समय-समय पर अपनी सलाह भी देते। ठाकुर को तो प्रारंभ से ही साहित्यिक गतिविधियों में बहुत रुचि थी और मुझे आगे बढ़ने में, उन्होंने कभी कोताही नहीं की, बल्कि पूरा प्रोत्साहन दिया। यदि मैं कभी निराश या हतोत्साहित होती तो, कभी प्यार से, कभी डांट से मेरी निराशा दूर कर देते। उनमें एक अजब ऊर्जा थी, किसी भी परिस्थिति में, काम का कितना भी बोझ हो, वे कभी थकते नहीं थे और दूसरों को भी थकने नहीं देते थे। मेरी एक ही बात पर उन्हें बहुत गुस्सा आता था और वह थी, हर काम को आखिरी क्षण तक उठाकर रखना। लगन से और निष्ठापूर्वक काम करना मैंने उनसे ही सीखा। पत्रिका के प्रथम अंक की तैयारी होते-होते तो अम्माजी इतनी बीमार हो गई कि उन्हें अस्पताल में भरती कराना पड़ा। उन दिनों तो यह हालत थी कि मेरा एक पैर अस्पताल में रहता, दूसरा प्रेस में। बीच-बीच में भाग-भागकर घर को, बच्चों को संभालती।

निश्चय किया गया कि 'अंगजा' का प्रकाशन-समारोह एक साहित्यिक सांझ के रूप में किया जाए। तदर्थ 27 मई, 1967 की शाम को इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के हाल में आयोजन रखा गया। देश के वरिष्ठ नेता और उस समय भारत के वित्त मंत्री, एक गृहस्थ के आदर्श एवं भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के मूर्त रूप मोरारजी देसाई को 'अंगजा' को आशीर्वचन देने के लिए आमंत्रित किया गया। समारोह की अध्यक्षता के लिए भारत सरकार के तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री के.के. शाह को आमंत्रित किया गया। कार्ड वगैरह छप गए। दिल्ली में यह पहला आयोजन था हम लोगों का, इसलिए सोचा कि यह भव्य तरीके से हो।

सारी तैयारी हो गई, सब निमंत्रणपत्र चले गए, हम लोग निश्चित थे। बस, ईश्वर

से यही प्रार्थना थी कि सब काम अच्छी प्रकार निपट जाए और अधिक से अधिक संख्या में लेखक, पत्रकार एवं विशिष्ट जन आएँ, जिससे पत्रिका का प्रचार अधिक से अधिक हो। आयोजनवाले दिन अचानक 'बम' गिरा। पुरी साहब का फोन आया कि मोरारजी भाई के आफिस से फोन आया है, वे नहीं आएंगे। क्यों और क्या का कोई जवाब नहीं। मैं तो घबरा गई। अब क्या होगा? दोपहर के दो बजनेवाले हैं। समय भी नहीं है कि किसी और को बुलाया जा सके। यह तो बहुत ही बेजा बात हुई। पुरी साहब ने बताया कि वे तत्काल घर आ रहे हैं। वहीं बैठकर सोचेंगे कि क्या किया जाए।

मैंने आफिस में ठाकुर को फोन किया। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब उन्होंने बताया कि हाँ, यह बात उन्हें मालूम है और वे हमें फोन करनेवाले ही थे। क्यों नहीं आ रहे हैं, इसका कारण भी मालूम है। शायद, वित्त-मंत्री या कोई भी उच्चपदस्थ मंत्री, जब किसी आमंत्रण पर जाते हैं, तो पहले सारी इनक्वायरी होती है कि जिस जगह या सभा-समिति में वे जा रहे हैं, वे लोग कैसे हैं। यह बात तो ठीक है, पर यह खानापूरी तो आमंत्रण स्वीकार करने से पहले ही होनी चाहिए। मालूम पड़ा, किसी ने शिकायत की है कि पत्रिका की संपादक शीला झुनझुनवाला के पति उच्चपदस्थ आयकर अधिकारी हैं और वे बिना किराया दिए एक उद्योगपति के घर में रह रहे हैं, जो अनैतिक है। ठाकुर ने बताया कि उपरोक्त बात सही है कि नहीं, इसकी जांच के आदेश 'ऊपर' से आए थे जरूर किंतु, उनका आधार ही गलत था। उस समय आयकर के कमिश्नर श्री जी.एस. श्रीवास्तवजी थे। वे स्वयं एक बहुत ही साफ छविवाले व्यक्ति थे। मेरे पति को खूब अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने आदेश के उत्तर में लिख भेजा कि जांच का आधार गलत है। टी.पी. झुनझुनवाला ने बोर्ड को पहले से ही बता रखा है कि वे उस उद्योगपति के घर के पिछवाड़े के हिस्से में किराए पर रह रहे हैं और जैसी व्यवस्था है, उसके अनुसार चार सौ रुपये प्रतिमाह किराया ठीक है। बोर्ड से उन्हें अनुमति भी मिली हुई है। यह उत्तर मिनिस्ट्री में दिन के बारह-साढ़े बारह बजे के करीब पहुंच गया था। फिर मोरारजी भाई के न आने का क्या कारण हो सकता था! जब शिकायत की झुठलाई साबित हो गई, तब तो उन्हें आना ही चाहिए।

इसी बीच पुरी साहब आ गए। सोचा, आखिरी कोशिश करके देख ली जाए। मैं और पुरी साहब मोरारजी भाई के घर पहुंच गए। वे तो नहीं मिले, उनके बेटे कान्तिभाई से मुलाकात हुई। वे बहुत गरम हुए। बोले, "आपकी हिम्मत कैसे हुई सीधे मोरारजी भाई तक पहुंचने की, वे नहीं आएंगे। आपसे एक बार मना कर दिया। जाइए यहां से।" हमने बहुत विनय की। कहा, "कार्ड छपकर बंट भी चुके हैं। फिर हामी भरने के बाद न आना, कहां तक उचित है?" वे एक ही बात पर अड़े रहे। अब तो पुरी साहब को भी गुस्सा आ गया। वे बोले, "हमें नहीं पता था कि वित्त-मंत्री के पास जाने के लिए उनके बेटे के 'श्रू' जाना पड़ता है।" कहकर हम वापस आ गए। तब तक दो बज चुके थे। इस पसोपेश में मुझे तारकेश्वरीजी की याद हो आई। वे उस समय वित्त मंत्रालय में वित्त राज्य

मंत्री थीं। उनसे मेरी भेंट पत्रों के माध्यम से हुई थी। जब मैं 'धर्मयुग' में थी, तब अक्सर उनसे पत्र लिखकर लेख आदि मंगवाती थी। दिल्ली आकर उनसे व्यक्तिगत मुलाकात की। कई बार हम उनके घर पर जाकर उनसे मिले भी थे। कई बार वह हमारे घर भी साहित्यिक गोष्ठियों में आई थीं। हमने पाया कि वे बहुत ही सहृदय, संवेदनशील महिला हैं। एक ऊर्जा-सी उनमें सदैव बहती रहती है, जिससे वे हर किसी को बांध लेती हैं। सहज सरल किंतु, प्रखरता की मूर्ति। बहुत ही ग्लैमरस लगती थीं वे। संसद में तो वे 'ग्लैमर गर्ल' कहलाती ही थीं। पर केवल ग्लैमर ही उनकी पहचान नहीं था। वे बातों के सटीक जवाब संसद में भी और बाहर भी, इतनी तेजी-तराई से देती थीं कि सामनेवाला चुप होकर रह जाता था। हाजिरजवाबी में उनका जवाब नहीं था। हर प्रकार के सांस्कृतिक, साहित्यिक और बौद्धिक समारोहों में उर्दू शायरी के दो-चार शेर सुनाकर जान डाल देना, उनकी अपनी सिफत थी। इन सबके साथ-साथ वे एक सच्ची और मददगार मित्र थीं। मुसीबत में अपना कंधा दूसरों को सहारे के लिए देनेवाली। कभी कहीं एक शेर पढ़ा था, जो तारकेश्वरीजी को देखकर अक्सर मुझे याद हो आता था। शेर था :

हम सरे-राह लिए बैठे हैं एक चिनगारी
जिसका जी चाहे चराग अपना जला ले जाए
यूं तो हम कुठ देने के काविल ही नहीं हैं लेकिन
जो चाहे हमसे, जीने की अदा ले जाए।

और तारकेश्वरीजी जीने की यह अदा जानती थीं। उनके अंदर एक चिनगारी थी, जो उन्हें तो रोशन करती ही थी, हर उसको भी रोशन करती थी, जो उनके संपर्क में आता था।

मैंने तारकेश्वरीजी को फोन पर ही सारी बात बताई। यह भी बताया कि कांतिभाई नाहक नाराज हो गए। तारकेश्वरीजी ने धीरज दिया और बोलों, "आप मोरारजी भाई के यहां पहुंचिए, मैं आती हूं वहीं।" मैं और पुरी साहब तत्काल मोरारजीभाई की कोठी पर पहुंचे। तारकेश्वरीजी हमसे पहले ही पहुंच गई थीं। उन्होंने हमें वहीं कमरे में बुला लिया। मोरारजी भाई उस समय खाना खा रहे थे। सामने थाली रखी हुई थी, एक कटोरी में दही, एक कटोरी में दाल, थोड़ी हरी सब्जी, कच्ची हल्दी का एक टुकड़ा, थोड़ी उबली हुई मूंगफली और एक छुहारा, दो फुलके। बिलकुल सादा भोजन। भोजन कर वे अपने कमरे में चले गए। तारकेश्वरीजी भी पीछे-पीछे गईं। हम दम साधे बैठे रहे कि देखें क्या होता है! बार-बार नजर घड़ी की ओर जाती। ढाई बज चुका था। शाम को साढ़े चार बजे कार्यक्रम होना था। तारकेश्वरीजी ने मोरारजी भाई से क्या कहा, यह तो हमें नहीं मालूम, किंतु, कमरे से निकलते-निकलते, उन्होंने तेजी से जो कहा था, वह था, "मोरारजी भाई, यदि आज शाम को आप कार्यक्रम में नहीं आए तो, मैं आपकी देहरी कभी लांगूंगी नहीं।" और वे हमें साथ लेकर बाहर आ गईं।

इतनी बड़ी बात कहने का साहस तारकेश्वरीजी ही कर सकती थीं। ऐसी उनकी ही शख्सियत थी। हम कुछ उनसे पूछें कि उन्होंने कहा, “आप निश्चित होकर जाइए। मोरारजी भाई आएंगे, निश्चित रूप से आएंगे।” और मोरारजी भाई आए भी। राजधानी के जाने-माने साहित्यकार, संसद-सदस्य और साहित्यिक अभिरुचि के व्यक्ति वहां मौजूद थे। किसी को भनक तक नहीं थी कि उस शाम के पीछे क्या-क्या हंगामा हुआ। बाद में, एक बार जब तारकेश्वरीजी से पूछा कि वे मोरारजी भाई को कैसे मना पाई तो वे बोलीं, “आते कैसे नहीं? कितनी बार कैसी-कैसी लड़ाइयां मैंने उनके लिए संसद में और बाहर भी लड़ी हैं, ढाल बनके। वह इतना भी नहीं करते मेरे लिए?”

मोरारजी भाई उस शाम बहुत अच्छा बोले। उन्होंने कहा, “‘अंगजा’ नारी-जीवन के लिए निकल रही है, खास करके नारी-जीवन को समृद्ध करने के लिए—उद्देश्य बहुत ऊंचे हैं। मैं आशा करता हूँ कि इन उद्देश्यों को सामने रखकर ही ‘अंगजा’ का प्रकाशन हमेशा होता रहेगा। हर काम जो अच्छा होता है, उसको आशीर्वचन ईश्वर के मिलते हैं, और काम अच्छा नहीं होता है तो, कितने ही आशीर्वाद मिलें, उनका कोई मतलब रहता नहीं। परंतु शुभेच्छा मैं अवश्य देता हूँ क्योंकि, मैं मानता हूँ—हर नेक काम को शुभेच्छा देना मानव-धर्म है। खास करके ऐसे काम के लिए जो नारी जीवन को समृद्ध बनानेवाला है।

“आधुनिक जमाने में नारी-जीवन अपना सही स्थान ले, यह अत्यंत जरूरी है। अमल में वह आदर्श कहां सो गया है, मुझे पता नहीं। स्त्री और पुरुष के बीच में समानता और न्याय का व्यवहार होना चाहिए, जो हमें दिखाई नहीं देता। न केवल भारत में, सारी दुनिया में ही यह स्थिति है। आज भी स्विट्जरलैंड में स्त्रियों को मताधिकार नहीं है, हालांकि वह बहुत आगे बढ़ा हुआ देश माना जाता है। हमारे देश में हमने नया संविधान बनाया और स्त्रियों को बराबर का हक दिया, मगर वह तो कानून में है, व्यवहार में वह कहां, कितना आता है, यह मुझे पता नहीं, बल्कि बहुत कम आता मालूम पड़ता है। क्योंकि, क़ुरोवार तो सारा पुरुष के हाथ में रहता है और इसलिए जहां देखो, वहां पुरुष की महत्ता बढ़ाई गई है और स्त्री की महत्ता कम की गई है। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि स्त्री को ‘अबला’ कहकर सचमुच में अबला बना दिया गया है और इसी के जोर पर पुरुष उससे काम लेता रहा है। मगर इससे पुरुषों को फायदा होने के बजाए नुकसान ही हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ। ये सारी बातें मैं इसलिए कह रहा हूँ कि ‘अंगजा’ जो करना चाहती है, वह तभी हो सकता है, जब स्त्री-शक्ति जागे...मगर इसके लिए सबसे पहले आपको यह प्रचार करना होगा कि ‘अबला’ नाम गलत है। क्योंकि आखिर, शक्ति का स्वरूप ही स्त्री है। पुरुष और प्रकृति—इन दो को हम मानते हैं। प्रकृति स्त्री स्वरूपा है। पुरुष तो केवल साक्षी है और सब कुछ संचालन प्रकृति ही करती है। जब-जब हमें शक्ति की आराधना करनी होती है, तब-तब हम मंदिर में जाकर दुर्गा की पूजा करते हैं, काली की पूजा करते हैं, लक्ष्मी और सरस्वती की आराधना करते हैं, परंतु घर में ये सब देवियां हैं, जिनको हम

ठुकराते हैं, तो फिर ये देवियां आखिर; कैसे प्रसन्न हों? मगर, यह बेअकली का काम समाज में हो रहा है, उसको हमें बदलना होगा।

“पहले जमाने में जब सही तरीके से सोचा गया, तब हमारे ऋषि-मुनियों ने कहा, ‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।’ मगर बाद में जमाना गिरा और यह भी कहा गया कि स्त्री ताड़न की अधिकारी है। पुरुषों का लक्षण ताड़ना है, स्त्री का लक्षण सेवा है। मगर, ताड़न का फायदा उठाकर पुरुष सेवा ले लेता है। स्त्री सेवा तो करती ही रहती है, यह उसकी खूबी है। कुछ भी करो, वह कुछ न कुछ सेवा करती ही है, परंतु वह सेवा भी मजबूत करनेवाली बने। इसके लिए यह जरूरी है कि स्त्री की शक्ति जागृत हो और स्त्री निर्भय बने। घबराहट से सेवा हो तो उसका फल न सेवा करनेवाले को मिलता है और न सेवा लेनेवाले को। स्त्री को इसीलिए पुरुषों ने अपने कब्जे में रखा कि वह निर्भय नहीं है। वह निर्भय हो, तभी पुरुष के पशु-बल का विरोध कर सकती है और इसके लिए हमें महात्मा गांधी के बताए मार्ग पर चलना पड़ेगा। महात्मा गांधी एकदम कमजोर शरीर के थे, मगर दुनिया में उनके जैसा निर्भय पुरुष और कोई नहीं था। सबको उनके आगे सिर झुकाना पड़ता था। निर्भय में यह शक्ति है। यह भान आ जाए, तो स्त्री जागृत हो जाए और यह तभी होगा जब वह निर्भय बनेगी। जब तक स्त्री निर्भय नहीं है, तब तक समाज निर्भय नहीं है क्योंकि, आखिर जिससे नई पीढ़ी संस्कार लेती है, वह है माता। और जब तक माता निर्भय न हो, संस्कारी न हो, तब तक समाज संस्कारी कैसे बन सकता है?

“‘अंगजा’ के माध्यम से आप यह परिवर्तन ला सकती हैं। यदि यह परिवर्तन आप ले आई, तो मुझे बड़ी खुशी होगी। शुभेच्छा तो मैं देता हूँ और जरूर देता हूँ, मगर इसलिए नहीं देता हूँ कि यह फैशन की एक दूसरी पत्रिका बनकर रह जाए, क्योंकि फैशन में डालकर ही स्त्री का उपयोग पुरुष कर रहे हैं। गहनों का लोभ, बहाना बनाकर कुछ कह दिया, गहना दे दिया, खुश हो गई स्त्री। गहने में अगर इतना सुख होता है, तो पुरुष क्यों नहीं पहनता है गहना? पुरुष कहता है, गहना आपत्तिकाल में स्त्री के काम आता है। पर तब भी वह उसके काम नहीं आता, आता पुरुष के काम ही है। वह जब जी चाहता है, उसे ले लेता है।

“इन सारे ढकोसलों से स्त्री को ‘अंगजा’ बचाएंगी, तभी स्त्री बराबर होगी और शक्तिमान बनेगी—अन्यथा नहीं। स्त्री-शक्ति जागृत हुए बगैर भारत जागृत होनेवाला नहीं है—यह मैं मानता आया हूँ। आखिर, समृद्धि भी स्त्री ही है—समृद्धि कोई पुरुष नहीं है। पृथ्वी भी स्त्री है, दया भी स्त्री है, प्रीति भी स्त्री है, ये सब स्त्री हैं। क्रोध पुरुष है, गुस्सा पुरुष है, तामसी और राजसी जितनी चीजें हैं, सब पुरुष हैं। सात्विक जो है, वह केवल स्त्री है। यह रचना भी हमें देखनी चाहिए। यह सब हम बदल सकें, भारत में सही संस्कार ला सकें, तब तो हम आगे बढ़ सकते हैं और इसमें स्त्री का हिस्सा सबसे ज्यादा होना चाहिए। स्त्री को निर्भय पुरुष बनाएंगे, यह आशा करना ही गलत है। कोई किसी को

कुछ देता नहीं, मगर स्त्री शक्तिवान बन सकती है और वह जरूर बनेगी। मेरा तो विश्वास है कि वह बने बिना रहेगी भी नहीं।

“‘अंगजा’ स्त्री को निर्भय बनाने के काम में लगी रहेगी, तो मुझे बड़ी खुशी होगी। मैं तो ऐसा चाहता हूँ और आशा करता हूँ कि जिस उद्देश्य से शीला बहन ने ‘अंगजा’ को शुरू किया है, वह उद्देश्य परिपूर्ण होगा।”

हमने पूरा प्रयत्न किया कि मोरारजी भाई के आशीर्वाचन और शुभेच्छाओं के अनुरूप ही ‘अंगजा’ निकले। एक कोशिश, एक आशा, एक आकांक्षा लेकर ‘अंगजा’ निकली और छा गई। हमने ‘अंगजा’ के माध्यम से एक ऐसी पत्रिका की परिकल्पना की, जिसमें नए युग के परिप्रेक्ष्य में नारी-समस्याओं को सुरुचिपूर्ण एवं वैचारिक दृष्टि से देखा और परखा जा सके। नारी जो जननी भी है और प्रेयसी भी, ऐसी कुछ बने, जो पुरुष की दृष्टि को चकाचौंध कर दे—कला, साहित्य को अपने जीवन में समेटकर, नारी के सनातन नाम को सार्थक करे और साथ ही आधुनिक मानदंडों पर भी खरी उतरे।

‘अंगजा’ में मैंने सजाई देश-विदेश की उन विशिष्ट महिलाओं के बारे में जानकारी, जिनके मनोभावों से पाठक अभी तक अपरिचित रहे। परिचर्चाएं, जिनमें सामाजिक और पारिवारिक समस्याओं से संबंधित प्रश्नों पर प्रबुद्ध विचारकों के विचार रखे, जो सबका पथ-प्रदर्शन कर सकें। सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ ‘चढ़ती उम्र का चक्रव्यूह’ अर्थात्, किशोर-किशोरियों की समस्याएं। कल्पित भूलभुलैया में से रास्ता खोज निकालना आसान है। सामने रखे शब्द-चक्र में सही अक्षर रख देना भी मुश्किल नहीं। ताश, शतरंज और सांप-सीढ़ी के खेल मनोरंजन करते हैं, किंतु यौवन की सीढ़ी पर चढ़ते हुए ऐसे देखे-अनदेखे चक्रव्यूह सामने आते हैं कि हर दिशा से ऊपर ही वार होते हैं। लेकिन, एक संतुलित और निर्णयात्मक बुद्धि चक्रव्यूह में से निकलने का रास्ता भी बना देती है। इस रास्ते की जानकारी युवा पीढ़ी को ‘अंगजा’ ने दी। ढलती उम्र अपने आपमें एक भय है, डर है। इस उम्र की समस्याएं सबसे अधिक हैं। इस समस्या से भी ‘अंगजा’ ने अपनी आंखें नहीं मूंदीं। प्रत्येक देश की संस्कृति, वहां के उत्सव और त्यौहार हैं, संस्कृति के इस बहुरंगी रूप का दिग्दर्शन एवं सांस्कृतिक कथाओं और निष्ठाओं का परिचय भी नई पीढ़ी को ‘अंगजा’ ने कराया। गीत, कहानी, सौंदर्य और रूप-सज्जा में भी पाठिकाओं की दृष्टि अधुनातन रहे, इसलिए वे भी ‘अंगजा’ की शोभा बनीं। संक्षेप में, ‘अंगजा’ को गागर में सागर का प्रतिरूप बनाने की हमारी भरपूर कोशिश रही।

इसीलिए, ‘धर्मयुग’ जैसी पत्रिका के संपादक डॉ. धर्मवीर भारती को भी कहना पड़ा कि ‘भारतीय परिवार की समस्याओं को सुलझाने और भारतीय महिलाओं के विकास को समुचित निर्देश देने की दिशा में ‘अंगजा’ ने संतुलित नीति अपनाई है। हमारे भारतीय जीवन के परंपरागत सौंदर्य की रक्षा करते हुए भी हानिप्रद रूढ़ियों का इसमें समर्थन नहीं किया गया है। साथ ही साथ किशोर पीढ़ी के संतुलित विकास को भी ध्यान में रखा गया

है।" अमृतलाल नागर ने कहा, " 'अंगजा' श्री-संपन्न सर्वांग सुंदरी है।" तारकेश्वरीजी ने कहा, "आज की जागरूक नारी की बौद्धिक जरूरतों को पूरा करने में 'अंगजा' ने एक महत्वपूर्ण रोल अदा किया है। राष्ट्रभाषा हिंदी में निकलनेवाली यह पहली नारी-पत्रिका है, जिसने मेरा मन मोह लिया है।"

देवेन्द्र सत्यार्थी ने लिखा, "इतना बढ़िया गेट-अप और इतनी बढ़िया सामग्री। इस तरह का तालमेल आज की कमर्शियल दुनिया में दुर्लभ है।" नवभारत टाइम्स ने लिखा, "अब तक हिंदी में महिलाओं के लिए कोई ऐसी पत्रिका नहीं थी, जिसे उस कोटि में रखा जा सके, जिस कोटि में वह निश्चित रूप से श्रेष्ठ कहलाने की अधिकारिणी बने। 'अंगजा' के प्रकाशन ने इस प्रश्नवाचक को भी समाप्त कर दिया है और अब एक ऐसी पत्रिका हमारे सामने है, जिसे निर्विवाद रूप से अपने विषय विशेष की एकमात्र पत्रिका कहा जा सकता है।"

'अंगजा' का संपादन अनेक परेशानियों के बीच हुआ। मुद्रण की अंतिम अवस्था में तो मुझे मां से भी अधिक प्रिय अपनी देवोपमा सास को खोकर व्यक्तिगत क्षति भी उठानी पड़ी। इतनी परेशानियों में भी अम्माजी की सेवा में मैंने कोई कमी नहीं आने दी थी। विलिंगडन अस्पताल में 'कोमा' में जाने के पहले उनके शब्द थे, "तुमने मेरी खूब सेवा की, अब कोई इच्छा बाकी नहीं। ईश्वर करे तुम खूब फलो-फूलो।"

'अंगजा' का सारा काम घर से ही होता था। हमारे पास न तो क्लिपिंग की कोई सुविधा थी और न ही कोई स्टाफ था। संपादन का सारा काम 'काम के आधार पर भुगतान' के रूप में होता था। प्रूफ-रीडिंग तो हम स्वयं ही कर लेते थे। हां, आर्टिस्टों को पकड़ने में बड़ी मुश्किलें आती थीं। आर्टिस्ट वैसे ही मूडी होते हैं, पकड़ में आ गए तो आ गए, नहीं तो आप लगातार उन्हें खोजते रहें, वे आपको वायदे करके भी गायब हो जाएंगे। उनको दोष भी नहीं दिया जा सकता क्योंकि, अपने-अपने स्थायी कामों में वे व्यस्त रहते थे। फिर भी, हमने कुछ अच्छे आर्टिस्टों को पकड़ ही लिया, जो ले-आउट, इलस्ट्रेशन में हमारी मदद करते थे। हरिपाल त्यागी, हमदम, सुकुमार चैटर्जी-जैसे कलाकारों से सहयोग मिला। हमदम को मैंने पूरी मैगजीन के इलस्ट्रेशन का काम दिया। उस दौर में तो यह हाल था कि हमदम साहब पकड़ में आ गए, तो उन्हें रात-भर घर पर ही बिठाया। उनके खाने-पीने, चाय-पानी का बंदोबस्त किया। और सुबह जब उन्होंने काम खत्म कर दिया, तब ही पेमेंट उन्हें हाथ के हाथ दिया। बाकी लोगों का सहयोग भरपूर मिला, इस दृष्टि से कि 'पंच्युलिटी' से उन्होंने काम किया।

'अंगजा' में सभी बड़े स्तर के लेखकों जैसे, अमृता प्रीतम, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, कमलेश्वर, जैनेन्द्रजी आदि से जब रचना मांगी गई, तब किसी ने निराश नहीं किया। उसी प्रकार नये और उभरते लेखक-लेखिकाओं को भी पूरा प्रोत्साहन दिया गया।

लेखकों, कवियों के पारिश्रमिक में हम लोगों ने कभी कटौती नहीं की। किंतु, फंड की कमी थी। यह भी डर रहता था कि सेंट्रल न्यूज एजेंसी के मालिक पुरी साहब ज्यादा खर्चा देखकर कहीं डर न जाएं और प्रकाशन ही बंद कर दें तो हमारा शौक अकस्मात् दम तोड़ देगा। जगहंसाई का भी डर था कि 'बड़े चले थे पत्रिका निकालने, बीच में ही, कुछ कदम चलकर धराशायी हो गए।'

उन दिनों तो यह आलम रहता कि हमारा घर चारों तरफ कागजों के ढेर से भरा रहता। दाद दूंगी, मैं अपने पति ठाकुर को, उन्होंने कभी इस पर गुस्सा नहीं किया कि यह क्या फैला रखा है। आम पति तो अपनी दिनचर्या में थोड़े से ही परिवर्तन से भड़क उठते हैं, पर ठाकुर ने पूरा सहयोग दिया। और देते भी क्यों नहीं? यह आग भी तो उनकी ही लगाई हुई थी, जो अब मेरी भी आदत और शौक बन गई थी!

दिल्ली में बंबई-जैसा साहित्यिक माहौल तब तक हमारा बना नहीं था और धर्मवीर भारती, मोहन राकेश-जैसे मित्र भी नहीं जुटे थे, जिनकी जिंदादिली, नॉक-झोंक, हाजिरजवाबी जिंदगी की गाड़ी को एक खुशनुमा रंगीनी से भर देती, इसलिए अक्सर हमारी शामें मलिक साहब के हरध्यानसिंह रोड के प्रेस में ही गुजरतीं। ठाकुर के आफिस से आने के बाद हम चारों यानी मैं, ठाकुर, रामपाल और कृष्णाजी प्रेस पहुंच जाते। कई बार प्रूफ मिलने में देर हो जाती तो, वहीं मलिक साहब के घर पर बैठक लग जाती। मलिक साहब के पास हजारों चुटकले थे। उन्हें सुनाकर वे हम लोगों की थकावट दूर कर देते। प्रेस के लोगों की गुप्तगू, काम करने का ढंग, उनसे कैसे काम लिया जाए—यह सब मैंने इसी दौरान सीखा। 'अंगजा' के लिए हम पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर, सब कुछ थे। केवल मैटर जुटाना, उसे संवारना ही हमारा काम नहीं था, बल्कि सक््युलेशन का काम भी देखना पड़ता था। वैसे, इस क्षेत्र में पुरी साहब की पूरी मदद थी। यही कारण था कि एक वर्ष की होते-होते 'अंगजा' का सक््युलेशन दस हजार तक पहुंच गया।

अब हमने महसूस किया कि 'अंगजा' का आफिस होना चाहिए। बहुत हो गया घर से काम करते-करते। कुछ दिन तो मलिक साहब के घर में ही एक कमरा छत पर मिल गया। पर बहुत दिन वैसा नहीं चला। अंततः जंगपुरा एक्सटेंशन में एक कमरा किराये पर लिया। अच्छा साफ-सुथरा फ्लैट था—पहले माले पर। उन्हीं दिनों बंबई से मनहरजी ने स्वामीशरण 'स्वामी' को भेजा हमारे पास कि उनकी कहीं नौकरी लगवा दें। बस, उन्हीं को हम लोगों ने प्रूफ-रीडर के तौर पर रख लिया। एडिटिंग का कार्य रामकुमार भ्रमर को सौंप दिया और मैगजीन की सामग्री की ओर ज्यादा ध्यान देना शुरू किया। इस सारे दौरान मुझे या कृष्णाजी को एक पैसा भी 'अंगजा' से नहीं मिला। कई बार मुझे और कृष्णाजी दोनों को ही लगता कि भई, मेहनत तो चली, हम पूरी कर ही रहे हैं, अभी तक घर से भी पूरा पैसा लगता रहा है, क्योंकि, आफिस घर में था—लोगों का आना-जाना लगा ही रहता था, इसलिए खर्च भी होते थे। किंतु, अब जब आफिस बाकायदा हो गया है, तब कम से कम आफिस आने-जाने का स्कूटर का किराया तो मिलना ही चाहिए। सेंट्रल न्यूज

एजेंसी से तनखाह की तो कोई गुंजाइश दिखती नहीं थी। पुरी साहब भी तो केवल पत्नी का शौक पूरा करने के लिए पत्रिका निकाल रहे हैं। फिर जब लेखकों को पारिश्रमिक देते हैं, तब हमारे लिए भी, इतना तो कर ही सकते हैं!

ऐसी बातों पर ठाकुर मेरे ऊपर बहुत गुस्सा होते। उन्हें तो बस, काम और काम में लगे रहना ही पसंद था। पैसे के प्रति उन्हें तनिक भी मोह नहीं था। वे वर्तमान में ही जीना जानते थे, भविष्य की उन्होंने न कभी चिंता की और न ही कोई योजना बनाई। सब काम में लगे हैं, गृहस्थी की गाड़ी ठीक चल रही है—बस, इतने भर से ही वे सदैव संतुष्ट रहे। इस गाड़ी को चलाने में, घर और बाहर का तालमेल बैठाने में और सामाजिक, पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह करने में मेरे ऊपर कितना बोझ पड़ रहा है, इस बारे में वह कभी चिंतित नहीं हुए और न ही मैंने कभी उनसे इस बारे में कोई शिकायत की। किंतु, जब आर्थिक तंगी आई, तब मैंने कहा कि आफिस आने-जाने का, कम से कम कन्वेंस का, खर्चा तो मिलना ही चाहिए।

बहुत डांट पड़ी मुझे, “तुम्हें तो बस, पैसे की ही पड़ी रहती है।” मानती हूं उस दौर में मेरी मजबूरी थी, यह प्रस्ताव रखने की। बच्चे छोटे थे, पारिवारिक कठिनाइयां थीं, कितना भी जोड़-तोड़ करो, बजट फेल हो ही जाता था। मेरी अपनी कोई जरूरतें नहीं थीं। फिर भी दिन-प्रतिदिन स्कूटर का खर्चा निकालना भी तो मुश्किल था। खैर, कई महीने तो किसी तरह चलता रहा किंतु, इस बात पर जब हम लोगों ने जोर दिया, तब इनकी मर्जी के बगैर यह प्रस्ताव पुरी साहब के सामने रखा गया कि कम से कम ‘कन्वेंस एलाउंस’ तो हमें मिले। अंततः यह समस्या हल हो गई।

‘अंगजा’ ढाई वर्ष निकली और खूब चली। पुरी साहब की पत्नी अब मां बन चुकी थीं और अपनी गृहस्थी में रम गई थीं। ‘अंगजा’ के प्रति अब उन्हें कोई चाव नहीं रह गया था। पुरी साहब भी हर माह विज्ञापन जुटाने और बढ़ते संपादकीय और प्रकाशन संबंधी खर्चों से परेशान थे। इस कारण सोचने लगे कि अब इसका प्रकाशन बंद ही कर दिया जाए। वास्तव में, पुरी साहब का कमीशन संबंधी व्यापार था। पुस्तक और पत्र-पत्रिकाओं के वितरण का काम अधिक पूंजी की मांग भी नहीं करता है और परिश्रम व पूंजी का तत्काल फल भी मिल जाता है जबकि, पत्रिका निकालने में शुरू में अपना पैसा लगता ही लगता है। प्रकाशन के सौ खर्च, लेखकों के पेमेंट, आदि तो करने ही पड़ते हैं। पत्रिका चल गई, विज्ञापन बराबर आते रहें, तो बाद में कहीं जाकर फायदे नजर आते हैं। विज्ञापन लाने के लिए अलग से एक व्यक्ति रखना पड़ता है, सर्कुलेशन के लिए अलग से, पूरी टीम खड़ी करनी पड़ती है और इस सबमें पैसा लगता है। प्रारंभ में तो ये सब काम हम ही कर लेते थे। मांग के साथ-साथ ये सब जरूरतें ऐसी हो गई कि उन्हें पूरा किये बगैर गाड़ी रफ्तार नहीं पकड़ सकती थी। उस बिंदु पर जब कि लंबी उड़ान की सारी तैयारी हो चुकी थी, एक ग्राउंड बन गया था, पुरी साहब हतोत्साहित हो गए। वह कर्मंद जिसके

सहारे एक सपने का ताना-बाना बुना गया था, बीच में ही टूट गई और अनेक पत्रिकाओं की तरह 'अंगजा' भी बंद हो गई। अगर, वह निकलती रहती तो पुरी साहब को अवश्य अपनी लगाई पूंजी का रिटर्न मिलता, पर ईश्वर को यह मंजूर नहीं था। सभी ने कहा कि पत्रिका निकली, खूब निकली। आफसेट में छपी। देश के सभी श्रेष्ठ लेखकों ने रचनाओं से भरपूर सहयोग दिया। रचनाओं की कमी नहीं थी। पर आर्थिक तंगी के बारे में तो हम कुछ कर नहीं सकते थे। 'भाया', 'मनोहर कहानियां' के प्रकाशक आलोक मित्रा ने एक बार मुझसे कहा, " 'अंगजा' जैसी महिला पत्रिका इस समय कोई दूसरी नहीं है। उसे देखकर ही मेरे मन में 'मनोरमा' पत्रिका निकालने का इरादा बना।" मेरे लिए यह बात बड़ी संतुष्टि की थी।

फिरोजशाह रोड के घर में रहते-रहते एक वर्ष होने चला था। इसी बीच खान मार्केट के समीप रवींद्रनगर में सरकारी फ्लैट मिल गया और हम लोग वहां रहने चले गए। रवींद्रनगर का घर भी कलाकारों की भीड़ से घिरा रहने लगा।

इसी समय कथक के जाने-माने आचार्य कृष्णकुमारजी से भेंट हुई। उनके स्वर्गवासी पिता महाराज कृष्णगोपाल भी कथक के आचार्य थे और उनके पचासों शिष्य-शिष्याएं थीं। महाराज कृष्णकुमार की आयु जब डेढ़ वर्ष की थी, तभी उनके पिता का स्वर्गवास हो गया था। उनके पिता की एक शिष्या हीराबाई पटियालावाली थीं। गुरु के परिवार के संकट की खबर पा, वह लाहौर जाकर बालक कृष्णकुमार को अपने साथ पटियाला ले आई और उन्हें नृत्य की शिक्षा देने लगीं। वहां से कृष्णकुमारजी अपने ताऊ हनुमानप्रसाद के साथ दिल्ली आ गए। उनके पिता महाराज कृष्णगोपाल के एक और शिष्य आशिक हुसैन उन दिनों फिल्म-जगत के माने हुए हीरो थे। उन्हें जब यह खबर लगी कि उनके गुरु-पुत्र कृष्णकुमार अपने ताऊ हनुमानप्रसादजी के पास दिल्ली में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और अपनी कला में निष्णात हैं, तो वे दिल्ली आकर कृष्णकुमार को बंबई ले गए। उस समय कृष्णकुमार की आयु ग्यारह-बारह वर्ष की थी। यह थी हमारी सांस्कृतिक विरासत—गुरु-शिष्य परंपरा, जो भारत में अनादि काल से चली आ रही है लेकिन अब दूसरी परंपराओं की तरह, यह भी टूटने लगी है।

बंबई में जगह-जगह भटकने के बाद कृष्णकुमारजी बरेली पहुंचे, जहां उन्होंने आस्था और विश्वास के साथ एक नया जीवन शुरू किया। सुबह होते ही जंगलों में निकल जाना, नृत्य की साधना करना। टीपरीनाथ मंदिर की शिव-मूर्ति में उन्होंने नटराज का रूप देखा। हर दिन मंदिर में ही वे आठ-दस और बारह घंटे नृत्य का रियाज करते, नागा बाबाओं की संगत में घूमते। यहीं से उन्हें एक-दूसरे के प्रति स्नेह, आदर एवं संघर्षों से जूझते रहने की प्रेरणा मिली। हीराबाई से उन्हें कठिनाइयों के बीच मुस्कराते रहने की कला, अदब और लिहाज की शिक्षा मिली और इसी से वे जीवन को सही अर्थों में समझ सके।

उनकी यही खूबियां, नागा बाबाओं—जैसा फक्कड़पन, बेलौस स्वभाव ठाकुर को रिझा

गया। ठाकुर का कलाकार-मन कृष्णकुमार का इतिहास सुनकर द्रवित हो गया कि कैसे विरजू महाराज के साथ भारतीय कला केंद्र में प्रमुख भूमिकाएं करने के बावजूद वह स्वाभिमान की कलाकार वहां टिक नहीं सका। कृष्णकुमार के इसी स्वाभिमान ने हमें प्रभावित किया। ठाकुर ने देखा कि उनमें अमित प्रतिभा है। भावों की अभिव्यक्ति में उन्हें सिद्धहस्तता प्राप्त है। जटिल से जटिल मनोभाव को मुख-मुद्राओं से दर्सा सकना उनकी खासियत है। विहारी का एक दोहा :

कहत, नटत, रीझत, खिजत, मिलनि कहत लजियात।

भरे भौन में करत हैं नैननु ही सौं वात।।

बहुत साफ अर्थ हैं इसके। किंतु, उस दिन जब कृष्णकुमारजी ने अपने मुख-मुद्राओं के प्रदर्शन के द्वारा इन पंक्तियों को मुखरित किया तो मुखकृति की वारीकियां, नजर के अंदाज और अबोले बोलों की सार्थकता चेहरे पर कैसे गंगा-जमुनी रंग बिखेर देती है, इसका अहसास पहली बार हुआ हम लोगों को।

और उसी समय हम लोगों ने सोचा कि हिंदी के प्रतिष्ठित कवियों के गीतों पर अभिनय के प्रयोग किये जाएं। महाराज कृष्णकुमारजी का कहना था कि आज जब कथक कलाकार अपने साथ झांझर, मंजीरे, गायक, सितार-वादक, वायलिन-वादक लेकर चलता है, तो वह अपने रियाज की कमजोरी छिपाना चाहता है। वही पुराने तराने, वही छोटे-छोटे कथानक जैसे, द्रोपदी चीर-हरण, माखन-लीला आदि की मंच-प्रस्तुति को ही वह अपने कलाकार-जीवन की सार्थक उपलब्धि मान लेता है।

कृष्णकुमारजी को हमारे प्रस्ताव में लीक से हटकर कुछ नया करने का अवसर दिखा और फिर हमारे घर ही 'काव्य-संध्या' के रिहर्सल शुरू हो गए। पहली बार हिंदी के आधुनिक कवियों के गीतों पर कथक के भाव-नृत्यों का संयोजन किया गया। हिंदी के प्रसिद्ध गीतकार भारत भूषण के प्रसिद्ध गीत—'मेरे आंगन के गुलाब' को राजकमल के संगीत-संयोजन में जब कमानी थियेटर के मंच पर प्रस्तुत किया गया तो धूम मच गई। बाद में यह 'काव्य-संध्या' बंबई में भी हुई।

प्रसिद्ध गीतकार रमानाथ अवस्थी के गीत—'भीड़ में भी रहता हूं वीरान के सहारे, जैसे कोई मंदिर, किसी गांव के किनारे' को नृत्य और भाव के माध्यम से इस कुशलता से पिरोया गया कि शब्द मोती की लड़ियां बन गए। अनेक शहरों में 'काव्य-संध्या' के प्रदर्शन हुए और सुधी दर्शकों द्वारा कथक के ये नये प्रयोग खूब सराहे गए। सबसे अधिक चर्चित हुआ 'घुँघरू की तरह बजता हूं बजता ही रहूंगा मैं' पर आधारित नृत्य, जिसमें पद-संचालन के कौशल और तत्कार के कमाल ने दर्शकों को भाव-विभोर कर दिया। हरिवंशराय बच्चन की 'मधुशाला' का वह अंश, छायांकन और नृत्य के द्वारा कुशलतापूर्वक दिखाया गया, जहां कुम्हार के माध्यम से बताया गया है कि ईश्वर कैसे अपने बंदे बनाता है—कोई रूपवान है तो कोई विकलांग भी है, अनगढ़ भी है, तो दोष उसका नहीं बनानेवाले का है।

इसके बाद सिलसिला शुरू हुआ नृत्य-नाटिकाओं का। एक के बाद एक कई नृत्य-नाटिकाएं लिखी गईं जैसे, 'हाड़ा रानी', 'उमर खैयाम', 'बेटी हिंदुस्तान की' आदि। सभी बहुत सराही गईं। इन सभी कार्यक्रमों में ठाकुर का निर्देशन, मेरी स्क्रिप्ट और महाराज कृष्णकुमार का नृत्य-निर्देशन रहता। इन नृत्य-नाटिकाओं द्वारा उभरते कलाकारों को एक प्लेटफार्म मिल गया, जहां वे अपनी कला का निखार दिखा सकें। इन कलाकारों में दुर्गालाल, चरण गिरधर, तुलसी और मदनलाल प्रमुख थे। ये सभी भारतीय कला केंद्र में काम करते थे परंतु, खाली समय में इनकी टोली जम जातो दो नंबर तिलक मार्ग की विष्णुहरि डालमिया की कोठी में, जहां रिहर्सल आदि करने की अनुमति उन्होंने दे दी थी। इसी कोठी से दुर्गालाल की बारात भी निकली थी, जिसमें ठाकुर अपने पद की गरिमा को नजरअंदाज कर पूरे कलाकार-मन से नाचते हुए शामिल हुए थे। उस समय क्या, कभी झूठा दंभ उन्हें नहीं हुआ कि वे भारत सरकार के एक उच्च पद पर आसीन अधिकारी हैं। उनकी इन्हीं अदाओं से वे कलाकारों के आदरणीय चहेते 'भाई साहब' और मैं 'भाभीजी' बन गईं, जिनके पास वे अपनी सब परेशानियां लेकर कभी भी, किसी भी समय आ सकते थे।

यहीं हमने कलाकारों के दुख-दर्द को नजदीकी से देखा और हर संभव प्रयत्न किया कि उनके दर्द, उनकी वेदना को बांट सकें। कलाकार अपने जीवन में पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक परेशानियों से इतना घिरा रहता है कि अच्छे से अच्छा कलाकार अंततः टूट जाता है और फिर अपनी कला में समझौते करने को विवश हो जाता है। दोष हम कलाकारों को देते हैं, पर यह तथ्य अनदेखा कर देते हैं कि वह भी विवशता के घेरे में घिरा है। यह बात हमने शिद्दत से तब महसूस की जब प्रत्यक्ष रूप से इसका सामना हुआ।

एक बार 'उमर खैयाम' नृत्य-नाटिका का प्रदर्शन बंबई के बिड़ला मातुश्री सभागार में हुआ। अनेक साहित्यकार, कलाकार, फिल्मी हस्तियां वहां मौजूद थे। डॉ. धर्मवीर भारती भी आए थे। नृत्य-नाटिका बहुत खूबसूरत थी—एक-एक गाना और नृत्य नगीने की भांति था। भारतीजी ने, खुशवंतसिंहजी से जो उन दिनों 'इलेस्ट्रेटेड वीकली' के संपादक थे, 'उमर खैयाम' का जिक्र किया और तारीफ की। कुछ समय बाद खुशवंतसिंहजी बरेली गए। वहां उन्होंने देखा कि 'उमर खैयाम' का प्रदर्शन किसी हाल में हो रहा है। भारतीजी ने बड़ी तारीफ की थी, सो खुशवंतसिंह हाल में घुस गए। पर 'उमर खैयाम' नृत्य-नाटिका देखकर उन्होंने निसर पीट लिया। वापस आकर भारतीजी से बड़े नाराज हुए कि नाटक एक शाम खराब हुई। ऐसा घटिया प्रदर्शन था। हम लोगों ने कृष्ण महाराज से पूछा। वे बोले, "साहब, जितना गुड़ डालोगे, मीठा उतना ही तो होगा। ढाई हजार रुपये में भी 'उमर खैयाम' करता हूँ, पांच हजार में भी और पच्चीस हजार में भी। अब खुशवंत सिंह साहब ने ढाई हजार रुपये वाला 'उमर खैयाम' देखा होगा। हमारे सारे तर्क निरर्थक हो गए कि इस तरह स्तर नहीं बनता, पर उनका यही कहना रहा कि साहब स्तर देखें कि पेट देखें? इतने लड़के आते हैं, उनकी मजबूरियां न देखें कि बिना काम के वे निराश बैठे हैं?"

हमें इतने से ही संतोष करना पड़ा कि ऐसे नाटकों में वे आगे से हमारे नाम का प्रयोग नहीं करेंगे।

वैसे तो, मैं काफी व्यस्त रहती थी। ठाकुर की नृत्य-नाटिकाओं के रिहर्सल रात देर तक चलते थे पर मेरा लेखन बंद हो गया था। 'अंगजा' बंद हो गई थी। 'धर्मयुग' पीछे छूट गया था। पत्रकारिता के बारे में मैंने महसूस किया था कि वह नौकरी नहीं होती, एक मिशन होती है। *लाख कसमें खाओ, गालिब छुटती नहीं है मुंह से ये काफिर लगी हुई।* पत्रकारिता का नशा मन को बेचैन किये रहता। इतिफाक से उन्हीं दिनों पता चला कि हिंदुस्तान टाइम्स द्वारा प्रकाशित 'कादम्बिनी' मासिक पत्रिका में सहायक-संपादक का स्थान खाली है। 'कादम्बिनी' का प्रारंभिक प्रकाशन बालकृष्ण राव के सुयोग्य संपादन में इलाहाबाद के लीडर प्रेस से हुआ था। वे 'लीडर' के संपादक स्वनामधन्य पत्रकार स्व, सी. वाई, चिंतामणि के पुत्र थे। बालकृष्ण राव आई. सी. एस. (भूतपूर्व) अधिकारी होने के साथ प्रख्यात पत्रकार और लेखक भी थे। 'लीडर' की स्थापना मदनमोहन मालवीय एवं महात्मा गांधी ने की थी, लेकिन बाद में उसे सुचारु रूप से चलाने की जिम्मेदारी घनश्यामदासजी विड़ला ने ले ली। 'कादम्बिनी' हिंदी की सर्वाधिक लोकप्रिय डाइजेस्ट थी, जिसे बाद में हिंदुस्तान टाइम्स इलाहाबाद से दिल्ली ले आया।

तब हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस कस्तूरबा गांधी मार्ग पर नहीं था, न ही उसकी अठारह मंजिली इमारत थी। तब वह कनाट प्लेस के आउटर सर्किल में, जहां आज कस्तूरबा गांधी मार्ग खत्म होता है, वहां पर था। मेहराबोंवाली उस बिल्डिंग में आज मर्केन्टाइल बैंक है और पीछे की ओर देहली टूरिज्म का आफिस तथा पोस्ट आफिस है। इस बिल्डिंग में उन दिनों नीचे प्रेस था, पहले माले पर दैनिक हिंदुस्तान का आफिस था और यहीं 'कादम्बिनी' का आफिस भी था जो, बाद में कनॉट हाउस में आ गया। हिंदुस्तान टाइम्स के जनरल मैनेजर साहीजी थे। वे ऊपर की मंजिल में रहते थे। जब मैंने 'कादम्बिनी' के सहायक-संपादक की जगह के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा तो शीघ्र ही इंटरव्यू का बुलावा आ गया। 'धर्मयुग' और 'अंगजा' का अनुभव काम आया। 'अंगजा' के प्रकाशन का अनुभव अपने आपमें एक बड़ा अनुभव था क्योंकि, वहां बिल्कुल शून्य से शुरू करके अंत तक की सभी प्रक्रियाओं का अनुभव मिला था।

नियत समय पर मैं साहीजी के कमरे में पहुंची। साहीजी का दबदबा हिंदुस्तान टाइम्स में बहुत था। सुना था, बड़े कड़क स्वभाव के व्यक्ति हैं। लोग उनसे बहुत डरते थे। जब वे ऊपर की मंजिल से उतरते थे, तो रास्ता पहले ही खाली करवा दिया जाता था। टाइम-कीपर की यह झूठी होती थी कि रास्ते में जीने पर से जब तक साही साहब उतर न जाएं, तब तक किसी को भी नहीं जाने दिया जाए। अगर कोई भूल से मिल भी जाता तो आंखें नीची कर खड़ा हो जाता था। उनसे कोई आंखें मिलाकर बात नहीं कर सकता था। जाहिर था कि साही साहब का रौब और रुतबा मुझे कुछ आतंकित करता। 'कादम्बिनी'

की पोस्ट विज्ञापित नहीं हुई थी। 'कादम्बिनी' के संपादक राजेन्द्र अवस्थी हमारे मित्र थे। उन्हीं से पता चला था कि सहायक-संपादक का पद रिक्त है और मैंने सीधे जनरल-मैनेजर को प्रार्थनापत्र लिख दिया था।

खैर, मैं साहीजी के कमरे में पहुंची और पहली बार साहीजी को देखा, भारी-भरकम डील-डौलवाले व्यक्ति जो, कमरे में भी काला चश्मा लगाये बैठे थे। मुझे देखकर गंभीर आवाज में मेरी योग्यताओं के बारे में पूछने लगे। सब कुछ सुनने के बाद उन्होंने कहा कि हिंदुस्तान टाइम्स में वे महिलाओं को अधिक रखने के पक्षधर नहीं हैं। मैंने पूछा, "क्यों? ऐसा किसलिए?" साहीजी बोले, "एक बार बहुत झंझट हो गई थी, दैनिक हिंदुस्तान में, बहुत पहले, इसीलिए अब महिलाओं को नहीं रखते।" या तो वे मुझे टालना चाहते थे, या वास्तव में ही कुछ अघटित हो गया होगा। मैंने फिर कहा, "अंग्रेजी साइड में तो महिलाएं काम कर रही हैं।" साहीजी का उत्तर था, "हां, पर हिंदी विभाग के लिए हमने पालिसी बना ली है।" मेरे अंदर का विद्रोह, जो हर अनुचित बात पर जागृत हो उठता था, मुखर हो उठा। मैंने कहा, "साहीजी, आप लिखकर दे दीजिए कि आप मेरी नियुक्ति इस कारण नहीं कर रहे हैं क्योंकि, मैं महिला हूँ।" साहीजी मुझे देखते ही रह गए। इस तरह तो शायद, उनसे पहले कभी किसी ने बात नहीं की थी। उनकी तयारियां चढ़ गईं, जिन्हें देखकर मुझे लगा कि मेरी दाल गलनेवाली नहीं है। मैं तत्काल उठ खड़ी हुई, नमस्ते की और बाहर आ गई।

दो-तीन दिन बाद ही हिंदुस्तान टाइम्स से 'कादम्बिनी' के सहायक-संपादक पद पर मेरी नियुक्ति का पत्र आ गया। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने तो उम्मीद ही छोड़ दी थी। जैसे किस्से साही साहब की कठोरता के बारे में सुने थे, उससे तो लगता था अब हिंदुस्तान टाइम्स में पैर रखना नामुमकिन है। बाद में, जब मैं आफिस जाने लगी और कुछ समय बीत गया, तब कई लोगों से पता चला कि साही साहब जैसे दिखते हैं, वैसे हैं नहीं। बाहर से बादाम की तरह कठोर हैं, अंदर से गिरी की तरह नरम। उनमें एक विलक्षण प्रतिभा थी कि जिस किसी भी आदमी से वह एक बार मिल लेते थे, उसे दोबारा किसी शादी-ब्याह या उत्सव में, यदि वह आमंत्रित होता और उन्हें मिल जाता, तो तुरंत पहचान लेते थे और बड़ी ही आत्मीयता से उसका एवं उसके परिवार का कुशल-क्षेम पूछते थे। अनायास किसी पर नाराज भी नहीं होते थे। एक बार एक फिल्म के पहले शो का पास, विशेष आमंत्रितों में, साही साहब को भेजा गया। पास टाइम-कीपर के पास आया, और टाइम-कीपर स्वयं साही बनकर सिनेमा में जा बैठा। बाद में साही साहब भी पहुंच गए, तो गेट-कीपर ने पूछा कि हिंदुस्तान टाइम्स में कितने जनरल मैनेजर हैं? साही साहब ने कहा, "क्यों, क्या और भी कोई आया है?" उसने इशारे से बताया कि 'वे साही साहब बैठे हैं।' साही साहब ने देखा, टाइम-कीपर ओमप्रकाश आहूजा बैठा था। साही साहब चुपचाप वापस लौट आए। दूसरे दिन आहूजा को उन्होंने आफिस में बुलाया और पूछा तो उसने माफी मांगी और रोने लगा। साही साहब ने कहा, "अरे भाई, जब कहीं जाने

का जी चाहे, तो बता दिया करो।”

साही साहब को अपने कर्मचारियों के स्वास्थ्य और आर्थिक स्थिति की इतनी चिन्ता रहती थी कि उन्होंने व्याजखोरों से बचाने के लिए हिंदुस्तान टाइम्स को-आपरेटिव सोसाइटी की नींव रखी और पहला शेयर स्वयं खरीदा। उनके बारे में मशहूर था कि जब किसी की नियुक्ति करते तो उसे यह बताना नहीं भूलते थे कि हिंदुस्तान टाइम्स में क्या-क्या खूबियां हैं। हिंदुस्तान टाइम्स में सभी को लंच-टाइम में एक गिलास दूध, चने की दाल का पैकेट और केला ‘सबसिडाइज रेट’ पर मिलता था। यदि नियुक्ति पानेवाला उनसे कहता कि साहब तनखाह कम है, तो उनका जवाब होता “क्यों? तनखाह के साथ दूध और केला, दाल का पैकेट भी तो मिलता है!” कुल मिलाकर वे एक सहृदय व्यक्ति और कुशल प्रबंधक थे।

‘कादम्बिनी’ का आफिस मुख्य इमारत में न होकर कनॉट सर्कस में स्थित कनॉट हाउस में जहां बिन्नी का शोरूम है वहीं, पहले माले पर था। यहां पर हम कुछ ही दिन रहे कि हिंदुस्तान टाइम्स की अपनी बहुमंजिली इमारत कस्तूरबा गांधी मार्ग पर बनकर तैयार हो गई। सबसे पहले इस बिल्डिंग में ‘कादम्बिनी’ ने ही शिफ्ट किया। उन दिनों संपादक के अलावा सहायक-संपादक को अलग से कोई केबिन नहीं मिलता था। हाल में ही, सबके साथ बैठना पड़ता था। मेरे लिए यह कोई नई बात नहीं थी। बंबई में ‘धर्मयुग’ के आफिस में भी, हाल में ही सबके बैठने की व्यवस्था रहती थी। ‘कादम्बिनी’ का स्टाफ बहुत अच्छा था। स्टाफ में थे...दुर्गाप्रसाद शुक्ल, कृष्णचंद शर्मा और विजयसुंदर पाठक। चित्रकार जगदीश जोशी के सी. बी. टी. में चले जाने के बाद सुकुमार चैटर्जी चित्रकार के रूप में आ गए। चैटर्जी नेशनल गैलरी ऑव माडर्न आर्ट में क्यूरेटर थे। ‘कादम्बिनी’ का वातावरण बहुत अच्छा था। सभी हिलमिल कर रहते थे। मासिक पत्रिका थी, इसलिए काम का भार ‘अंगजा’ जैसा अधिक नहीं था। ‘अंगजा’ के लिए तो सामग्री जुटाने से लेकर प्रूफ पढ़ने के साथ ही साथ, उसके रंग-रूप का नियोजन तक सब कुछ अकेले ही करना पड़ता था। पर यहां तो कला-विभाग अलग था। प्रेस की भाग-दौड़ भी नहीं थी क्योंकि, प्रेस अपना था और बिल्डिंग में ही था। प्रूफ-रीडर अलग, उप-संपादक भी तीन-तीन। इसलिए सब सहज और सुगम था।

राजधानी की सांस्कृतिक गतिविधियों में भी हमारी बढ़त हो रही थी। हमारे एक रिश्तेदार सुरेश सिंहानियाजी कुछ साधियों के साथ मिले और कहा कि राजस्थान की संस्कृति को पुष्पित-पल्लवित करने के लिए हमें कुछ करना चाहिए। अंततः राजस्थान क्लब की नींव रखी गई जो कुछ समय में ही राजधानी की एक प्रमुख सामाजिक संस्था बन गई, ठाकुर ही उसके संस्थापक थे। उनके सहयोगी थे—मोहनलाल, सुरेश सिंहानिया, बट्टीप्रसाद, के. जी. बंसल, विनोद पुरी, गौरीशंकर मूंदडा और मैं। राजस्थान क्लब का पहला कार्यक्रम

रोशनआरा क्लब में हुआ। विशेष रूप से कवयित्री माया गोविंद को उस कार्यक्रम के लिए बंबई से बुलाया गया। मुझे आज भी याद है, उस दिन कार्यक्रम में जो महिलाएं आईं, वे आधा घूंट काढ़े हुए थीं। राजस्थान क्लब का उद्देश्य निश्चित किया गया—एक तो, राजस्थान की सभ्यता, संस्कृति और लोक-कलाओं को जीवित रखने का प्रयत्न करना; दूसरे, महिला वर्ग को पुरानी रूढ़ियों, परंपराओं, अंधविश्वास तथा परदे की कुप्रथा से छुटकारा दिलाकर उन्हें राष्ट्र की मुख्यधारा से जोड़कर आगे बढ़ने के लिए एक मंच प्रदान करना। मुझे राजस्थान क्लब का उपाध्यक्ष चुना गया। इस प्रकार देश की मुख्यधारा के सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में हमारा पदार्पण हुआ। इसके बाद तो राजस्थान क्लब सीढ़ी-दर-सीढ़ी आगे बढ़ता ही गया। ठाकुर को सबने अध्यक्ष बनने के लिए कहा, किंतु, उन्होंने साफ मना कर दिया।

एक प्रमुख कार्यक्रम 'मेहंदी रचे हाथ' प्रतियोगिता द्वारा राजस्थान की लुप्तप्राय मेहंदी मांडने की कला को प्रोत्साहित किया गया। कुछ ही समय में यह कार्यक्रम इतना लोकप्रिय हुआ कि मेहंदी मांडने की कला में एक क्रान्ति आ गई। समाज का दर्पण बन गई मेहंदी की रेखाएं। समाज की अच्छाइयों-बुराइयों को मेहंदी की रेखाओं द्वारा दर्शाया जाने लगा। 'मेहंदी रचे हाथ' प्रतियोगिता की सिफत यह थी कि एक हफ्ते का अखबार न पढ़ो, प्रतियोगी महिलाओं के मेहंदी मंडे हाथ देख लो, देश की घटनाएं, समस्याएं मेहंदी की रेखाओं में उभरती दिखायी पड़ेंगी।

अन्य लोग भी राजस्थान क्लब में शामिल हुए। उनमें प्रमुख थे गिरधारीलालजी सराफ और उनके पुत्र ओ. पी. सराफ। समान रुचियां हों तो, दो व्यक्ति बहुत शीघ्र अंतरंग बन जाते हैं। ओ. पी. सराफ और टी. पी. के साथ ऐसा ही कुछ हुआ। ओ. पी. सराफ को भी सांस्कृतिक कार्यों के प्रति बहुत शौक था। उनकी लगन और तत्परता को देखते हुए उन्हें शीघ्र ही राजस्थान क्लब का अध्यक्ष बना दिया गया। सरकारी नौकरी के कारण टी. पी. अध्यक्ष बन नहीं सकते थे, दूसरे उन्हें परदे के पछे रहकर ही काम करने की आदत थी। शीघ्र ही ओ. पी./टी. पी. का नाम आपस में ऐसा जुड़ा कि कोई भी बड़ा कार्यक्रम होता, इस जोड़ी को याद जरूर किया जाता। पूरे सोलह वर्ष तक ठाकुर ने राजस्थान क्लब को, परदे के पीछे रहकर, ऊंचाइयों की हद तक बढ़ाया।

कला और संस्कृति के प्रति हमारा प्रेम केवल एअरकंडीशंड सभागारों तक ही सीमित नहीं था। सुदूर सीमाओं पर लड़नेवाले जवानों के बीच भी, उनके मनोरंजन के लिए कलाकारों की टोली लेकर हम कई बार गए। सन् 71 की बात है। यह प्रजातंत्री बांग्लादेश के संघर्ष और बलिदान की जय-गाथा का समय था। 7 दिसंबर, 1970 का ऐतिहासिक दिन, बंगबंधु शेख मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व में आस्था प्रकट करते हुए बांग्लादेश की जनता ने राष्ट्रीय क्रांति की प्रस्तावना तैयार की। पाकिस्तान का पहला आम चुनाव हुआ, जिसमें बांग्लादेश के लोगों ने बांग्लादेश निर्वाचन क्षेत्र में से 99 प्रतिशत सीटें और 80 प्रतिशत मत बंगबंधु

शेख मुजीबुर्रहमान और उनके दल अवामी लीग को दिए, जिनका लक्ष्य बांग्लादेश में लोकतंत्र तथा कानून के शासन की स्थापना करना था। पाकिस्तान के फौजी शासक दंग रह गए क्योंकि, वे सोच रहे थे कि अवामी लीग को केवल 60 प्रतिशत सीटें मिलेंगी। जब ऐसा नहीं हुआ, तब मुक्तिवाहिनी के कमांडर-इन-चीफ कर्नल उस्मानी के शब्दों में 'लोकतंत्री व्यवहार और निर्वाचन संबंधी दायित्वों की नितांत उपेक्षा कर 3 मार्च, 1971 को ढाका में होनेवाले नेशनल असेंबली के सत्र में उपस्थित होने से प्रधानमंत्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने साफ इंकार कर दिया और धमकी दी कि यदि सत्र स्थगित नहीं किया तो हिंसा और अव्यवस्था फैल जाएगी। फौजी शासन ने भी उनकी धमकी को दोहराया। इसके विरोध में जब जनता ने रोष व्यक्त किया, तो उस पर गोलियां बरसाई गईं। बातचीत का एक लंबा सिलसिला चला। भुट्टो ने अपने फार्मूले की घोषणा की कि 'पश्चिम-पाकिस्तान और तत्कालीन पूर्व-पाकिस्तान में बहुमत पानेवाले दलों को पृथक-पृथक सत्ता हस्तांतरित की जाए।' यह स्पष्ट संकेत था कि पश्चिम-पाकिस्तान में जिनकी तूती बोलती थी, उन्हें बंगालियों पर आधारित संसदीय बहुमत मान्य नहीं था। गतिरोध समाप्त करने के लिए भुट्टो के सुझाव के आधार पर एक फार्मूला प्रस्तुत किया गया। जनरल याहिया खां ने उसे स्वीकार भी किया, परंतु पश्चिम-पाकिस्तान के उपनिवेशवादी शासक बांग्लादेश की जनता को सत्ता और लोकतंत्री अधिकार नहीं देना चाहते थे। इसलिए व्यापार और वाणिज्य की व्यवस्थाओं तथा वित्तीय निर्धारण के मामलों को लेकर विवाद खड़ा किया गया। एक ओर बातचीत हो रही थी, दूसरी ओर बोइंग विमान और लड़ाकू विमान, लगातार चौबीसों घंटे बांग्लादेश में पाकिस्तानी सैनिक उतारते जा रहे थे। आधी रात के करीब बिना किसी चेतावनी के फौजियों के गिरोहों ने मशीनगनों के साथ शेख मुजीब के घर पर धावा बोल दिया और उन्हें गिरफ्तार कर लिया। अकेले ढाका शहर में ही हजारों स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों को मौत के घाट उतार दिया गया। उद्देश्य था—बंगालियों के जातीय अस्तित्व को समाप्त कर उन्हें गुलाम बनाना। सताये गए लाखों लोगों ने भारत में शरण ली। बांग्लादेश की आजादी की लड़ाई के लिए सैकड़ों योद्धाओं ने नये सिर से अपने को संगठित किया और एक के बाद दूसरे क्षेत्र में पाकिस्तानी हमलावरों के छक्के छुड़ाये। फिर तो मुक्तिवाहिनी द्वारा मुक्त कराया क्षेत्र विस्तृत होता चला गया।

उधर पाकिस्तान भारत के विरुद्ध भी अपनी कार्यवाहियों से बाज नहीं आया। भारत की पूर्वी सीमा पर अनेक स्थानों पर पाकिस्तान ने टैंकों से गोलबारी की। प्रेसीडेंट याहिया खां अमरीकी पेटन टैंकों पर सवार हो दिल्ली आकर उस पर कब्जा करने के मंसूबे बांधे आगे बढ़ रहे थे। वैसे, भारत की ओर से भी पूरी तैयारी थी। पर हम पहल नहीं करना चाहते थे। हम जो संयम बरत रहे थे, उसे पाकिस्तान ने शायद, हमारी कमजोरी समझा और एकाएक उत्तर भारत के अनेक सैनिक हवाई अड्डों पर हमला कर दिया। फलतः देश में आपातस्थिति लागू कर सेना को जवाबी हमले के आदेश दे दिए गए।

इस प्रकार युद्ध की ज्वाला पूर्व और पश्चिम दोनों ओर धधकने लगी। बांग्लादेश

में भारतीय सेनाएं मुक्तिवाहिनी के साथ मिलकर पाकिस्तानियों को पीटने लगीं। बांग्लादेश में भारतीय नौसेना का प्रदर्शन बहुत शानदार रहा। भारतीय नौसेना के जहाजों से उड़ान भरनेवाले विमानों ने बांग्लादेश के आकाश को अपने कब्जे में करके जनरल नियाजी को अपनी फौज के साथ आत्मसमर्पण के लिए मजबूर कर दिया। उधर पश्चिम में भी भारतीय वायुसेना के भीषण आक्रमणों से करांची तक दहशत फैल गई। थल सेना ने तो 155 पाकिस्तानी टैंकों का कब्रिस्तान बना दिया छंब-जौरिया सेक्टर में।

3 दिसंबर को भारत पर पाकिस्तान का आक्रमण हुआ। 6 दिसंबर को भारत ने गणप्रजातंत्री बांग्लादेश को मान्यता देने की ऐतिहासिक घोषणा की। इस पूरे दौर में देश-भर में जवानों के लिए रेलवे स्टेशनों पर कैंटीन खोली गईं। वस्त्र, धन और जरूरी सामग्री का संग्रह कर और उसे उन तक पहुंचाकर देश के लिए लड़नेवाले जवानों के प्रति आस्था अर्पित की गई। हमने भी आयकर कालोनी और दूसरी कालोनियों की सभी सोसाइटियों में जा-जाकर कपड़े, धन और खाने-पीने की चीजें इकट्ठा कीं। रात-दिन जवानों के लिए स्वेटर बुने और बुनवाए।

लड़ाई थम गई थी। पर सीमाओं के सजग प्रहरी अभी भी शत्रु की भितरघातों से जूझने के लिए सीमाओं पर डटे थे। उन्हीं दिनों कर्नल मनचंदा छुट्टी पर आए। वे हमारे अच्छे मित्र थे। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि क्यों न हम कलाकारों का एक दल लेकर सीमावर्ती क्षेत्रों में जाएं और सैनिकों का मनोरंजन करें! तत्काल हमने पार्श्व गायक महेन्द्र कपूर से बात की। महेन्द्रजी के पास देशभक्तिपूर्ण गानों की बहुलता रही है। साथ में दो-तीन कलाकार और लिए। मैं, ठाकुर, हमारे दोनों बच्चे, महेन्द्रजी और उनकी पत्नी आदि सब मिलकर आठ-दस लोगों का दल मिलिटरी कैरियर वाहन से चल पड़ा। पहला मौका था ऐसे प्लेन में बैठने का। दोनों ओर पकड़ने के डंडे लगे थे और साइड में सीट्स थीं। सामान प्लेन के बीच में रखा था। पहले जम्मू पहुंचे। वहां से जीप से हम लोग 'चिकन नेक' की ओर बढ़े। 'चिकन नेक' हिंदुस्तान-पाकिस्तान सीमावर्ती अंतिम चौकी थी। टेड़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर रेंगती, उंची-नीची पथरीली जमीन पर उछलती-कूदती हमारी जीप चली जा रही थी। दोनों ओर कंटीली झाड़ियां थीं। बैरकों में ढेर सारे सैनिक उत्सुकता से हमारी राह देख रहे थे। शायद, कर्नल मनचंदा ने पहले से ही उन्हें सूचना दे दी थी।

महेन्द्र कपूर ने जब अपनी बुलंद आवाज में गाया :

मेरे देश की धरती सोना उगले
उगले हीरे मोती
जब चलता है धरती पर हल
ममता अंगड़ाइयां लेती है
क्यों न पूजें इस माटी को
जो जीवन का सुख देती है।

तो एक समां-सा बंध गया। सैनिकों के बीच एक अहसास जगा कि सीमा पर, सुदूर स्थान पर रहते हुए भी, वे अकेले नहीं हैं— भारत की जनता उनके साथ है, और साथ है उसकी आस्था का बल। हम लोग दो दिन वहां रहे। जब लौटने लगे, तो बाहर निकलते समय मैदान में हम थोड़ी दूर ही चले थे कि पीछे से कर्नल मनचंदा ने अपने दोनों हाथों के घेरे डालकर हमें पीछे खींच लिया। इतने अचानक और इतने फौलादी हाथों की वह पकड़ थी कि हम समझ ही नहीं पाए माजरा क्या है। बाद में उन्होंने बताया कि यहां छिपी हुई माइंस हैं, जो जमीन के अंदर दबी हैं। हमारे सैनिक उन्हें दूढ़-दूढ़कर निकाल रहे हैं। फिर भी दुश्मनों द्वारा बिछाये गए बहुत-से खतरे अभी भी यहां हैं। अगर भूल से भी किसी पर पैर पड़ जाए, तो जान की खैर नहीं।

हमारे साथ छोटे-बड़े मिलाकर जितने कलाकार थे उन्हें ठहराने की वहां पर्याप्त जगह नहीं थी, तो सेना के अधिकारियों ने अपने बैरक कलाकारों और हम लोगों के लिए दे दिए और स्वयं दूसरी ओर के तंबुओं में चले गए। तंबुओं में भी जगह की इतनी कमी पड़ गई कि एक-एक में चार-चार अधिकारियों को सोना पड़ा।

सीमा क्षेत्र में हमें एक ऐसा सैनिक मिला, जिसका भाई भारत-चीन की लड़ाई में शहीद हो गया था। उस समय घर से उसकी पत्नी के पत्र आते थे। वह बेचारा अपनी भाभी को लिख भी नहीं पाता था कि भाई शहीद हो गए हैं। क्योंकि, भाभी गर्भवती थी। पति की मौत का सदमा उसके लिए घातक हो सकता था।

एक रात सोते समय मैं कुछ पढ़ना चाहती थी, लेकिन पढ़ने को कुछ था नहीं। अचानक मेरी नजर पास ही पड़े एक पत्र पर पड़ी। उत्सुकतावश मैंने पत्र उठा लिया और पढ़ने लगी। किसी बच्चे ने अपने पिता को पत्र में लिखा था : 'पिताजी, दीवाली आ गई, आप नहीं आए। मां बीमार है। मैं बीमार हूं। मां बीमारी की बात लिखने नहीं देती, इसलिए उससे छिपाकर लिख रहा हूं। आप जब थे, तो मुझे खिचड़ी बनाकर दे देते थे। वह भी अब मिलनी बंद हो गई है। सब बच्चे पटाखे चलाते हैं, मेरे पास वे भी नहीं हैं। मां कहती है पहले देश है, फिर कुछ और...'।

पढ़कर आंसू आ गए। कर्नल मनचंदा को बताया तो वह बोले, “भाभीजी, यहां तो, जो पत्र आते हैं, सब ऐसे ही होते हैं। हम लोग तो पत्थर हो गए हैं। अब रोना भी नहीं आता।”

जिंदगी के विविध रंगों में सीमा क्षेत्र की इस यात्रा का भी अपना एक रंग था, जिसे मैं आज तक भूल नहीं सकी। इस यात्रा के बाद महेंद्र कपूरजी से घनिष्ठता और गहरी हो गई।

सबके उत्साह, प्रेम में पगे हम वापस लौटे। बम का एक शेल उन्होंने हमें भेंट किया, जो अभी भी यादगार के रूप में हमारे पास है।

आपातकाल

- अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रहार ● संजय गांधी और गीतों-भरी शाम
- जयपुर के राजमहल की तलाशी

19⁷⁵ का जून माह इतिहास में सदैव याद रखा जाएगा। यही वह माह था, जब इलाहाबाद उच्च न्यायालय के जस्टिस जगमोहनलाल सिन्हा ने लोहियावादी राजनारायण की चुनाव-याचिका पर देश की प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी का चुनाव अवैध घोषित किया। न केवल अवैध घोषित किया, वरन छह वर्षों तक किसी निर्वाचित पद पर बने रहने की पाबंदी भी लगा दी। इसी जून माह में, देश की आजादी के बाद एक स्वयंस्फूर्त जन-आंदोलन की लहर उठी और इसी माह में आंतरिक आपातकाल की घोषणा हुई। इमरजेंसी लागू हुई।

आज की युवा पीढ़ी को आपातकाल के बारे में कुछ भी पता नहीं और इससे पूर्व की पीढ़ी भी शायद, आपातकाल को लगभग भूल चुकी है। शायद, आज की स्थिति में, उसका विश्लेषण करने पर, कुछ सीमा तक, आज जब भ्रष्टाचार, करोड़ों के घोटाले और अराजकता का दौर सभी सीमाएं लांघ चुका है और अनैतिकता का बोलाबाला है, तब कुछ तटस्थ विश्लेषक उसे अच्छा भी मान रहे हों। क्योंकि, उस काल में अनुशासन का वातावरण बना, काम की गति तेज हुई, देश का मुद्राकोष भी बढ़ा, विधि-व्यवस्था में चुस्ती आई, रेलवे के समय में निवमितता आई, कीमतों में कमी हुई, उत्पादन बढ़ा, औद्योगिक क्रांति आई, पर इस सबके बावजूद अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश किसी को भी मान्य नहीं हुआ। उस समय तो ऐसा लग रहा था कि देश में जैसे आपातकाल नहीं, कोई बड़ी विपत्ति आई है, जो गहराकर सबको झकझोर गई है।

लोगों का मानना है कि आपातकाल के बीच 12 जून को उस समय पड़े, जब फैसला इंदिराजी के खिलाफ आया। पर यह कहना गलत है। भूमिका तो बहुत पहले से बननी शुरू हो गई थी। कांग्रेस-विरोधी वातावरण तो पहले से ही था। मंहगाई, भ्रष्टाचार आदि से लोग परेशान थे। सार्वजनिक जीवन में स्वच्छता को लेकर बहसें छिड़ी हुई थीं। कांग्रेस के अंदर भी लावा सुलग रहा था। जगजीवन बाबू जैसे वरिष्ठ नेताओं की कोई पूछ नहीं

थी क्योंकि, वे इंदिराजी की नीतियों से असंतुष्ट थे। जयप्रकाश नारायण के सम्पूर्ण क्रांति के आंदोलन ने गुजरात में सरकार पलट दी थी। छात्रों में एक नया उत्साह था। गुजरात में एक प्रभावपूर्ण भूमिका अदा करने के बाद, अब विरोधी पक्ष केन्द्र में भी वही सब दोहराना चाहता था।

अदालत के फैसले ने कांग्रेस-विरोधियों को एक नया हथियार दे दिया। इंदिराजी के इस्तीफे की मांग जोर पकड़ने लगी। एक बार तो ऐसा लगा कि शायद, वे इस्तीफा दे भी दें, लेकिन विरोधियों के दिन-ब-दिन बुलंद होते हौसले ने और 'कुछ' लोगों ने उन्हें आसानी से मैदान न छोड़ने की सलाह दी। यदि वे इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले के बाद त्यागपत्र दे देतीं, तो स्थिति कुछ और ही होती।

किंतु, ऐसा नहीं हुआ। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय में अपील दावर की गई और जस्टिस कृष्ण अय्यर ने 23 जून को स्टे आर्डर दे दिया। उन्होंने श्रीमती गांधी को चुनाव में किसी संगीन गड़बड़ी का दोषी नहीं पाया और कहा कि वे प्रधानमंत्री बनी रह सकती हैं, लेकिन जब तक सर्वोच्च न्यायालय, इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले के खिलाफ उनकी अपील नहीं निबटा देता, तब तक वे लोकसभा में मतदान में भाग नहीं ले सकतीं। इस फैसले से जहां इंदिरा गांधी और उनके समर्थकों को राहत मिली, वहीं विपक्ष ने 25 जून को दिल्ली में विशाल प्रदर्शन की योजना बना डाली। जयप्रकाशजी दिल्ली पहुंच चुके थे। रैली में जयप्रकाशजी ने सेना और पुलिस का आह्वान किया कि वे सरकार के किसी भी गैर-कानूनी हुक्म को मानने से इनकार कर दें।

उनकी अपील की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। लेकिन बढ़ते जन-आंदोलन पर जयप्रकाशजी की इस अपील ने इंदिराजी के समर्थकों को भयभीत कर दिया। उनका मानना था कि इंदिराजी पद पर नहीं रहेंगी तो पार्टी टूट जाएगी और देश भी टूट जाएगा। 'इंदिरा इज इंडिया' जो थीं!

अंततः 25 जून की रात को ही 11 बजकर 45 मिनट पर तत्कालीन राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद ने आपातकाल की घोषणा पर हस्ताक्षर कर दिए। आपातकाल की घोषणा में कहा गया था कि 'आंतरिक उपद्रवों के कारण भारत की सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न हो गया है, जिसके फलस्वरूप गंभीर आपात स्थिति मौजूद है।'

यह घोषणा होने के साथ ही अनेक अखबारों की बिजली काट दी गई। यों, सरकारी तौर पर यही कहा गया कि बिजलीघर में गड़बड़ी के कारण ही बिजली-आपूर्ति में व्यवधान पड़ा है। बिजली न मिलने के कारण कई अखबार, विशेषकर, बहादुरशाह जफर मार्ग पर, जिन अखबारों के कार्यालय थे, नहीं निकले।

अगले दिन 26 जून को केवल दो ही अखबार निकले। हिंदुस्तान टाइम्स और स्टेट्समैन। वे भी इसलिए कि वे नई दिल्ली क्षेत्र में थे जहां बिजली नहीं काटी गई थी।

25 जून को ही अखबारों पर सेंसरशिप लागू कर दी गई। भाषण, लेख, समाचार,

आलोचना—सब पर प्रतिबंध। बैठकें, जुलूस, जलसे सब बंद। मन एकदम विद्रोही हो उठा। यह क्या हो गया है इंदिराजी को? वह तो देश की नब्ज भली-भांति पहचानती हैं। सही समय पर, सही निर्णय लेने की उनकी क्षमता का विरोधी भी लोहा मानते हैं। फिर यह निर्णय कैसा? उनके प्रति मेरी आस्था को जबरदस्त धक्का लगा।

मैं उन दिनों हिंदुस्तान टाइम्स में ही 'कादम्बिनी' में थी। दफ्तर पहुंची तो बड़ी गहमागहमी थी। तब बी.जी. वर्गीज हिंदुस्तान टाइम्स के संपादक थे। इससे पहले वे श्रीमती गांधी के प्रेस सलाहकार थे। लेकिन, आपातकाल उन्हें भी नागवार लग रहा था। संसद शिप संविधान-प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर कुठाराघात था। वर्गीज साहब ने 26 जून को सप्लीमेंट निकालने का निश्चय किया। वे स्वयं प्रिंटिंग मशीन के पास खड़े रहे। सप्लीमेंट के बंडल अपने सामने बंधवाए और बाहर पहुंचाए। लेकिन, मैनेजमेंट इस पचड़े में नहीं पड़ना चाहता था। उसकी कोशिश रही कि अखबार बाहर न पहुंच सके।

एक संघर्षभरी स्थिति थी—संपादक और प्रबंधन के बीच। अंततः प्रबंधकों ने बाहर भेजे जा चुके अखबार वापस मंगा लेने की कोशिश की। पर वे तो बिक गए थे, हाथों-हाथ। वे तो जनता के बीच पहुंच चुके थे। अब हिंदुस्तान टाइम्स की बिजली भी काट दी गई। टेलीप्रिंटर ठप्प पड़ गए। अफवाहों के बाजार गर्म होने लगे। अफवाहें निकलती रहीं, पहुंचती रहीं और आग में घी का काम करती रहीं। जयप्रकाशजी, मोरारजी भाई, चन्द्रशेखरजी, कृष्णकांत, आडवाणी बहुत से लोग जेलों में डाल दिए गए। चारों ओर गिरफ्तारियां ही गिरफ्तारियां। आतंक का एक अजीब-सा माहौल बन गया था, जो आपातकाल के आगे आनेवाले दिनों का अहसास कराने लगा था।

'प्रिवेंटिव डिटेंशन' का तानाशाही ढंग से दुरुपयोग किया गया। उच्च न्यायालयों के जजों के स्थानांतरण और नियुक्तियों में हस्तक्षेप किया गया, प्रेस की स्वाधीनता एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर कुठाराघात हुआ, अखबारों को विज्ञापन देने या न देने के 'अस्त्र' का पक्षपातपूर्ण और मनमाना प्रयोग हुआ। प्रदर्शन का अधिकार भंग किया गया। उद्योगपतियों, स्वतंत्र व्यवसायियों एवं व्यापारियों के खिलाफ छापे डलवाए गए। संसदीय संस्थाओं व परंपराओं का निरंतर हास हुआ। सरकारी कर्मचारियों एवं अफसरों को निरस्त्र करने के लिए अनिवार्य सेवा-निवृत्ति का प्रयोग सुरक्षित किया गया। राजनीतिक प्रयोजनों के लिए सरकारी कर्मचारियों और संसाधनों का दुरुपयोग किया गया, आदि-आदि।

धीरेन्द्र ब्रह्मचारी-जैसे लोगों ने इंदिराजी के चारों ओर एक ऐसे ब्यूह की रचना कर दी कि हरदम, जहां कहीं भी वे जातीं, उनके चारों ओर पांच-छह व्यक्तियों का घेरा रहता। उसे लांघकर आम आदमी तो क्या, कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता तक उनके पास नहीं फटक पाते थे।

संजय गांधी का बोलबाला था। इंदिराजी के 20 सूत्री कार्यक्रम के साथ-साथ संजय के

5 सूत्री कार्यक्रम भी चले। इसमें कोई संदेह नहीं कि युवा-शक्ति को रचनात्मक कार्यक्रमों की ओर उन्होंने प्रेरित किया और यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। किंतु, राज्यों के मुख्यमंत्रियों और संबंधित अधिकारियों ने नसबंदी कार्यक्रम के तहत ऐसे जुलूम ड़ाए कि जनता कांप उठी। क्यों ऐसा किया इन लोगों ने, इसका एक ही कारण था कि सारी सत्ता संजय गांधी के हाथ की कठपुतली बन गई थी। जिसे चाहो कुर्सी पर रखो, जिसे चाहो हटाओ और इस अंधे लुकाछिपी के खेल में शामत आई बेचारी जनता की। उच्चपदस्थ लोगों के सिरों पर भी दुधारी तलवार लटक रही थी किंतु, उसकी धार से लहू टपका अच्छे-अच्छे लोगों का। मीसा और डी.आई.आर. आपातकाल के सबसे बड़े शस्त्र थे। माहौल इतना संशय-भरा था कि अपनी परछाई से भी डर लगता था।

हिंदुस्तान टाइम्स में वर्गोज साहब प्रेस सेंसरशिप के कट्टर विरोधी थे। वैसे, मन से तो सभी क्षुब्ध थे किंतु, खुलकर वे मैनेजमेंट के विरुद्ध नहीं जाना चाहते थे। मैनेजमेंट की ओर से एक फरमान निकला और वर्गोज को अपने पद से जाना पड़ा क्योंकि, उनका लेखन-संपादन सरकार के अनुकूल नहीं था, साथ ही वह व्यवस्थापकों एवं संस्थान के भी प्रतिकूल सिद्ध हो रहा था। उनकी जगह हिरण्यमय कार्लेकर को लाया गया। उन दिनों 'हिंदुस्तान टाइम्स' में यह चर्चा आम थी कि वे सिद्धार्थ शंकर राय की सिफारिश पर लाए गए हैं। सिद्धार्थ शंकर राय श्रीमती गांधी के विश्वासपात्र थे, यह सभी को मालूम था।

एक दिन निमंत्रण मिला नंबर 1, अकबर रोड से। उद्देश्य था—राजधानी में एक बड़ा सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करना। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। अंतरमन से हम इमरजेंसी के खिलाफ थे। मेरे पति के विचार भी मेरे-जैसे ही थे। किंतु वह एक उच्चपदस्थ अधिकारी थे। नाहक द्रोह मोल लेना नहीं चाहते थे। एक बात और, सांस्कृतिक कार्यक्रम के आयोजन के लिए हमें विचार-विमर्श हेतु बुलाया गया था, न कि किसी राजनीतिक प्रयोजन से। इसलिए इंकार करना ठीक नहीं था। वैसे भी, मुझे उत्सुकता थी, इमरजेंसी के हीरो संजय गांधी से मिलने की, सो हम पहुंच गए दिसंबर की उस अलसावी दोपहरी में, एक नंबर अकबर रोड के किनारेवाले कमरे में, जहां पहले से ही ओ.पी.सराफ और विदूषक संघ के अध्यक्ष राज कौशिक उपस्थित थे। ये हमारे मित्र थे और हमारा नाम इन्हीं लोगों ने सुझाया था। विदूषक संघ एक राष्ट्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम चलानेवाली संस्था थी। अब इंतजार था संजय गांधी का। परिवार-नियोजन कार्यक्रम को एक व्यापक जन-आंदोलन बनाने के लिए एक सांस्कृतिक कार्यक्रम के आयोजन की चर्चा उन्हें हमसे करनी थी।

निश्चित समय पर संजय गांधी अपने सफेद कुर्ते और पाजामे में, बिना किसी आइबर के, पैरों में चप्पल पहने आए। मुख पर सदा रहनेवाला कोमल भाव, सादे इतने कि सादगी भी लजा जाए। राज कौशिक ने बातचीत का सिलसिला शुरू किया और उन्हें बताया

कि दिल्ली में फिल्म-कलाकारों की सहायता से एक कार्यक्रम किया जा सकता है। उससे धन एकत्र करने के साथ-साथ जनता का मनोरंजन भी हो सकता है तथा परिवार-नियोजन के अहम सवाल को व्यापक ढंग से जनता को समझाया जा सकता है। बात संजय गांधी को पसंद आई और उन्होंने कार्यक्रम को अपनी अनुमति दे दी, साथ ही पूरा सहयोग देने का वायदा भी किया।

कुछ और चर्चा के बाद, जब हम उठने को हुए तब उन्होंने मेरी ओर देखते हुए कहा, “पर एक बात तो आप लोगों ने तय ही नहीं की। कार्यक्रम में टिकट का मूल्य क्या रखा जाएगा?”

हम सभी बोल पड़े, “आप ही बताइए?”

बड़े सरल ढंग से उन्होंने कहा, “आठ आने। मेरी समझ में ज्यादा तो नहीं होंगे?” हम सभी स्तब्ध रह गए। मैंने कहा, “यह तो बहुत कम है। इससे तो बिल्कुल भी धन एकत्र नहीं हो सकेगा।” एक क्षण मौन वे हम लोगों की ओर देखते रहे, फिर दोटूक उत्तर दिया, “तो फिर आप ही तय कर लीजिए। पर, आप तो जनता के लिए कार्यक्रम करना चाहते हैं, और मैं नहीं समझता कि जनता इससे अधिक का टिकट खरीद सकेगी।”

मैंने सोचा, व्यक्तित्व का निर्माण वर्षों की साधना से होता है, पर उसके प्रादुर्भाव का सूत्रपात ऐसी ही किसी अंतर्दृष्टि से होता होगा। पर मेरा यह सोच बहुत दिनों तक मेरा साथ नहीं दे सका। इसके बाद कई बार संजय गांधी से भेंट हुई। अप्रैल, सन् 76 को ‘गीतों भरी शाम’ शीर्षक से सांस्कृतिक कार्यक्रम करना निश्चित हुआ। अंबेडकर स्टेडियम बुक कराया गया। बहुत सारे काम थे—बहुत लोगों का सहयोग लेना था। वंबई से सिने-जगत के कलाकारों से संपर्क साधना था, आदि-आदि। यह भी तय हुआ कि एक सोविनियर निकाला जाएगा और टिकट-खिड़की पर भी टिकट वेचे जाएंगे। इस प्रकार जो राशि इकट्ठी होगी, वह ‘रेडक्रास सोसाइटी’ को परिवार-नियोजन कार्यक्रम के लिए दी जाएगी। कहीं कोई धन संबंधी गड़बड़ी न हो इसलिए, जो पैसा, जैसे ही टिकट या सोविनियर से आएगा, वैसे ही बैंक में जमा करा दिया जाएगा। इस कार्य के लिए जाने-माने उद्योगपति गिरधारीलाल सराफ कोषाध्यक्ष नियुक्त किए गए।

वंबई से कलाकारों को बुलाने में भी कई अड़चनें आईं। कुछ कलाकार तो एक सार्थक काम में सहयोग देने के लिए तत्काल राजी हो गए पर कुछ को, जिस प्रकार कुछ लोगों ने प्रस्ताव रखा उससे, अपने स्वाभिमान में धक्का-सा लगता दीखा और उन्होंने तत्काल मना कर दिया। क्योंकि, इमरजेंसी का जमाना था, इसलिए हरेक अंतरमन को लगता था कि उन्हें उनकी मर्जी के खिलाफ, कोई काम करने के लिए विवश किया जा रहा है और सरकारी-तन्त्र का फायदा उठाकर उन्हें धमकाया जा रहा है।

पर जहां तक मैंने देखा, मुझे लगा कि ऐसा कुछ नहीं था। अधिकांशतः लोग स्वयं आतंकित हो रहे थे। यह बात दीगर है कि सरकारी अफसर अपने आकाओं को प्रसन्न करने के लिए उत्साह के अतिरेक में, लोगों को धमकाते हों या विवश करते हों, पर जहां

तक 'गीतों भरी शाम' की बात थी, ऐसी कोई धमकी या विवश करनेवाली बात, न तो संजय गांधी की ओर से कही गई थी कि फलां कलाकार को आना ही है, और न ही यह कि फलां उद्योगपति को रुपया देना ही है।

इमरजेंसी के नाम पर लोगों में आतंक फैलाने में सबसे बड़ी भूमिका अदा की यूथ कांग्रेस के सदस्यों ने, जो अपने को खुदा समझने लगे थे। लोगों को धमकाना, संजय गांधी के नाम पर आतंक पैदा करना, विज्ञापन एकत्रित करना और जबरन चंदा वसूलना यूथ कांग्रेस का ही काम था। और भी ज्यादातियां हुई—नसबंदी कार्यक्रम के तहत, जहां सरकारी अफसरों को अपना कोटा पूरा करना था, वहां सबसे ज्यादा ज्यादातियां हुई। किंतु, ये सब बाद की बातें हैं। 'गीतों भरी शाम' के आयोजन के पहले तक, ऐसी कोई बात नहीं थी, अन्यथा हम लोग ही इससे किनारा कर लेते।

इस कार्यक्रम से संबंधित एक वाकया बड़ा जबरदस्त हुआ। लता मंगेशकरजी को पता नहीं किसने, किस रूप में, इस प्रोग्राम के लिए आमंत्रित किया कि उन्हें बहुत अपमानजनक लगा। उनसे शायद, यह कहा गया कि प्रधानमंत्री हाउस से संदेश है कि उन्हें दिल्ली आना है और गाना भी गाना है। जिस ढंग से कहा गया, उससे उन्हें यह आभास हुआ कि जैसे हुकम प्राइम-मिनिस्टर हाउस से आया है कि उन्हें उपस्थित होकर वहां गाना गाना है। लताजी-जैसी स्वाभिमानी कलाकार को यह कैसे बर्दाश्त होता। जिन लोगों ने उनसे कहा था, उनसे वे बोलीं, "मैं प्राइम-मिनिस्टर हाउस में गाने के लिए आऊं, यह नहीं हो सकता।" वे नाराज थीं, फिर भी उन्होंने कहा, "टी.पी. भाई यदि उन्हें कहेंगे, तो वे आ जाएंगी।" लताजी को विश्वास था कि कलाकार-मन रखनेवाले टी.पी. भाई किसी कलाकार का अपमान न करवा सकते हैं और न देख सकते हैं। इसके लिए उन्हें स्वयं चाहे जितना बड़ा दंड भुगतना पड़े।

ठाकुर ने लताजी से फोन पर बात की। उन्हें बताया, यह एक विशुद्ध सांस्कृतिक कार्यक्रम है, जिसे परिवार-कल्याण की सहायतार्थ किया जा रहा है और पब्लिक-मंच पर उनका कार्यक्रम होगा, पूरे आदर और सम्मान के साथ, न कि प्राइम मिनिस्टर हाउस में। कोई जोर-जबरदस्ती नहीं है। वह आएंगी तो उनके सम्मान के अनुरूप ही सब कुछ होगा और एक अच्छे काम में उनका सहयोग मिलेगा, इतना भर। लताजी ने आना स्वीकार कर लिया। वे आईं। उस समय उन्हें बुखार भी था। अशोका होटल में उनके ठहरने का प्रबंध था। बुखार के बावजूद उन्होंने सबेरे रिहर्सल किया क्योंकि, उनका कहना था कि शो के पहले वे एक बार रिहर्सल जरूर करती हैं। सिने-जगत के सभी जाने-माने कलाकार कार्यक्रम में आए थे। अंबेडकर स्टेडियम खचाखच भरा था। जनता को कार्यक्रम शुरू होने का इंतजार था और आयोजकों को मुख्य-अतिथि का। बंबई से जो कलाकार आए थे, उनकी भी इच्छा थी कि संजय गांधी आए तो उनसे भेंट हो जाए।

संजय गांधी आए, तो उन से प्रार्थना की गई कि वे कार्यक्रम के बारे में दो शब्द कहें। ऐसे कार्यक्रम में मुख्य-अतिथि के बोलने की परंपरा भी है। परंतु वह तो परंपराओं

में विश्वास नहीं करते थे। वह चीज जो होती आई है, वह इसलिए हो, कि होती है, उन्हें गवारा नहीं था। उन्होंने हमसे कहा, “हम लोगों की उम्र भाषण न करके, काम करने की है। काम ज्यादा हो और बातें कम हों। आप मुझे मजबूर न करें।”

किंतु दूसरे ही क्षण, जब उन्होंने देखा कि उनके साथियों के मुंह निराशा से उतर गए हैं, तो साथियों का मन रखने के लिए वे मंच पर आए। नपे-तुले शब्द उन्होंने कहे और फिर मंच के पीछे पहुंच गए। सभी कलाकारों से भेंट की और परिवार-नियोजन के इस कार्यक्रम में शामिल होने के लिए उन्हें धन्यवाद दिया।

‘काम ज्यादा और बातें कम’—इस सत्य की दृष्टि ही, संजय की शक्ति थी और इसकी पकड़ को उन्होंने पकड़े रखा। ‘गीतों भरी शाम’ का आयोजन बहुत सफल रहा। दिल्ली की आम जनता ने अपने चहेते फिल्म-कलाकारों को नजदीक से देखा और सुना। भारत-कोकिला लता मंगेशकर को सुनने के लिए तो भीड़ उमड़ पड़ी थी। सभी ने खुले दिल से टिकट खरीदकर, एक बड़ी राशि इकट्ठा करने में सहयोग दिया।

आयोजन की सफलता का पता इसी से चलता है कि इससे पहले दिल्ली में कभी एक आयोजन से दस लाख रुपए-जैसी बड़ी राशि एकत्र नहीं हो सकी थी। हम लोगों के उत्साह का तो कहना ही क्या था! एक बैठक में तय किया गया कि दस लाख की एकत्र राशि रेडक्रास सोसाइटी को भेंट कर दी जाए। सभी चाहते थे कि भेंट संजय गांधी के कर-कमलों से हो। आशय यह कि सभी संजय गांधी से मिलना चाहते थे। इसलिए नहीं कि कार्यक्रम के वे प्रणेता थे बल्कि, इसलिए कि आतंक के उस दौर में उनका करीबी होना कई मुश्किलें हल कर सकता था।

पहले तो संजय गांधी स्वयं चैक लेने के लिए राजी नहीं हुए। उनका कहना था, “आप लोग चैक सीधे रेडक्रास को दे आइए।” पर फिर बहुत इसरार करने पर वे इस बात पर राजी हुए कि रेडक्रास के नाम का चैक वह तभी ग्रहण करेंगे, जबकि इसके लिए कोई विशेष आयोजन न हो। उनका कहना था कि यूथ कांग्रेस के कार्यालय में आकर आयोजक केवल चैक भेंट कर दें और इस प्रकार एक गम्भीर कार्यक्रम का, इस रूप से गरिमापूर्वक समापन किया जाए। फालनू की पब्लिसिटी, दिखावा, आडंबर और प्रदर्शन उन्हें तनिक भी पसंद नहीं था और इन पर किए गए खर्च को वे जनता के पैसों का दुरुपयोग मानते थे।

अंततः एक तिथि निश्चित हुई, जब संजय गांधी को 10 जनपथ स्थित यूथ कांग्रेस के कार्यालय में आकर चैक ग्रहण करना था। आयोजक तो अपने उत्साह में भरे ही थे। नहीं-नहीं करते-करते एक छोटी-मोटी भीड़ इकट्ठी हो गई। शामियाना भी लग गया, बंदनवार भी बंध गए। 10 जनपथ के गेट पर दोनों ओर नेहरू त्रिगेड के लड़के सलामी देने के लिए खड़े हो गए। फूलमाला और कैमरे से लेकर सब सरंजाम हो गए। मैंने कहा भी कि संजयजी ने इस सबके लिए मना किया है, वे नाराज होंगे। पर नक्कारखाने में मेरी आवाज कौन सुनता!

निश्चित समय पर संजयजी अपनी मेटाडोर चलाते हुए आए। जैसे ही वे लॉन के अंदर दाखिल हुए, उन्हें पूरे ताम-झाम की झलक दिख गई। वालंटियरों की कतार से दूर, झाड़ियों के बीच से, वह तेजी से अंदर की ओर चले गए। सामने बड़ा-सा मंच बना था, बड़ी भीड़ एकत्रित थी। कैमरे फ्लैशलाइट के साथ क्लिक करने को तैयार थे। जो कुछ था, वह सब उनकी इच्छा के विरुद्ध था। मैं तो सोच भी नहीं सकती थी कि उनकी 'न' में समझौते की कोई गुंजाइश नहीं होती थी, उसमें निष्ठा की एकाग्रता होती थी। संजय वापस फिर द्रुत गति से झाड़ियों के बीच से होते हुए लौट लिए। अपनी मेटाडोर में बैठे और पलक झपकते ही चले गए।

सब एक-दूसरे का मुंह ताकते रह गए। काटो तो खून नहीं। उन्हें अब यह एहसास तो हुआ कि उनका नेता एकनिष्ठ, गंभीर और दिखावे से दूर है। पर यूथ कांग्रेस के उस समय के आतंक को देखते हुए सब उनकी नाराजगी से घबरा भी गए। बाद में संजय गांधी बड़ी मुश्किल से 10 लाख रुपए का चेक प्रधानमंत्री हाउस में ही लेने को राजी हुए, और स्वीकार करने के तुरंत बाद उन्होंने वह चेक तत्कालीन उपराज्यपाल श्री किशनचंद को सौंप दिया रेडक्रास को देने के लिए।

मैंने स्वयं देखा कि संजय गांधी की गति से लगाव था। खतरों से खेलना उन्हें पसंद था। शिथिलता और थकान जैसे शब्दों से उन्हें बौखलाहट होती थी। तेज गाड़ी चलाना उनका शौक था। गाड़ी की धीमी गति उनके मन को आक्रोश से भर देती थी। कोई उनकी गाड़ी चलाए, यह भी उन्हें पसंद नहीं था।

आपातकाल की ही एक और घटना है। संजय गांधी के कुछ साथी लोग उनके लिए एक मेटाडोर वैन खरीदने दिल्ली के एक मोटर-विक्रेता की दुकान पर गए। वह विक्रेता केवल मेटाडोर ही बेचता था। उसका नियम था कि बिना पूर्ण राशि अग्रिम लिए वह वैन की डिलीवरी नहीं देता था। संजयजी के आदमियों को यह बात बड़ी नागवार गुजरी। उन्होंने धमकाया, “गाड़ी भिजवा दीजिए। पैसा आ जाएगा। आपको मालूम नहीं, यह वैन संजयजी के लिए खरीदी जा रही है।” पर कंपनी के नियम के तहत ऐसा नहीं हो सकता था। उनके आदमी नाराज होकर लौट गए। मैनेजर ने स्थिति की गंभीरता को देखते हुए सोचा, कंपनी के ‘टर्म्स और कंडीशन’ इस बात की अनुमति तो नहीं देते लेकिन, मजबूरी है। डर था कि यह नाराजी कहीं मंहंगी न पड़े। उसने सीधे संजय गांधी को फोन किया। अपनी मजबूरी बताई और कहा कि कंपनी की शर्तों के अनुसार चेक पहले भिजवा दें, तो सुविधा होगी। संजय गांधी ने जवाब दिया, “कल तक चेक आपके पास पहुंच जाएगा।” और इतना कहकर उन्होंने फोन काट दिया।

मैनेजर को संजय गांधी की कम बोलने और दोटूक बात बोलने की आदत का पता नहीं था। उसने सोचा, शायद वह नाराज हो गए। वह काफी चिंतित हो उठा, पर

दूसरे दिन उसकी चिंता हर्ष में बदल गई, जब उसने देखा कि संजयजी स्वयं चैक लेकर उसकी दुकान पर आए हुए हैं। अपने आदमियों को उन्होंने उनके व्यवहार के लिए आड़े हाथों लिया था। उन्होंने कहा, “नियम तो नियम है और सही नियमों का पालन होना ही चाहिए।” उस दिन से वह उस विक्रेता के स्थायी ग्राहक बन गए। मैनेजर ने स्वयं इस घटना का जिक्र हमसे किया था।

बाद में, जनता पार्टी के कार्यकाल में, बीसियों समस्याओं से घिरे, अंधकारमय दिनों में भी संजय गांधी को उसी मस्ती और लापरवाही से, कभी अकेले, कभी पत्नी मेनका के साथ दिल्ली के खान मार्केट में, जो हमारे घर रवींद्रनगर के पास ही है, घूमते हुए मैंने देखा, और विश्वसनीय लोगों से सुना भी। कई बार मैंने सोचा कि एक व्यक्ति, जो चुनौतियों का सामना करने के लिए सदैव फौलादी तरीके से कृत-संकल्प रहता था, जिसे रूढ़ परंपराओं से चिपके रहना पसंद नहीं था, और जिसमें मुसीबतों के बीच भी संतुलन बनाए रखने की अपूर्व क्षमता थी—उसका कितना गलत आकलन हुआ! एक व्यक्ति, जिसे भूख की थकान से टूटे आदमी की व्यथा अंदर तक साल जाती थी, उसे दूसरों के उत्साह के अतिरेक से की गई गलतियों की तराजू पर तौला गया। क्या यह उचित था? आज भी गंदी बस्तियों की सफाई, परिवार-नियोजन, वृक्षारोपण, दहेज विरोधी आंदोलन और प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों की उतनी ही जरूरत है, जितनी उस समय थी। उनके पांच-सूत्री कार्यक्रम की आज भी उतनी ही जरूरत है। बढ़ती जनसंख्या आज भी मुंह बाए खड़ी है। दहेज की बलिवेदी पर आज भी सैकड़ों चिताएं जलती हैं। पर, कहीं कुछ इतना गड़बड़ हो गया कि एक अंधेरी दुनिया को संवारने और सजाने तथा बिखरी हुई युवा-शक्ति को संगठित करने का जो कदम उठा था, वह लोगों की महत्वाकांक्षाओं और स्वार्थों की बलिवेदी पर नकार दिया गया। आज कोई उतने प्रभावपूर्ण ढंग से इन कार्यों को करने का साहस ही नहीं जुटा पाता है। संजय गांधी की गलती यह रही कि उन्होंने यूथ कांग्रेस के कार्यकर्ताओं पर, उनके आचारण पर कहीं नजर नहीं रखी और न ही कोई अकुंश लगाया।

‘गीतों भरी शाम’ के दौरान करीब-करीब रोज ही मैं ‘हिंदुस्तान टाइम्स’ से शाम को अंबेडकर स्टेडियम जाती थी, जहां कार्यक्रम के प्रबंध की मीटिंगें होती थीं। वैसे भी, कार्यक्रम संबंधी योजनाओं से मैं परिचित थी और उनके संयोजन में पूरा हिस्सा लेती थी। हां, वित्त संबंधी इंतजाम हमारे जिम्मे नहीं था। इमरजेंसी के बाद ‘गीतों भरी शाम’ के प्रोग्राम में रुचि लेने का खमियाजा मुझे भुगतना पड़ा। जब जनता सरकार आई, तब मेरी पूरी सी.बी.आई. इन्क्वायरी हुई। अक्सर सी.बी.आई. वाले मेरे आफिस में आ धमकते। मुझे पूछते कि मेरा ‘रोल’ क्या था और ठाकुर उसमें कहां तक संबंधित थे, आदि-आदि।

पहले दिन जब सी.बी.आई. वाले आए, तब मैं घबरा गई। दूसरे कमरे से मैंने ठाकुर को बताया कि इस प्रकार सी.बी.आई. वाले आए हैं, क्या करूं? उन्होंने कहा, “तुम, जो

सही बात हो, वह बतला दो।”

सी.बी.आई. के अफसरों ने मुझे पूछा, “आप ‘गीतों भरी शाम’ कार्यक्रम में क्यों और किसके कहने से शामिल हुई?”

मैंने बताया, “सांस्कृतिक कार्यक्रमों से रुचि होने और एक सामाजिक उद्देश्यपरक कार्यक्रम होने के कारण मैंने इसमें सहयोग दिया।”

उनका अगला प्रश्न था, “आपके साथ आपके पति रोज उस कार्यक्रम के आयोजनों में हिस्सा लेते थे। एक सरकारी कर्मचारी होने के नाते उनकी यह दखलअंदाजी कितनी उचित थी?”

मैंने उत्तर दिया, “वे रोज मुझे आफिस से लेने, पहले भी आते थे, उस दौरान भी आए। और क्योंकि, मुझे वहां जाना होता था, इसलिए स्वाभाविक था वे मेरे साथ जाते। मुझे रास्ते में तो नहीं छोड़ सकते थे।”

“पर संयोजकों ने सोविनियर में आपके साथ उनकी फोटो भी छपी है। जब उनका कोई रोल ही नहीं था, तब उनकी फोटो क्यों छपी?”

मैंने उत्तर दिया, “यह आप उन लोगों से पूछिए। मुझे नहीं मालूम। शायद, मुझे प्रसन्न करने के लिए छाप दी हो।”

यदि आज भी मुझसे पूछा जाए तो मैं यही कहूंगी कि ‘गीतों भरी शाम’ में हमारा सहयोग केवल इसी कारण था कि वह एक जन-कल्याणकारी कार्य के लिए किया गया प्रोग्राम था और हमारी सांस्कृतिक रुचि के अनुरूप था।

उन्होंने दिनों जयपुर राजघराने की अयोपित संपत्ति की तलाशी हुई थी। आयकर विभाग के इन छापों में बहुत कुछ मिला था। बड़ी सनसनीखेज कहानी थी। जयपुर के राजमहलों के बाद जयगढ़ में खजाने की खोज का सिलसिला शुरू हुआ था। इन तलाशियों के दौरान मैंने बहुत-से लोगों से बातचीत की थी, नोट्स बनाए थे, स्वयं कई बार जयपुर, जयगढ़ गई थी कि कभी उनके बारे में लिखूंगी। ये नोट्स मेरे पास रखे थे। तभी इन छापों के बारे में बंबई से डॉ. धर्मवीर भारती का फोन आया, फिर पत्र आया कि मैं एक विस्तृत खोजपरक लेख लिखकर भेजूं। यह मेरी रुचि के अनुरूप था। सो, मैंने उन्हें लेख भेज दिए। वे छप भी गए। जनता शासन के दौरान, इस पर भी सी.बी.आई. वाले मेरे पीछे पड़ गए कि इन बातों की अंदरूनी जानकारी मुझे कहां से मिली। जाहिर था, वह मेरे पति पर शक कर रहे थे। इसीलिए, वह बार-बार मुझे धमकाते और जिरह करते रहे। उन्हें नहीं पता था कि मेरे पति किस धातु के बने हैं। उनके सरकारी कामों की भनक भी मुझे उनके मुख से कभी नहीं लगी। किंतु, मैं उस माहौल में तो रहती ही थी। अपनी आंखें और कान भी खुले रखती थी और खुद दूसरों से बातचीत करने और जरूरत पड़े तो उन जगहों पर जाने से भी कतराती नहीं थी। स्वयं कई बार मेरे पति को इस बात पर ताज्जुब होता था कि मैं कैसे इतनी खबर निकाल लाती हूँ। हां, उनकी पत्नी होने का कुछ लाभ

तो संपर्क साधने में मिल ही जाता था। जयपुर की तलाशियों के बारे में लिखने में मैंने बड़ी मेहनत की थी। राजमहलों को देखने का लोभ तो था ही, इसके लिए सबसे पहले मैं जयपुर गई, जिससे जयपुर शहर की भौगोलिक स्थिति और इतिहास के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त कर सकूँ। कुछ किताबों से इकट्ठा किया, कुछ स्वयं वहां देखकर।

जयपुर नगर की आधारशिला सन् 1727 में आमेर के नरेश सवाई माधोसिंह ने 25 नवंबर को रखी थी। उनके एक प्रमुख सलाहकार थे विद्याधर भट्टाचार्य। विद्याधर भट्टाचार्य ने ही नगर को योजनाबद्ध तरीके से बनाया था। नगर के मुख्य बाजार की सड़कें 111 फीट चौड़ी हैं और इनसे छह बाजार निकले हैं। इन बाजारों की सड़कें भी 55 फीट चौड़ी हैं। लोगों ने बताया कि पहले इन्हीं बाजारों में से होकर राजा की सवारी निकला करती थी। पूर्व से पश्चिम तक की मुख्य सड़क सवा दो मील लंबी है। जयपुर के रास्तों की एक खूबी यह देखने को मिली कि सभी रास्ते एक दूसरे को समकोण पर काटते हैं। इसलिए लक्ष्य पर पहुंचना आसान हो जाता है। राजमहल तक पहुंचने के लिए मुख्य-द्वार पूर्व में व त्रिपोलिया-द्वार दक्षिण में है।

जयपुर का सिटी पैलेस जयपुर का दरबार व कार्यालय और निवास-स्थान प्रारंभ से लेकर आखीर यानी सवाई मानसिंह द्वितीय तक रहा। महाराजा मानसिंह का पहला विवाह जोधपुर-नरेश महाराजा उम्मेदसिंह की बहन गुरुधरबाई से सन् 1924 को हुआ था। इस विवाह से इनके एक राजकुमारी प्रेमकुंवर हुई और एक राजकुमार भवानीसिंह। जयपुर राजवंश में करीब सौ साल बाद पुत्र उत्पन्न हुआ। इसके पहले जितने भी राजा जयपुर की राजगद्दी पर बैठे, वे सब दत्तक-पुत्र थे। मानसिंह ने दूसरा विवाह जोधपुर-नरेश सुमेरसिंह की पुत्री के साथ किया। इस विवाह से राजकुमार जयसिंह और दूसरे राजकुमार पृथ्वीसिंह का जन्म हुआ। तीसरा विवाह कूचबिहार की राजकुमारी गायत्रीदेवी से सन् 1940 में हुआ। महारानी गायत्रीदेवी ने सन् 1946 में राजकुमार जगतसिंह को जन्म दिया। इसके बाद गायत्रीदेवी के लिए मोती डूंरी में 'तख्ते-शाही' नाम से एक नया महल, ब्रिटिश शैली के कैसल (किले) की भांति बनाया गया। तब से गायत्रीदेवी वहीं रहने लगीं।

सिटी पैलेस को अब जयपुर राज्य के वर्तमान उत्तराधिकारियों का पैतृक और आफिशियल निवास घोषित कर दिया गया है। यह मुख्य शहर के बीच में है और शहर का एक-चौथाई हिस्सा घेरे हुए है। इसी सिटी पैलेस में 'कपट द्वार' है। 'कपट द्वार' महाराजा की निजी संपत्ति रखने का स्थान रहा है। इसका नाम 'कपट द्वार' इसलिए पड़ा क्योंकि, यह इस प्रकार बना है कि बाहर से देखने पर आसानी से इस पर किसी की नजर नहीं पड़ती। बाहर से केवल एक दरवाजा-भर दीखता है, जिसे देखकर कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता कि इसके पीछे कितनी बड़ी जगह छिपी होगी।

सिटी पैलेस के अन्दर विस्तृत कमरे, खूबसूरत पर्शियन गलीचे, मनमोहक झाड़ू-फानूस—इतने विशाल और इतने साफ-सुथरे कि लगा वहां देखभाल की अभी भी कोई

कमी नहीं है। दीवारों पर सोने की कलम का काम और रंग-विरंगी चित्रकारी। लगता था जैसे, रंगों की महफिल सजी हो। सारा माहौल सत्रहवीं-अठारहवीं शती का-सा, पर, आधुनिकता की छाप भी पूरी तरह लिए हुए। चारों ओर भव्यता जैसे बिखरी पड़ी हो। जगह-जगह, लाल केसरिया पगड़ी बांधे, अपनी परंपरागत पोशाक अंगरखा और धोती पहने सेवक दिखाई पड़े, जिनकी बातों का राजस्थानी लहजा और उनकी लहराती मूँछ पुराने दिनों की यादें ताजा कर देतीं। कहीं-कहीं पेंट और कमीज ने अंगरखा और धोती का स्थान ले लिया है, पर पगड़ी अभी भी सिर पर सुरक्षित है।

गज पोल होकर भी सिटी पैलेस के दीवान-ए-आम में जाने का रास्ता है। सामने ही खड़ी गैलरी है, जिसमें बारीक कारीगरी से बनाई गई जाली का काम है, खंभे संगमरमर के। दीवाने-ए-आम से ही होकर एक छोटा द्वार और था, जिससे दीवान-ए-खास में पहुंचते हैं।

दीवान-ए-खास के पार्श्व में ही राजपूत शैली में बना चंद्रमहल है। सात भिन्न खंडों के नाम हैं—प्रियतम निवास, शोभा निवास, सुख निवास, छवि निवास, शीश महल, मुकुट महल और मुबारक महल।

कुछ अफसरों ने जो उस तलाशी-अभियान में शुरू से ही लगे हुए थे, मुझे बताया था कि जयपुर के राजमहलों की तलाशी लेना अपने-आपमें बहुत कठिन काम था क्योंकि, नगर के कुल क्षेत्रफल का लगभग छठवां भाग तो राजमहल ही घेरे हुए हैं। इन राजमहलों में मुख्य हैं—सिटी पैलेस, चंद्रमहल, मुबारक महल, मोती डूंगरी, आमेर का महल और इसके अलावा जल महल, जयगढ़ का किला और शिलामाता का मंदिर।

हो सकता है, जयपुर के राजमहलों की तलाशी का कारण राजनीतिक रहा हो। यह भी हो सकता है कि गुप्त रूप से मिली सूचनाओं के आधार पर छिपी संपत्ति को निकालने के लिए, इस प्रकार की योजना बनी हो। दोनों में से क्या बात सत्य थी—कहा नहीं जा सकता। वैसे, पहले भी अनेक बड़े घरानों की तलाशियां हुई थीं। उन्हें संचालित आयकर आयुक्त करते थे पर क्योंकि, यह एक बड़े राजघराने से संबंधित तलाशी थी, इसका संचालन प्रत्यक्ष-कर बोर्ड के अध्यक्ष एस.आर. मेहता की अनुमति लेकर हुआ। अफसरों ने भी सरकारी आदेशों के अनुसार तलाशी का संचालन किया। राजनीति से उनका कोई संबंध नहीं था। मैंने भी निष्पक्ष पत्रकारिता की दृष्टि से इस तलाशी से संबंधित खबरें इकट्ठी की थीं। राजनीति से मेरा भी कोई वास्ता नहीं था। पर चूंकि, आपातकाल के दौरान ये तलाशियां हुई थीं, इसलिए इन पर दूसरा रंग चढ़ गया या चढ़ा दिया गया। उस समय कुछ भी संभव था।

राजमहलों की तलाशी के अभियान का नेतृत्व जिन वरिष्ठ अधिकारियों ने किया था, उन सबसे मैं अलग-अलग मिली। वे थे—सर्वश्री एस. वांचीनाथ, सिक्की तलवार, विजय माथुर और रंगभाष्मम्। ठाकुर उन दिनों प्रत्यक्ष कर बोर्ड के अध्यक्ष एस.आर. मेहता के पी.एस. थे, जहां से सारा अभियान संचालित हुआ था। लगभग सौ अधिकारी दिल्ली से

जयपुर गए थे। एक साथ इतनी बड़ी संख्या में अधिकारियों का अपने कार्य-क्षेत्र से दूर जाना संशय का कारण बन सकता था, इसलिए इन लोगों को छोटी-छोटी टुकड़ियों में, कुछ को बस से, कुछ को रेल से और कुछ को हवाई जहाज से जयपुर पहुंचाया गया। मजे की बात यह थी कि इन अधिकारियों में से भी किसी को पता नहीं था कि वे कहाँ जा रहे हैं और उनके इस अभियान का लक्ष्य क्या और कौन है? इन अधिकारियों में कुछ महिला अधिकारी भी थीं। तलाशी प्रारंभ होने से पहले इतने लोगों को जयपुर-जैसे—दिल्ली, वंदई की अपेक्षा छोटे—शहर में ठहराना और वह भी इस तरह कि किसी को पता न चले, अपने-आपमें एक बड़ी समस्या थी। इन सभी व्यवस्थाओं को सफल बनाने में ठाकुर की भूमिका अहम रही।

अधिकांश अधिकारी पर्यटक के रूप में, कंधे पर झोला लटकाए और हाथों में बैग लिए पूर्व-निर्दिष्ट समय व होटल पर जब पहुंचे, तब ऐसा लगा मानो जयपुर-दर्शन के लिए किसी संस्था की ओर से या क्लब की ओर से, कोई पर्यटक दल आया है। पूरे समूह में, किसी के हाथ में कैमरा लटक रहा था तो कोई आंखों पर गागल्स चढ़ाए इस उत्सुकता से गुलाबी नगरी को निहार रहा था मानो अपनी यात्रा के लक्ष्य पर पहुंच गया हो। जिन होटलों में वे लोग ठहरे थे, बाद में उन होटलों के मैनेजर्स से बात करने पर मुझे बताया गया कि होटल में इतनी भीड़ हो गई थी कि एक-एक कमरे में तीन-तीन, चार-चार लोगों को ठहराना पड़ा था। इतनी सतर्कता और कार्यकुशलता थी कि इतने बड़े अभियान की रंगभूमि वह होटल बना था और होटल ही क्या पूरा जयपुर शहर ही इसका केन्द्र था और किसी को कानों-कान खबर नहीं थी कि कल क्या होनेवाला है।

अगले दिन 11 फरवरी को सुबह आठ बजे अलग-अलग टुकड़ियाँ अलग-अलग स्थानों की ओर चल पड़ीं। दिल्ली से पहुंचे अधिकारियों के साथ जयपुर स्थित आयकर अधिकारी भी शामिल हो गए क्योंकि, इतने बड़े अभियान के लिए सौ अधिकारियों की संख्या बहुत कम थी। एकसाथ और लगभग एक ही समय पर सिटी पैलेस, राजमहल, मोती डूंगरी और जयगढ़ पर आयकर अधिकारियों के दल पहुंचे। क्योंकि, एकसाथ सभी जगहों की तलाशी संभव नहीं थी, इसलिए पहले सभी जगहों को सील कर दिया गया। उसके बाद एक-एक करके इन जगहों को खोला गया और तलाशी ली गई।

जिन आयकर अधिकारियों के नेतृत्व में जयपुर के राजमहलों की तलाशी ली गई, उनका कहना था कि उन सभी ने अपने कार्यकाल में अनेक तलाशियाँ ली हैं और अनेक स्थानों पर, छिपे हुए स्थलों पर, नाना प्रकार से छिपाई गई संपत्ति को पकड़ा है, परंतु जयपुर राजमहलों की तलाशी उनके लिए बिल्कुल एक नया अनुभव थी।

संबंधित अधिकारी ने बताया कि 11 फरवरी को जब उनकी टुकड़ी राजमहल में पहुंची, तब सबसे पहला व्यवधान आया फाटक की लंबी-ऊंची दीवारें। मुख्य द्वार बंद था। चौकीदारों ने गेट खोलने से इनकार कर दिया। उनके चेहरों पर एक मिला-जुला भाव, कुछ-कुछ क्रोध का था तो कुछ-कुछ भय का। शायद, उनके लिए यह पहला अवसर था

जबकि, बाहरी आदमी राजमहल में बिना किसी की आज्ञा के घुस आए थे। ऊंची दीवार फांदना आसान नहीं था। फाटक जितना ऊपर था, उतना ही नीचे। महल की ऊंचाई की ओर देखा तो पाया, सात-मंजिला महल सामने खड़ा है। एक-एक पत्तोर की ऊंचाई कुछ नहीं तो बीस फुट अवश्य होगी। मनुष्य कितना बौना हो सकता है, उसी दिन जाना। खैर, आदमी और फिर आवकर के, कोई न कोई रास्ता खोज ही लिया और अन्दर पहुंच गए।

स्वाभाविक था कि महाराजा की निजी संपत्ति रखने के स्थल 'कपट द्वार' पर सबसे पहले अधिकारियों की दृष्टि पड़े। उसी दिन, सबसे पहली तलाशी आरंभ करते ही, कपट द्वार खोलने का प्रयत्न किया गया। जब अधिकारियों ने द्वार की चाभी मांगी, तो उत्तर मिला कि चाभियां तो दिल्ली में हैं। अधिकारियों की शंका और बढ़ गई कि हो न हो, भारी संख्या में छिपी संपत्ति यहीं है। दिल्ली से चाभियां मंगाने का विशेष प्रबंध किया गया। चाभी लगाकर कपट द्वार खोला गया। सामने स्ट्रांग रूम का जाल-सा बिछा था। एक स्ट्रांग रूम काफी बड़ा था और उसके अंदर भी और कई स्ट्रांग रूम थे। इन स्ट्रांग रूमों तक पहुंचने के लिए तीन दरवाजे और बड़ा गोदरेज का दरवाजा था। स्ट्रांग रूम में चारों ओर आलमारियां ही आलमारियां रखी हुई थीं।

इन छह स्ट्रांग रूमों में से एक में अनगिनत घड़ियां थीं। एक से एक पुरानी घड़ी, कोई छोटी, कोई बड़ी, कोई लंबी, कोई दीवार-घड़ी तो कोई मेज-घड़ी। कोई घड़ी देसी तो कोई विदेशी। चारों ओर घड़ियां ही घड़ियां। सोचा, अगर सारी घड़ियां एक साथ बजने लगे तो घड़ियों की इस टकराहट में कितनी घड़ियां बीत जाएंगी, कोई नहीं कह सकता।

दूसरे स्ट्रांग रूम में केवल सोने के बर्तन थे जैसे, थाली, कटोरी आदि। इनका वजन एक-एक क्विंटल था। इन बर्तनों में एक 23 कैरेट सोने का हम्माम भी था, जिसमें से पानी लेकर महाराजा मुंह धोते थे। इसका वजन 24 किलो था। सोने की एक-एक थाली का वजन करीब 8-8 किलो था। हम्माम तथा अन्य बर्तन भी 23 कैरेट सोने के बने थे। यह देखकर आश्चर्य होता था कि 23 कैरेट सोने से इस तरह की ठोस वस्तुएं कैसे बनायी गई होंगी क्योंकि, 23 कैरेट सोने में लचक तो होती ही नहीं है।

तीसरे स्ट्रांग रूम में थालियां, कटोरियां और अन्य बर्तन मिले। उनमें से अधिकतर बर्तन चांदी के थे। कुछ बर्तनों पर सोने का पानी किया हुआ था। चौथे स्ट्रांग रूम में हाथी की झूल एवं चांदी के हौदे रखे थे। मुख्य स्ट्रांग रूम में चांदी की झूलें, 40-50 हौदे तथा हौदों को सजाने का सामान मिला। इसी स्ट्रांग रूम के एक अन्य रूम में महारानियों के आभूषण रखे थे। वहां के पहरेदारों ने बताया कि इस रूम तक जाने के लिए रानियों के कमरों से गुप्त रास्ते थे, जिनसे होकर रानियां स्ट्रांग रूम तक जाती थीं। आभूषणों के ढेर में से मनपसंद आभूषण निकालकर पहन लेती थीं और मन भर जाने पर फिर उन आभूषणों को वहीं रख आतीं और दूसरे ले जाती थीं।

पहरेदारों से पता चला कि वहां जनाना ड्योढ़ी भी है, जिसमें किसी को भी जाने

की आज्ञा नहीं थी। महाराजा माधोसिंह के पूर्वज रामसिंह-द्वितीय के नौ तो रानियां थीं और खवासों की तो गिनती ही नहीं थी। कहते हैं कि महाराजा माधोसिंह-तृतीय ने इस जनाना ड्योढ़ी में 308 पड़दायतें रखी हुई थीं। उनमें से एक उस समय भी जीवित थी और उसकी उम्र लगभग 100 वर्ष की थी। उसे राजस्थान सरकार की ओर से आर्थिक सहायता भी मिल रही थी। जनाना ड्योढ़ी में जाने के लिए मुख्य महल के बगीचे से होकर एक रास्ता जाता है। इस रास्ते पर घोड़े चल सकते हैं। कहते हैं कि जब महाराजा घोड़े पर चढ़कर इस रास्ते से जनाना ड्योढ़ी की ओर जाते थे, तो हर रानी यही समझती थी कि राजा उसी की ओर आ रहे हैं।

सिटी पैलेस की तलाशी में चांदी के दो बड़े कलश भी मिले। एक-एक कलश का वजन साढ़े-आठ मन था। कहते हैं, सवाई महाराजा माधोसिंह-तृतीय बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। सन् 1902 में वह इंग्लैंड गए। उस समय तक बहुत कम भारतीय विदेश जाते थे। उन्होंने एक बिलकुल नया पानी का जहाज किराए पर लिया और उसे पूरी तरह गंगा-जल से धुलवाकर पवित्र कराया। महाराजा अपने साथ 125 व्यक्तियों को ले गए। लगभग 2000 मन सामान के और 600 खाने-पीने तथा दूसरी चीजों के बंडल साथ थे। यात्रा में पीने और नहाने के लिए गंगा-जल इन्हीं कलशों में भरकर ले जाया गया था।

सिटी पैलेस में ही कई प्राचीन ग्रंथों की पांडुलिपियां मिलीं, जो दुर्लभ तथा अप्राप्य हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय है—‘रज्मनामा’ की प्रतिलिपि। रज्मनामा महाभारत का फारसी में किया हुआ अनुवाद है, जिसे मुगल बादशाह अकबर ने अवुल फजल से करवाया था और अपने चित्रकारों द्वारा चित्रों से सजवाया था। उसी की एक प्रतिलिपि है यह रज्मनामा। रज्मनामा व अन्य बहुमूल्य पांडुलिपियां मुबारक महल के पास ही पोर्थाखाने में सुरक्षित हैं।

आयकर अधिकारियों की दूसरी टुकड़ी से बात करने पर पता चला कि राजमहल की तलाशी उसी दिन आरंभ कर दी गई थी। राजमहल के जिस कमरे में जवाहरात मिले, उसके बाहर गोदरेज का दरवाजा था—दरवाजा जो दस-पंद्रह साल पुराना अवश्य ही होगा, उसे खोलने के लिए रस्सों से बांधकर खिंचवाना पड़ा, इतने भारी-भरकम थे वे दरवाजे। यहीं पर सोने की एक छड़ी मिली, जो मुगल बादशाह अकबर ने महाराजा मानसिंह को उनकी सेवाओं के बदले उपहार में दी थी। इसका वजन करीब दो किलो था और इस पर आकर्षक मीनाकारी थी। दरबार के कायदे के अनुसार सभी दरबारियों को मुगल बादशाह के सामने ‘सावधान’ की मुद्रा में खड़े रहना पड़ता था, परंतु राजा मानसिंह को इतनी छूट मिली हुई थी कि वे इस छड़ी पर हाथों की टेक लेकर खड़े रह सकते थे।

यहीं पर एक हार लाइली का मिला, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि लाइली के हर दाने पर मुगल बादशाहों के नाम अरबी में लिखे हैं। यह देखने में रूबी-जैसी लगती है, पर असल में रूबी है नहीं। इसके साथ मोती भी पिरोये हुए हैं।

राजा मानसिंह की एक तलवार भी मिली। उसके ब्लेड पर जो तारीख खुदी हुई

है, वह लगभग सन् 1738 की है। म्यान पर ब्लू डायमंड जड़े हैं। ये नीली आभावाले सर्वोत्तम हीरे माने जाते हैं। म्यान के हर मिलीमीटर पर ऐसे ही छोटे-बड़े हीरे जड़े हैं। हीरे ऊपर म्यान के हथ्ये पर और नीचे नोकीले भाग की ओर भी जड़े हैं। बीच में लाल मखमल है। यह तलवार लगभग 10 लाख कीमत की आंकी गई। इसमें पन्ने भी जड़े हैं।

महाराजा मानसिंह-द्वितीय का सरपेंच भी मिला, जिसे वे पगड़ी में लगाते थे। सरपेंच बहुत ही अधिक सुंदर और बारीक कारीगरी का नमूना है। इसमें भी रूबी, पुखराज और हीरे जड़े हैं। इसकी कीमत करीब 13 लाख आंकी गई।

राजमहल के अंदरूनी कमरों में दो कैबिनेट मिलीं, जिनमें कनिष्क, चंद्रगुप्त और बलवन के समय के सिक्के थे। दो आलमारियां जेड पत्थर की कलात्मक वस्तुओं से भरी थीं। यह एक कड़ा पत्थर है, जिस पर बारीक कारीगरी करना बहुत कठिन काम होता है परंतु, जयपुर के कारीगर अपने कला-कौशल के लिए विश्वविख्यात रहे हैं और जेड पत्थर पर इनकी कारीगरी देखते ही बनती है। यह स्ट्रांग रूम इतना बड़ा था कि इसमें अंदर तक जीप जा सकती थी। राजमहल के अन्य दो कमरों में कट ग्लास और चीनी मिट्टी के बरतन मिले।

तलाशी में सबसे अधिक माल मोती डूंगरी स्थित गायत्रीदेवी के महल में मिला। इस महल की तलाशी के दौरान कुछ बहुत ही सनसनीखेज तथ्य सामने आए तथा ऐसी छिपी जगहों का पता लगा, जहां अघोषित संपत्ति का अंबार था। उस समय इस महल में कोई नहीं रहता था। यहां दो स्ट्रांग रूम हैं। 18 फरवरी को इसकी सील खोलकर तलाशी ली गई। इसमें बहुत अधिक मात्रा में गहने मिले। गोदरेज की एक आलमारी में राजा मानसिंह-द्वितीय के समय का सामान भी रखा हुआ था। इन सभी चीजों का मूल्यांकन प्रारंभ हुआ। जो आयकर अधिकारी स्ट्रांग रूम में उपस्थित थे, उन्होंने बताया कि जिस समय विभिन्न सामानों की कीमतें आंकी जा रही थीं, उनका ध्यान एक बड़ी-सी तिजोरी की ओर गया। उस पर 'सीनियर हर हाइनेस' लिखा हुआ था। तिजोरी को खोला गया तो उसके अंदर चांदी की एक संदूकची मिली, जिसमें बहुत-सी चाभियां थीं। हर चाभी पर एक टैग लगा था कि वह चाभी कहां की है। स्ट्रांग रूम के बीचों-बीच एक बहुत बड़ा-सा काला संदूक रखा था, जिस पर एक बड़ा ताला लगा था। उस संदूक में ही एक दूसरी छोटी पेटी मिली, जो सील्ड थी। उस सील्ड पेटी में राजा मानसिंह-द्वितीय के समय की प्रेस कटिंग्स और उनके निजी पत्र रखे थे। प्रेस कटिंग्स और चिट्ठियां इसलिए सुरक्षित रखी गईं ताकि, उनकी जीवनी लिखते समय उनका उपयोग किया जा सके।

काले संदूक की तलाशी लेने पर कुछ थैलियां मिलीं, जिनमें चांदी के सिक्के और पांच-छह सोने के सिक्के रखे थे। उत्सुकता फिर बढ़ी कि इस संदूक में चांदी और सोने के कुछ सिक्के ही क्यों? ऐसे अनेक प्रश्न मस्तिष्क में घूमने लगे। इस बीच रात हो गई थी इसलिए स्ट्रांग रूम को दोबारा सील कर दिया गया।

दिन-भर के कठिन परिश्रम के बाद अधिकारी जब सर्किट हाउस के अपने छोटे-से

कमरे में पहुंचे सोने के लिए, तब उन्हें नींद नहीं आ रही थी। काला संदूक, सील लगी छोटी पेटी, उसमें प्रेस कटिंग्स, थैलियों में चांदी और सोने के चंद ही सिक्के—क्या भेद है इन सबके पीछे? कहां जुड़े हैं इनके तार? हर बार, हर करवट के साथ, बार-बार यही प्रश्न उनके मस्तिष्क में कौंध रहा था।

मुझे आज भी वह दिन अच्छी तरह याद है। 18 फरवरी की रात थी। रात्रि की निस्तब्धता में प्रत्यक्ष कर बोर्ड के अध्यक्ष एस.आर. मेहता का फोन आया, “टी.पी., फौरन आ जाओ।” मैं चौंकी—“अब क्या हो गया? इतनी रात गए कौन-सी आफत आ गई?” वैसे, इस तरह के तात्कालिक आर्डर आना कोई नई बात नहीं थी। जब कोई विशेष अभियान छिड़ता, तब रात काली जरूर होती थी, किंतु विशेष चिंता नहीं होती थी। पर यह तो आपातकाल का दौर था। उतनी रात को अकेले जाना। वैसे, मेहता साहब हमारे घर से थोड़ी ही दूर, शाहजहां रोड पर रहते। वे आर्मी में रह चुके थे। चुस्त-दुरुस्त व्यक्ति थे। हर समय काला चश्मा लगाए रहते थे। सुना था, किसी युद्ध में उनकी एक आंख चली गई थी। सिविल सर्विसेज में आने के बाद भी उनकी मुस्तैदी में कोई फरक नहीं आया था। टी.पी. के रूप में उन्हें अपने-जैसा ही एक चुस्त अफसर मिल गया था। अपने मातहतों के प्रति उनका स्नेह और सुरक्षा का भाव सदैव रहता था। इसलिए रात्रि में जाना भी कोई डर की बात नहीं थी, पर उस दिन मैंने उन्हें अकेले नहीं जाने दिया। जिद्द करके मैं भी उनके साथ गई।

मेहता साहब कमरे में चहलकदमी कर रहे थे। इनके साथ मुझे देखकर वे कुछ नहीं बोले। शायद, उस समय मेरी उपस्थिति उनके दिमाग में रजिस्टर ही नहीं हुई।

मेहता साहब ने सारी बात बताई—स्ट्रांग रूम का खोला जाना, बीचो-बीच रखा काला संदूक, उसमें सील लगी छोटी पेटी, उसमें प्रेस कटिंग्स, थैलियों में चांदी और सोने के चंद सिक्के। वे विचार करने लगे कि अब क्या किया जाए। ठाकुर ने कहा, “मैं अभी बात करके देखता हूं।” उन्हीं के घर से जयपुर फोन किया और पूछा, “स्ट्रांग रूम जब पहले खोला गया, तब वहां कोई विशेष बात देखी क्या?” उधर से बताया गया कि पूरे स्ट्रांग रूम में लाल पत्थर के स्लैब लगे हुए हैं। इन्होंने पूछा, “और क्या देखा, याद करें। कोई नई बात?” जवाब मिला, “लाल पत्थरों की स्लैब पर जुड़ाई के स्थान पर गहरा कोलतार लगा है।”

अब मेहता साहब और ठाकुर में बातें होने लगीं। खूबसूरत लाल पत्थरों के बीच काला कोलतार! चांद में दाग! अवश्य ही कोलतार किसी खास मतलब से लगाया गया होगा। और मतलब साफ था कि किसी तरह पानी इन दरारों से नीचे न जाने पाए। अवश्य ही नीचे कोई तहखाना है या फिर कोई चीज जमीन में गड़ी है। निर्णय हो गया कि संदूक हटाया जाए और संदूक के नीचे की जगह को ठोककर देखा जाए कि खोखलेपन की आवाज तो नहीं आ रही। यदि खोखलेपन की आवाज आ रही है, तो पत्थरों को उखाड़कर देखा जाए। इस निर्णय की तत्काल ही फोन द्वारा जयपुर सूचना दे दी गई कि सवेरे ही इस

पर अमल किया जाए। इसके बाद हम घर लौट आए।

दूसरे दिन स्ट्रांग रूम पुनः खोला गया। संदूक को उसकी जगह से हटाया गया। संदूक के नीचे की जगह को ठोककर देखने पर खोखलेपन की आवाज आई। पत्थरों को उखाड़ने पर नीचे रेत मिली। रेत के अंदर हाथ डाला, तो दो ईंटें निकलीं। इन ईंटों पर एन.पी.सी. खुदा हुआ था, जैसा कि प्रायः पकी ईंटों पर होता है। पत्थरों के बीच ईंटों का क्या काम? इससे एक और संकेत मिला कि यह जगह बहुत पुरानी नहीं है। उस जगह पर और नीचे से रेत हटाकर छानबीन की गई। पर निराशा, रेत ही रेत।

ईंटों ने जो संदेश दिया था वह शायद, बेमानी था। अधिकारियों ने सोचा और लगभग निश्चित कर लिया कि अब इस जगह को छोड़ दिया जाए। शायद, अब नीचे और कुछ नहीं मिलेगा। किंतु, फिर 'चांद में दाग' क्यों? यह बात बार-बार दिमाग को कुरेद रही थी। दिल्ली से भी इंस्ट्रक्शन गए कि और गहराई तक देखा जाए। फिर एक बार और रेत को हटाया गया। रेत निकालते-निकालते एक पोलीथिन कवर पर हाथ जा लगा। रेत की फिसलन के बीच पोलीथिन की चिकनाहट हाथों को एकबारगी ऐसे लगी जैसे सांप पर हाथ पड़ गया हो। सब चौंकर एकदम पीछे हट गए, पर कर्तव्य, अनुभव और दृढ़ संकल्प ने उन्हें बल दिया और खतरे की परवाह न करते हुए और रेत बाहर निकाली गई। सफलता उनके सामने थी। सोने की मोहरें, मोहरे और मोहरें। विभिन्न शासकों के काल की मोहरें निकलीं। मोहरों को निकालते-निकालते ही करीब चार घंटे बीत गए। मोहरों का ढेर लग गया। मोहरें निकलना खत्म हुई तो सोने की सिल्लियां। अब सिल्लियां ही सिल्लियां। कुल 90 सिल्लियों और 50,000 मोहरों का छिपा खजाना मिला।

19 फरवरी की रात वही सर्किट हाउस, वही छोटा-सा कमरा, वही अधिकारी, जिनकी 18 फरवरी की रात खजाने की खोज में करवटें बदलते बीती थी, आज की रात खजाना खोज निकालने की खुशी में बीती।

सोने की मोहरों और सिल्लियों का वजन लगभग 900 किलो था। इनका जो मूल्य आंका गया, वह था—करीब 5 करोड़। आयकर विभाग के इतिहास में सोने की मोहरों और सिल्लियों का इतना बड़ा खजाना पहली बार मिला था।

अब सोचा गया कि जयपुर के अन्य महलों की तलाशी ली जाए। शायद, उनमें भी अन्य महलों की तरह अघोषित संपत्ति छिपी हुई निकले। अब इसके लिए मेटल डिटेक्टर काम में लाने का निर्णय लिया गया। हैदराबाद से विशेषज्ञ विशेष रूप से बुलवाए गए।

एक बार फिर तलाशियां प्रारंभ हुई। इस बार मेटल डिटेक्टर ने संकेत दिए कि मोती डूंगरी महल में महाराजा के स्टडी रूम में किताबों की आलमारी के पीछे कोई धातु की वस्तु छिपी है। आश्चर्य हुआ कि किताबों की आलमारी के पीछे धातु की वस्तु कैसे हो सकती है? वहां तो चारों ओर किताबें ही किताबें दिखाई पड़ रही थीं।

एक बार फिर 18 फरवरीवाली कशमकश चालू हो गई। विशेषज्ञों का कहना था कि मेटल डिटेक्टर के अनुसार किताबों के पीछे कोई लोहे की तिजोरी हो सकती है जबकि यहां किताबों के सिवाय कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा था। खैर, पुस्तकों की आलमारी खोली गई। जगह-जगह की पुस्तकें हटाकर देखी गई। साफ-सुथरी पुस्तकें थीं। चेहरे फिर मायूस होने को हुए कि अरे यह क्या!—सामने पुस्तकें नहीं, केवल लकड़ी के ढांचे थे किताबों की शक्ल के। वैसा ही रंगरोगन किए हुए, करीने से सजे। अब विश्वास हो गया कि इन 'किताबी ढांचों' के पीछे जरूर किसी खजाने की आत्मा कैद है। यदि ऐसा नहीं है, तो फिर किताबों की सजी हुई लाइन में यह लकड़ी के 'किताबी ढांचे' क्यों? जरा-सी कोशिश से ही—ढांचों को हटाते ही, उनके पीछे का पूरा का पूरा हिस्सा एक खिड़की की तरह खुल गया। सामने तिजोरी थी। अब समस्या थी इसकी चाभी की। तभी एक अधिकारी को याद आया कि नीचे स्ट्रांग रूम में जो टैग लगी चाभियों की संदूकची मिली थी उसमें एक चाभी पर स्टडी रूम का टैग लगा था। शायद, टैग लगी वह चाभी यहीं की हो। तुरंत चाभी लाई गई और तिजोरी खुल गई।

सबकी आंखें सामने तिजोरी पर कि शायद, कुछ निकले। पर तिजोरी खाली थी और उसमें केवल अंधेरा था। तिजोरी में रखी संपत्ति शायद, पहले ही बाहर निकाल ली गई थी। फिर भी अंधेरे में टटोलते हाथों को लाल मखमल का एक डिब्बा मिल ही गया। डिब्बे में कुछ मोहरें थीं और बच्चे के नाप की एक अंगूठी, जिस पर महाराजा के हस्ताक्षर खुदे थे। यह अंगूठी मोहर के रूप में इस्तेमाल किए जाने के लिए थी।

और खोजा गया तो तिजोरी की एक दराज में चांदी का एक डिब्बा मिला, जो चारों तरफ से चांदी के बारह पेचों से जड़ा हुआ था। डिब्बा बहुत हल्का था और इसको जैसे ही खोला, नग तथा आभूषणों की चमक पूरे कमरे में कौंध गई। पन्ने का एक खूबसूरत नेकलेस, जिसमें तीन नग लगे थे, इसका वजन 1322 कैरेट था। बीच के नग का वजन ही 522 कैरेट था और इसकी बनावट अष्टकोणीय थी। ऊपर, नीचे और साइड में भी कटिंग थी। नगों में इतनी चमक थी कि जिधर से घुमाकर देखते, आंखें चौंधिया जातीं। उस एक नग की ही कीमत 1 करोड़ 4 लाख आंकी गई और जौहरियों ने कहा कि इस प्रकार का नग संसार में दूसरा मिलना संभव नहीं है। सच पूछा जाए तो इसकी असली कीमत दूसरा कोई लगा ही नहीं सकता। पूरे नेकलेस की कीमत डेढ़ करोड़ आंकी गई। इसी डिब्बे में दो लटकन और एक तख्ती भी मिली, जिस पर भी जड़ाई का बेहतरीन काम किया हुआ था। लटकन और तख्ती दोनों की कीमत 50 हजार प्रति कैरेट आंकी गई। लटकन की कीमत 30 लाख और तख्ती की कीमत 42 लाख।

अधिकारियों ने बताया कि 522 कैरेटवाला नग जब वे हाथ में लेकर देख रहे थे, तब अचानक जौहरी के मुख से यह सुनकर कि वह अकेला नग ही डेढ़ करोड़ का है, वे इतने अधिक रोमांचित हो गए कि पन्ना उनके हाथ से छूटकर नीचे गिर गया। पर किस्मत अच्छी थी कि वह गोद में ही गिरा और तत्काल मिल गया। इस नेकलेस की आंकी

गई कीमत से दो-गुनी से भी अधिक कीमत देने के लिए विश्व के प्रसिद्ध जौहरियों के आफर मिले।

ये सब तलाशियां जब चल रही थीं, उस दौरान मैं अनेक बार जयपुर गई। वहां के लोगों से मिली। किले में और किले के बाहर, महलों में और महलों के बाहर, क्या-क्या बातें होती रहीं, इसकी अनेक जानकारियां मुझे मिलीं। तभी कई बार सुना कि 'अब अठे के रखो है। खजाना तो अठे से निकल गया है। अठे तो ये हो रह्यो है कि हाथी निकल गयो, पूंछ काढ़ रखी है।' ये बातें आयकर अधिकारियों के कानों में भी पड़ी ही होंगी। मैंने उत्सुकतावश जयगढ़ का, जहां खजाना छिपा होने की बात कही जा रही थी, एक चक्कर लगाया। जयपुर नगर से दस किलोमीटर की दूरी पर उत्तर-पूर्व में एक ऊंची पहाड़ी पर जयगढ़ का किला है। भव्य और विशाल जैसे, कोई बुजुर्ग प्रहरी अपनी सतर्क और पैनी दृष्टि से जयपुर के राजमहलों की निगरानी कर रहा हो।

उन्हीं दिनों अखबारों में जोर-शोर से एक खबर छपी कि जयगढ़ में छिपे हुए खजाने का नक्शा एक बनजारा आयकर अधिकारियों को देकर लापता हो गया है तथा आयकर अधिकारी उस बनजारे का पता लगाने में जुटे हैं। जितने मुंह, उतनी बातें उड़ रही थीं। इन अफवाहों के पीछे जयपुर के लोगों में प्रचलित किले और महलों से जुड़ी रहस्य और रोमांच की कथाओं का योगदान भी कुछ कम नहीं था। बताया गया कि पहले ऐसे कोई बैंक तो होते नहीं थे, जहां धन-संपत्ति जमा कराई जा सकती हो। परिस्थितियां ऐसी थीं कि किसी समय भी आक्रमण हो सकता था। अतएव संपत्ति को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक था कि उसे कहीं छिपाकर रखा जाए। फिर एक अंधविश्वास भी सदियों से पनपता रहा है कि धरतीमां रत्न-गर्भा है और उसमें रखी गई चीज सदैव सुरक्षित रहती है। संभवतः यही कारण था कि राजस्थान में राजा-महाराजाओं तक ने अपनी संपत्ति को धरती में गाड़कर रखा। छिपाई गई संपत्ति की जगह और संपत्ति का ब्यौरा अक्सर राजकीय भाषा में, सांकेतिक रूप से लिखकर अपने विश्वस्त लोगों के पास रख दिया जाता था। इन ब्यौरों को बीजक की संज्ञा दी जाती थी। पृथ्वी के गर्भ में छिपाए गए इन खजानों की चर्चा बहुचर्चित पुस्तक 'फ्रीडम एट मिडनाइट' में भी मिलती है। इस पुस्तक में एक जगह लिखा है—“जयपुर महाराजा का अमूल्य और बेशुमार खजाना राजस्थान की एक पहाड़ी में दबा हुआ था। जिस स्थान पर यह खजाना छिपा था, उस स्थान की निगरानी राजपूतों की एक विशेष जाति मिणा के लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी करते आए हैं। हर महाराजा अपने जीवन-काल में केवल एक बार इस स्थान पर जा सकता था और वहां से अपने साम्राज्य की शोभा बढ़ाने के लिए मनपसंद हीरे-जवाहरात व धन ला सकता था। इस खजाने में एक कंठा भी है, जिसमें कबूतर के अंडे के आकार के लाल माणिकों की तीन लड़ियां हैं। इनके बीच तीन पन्ने जड़े हैं। सबसे बड़ा पन्ना 90 कैरेट का है।” इस और ऐसे ही अन्य विवरणों से यह संकेत मिले कि जयगढ़ में छिपे खजाने की बात सही भी हो सकती है।

राजस्थान में राजा-महाराजाओं के इन छिपे हुए खजानों के साथ कहीं-कहीं रोमांस का पुट भी मिलता है। इस तरह की घटनाओं और कहानियों में जनसाधारण की रुचि भी रहती है। तथ्यपरक घटनाओं को परत-दर-परत यदि देखा जाए तो कई कहानियों के प्लाट मिल सकते हैं। इसलिए मैंने इस ओर अपना काम शुरू किया। कुछ इतिहास की किताबों में पढ़ा, कुछ किस्से-कहानियों, लोक-कथाओं से उजागर हुआ। मालूम पड़ा कि जयसिंह-द्वितीय ने सन् 1734 में साढ़े तीन लाख रुपये खर्च करके नाहरगढ़ का किला बनवाया था। बाद में माधोसिंह-द्वितीय ने किले में ही अपनी पासवानों के लिए सात महल बनवाए। इस गढ़ के निकट ही एक अन्य राजपूत सरदार नाहरसिंह भौमिया की छोटी-सी जागीर थी। नाहरसिंह का माधोसिंह-द्वितीय की एक पासवान-रूपमती से प्रेम हो गया। एक दिन माधोसिंह ने प्रेम-पगे प्रेमियों को रंगे-हाथ पकड़ लिया और नाहरसिंह को महल की खिड़की के बाहर फेंक दिया। रूपमती किले में ही कैद कर दी गई। नाहरसिंह भौमिया महल के नीचे पहाड़ी पर पड़ा जब अपना दम तोड़ रहा था, तभी उधर से एक मीणा निकला।

मीणा ने मरते हुए सरदार नाहरसिंह को पानी पिलाया। नाहरसिंह उसके इस व्यवहार से बहुत प्रभावित हुआ। मीणाओं की स्वामिभक्ति की प्रशंसा करते हुए उसने भविष्यवाणी की कि जिस दिन मीणा लोग राजस्थान के खजानों की रक्षा करना बंद कर देंगे, उस दिन खजाने राजवंश के हाथ से निकल जाएंगे। उन दिनों जयगढ़ किले के प्रहरी मीणा जाति के लोग ही थे और वही जयगढ़ के खजाने की रक्षा करते थे।

आयकर अधिकारियों के कानों में भी ये खबरें पहुंचती ही थीं। जाहिर था कि जयपुर की तलाशियों के दौरान जयगढ़ की ओर भी विशेष रूप से ध्यान जाता। कारण, इन अधिकारियों का विश्वास था कि यदि मोती डूंगरी महल में सोने की सिल्लियां और मोहरें मिल सकती हैं तो जयगढ़ के किले में भी पुराना खजाना छिपा हुआ हो सकता है। पहाड़ी पर होने के कारण इस किले के तहखाने में खजाने को छिपाने की बहुत सुविधा है।

खुफिया विभाग खुड़पेंच करने से बाज नहीं आता। अक्सर रात को जब आयकर अधिकारी पान खाने के बहाने बाहर निकलते, तो शहर में लोगों से बातचीत करते, ताकि जयगढ़ के बारे में और अधिक विश्वसनीय तथ्य मिलें। मैं भी इन अधिकारियों से मिली और उनसे बातचीत करने पर पता चला कि उन्हें भी जयपुर में अनेक प्रकार की खबरें और सूचनाएं जयगढ़ के खजाने के बारे में मिली हैं। उन्होंने बताया कि जयपुर के अनेक निवासियों का ऐसा विश्वास है कि राजा मानसिंह मुगल सम्राट अकबर के बहुत ही निकट और विश्वासपात्र थे। अनेक लड़ाइयों में वे सेनापति के रूप में मुगल सम्राट के साथ रहे और अपनी बहुमूल्य सलाह उन्हें देते रहे। अनुश्रुति ऐसी है कि प्रत्येक लड़ाई में जीते हुए

प्रदेश तो अकबर स्वयं रख लेते थे, और लूट का माल राजा मानसिंह को मिल जाता था। इस तरह राजा मानसिंह के पास एक बहुमूल्य खजाना एकत्र हो गया।

कुछ लोगों का कहना था कि खजाना किसी भी तरह एकत्र हुआ हो, रखा गया वह जयगढ़ किले में ही था। इस मान्यता की पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण भी प्राप्त हुए। जयपुर में मीणा जाति के लोग अभी भी रहते हैं। उनसे भी संपर्क किया गया। मीणा जाति के बुजुर्ग सदस्यों ने बताया कि उनका गढ़ दौसा था। आमेर, रामगढ़ और निवाई क्षेत्रों में भी उनकी जागीरें थीं। दसवीं शताब्दी में ग्वालियर के कछवाहा राजपूतों ने उन्हें युद्ध में हरा दिया, तब से उनकी जागीरदारी छिन गई और वे महलों के पहरेदार बन गए।

मीणा जाति की ईमानदारी और स्वामिभक्ति वेमिसाल थी। जब महाराज खजाने में जाते थे, तब उनकी आंखों पर पट्टी बांधकर यही ले जाते थे। इन किलेदारों की स्वयं की आंखें खुली रहती थीं, किंतु, इनको भी पूरी तरह खजाने का नक्शा नहीं मालूम होता था। उन्हें हिस्सों में, रास्ते का ज्ञान होता था। एक जगह से महाराज के साथ एक आदमी चलता था, तो दूसरी जगह से दूसरा आदमी चलता था। इन मीणा पहरेदारों में से प्रत्येक के पास एक चाभी होती थी, जिसे वे एक दूसरे के पास पहुंचाकर दूसरी चाभी लेते थे। ये पहरेदार हर महीने बदले भी जाते थे। खजाने में पहुंचकर ही महाराज की आंखों की पट्टी खोली जाती थी और वे जितनी संपत्ति ला सकें, ले आते थे। केवल महाराज ही खजाने में जा सकते थे। राज्य-परिवार के अन्य सदस्यों को खजाने में जाने का अधिकार नहीं था।

जब ये बातें हो रही थीं, तब वहां एक बूढ़े किंतु, रौबदार मीणा राजपूत बैठे थे, जो शायद, अस्सी-पिच्चासी वर्ष के तो होंगे ही। उन्होंने बताया, “राजा मानसिंह-द्वितीय ने आंखों पर पट्टी बांधे जाने की रस्म तोड़ दी थी और वे खुली आंखों से ही खजाने में गए थे। उन्होंने एक और प्रथा का उल्लंघन किया कि मीणा पहरेदारों को हटाकर उनकी जगह दूसरे राजपूत पहरेदार रख दिए थे। मीणाओं की स्वामिभक्ति का यह आलम था कि एक बार एक मीणा का बच्चा जयगढ़ किले से एक कीला उठा लाया। बस, मीणा ने आव देखा न ताव, बच्चे का हाथ ही काट डाला। और, उन बूढ़े सज्जन के अनुसार, खजाने पर या कहें राज-परिवार पर आई इस विपत्ति का कारण इन्हीं दोनों परंपराओं का तोड़ा जाना है।

जयगढ़ में भी एक कपट-द्वार मिला, जिसके बारे में कहा जाता था कि खजाना वहीं रखा है। जब मैटल डिटेक्टर का प्रयोग किया गया, तब बार-बार मैटल डिटेक्टर एक ओर संकेत कर रहा था। वहां जब देखा गया तब दीवार के अंदर छिपा एक स्थान मिला। विभिन्न नापों के उन्नीस बड़े-बड़े पीतल के कलश वहां रखे थे। एक कलश के ऊपर एक कटोरे में एक नारियल, पांच चांदी के और दो सोने के सिक्के भी मिले। इसके अतिरिक्त वहां केवल कुछ पुराने अस्त्र-शस्त्र व पोशाकें और मुद्राएं ही मिलीं।

आयकर अधिकारियों को काफी निराशा हुई पर, परिस्थितियां और अनुभव उन्हें

बार-बार यह विश्वास दिला रहे थे कि जयगढ़ में जरूर खजाना छिपा है, जिसे उन्हें ढूंढ़ निकालना है। जितना भी सामने शून्य दिखता, उतना ही उनका संकल्प और दृढ़ हो जाता। वे दिन में तलाशी का काम करते और रात को आम शहरियों की तरह जयपुर-निवासियों के बीच घुल-मिलकर किसी प्रामाणिक तथ्य की खोज में लग जाते। पर उन्होंने अक्सर लोगों को यही कहते सुना, “खजाना जयगढ़ में अब कहाँ? वह तो सन् 1932 में मानसिंह-द्वितीय ने वाइसराय के कहने पर रातों-रात हटा लिया था।” यहां तक बतलाया गया कि करीब 100 ऊंट एक लंबे अरसे तक हर रात जयगढ़ से खजाना सिटी पैलेस की ओर ढोते रहे।

अधिकारीगण आशा और निराशा के बीच झूल रहे थे। दिल्ली के लिए फोन खटखटाए गए। मेहताजी ने ठाकुर से कहा, “तुम राजस्थान के हो, अच्छी-खासी वहां की भाषा बोल लेते हो। तुम वहां जाओ तो स्थानीय लोगों से बात करके तथ्य क्या है, इसका पता अच्छी तरह लगा लोगे।” ठाकुर एकदम तैयार हो गए। जयपुर पहुंचने पर पता चला कि सही में स्थिति यही थी। किस पर विश्वास करें, किस पर न करें, एक समस्या थी। उस समय तक उन्हें पता नहीं था कि सच और झूठ की इस खिलवाड़ में नियति उनके साथ थी।

उस रात भोजन के बाद जब वे अपने साथियों के साथ बाहर निकले, अपनी हमेशा की आदत के अनुसार पान खाने के लिए, तब तीस-पैंतीस वर्ष के एक युवक से उनकी भेंट हो गई। उसने बताया कि उसके पास एक बीजक है, जिसमें जयगढ़ किले में छिपे खजाने का ब्यौरा और उसे ढूंढ़ने के संकेत हैं। यह बीजक संवत् 1783 में सवाई जयसिंह के समय लिखा गया था, जिसके अनुसार खजाना कई अरब रुपए का है। उसने बताया कि इस बीजक की जानकारी मानसिंह-द्वितीय को भी दी गई थी। उन्होंने उसमें कुछ रुचि तो ली थी किंतु, उसी समय वे विदेश चले गए और वहीं उनकी मृत्यु हो गई। इसलिए बात अधूरी रह गई।

पहले तो ठाकुर और उनके साथियों ने उस युवक की बातों पर विश्वास नहीं किया क्योंकि, इस प्रकार की कहानियां वे बहुत सुन चुके थे। अविश्वास का भाव जब उसने इन लोगों के चेहरे पर देखा तो उसे ठेस लगी। उसने विश्वास दिलाते हुए कहा, “मेरे पास मूल बीजक है और मैं इसे ‘रिवार्ड’ लेने के लिए देना चाहता हूँ।” उससे पूछा गया, “तुम्हारे पास बीजक आया कहाँ से?” रात के अधियारे में सड़क के एक एकांत किनारे पर ये बातें हो रही थीं। उसने अपने हर शब्द पर जोर देते हुए कहा, “मेरे एक पूर्वज की रूह मेरे पिता पर आती है। इस रूह ने ही हमें बताया था कि जयगढ़ में गड़े खजाने का बीजक हमारे घर में ही, एक ट्रंक में पड़ा है। यह ट्रंक हमारे पूर्वजों का था, जिसको हम लोगों ने कभी खोला भी नहीं था। संदूक खोलकर उसे उलट-पलटकर देखा तो बीजक मिल गया।”

ठाकुर ने पूछा, “तुम्हारे पूर्वजों को यह बीजक कहाँ से मिला?” उसने जवाब दिया,

“बीजक हमारे पूर्वजों के पास कहां से आया, इसकी भी एक कहानी है। हमारे परिवार में जागीर का बंटवारा होना था। इसके लिए पुराने कागजात खोजे जा रहे थे। तभी एक बुजुर्ग ने हमें बताया कि हमारे पूर्वजों के दो ट्रंक अमुक व्यक्ति के पास सवाई माधोपुर में पड़े हैं। ये ट्रंक उस समय वहां रखे गए थे, जब हमारे पूर्वजों को किसी कारणवश महाराज ने जयपुर शहर छोड़ने का आदेश दे दिया था। इसका कारण यह था कि हमारे पूर्वजों की बारवाड़ा महाराजा से अनबन थी। महाराजा बारवाड़ा के महाराजा जयपुर से बहुत अच्छे संबंध थे, इसलिए महाराजा जयपुर का क्रोध हम पर ही टूटा। हम सवाई माधोपुर पहुंचे और उस व्यक्ति से मिले, जिसके पास हमारे पूर्वजों ने ट्रंक रखे थे। उसने पास ही पड़े दो ट्रंकों की ओर संकेत किया और कहा, “यही अमानत तुम्हारे पूर्वज हमारे पास छोड़ गए थे। इन्हें ले जाओ।” घर लाकर हमने ट्रंकों में खोजा, जागीर के कागजात मिल गए, किंतु, बीजक नहीं मिला। दोबारा हमने रूह को बुलाया। रूह ने फिर कहा कि बीजक दोनों ट्रंकों में से एक में रखा है। फिर खोजबीन शुरू की, तो एक ट्रंक में बीजक मिल गया।”

यह कहानी एक तिलिस्मी कथा-सी लग रही थी। हालांकि, ठाकुर को विश्वास नहीं हो रहा था, फिर भी उन्होंने सोचा कि क्यों न इस बात की तह तक पहुंचा जाए। इसलिए इन्होंने मूल बीजक मांगा, पर उसने मूल बीजक तभी दिया, जब रिवाड़ दिलवाने का ठाकुर से वायदा करा लिया। ठाकुर ने कहा कि वे उस व्यक्ति से मिलना चाहते हैं, जिस पर रूह आती है। “किसकी रूह है,” पूछने पर उसने बताया कि वह राव कृपाराम की रूह है। राव कृपाराम सवाई राजा जयसिंह के वित्तमंत्री थे और बाद में शायद, मुगलों से मिले खजाने का संरक्षण भी उनके हाथ में आ गया था। ठाकुर ने कहा, “रूह को फिर से बुलाकर पूछो कि खजाना अभी भी बीजक में बताए स्थान पर है या नहीं?” उसने तत्परता से कहा, “चलिए, अभी आपको रूह से मिलाए देता हूं।” यह कहकर वह सबको थोड़ी दूर स्थित अपनी हवेली के अंदरूनी भाग के एक दूसरे कमरे में ले गया। वहां उसके पिता अपनी कुलदेवी की मूर्ति के सामने ध्यान-मग्न बैठे थे। रात घिर आई थी। मूर्ति के सामने भी कई दिए जल रहे थे। वहीं पर दो-तीन कुर्सियां पड़ी थीं। वातावरण धूप और अगरबत्ती के धुएं से सुवासित था। रोमांचकारी माहौल था। सामने देवी की मूर्ति...मूर्ति के सामने वह वृद्ध व्यक्ति...तभी उसने मूर्ति को डंडवत प्रणाम किया। कुछ ही क्षण बाद उसका सारा शरीर कंपकंपाने लगा...अचानक दबी-सी आवाज सुनाई पड़ने लगी। एक फुसफुसाहट, अस्फुट, अनजाने कुछ स्वर। एक आतंक-सा सबके चेहरों पर छा गया। सब मौन, निस्पंद रह गए। रोमांच से रोंगटे खड़े हो गए। तभी उस युवक ने इशारे से संकेत किया कि “आत्मा आ गई है। प्रश्न पूछिए।” ठाकुर ने पूछा, “खजाना जयगढ़ में किस जगह गड़ा है? हमारे पास जयगढ़ का नक्शा है। इस पर हाथ रखकर हमें बताइए खजाना कहां है?”

रूह एक क्षण को रुकी। फिर बोली, “जयगढ़ में इतनी तांत्रिक शक्ति है कि जहां

यह खजाना दबा है, उसके आसपास भी कोई नहीं जा सकता। इसलिए मैं नहीं बतला सकता कि खजाना कहाँ है?"

एक बार तो ठाकुर को संदेह हुआ कि यह किसी आत्मा या रूह की आवाज नहीं, बल्कि उस वृद्ध की ही आवाज है। कोई तत्व की बात मिली नहीं। नाटक में किसी की दिलचस्पी नहीं थी। सो, सब वापस आ गए। दिल्ली लौटकर ठाकुर ने यह घटना मुझे बताई। उनके बताए गए चित्रण से उस रात का पूरा चित्र मेरी आंखों के सामने खिंच गया।

अब खोज के एक नए अध्याय का प्रारंभ किया गया। बीजक एक मटमैले कागज पर लिखा हुआ था। एक ओर दुंदारी लिपि में और दूसरी ओर फारसी में। बीजक के ऊपर 'सही' शब्द लिखा था। इसलिए यह बात भी सिद्ध हो गई कि वह नकल नहीं है। जो युवक बीजक लाया था, उसका नाम था—गोदिका। वह राव कृपाराम का वंशज था, यह भी छानबीन कर ली गई। राव कृपाराम के वंशजों में राव कस्तूरचंद, उनके पुत्र राव टेकचंद, उनके पुत्र गोदिका के हाथों से गुजरता यह मिला था। बीजक की प्रामाणिकता इस तथ्य पर निर्भर करती थी कि वह बीजक कितना पुराना है और इसका निपटारा विशेषज्ञ ही कर सकते थे। राष्ट्रीय अभिलेखागार के विशेषज्ञों को बीजक दिखाया गया। जांच के बाद विशेषज्ञों ने यह प्रमाणित किया कि जिस कागज पर बीजक लिखा है, वह दो सौ वर्ष पुराना है और काली स्याही जो उसके लिखने में प्रयुक्त की गई है, वह भी लगभग उतनी ही पुरानी है। अब विशेषज्ञों के कथन के अनुसार बीजक की प्राचीनता में कोई संदेह नहीं रह गया।

बीजक इस प्रकार प्रारंभ होता था—

“बीजक की साल संवत् 1783 मित्ती बैसाख सुदी तेरस श्री महाराजाधिराज श्री सवाई जयसिंह जी बड़ा श्री महाराज जयसिंह को माल मेल्यो, 1 अरब 8 करोड़ 11 लाख 13 हजार सात सौ पैंतीस को छे...”

इसके अंदर जो जवाहरात रखे हैं, उनकी तफसील है :

“4 हीरे की ढाल शिवशंभू महाराज की, 22 माणिक की चूड़ी, 22 कंठा हार मोती, पन्ना का, गले का; 14 पहुंची हीरे की; 18 अंगूठी—10 मरदानी, 8 जनानी; 8 बाजूबंद—5 मरदाना, 3 जनाना; 3 हीरे-पन्ने के सरपेंच, 1 सूरजपंखी, 2 हार जनाना, 1 चंद्रमणि हीरे की, कुल नग 95।”

खजाने के जवाहरात का विवरण देने के पश्चात बीजक में जिस जगह खजाना रखा गया है, वहां तक पहुंचने के निर्देश थे। निर्देश इस प्रकार थे :

“किला आमेर, बीजगढ़, स्योपोल सूं गल 118 टांका की सूद तरफ आधुगी पसीत नीचे खोदने गज 18 जीमे गज 10 नीचे चौकी 1 माटा की गज, 1 चौड़ी, लंबी, तिकोनी, पाछे खिड़की ने मारों एक औधो धरयों जीमें कुंडी छे...रुपया पांच छे...”

तात्पर्य यह है कि खजाने तक पहुंचने के लिए आमेर के विजयगढ़ के दरवाजे शिवपोल से 118 गज टांके सीधे में पश्चिमी दीवार की ओर यह खजाना एक कोटर की

नीचे है। कोठरी कहां है, बीजक में साफ नहीं है। कोठरी आसपास किसी जगह पर भी हो सकती है। यह भी लिखा है कि 10 गज धरती खोदने के बाद एक वर्गाकार पत्थर आएगा। उसे हटाने पर एक खिड़की आएगी, जिस पर एक मटका उलटा रखा होगा। वहां ये सब जेवरात होंगे। कहा जाता है कि बीजक में लिखे गहनों और जवाहरातों की कीमत जब ये रखे गए थे, उस समय 32 करोड़ की थी। इनका आज का मूल्य कितना होगा, यह कहना किसी के लिए भी संभव नहीं है। किंतु, यह अनुमान लगाना गलत न होगा कि सन् 1976 में इस खजाने की कीमत हजार गुना तो बढ़ ही गई होगी।

बीजक की प्राचीनता प्रमाणित हो जाने के पश्चात् अधिकारियों के निरीक्षण में पुरातत्त्व विभाग और सेना के सहयोग से खजाने की खोज प्रारंभ कर दी गई। क्योंकि, बीजक में शिवपोल और टांके का भी जिक्र है, इसलिए खुदाई का काम शिवपोल और टांके के आसपास ही केंद्रित किया गया।

जिन दिनों जयगढ़ में खुदाई का काम चल रहा था, उन दिनों भी मैं दो-तीन बार जयगढ़ गई। खुदाई में करीब दो सौ मजदूर लगे थे। इनकी संख्या आवश्यकतानुसार घटाई-बढ़ाई जाती रहती थी। जो मजदूर वहां काम कर रहे थे, वे सब राजस्थान के ही थे। अधिकांश के तो पूर्वज भी जयगढ़ के थे। इसलिए इनके मानस पर पुराने किस्से-कहानियों का काफी असर था। कुछ भ्रांतियां, कुछ अंधविश्वास भी उन्हें घेरे हुए थे, जिनसे छुटकारा पाना उनके लिए असंभव था—ऐसा उनकी बातचीत से मैंने पाया। एक दिन बड़ी हलचल मच गई। पता लगाने पर मालूम हुआ कि खुदाई करते हुए मजदूरों को कोई आवाज सुनाई दी—रौबदार आवाज कि जो कोई किले की खुदाई करेगा, उसका सर्वनाश हो जाएगा। बस, फिर क्या था—सारे मजदूर काम छोड़कर बैठ गए। अधिकारियों ने बहुत समझाया पर कोई काम करने को तैयार नहीं हुआ। आखिर, अधिकारियों ने कहा, “चलो, हम तुम्हारे साथ बैठते हैं, चाहे जितनी देर बैठना पड़े। यदि हम उस आवाज को सुन लेते हैं, तो फिर खुदाई नहीं कराएंगे। यह आवाज तुम्हारे लिए जितनी अभिशापमूलक सिद्ध हो सकती है, उतनी ही हमारे लिए भी खतरनाक होगी।” और अधिकारी घंटों उन मजदूरों के साथ बैठे, लेकिन जब कहीं, कोई आवाज सुनाई नहीं दी, तब कहीं मुश्किल से मजदूर माने कि यह सब उनके मन का भ्रम था।

इसी प्रकार एक दिन एक और खबर उड़ी कि खुदाई करते समय सांप मिले हैं। सांपों का अस्तित्व लक्ष्मी के साथ, खजाने की रक्षा के साथ जोड़ा जाता है। बस, शहर-भर में आंधी की तरह खबर फैल गई कि खजाना मिलने में अब देर नहीं है। सभी मजदूर काम छोड़ उसी ओर लपके। बाद में पता चला कि केवल एक सांप का कंकाल मिला था और उसे भी किसने देखा था, मालूम नहीं पड़ा।

जयगढ़ किले तक पहुंचना काफी मुश्किल काम था। फिर भी शहरवाले, पर्यटक और मेरे-जैसे कई पत्रकार चक्कर लगाते रहते थे कि कहीं से कोई खबर मिल जाए। छुट्टी के दिन मौसम अच्छा होता तो कंधे पर कैमरा लटकाए किले तक जाते। सामने संगीन

लिए फौजी जवानों को मुस्तैदी से गश्त लगाते देखते, तो घूमकर नाहरगढ़ की ओर से किले की दीवार तक पहुंच जाते। वहां भी कुछ दिखाई नहीं पड़ता तो फिर संतरी के पास जाकर उल्टे-सीधे बहाने बनाते। जब कहीं, किसी तरह दाल नहीं गलती तो किले का चक्कर लगा लेते। सेना मुस्तैदी से किले की रक्षा में संलग्न थी। अंदर कहाँ, क्या हो रहा है, किसी को पता नहीं चलता।

अधिकारियों से बात करने पर पता चला कि जयगढ़ किले के अंदर स्थित जिन टंकियों का संकेत पहले किया जा चुका है, उनमें पहली टंकी की गहराई 34 फीट है। टंकी नंबर दो 32 फीट गहरी और टंकी नंबर 3 की गहराई 54 फीट है। 39 फीट के बाद उनमें 9 क्यूबिकल्स और मेहराबें बनी हैं। क्यूबिकल्स को एक दूसरे से मेहराबों के साथ जोड़ा गया है। टंकी नंबर 3 की पश्चिमी दीवार पर एक बड़ा-सा आला बना है। अनुमान लगाया गया कि शायद, पहले वहां कोई दरवाजा रहा हो। टंकी नं. 2 और टंकी नं. 3 की दीवार उभयनिष्ठ है, इसलिए यह अनुमान किया गया कि बीच की जो 22 फीट की जगह है, वहां कोई कोठरी हो सकती है, जिसमें खजाना हो। टांका उन दिनों टंकी को कहते थे। चारों टंकियों का पानी निकाल दिया गया था। क्योंकि, टंकियों में पानी दो सौ से अधिक वर्षों से भरा हुआ था, उनकी तह में बहुत मिट्टी जम गई थी। पानी के बाद मिट्टी को निकालना भी बहुत आवश्यक था। यह कार्य बहुत कठिन सिद्ध हुआ और उसमें समय भी बहुत अधिक लगा। क्योंकि, टंकी के नीचे धातु मिलने की संभावना थी, इसलिए मैटल डिटेक्टर की सहायता हर पल ली जा रही थी।

खुदाई का काम बहुत सावधानी के साथ किया जा रहा था और यह विशेष ध्यान रखा जा रहा था कि किले को कोई क्षति न पहुंचे।

एक ऊंची पहाड़ी पर स्थित होने से जयगढ़ किले में अधिकांश स्थलों पर पत्थर ही पत्थर हैं। टंकियों और किले के फाटकों के बीच जो जगह है, वहां मिट्टी है और इन्हीं स्थानों पर खुदाई करके टंकियों के नीचे की तह तक पहुंचने का प्रयत्न किया जा रहा था। टंकियों के पास दो विशाल फाटक हैं—एक विजय गढ़ी की तरफ और दूसरा गणेश चौक की तरफ। दोनों में से शिवपोल किस फाटक का नाम था, कहना कठिन था। राजघराने के लोग गणेश चौक की तरफवाले फाटक को शिवपोल बताते थे, किंतु, प्राप्त संकेतों के अनुसार विजय गढ़ी की ओरवाले फाटक को शिवपोल होना चाहिए। इस भ्रम से निजात पाने के लिए खुदाई का काम दोनों फाटकों से 118 गज की दूरी पर जो 'आर्च' बनता है, उस पर किया गया।

अखबारों में रोज खबरें छप रही थीं। जयगढ़ की, किले की, खजाने की। जयपुर शहर कौतूहल का केंद्र बना हुआ था। खबरें खूब जोरदार तरीके से छप रही थीं। क्योंकि, बीजक ही खजाने की कुंजी थी, इसलिए दिलचस्प बात यह हुई कि एक छोड़ कई बीजक प्रकाश में आ गए। नए बीजक देनेवालों में से मुख्य था जयसिंह खवास—24 वर्ष का एक युवक। उसका कहना था कि उसके पास भी जयपुर घराने के छिपे हुए खजाने के

बीजक हैं। पहले तो उसने और उसके परिवारवालों ने इस ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया, पर जब अखबारों में रोज खजाने की खबरें आती दिखाई दीं, तो उसके पिता को भी याद आया कि क्यों न वे भी घर के पुराने कागज-पत्रों की खोज-बीन करें! उन्हें ऐसा ख्याल था कि कुछ बीजकों की कापी उनके पास है। जयसिंह के पिता खवास गांगराज ने तुरंत सारे कागज बाहर निकाले और उन्हें तीन बीजकों की कापी मिल गई।

इन नए बीजकों की कहानी भी कम दिलचस्प नहीं थी। जयसिंह खवास का कहना था कि उसके पूर्वज खवास रोड़ाराम को 'शेर-ए-जंग बहादुर' की उपाधि मिली थी। वे महाराजा माधोसिंह-प्रथम के साथ उदयपुर से जयपुर आए थे। उस समय महाराजा माधोसिंह-प्रथम अपने भाई ईशरसिंह के साथ उत्तराधिकार की लड़ाई लड़ रहे थे। इस लड़ाई में महाराजा माधोसिंह जीत गए। उन्होंने खवास रोड़ाराम को जयपुर राज्य की सेवा में ले लिया। बाद में जयसिंह के दादा रायबहादुर खवास बालाबख्श महाराजा माधोसिंह-द्वितीय के खास आदमियों में से हो गए। उनसे पूछे बगैर महाराजा कोई काम नहीं करते थे। चूंकि, उसके पूर्वज किले का संरक्षण करते थे, इसलिए वहां क्या रखा है, सब उन्हें पता था। यहां तक कि खजाना कहां छिपा है, उसकी जानकारी और कागजों की नकलें भी उनके पास सुरक्षित रहीं। महाराजा माधोसिंह-द्वितीय की मृत्यु के बाद जयसिंह के दादा ने महाराजा मानसिंह-द्वितीय का उत्तराधिकार के झगड़े में साथ दिया। महाराजा मानसिंह उस समय नाबालिग थे। अतः जल-भुनकर दूसरे सरदारों ने जयसिंह के दादा को कैद करा दिया। दो वर्ष तक वे मोती डूंगरी में कैद रहे। इस बीच इंगलिश रेजीडेंट ने भी दादा पर बहुत जोर डाला कि उन्हें खजाने के बारे में बता दिया जाए। तरह-तरह के लोभ उन्हें दिए गए। जोर-जबरदस्ती भी की गई, लेकिन राज्य के प्रति दगा करने से उन्होंने साफ इंकार कर दिया। उन्होंने 6 नवम्बर, 1937 को महाराजा मानसिंह-द्वितीय को एक पत्र लिखा कि मैं 88 वर्ष का बुढ़ा हूं और जिंदगी का कोई ठिकाना नहीं है, अतः खजाने संबंधी सारे कागजात आपको सौंप देना चाहता हूं।

पांच दिन बाद ही उन्हें उत्तर मिला कि अगले दिन सुबह 10.30 बजे वे महाराजा से मिल लें। वे महाराजा से मिले और अपने पास अभी तक सुरक्षित रखे दस्तावेजों की नकल तो अपने पास रख ली, असल उन्हें दे दी। खवास बालाबख्श ने महाराजा माधोसिंह-द्वितीय को भी तीनों बीजक दिखाए थे, पर क्योंकि, सिक्कों पर 'तल्ख' शब्द लिखा था, इसलिए उन्होंने महाराजा माधोसिंह-द्वितीय से प्रार्थना की थी कि खजाना अनछुआ छोड़ दिया जाए और जैसा कि निर्देश है, केवल घोर आपत्ति के समय ही निकाला जाए। महाराजा ने खजाना अनछुआ ही रहने दिया। उसके बाद महाराजा मानसिंह-द्वितीय ने सन् 1945 तक खजाने की कई बार खोज की। उन्होंने एक बार फिर खवास बालाबख्श से मिले बीजकों की कापी निकाली और अपने साथ खवास बालाबख्श तथा उनके भाई खत्तीपुरा के ठाकुर भैरोंसिंह को लेकर किले में गए। पर किले में पहुंचते ही अचानक खवास बालाबख्श की तबियत खराब हो गई और उसके बाद वे फिर कभी किले में नहीं जा पाए।

बीमारी के चलते सन् 1948 में उनकी मृत्यु हो गई।

जयसिंह खवास का कहना था कि वे तीनों बीजक तीन भिन्न खजानों के हैं। एक बीजक के अनुसार एक खजाना तो 200,000,000 सोने की मोहरों का है।

तभी जयगढ़ में अफवाह उड़ी कि खुदाई करनेवाले एक दल को दीवाने-ए-आम के फर्श के नीचे खुदाई करने पर सीढ़ियां दिखाई दी हैं। जब और खोदा गया तो सीढ़ियों की संख्या बढ़ती गई। इन सीढ़ियों के दीवाने-ए-आम में होने का अर्थ था कि ये अवश्य ही किसी जगह जाने के लिए छिपे तौर पर बनाई गई होंगी। लगभग 25 सीढ़ियां उतरने पर एक रास्ता मिला, जो एक कमरे की ओर जाता था। यह कमरा, छह फीट लंबा, चार फीट चौड़ा था और उसकी ऊंचाई दस फीट थी। रोचक बात यह थी कि यह कमरा पूरी तरह सीलबंद था यानी इसकी चारों दीवारें मार्टर की बनी थीं और इसमें जाने का कोई मार्ग दिखाई नहीं देता था। दीवारें बहुत मजबूत थीं, इतनी कि तोड़ने की कोशिश करने पर एक दिन की मेहनत में एक दीवार सिर्फ चार इंच तोड़ी जा सकी। इस सीलबंद कमरे की यह स्थिति एक बड़ी संभावना का संकेत दे रही थी जबकि ऐसा कुछ नहीं था। यह केवल अफवाह थी।

अफवाहों का बाजार गर्म था। दूसरे दिन अफवाह उड़ी कि यह कमरा मिलने के पहले, तालाब के तल में लगभग सौ बंदूकें भी मिली हैं। यह अनुमान लगाया गया कि बंदूकें खजाने की रक्षा के लिए रखी गई होंगी। किंतु, तभी एक दूसरी अफवाह ने इस पहली अफवाह को निरस्त कर दिया। प्रामाणिक तथ्य यह सोचा गया कि दशहरे के दिन पवित्र तालाब में बंदूकें फेंकने की प्रथा प्रचलित थी, इसलिए ये बंदूकें तालाब में जमा हो गई होंगी।

लोगों ने बताया कि उदयपुर से सन् 1608 में ब्रजभूषण पुरुषोत्तम खजाना लाए और उसे छिपा दिया। सन् 1719 में खजाने की चर्चा ने जोर पकड़ा। लोगों ने बताया कि महाराजा जयसिंह ने खजाने को छह चौकियों के नीचे छिपा दिया था। आठ वर्ष बाद सवाई महाराजा जयसिंह ने सन् 1726 में जयपुर शहर बसाने का निर्णय लिया। सिटी पैलेस के पोथीखाने में इस बात का प्रमाण है कि खजाना 128 करोड़ का था, और 1726 में निकाला गया था। बाद में यह खजाना पूरा रखा गया या कम, यह कहीं नहीं लिखा गया है। हां, यदि सन् 1783 के बीजक को प्रामाणिक माना जाए तो केवल 108 करोड़ खजाने में रखा गया। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शायद, 20 करोड़ रुपया महाराजा जयसिंह ने अपने लिए रख लिया और इस 20 करोड़ में से ही 16 करोड़ जयपुर शहर को बसाने में खर्च किया गया।

जयगढ़ में जिस जोर-शोर से काम हुआ और जितनी 'मैन-पावर' व खर्चा लगा खजाने की खोज में, वह सब बेकार ही गया। वहां कुछ भी नहीं मिला। वही कहावत हुई कि खोदा पहाड़ निकली चुहिया। अगर कोई और समय होता तो इस पर काफी शोर-गुल

होता किंतु, क्योंकि, आपातकाल था, किसी ने चूं भी नहीं की। हां, जयपुर में अफवाहें अवश्य उड़ती रहीं कि रातों-रात खजाने को ले जाते देखा गया है। यहां तक कि लोगों ने कहा कि उन्होंने ऊंटों पर खजाना ले जाते हुए भी देखा है, पर यह सब कपोल-कल्पित बातें थीं।

जयपुर राजघराने की तलाशी के समय मैंने उस समय के आयकर विभाग के डायरेक्टर ऑव इंवेस्टीगेशन हरिहरलालजी से भी भेंट की थी। मुझे लग रहा था कि यह 'रेड' राजनीतिक कारणों से प्रेरित रही होगी। अन्य लोगों का भी यही अनुमान था। किंतु, हरिहरलालजी ने बताया, "ऐसी बात नहीं है। वास्तव में, जयपुर राजघराने की तलाशी एक 'इंवेस्टीगेटिंग एक्सीडीशन' था। ऐसी खबर मिली थी कि जयपुर राजघराने के पास अघोषित संपत्ति का अपार भंडार है। और क्योंकि, प्राप्त संपत्ति का कुछ हिस्सा महाराज को भी मिलता, इसलिए उन्हीं के लोगों ने आकर खबर, जानकारी और बीजक दिए। उसी आधार पर काम हुआ।

मैंने पूछा, "खबर लिखित थी या अलिखित?"

"दोनों ही तरह की खबरें थीं।"

मैंने अन्य सूत्रों से भी पता लगाया कि उस दौरान कोई 'रेड' राजनीतिक कारणों से प्रेरित होकर तो नहीं हुई। बताया गया कि किसी भी वी.वी.आई.पी. पर 'रेड' करने के लिए विभाग को पहले पोलिटिकल क्लीयरेंस तो लेनी ही होती थी। आज भी यह व्यवस्था कायम है।

जयपुर 'रेड' में भी क्लीयरेंस लिया गया था। कई बार ऊपर से पोलिटिकल क्लीयरेंस नहीं मिलता था, कई बार मिल जाता था। यदि किसी पार्टी पर रेड के लिए क्लीयरेंस मिला भी जाता था, कि रेड करनी है, पर पर्याप्त 'खबर' यदि आयकर विभाग के पास नहीं होती थी, तो रेड नहीं डाली जाती थी। ऊपर से आदेश कभी नहीं दिए गए कि रेड करनी ही है। जैसे, ग्वालियर राजघराने पर रेड करने की पोलिटिकल क्लीयरेंस थी, परंतु विभाग के पास पर्याप्त आधार नहीं था, इसलिए रेड नहीं डाली गई जबकि, जयपुर में डाली गई।

बाद में जब ग्वालियर राजघराने के विषय में पक्के सबूत मिले, तभी रेड की गई। इन सब बातों से मैंने निष्कर्ष निकाला कि आपातकाल के दौरान अधिकारियों की गति सांप-छछूंदर जैसी रही होगी। ऐसा तो नहीं हो सकता कि ऊपर से क्लीयरेंस हो कि रेड करो और विभाग न करे। अधिकारियों को भी अपने हाथ-पांव बचाकर काम करना था। इसलिए पर्याप्त सबूत यदि होते थे, तो बहुत अच्छा। सबूत नहीं मिले तो, उन्हें बाद में 'विश्वस्त सूत्रों से खबर आई' भी दिखाया गया होगा। जब पर्याप्त मजबूत आधार बन जाते होंगे, तभी तलाशी का काम शुरू होता होगा। यही कारण है कि शाह कमीशन को इन तलाशियों में संदेह का कोई आधार नहीं मिला।

उन दिनों जयपुर, जयगढ़ कई बार जाने पर वहां के जन-जीवन को पास से देखने का अवसर मिला। राजस्थान साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से जितना भरपूर है, अंधविश्वास, कुरीतियों और गरीबी में भी उतना ही जकड़ा हुआ है। उस दिन वहां एक बालिका से मुलाकात हुई। पीला घाघरा और राजस्थानी बांधनी की लाल ओढ़नी, पैरों में गिलट के लच्छे और उंगलियों की पोरों में गिलट या चांदी के ही छल्ले, माथे पर बोर लगाए थी वह। उम्र से पहले ही अनुभव की चादर ओढ़े उसकी मासूम आंखों का रीतापन मैं आज तक नहीं भूल सकी हूं। मैंने इस मासूम गुड़िया को भरपूर देखा। पता नहीं क्या कशिश थी कि मैं उसकी ओर खिंचती चली गई। जितना मैं उससे पूछने की कोशिश करती कि उसका बचपना कहां खो गया है और कि वह स्कूल जाती है या नहीं, उतना ही वह अपने-आपमें सिमटती गई। बहुत कुरेदने पर उसने बताया कि दस-बारह वर्ष की कम उम्र में ही उसकी शादी हो गई थी। शादी के बारे में उसे बस, इतना-भर याद है कि अच्छे-अच्छे कपड़े पहने थे, खूब बाजे बजे थे और खेलने के लिए एक साथी मिल गया था। उसका और उसके 'वींद' यानी पति का घर आस-पास ही था। दोनों की मंगनी तो उस समय ही हो गई थी, जब वह मां के पेट में थी। दूल्हे की उम्र का उसे कोई अंदाज नहीं। शायद, एक-दो साल बड़ा हो या छोटा भी हो सकता है। मेरी उत्सुकता बढ़ी और इस दिशा में मैंने और जानकारी हासिल की। गांव-टोले में भीतर तक जाकर बात की तो, मालूम पड़ा कि यह कोई नई बात नहीं है। अक्सर गोद की बच्ची, जो मां का दूध पीती है, उसका विवाह भी हो जाता है। ऐसे मामलों में लड़की के साथ उसे दूध पिलाने को उसकी मां भी चली जाती है, यदि लड़की की ससुराल पड़ोस में हो तो।...

गोद के बच्चों को शादी के फेंरे दिलाने के लिए अक्सर नाइन और नाई की खोज होती है, जो गोद में लेकर उनका विवाह संपन्न कराते हैं। कई बार बालिका का विवाह बड़ी उम्र के पुरुष के साथ भी कर दिया जाता है। ऐसे बाल-विवाहों पर रोक लगाने में शारदा एक्ट विफल रहा है। मैंने गांव-विरादरी के लोगों को समझाने का भरसक प्रयत्न किया किंतु, उनके दिमाग में मेरी बात घुसी ही नहीं, ऐसा मुझे लगा। उल्टे उन्होंने मुझे ही समझाने का प्रयत्न किया कि आठ या नौ वर्ष की कन्या तो 'गौरी' पार्वती का रूप है और ऐसा कन्यादान करने से अक्षय पुण्य मिलता है।

बाल-विवाह का एक कारण यह भी बताया गया कि छोटी उम्र में विवाह कर देने से दहेज कम देना पड़ता है। कृषक परिवार में घर के काम निपटाने के लिए एक जोड़ी हाथ मिल जाते हैं। बालिका-वधू घर में स्वयं सबसे पहले उठकर पशुओं को चारा आदि देकर, गोबर के उपले पाथ लेती है। खेत के छोटे-मोटे काम उसकी नियति बनते हैं। चाहे इन बेमेल और मासूम विवाहों का परिणाम विधवा होना ही क्यों न हो! कई गांवों में बाल-विवाह सामूहिक रूप से भी होते हैं! ऐसी बालिकाओं की आंखों की मासूमियत, उनके बचपन में बजी शहनाई छीन लेती है। वे या तो मौत की गोद में जा गिरती हैं या फिर

वैधव्य की त्रासदी भुगतती हैं।

मैं जितनी बार राजस्थान गई, मैंने सदैव गांवों में बाल-विवाह की बुराई के परिणाम बताकर वहां के लोगों की आंखें खोलने का प्रयत्न किया। कहीं-कहीं कुछ असर हुआ भी, पर अभी भी यह प्रथा प्रचलित है और ऐसा लगता है, यह सदी ऐसी मासूम आंखों के दर्द को अभी भी पूरी तरह पहचान नहीं सकी है।

चुनौती

- साप्ताहिक हिंदुस्तान और मैनेजमेंट से टकराव
- मादक पदार्थों का मायाजाल ● भूमिगत आंदोलन और जे.पी.

राजस्थान की कई खट्टी-मीठी यादें अपने आंचल में समेटे में लौट आई फिर अपने परिवेश में। घर और आफिस की दौड़ शुरू हो गई। आपातकाल का समय था। प्रेस पर सेंसरशिप थी। रोज नए आदेश मैनेजमेंट से आते। एक दिन आदेश आया, जो कुछ भी छपा जाए, वह पहले से 'क्लीयर' करा लिया जाए। किसी भी जनतांत्रिक देश में रचनात्मक कार्यकर्ताओं का कोई दल नहीं होता है, केवल जन-कल्याण की भावना ही उनके लिए सर्वोपरि होती है। इसी प्रकार चिंतनशील, विद्वान, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लोगों, साहित्यकारों, विचारकों को अपना मत प्रकट करने की स्वतंत्रता प्रजातंत्र को परिपक्व बनाने में मदद करती है। आपातकाल के दौरान सरकार के आक्रामक रुख के कारण, तपे हुए देशभक्त जयप्रकाश नारायण, मोरारजी, चन्द्रशेखर, अटलबिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी को जेल भेज दिया गया और जन-हित की बात करने की स्वतंत्रता छिन गई।

भीतर ही भीतर असंतोष सब जगह पनप रहा था, किंतु मुंह पर लाने का साहस कोई नहीं कर पा रहा था। मैनेजमेंट भी विवश था। ऐसी स्थिति में कुछ लोगों को मुखौटे बदलने में भी देर नहीं लगी। इंदिरा गांधी की बंसी चारों ओर बजने लगी। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में भी यही हाल था। फिर भी सेंसरशिप को ध्यान में रखकर, बहुत मुखर होने से अपने को बचाते हुए, जितना मुखर हो सकते थे उतना, रचनाओं के शीर्षकों में, द्विअर्थी कविताओं, द्विअर्थी संवादों के माध्यम से या विश्व की तानाशाहियों के किस्से छापकर, हम किसी प्रकार कहीं न कहीं अपनी कुंठा को व्यक्त कर ही लेते थे।

सरकारी नौकरियों में संलग्न आफीसरों की भी यही स्थिति थी। एक बार मैंने ठाकुर से पूछा, "गलत आदेशों का पालन करते तुम्हें कुंठा नहीं होती?"

उनका उत्तर था, "जब हम सरकारी नौकरी में आते हैं, तब शपथ लेते हैं, आदेशों का पालन करने की। जैसे, सेना के कमांडर का हुक्म, चाहे सही हो या गलत, हर सैनिक को मानना होता है, वह उसके विरोध में नहीं जा सकता, उसी प्रकार सरकारी आदेश को मानना हमारी ड्यूटी है। हां, इस ड्यूटी के परे हम अपने व्यक्तित्व के दायरे में रहकर,

अंतरात्मा की आवाज के अनुसार कार्य कर सकते हैं, और करते भी हैं।”

उनकी इस बात में दम था। उन दिनों जेलों में बंद कई बड़े नेताओं के सहयोगी हमारे यहां कई बार गुपचुप आए और बताया कि उनके घरों की स्थिति विषम हो रही है। खाने-पीने के लाले पड़े हैं। ठाकुर ने उन्हें आर्थिक सहायता दिलाई। एक बार तो एक रात, गुपचुप अंधकार में, जब हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था, करीब दो बजे तक हम जागते रहे क्योंकि, किसी के आने का इंतजार था। दरवाजा भी खुला रखा, ताकि घंटी न बजानी पड़े। बीच-बीच में बाहर झांक भी लेते कि कोई हमारे मकान पर नजर तो नहीं रखे है। वह सज्जन, रात के करीब दो बजे आए। ऊपर से नीचे तक कंबल का लबादा-सा ओढ़ रखा था। कमरे में मैं थी, ठाकुर थे और वे सज्जन जिनकी मदद करनी थी। ऐसी सब स्थितियों में ठाकुर केवल मध्यस्थ का काम करते थे। रुपयों को कभी हाथ नहीं लगाते थे, जिससे कहीं किसी को यह आशंका न हो कि बीच में कुछ रकम उन्होंने स्वयं रख ली।

यह तो एक उदाहरण मात्र है। अपनी अंतरात्मा की आवाज और कर्तव्य की पुकार पर काम करने के, और सरकारी हुक्म बजा लाने के, उनके मानदंड अलग-अलग थे। अन्याय के प्रति उनकी आत्मा ने कभी समझौता नहीं किया और सत्य से कभी हटे नहीं। आपातकाल के दौरान बड़े साहस का काम था—प्रतिपक्ष की इस प्रकार सहायता करना। हमारे दुश्मनों की भी कोई कमी नहीं थी और कहीं से भी कोई सुराग लग जाने पर नौकरी तो जाती ही, जेल की सलाखों के पीछे भी रहना पड़ता। उस रात की मूक गवाह थी मैं। अन्याय के प्रति लड़ने में सदैव मैं उनकी संगिनी रही। और शायद, यही बातें थीं, जिनके कारण हमारे बीच एक नया रिश्ता कायम हुआ, एक सच्चे मित्र, सच्चे राजदार, सच्चे सहयोगी का। मैंने कहीं भी, किसी भी न्याय के काम से इन्हें कभी पीछे नहीं खींचा और न ही स्वयं पीछे हटी। हर स्थिति में कदम से कदम मिलाकर चली।

आपातकाल की ही एक और बात याद आ रही है। उस समय इंदिराजी और संजय गांधी के प्रति आस्थावान लोगों का एक छोटा-सा दायरा बन गया था। आर.के. धवन और यशपाल कपूर, जो हमारी कालोनी रवीन्द्रनगर में ही रहते थे, उनके साथ कुछ ज्वाइंट सेक्रेटरीज और सेक्रेटरीज का एक अंतरंग सर्किल-सा बन गया था। अक्सर डिनर पार्टीज होती थीं, जिनमें बहुत अंतरंग लोग ही जाते थे। ऐसी ही एक पार्टी में जाने का हमें भी मौका मिला। प्रत्यक्ष कर बोर्ड के अध्यक्ष मेहताजी के माध्यम से जब हम पार्टी में पहुंचे तो हमने देखा कि वहां खूब शराब चल रही है। जिन अधिकारी महोदय के घर पार्टी थी, वे सज्जन जैन धर्म को माननेवाले थे, पक्के शाकाहारी और शराब-कबाब से कोसों दूर रहनेवाले। फिर भी आपातकाल की महिमा! उन्हें दोनों चीजों का प्रबंध करना पड़ा। सब एक-दूसरे को पीने के लिए मजबूर कर रहे थे। वे अधिकारी महोदय बेचारे करते भी क्या! आगे प्रमोशंस के लिए या मालूम नहीं क्यों, किस मजबूरी के तहत उन्होंने पार्टी तो रख ली, परंतु उस पार्टी में शराब न पीनेवाले केवल दो ही व्यक्ति थे—ठाकुर और जैन साहब।

जैन साहब की पत्नी बहुत भुनभुनाती रहीं कि पहली बार उनके घर में ऐसा हो रहा है। पर करतीं भी क्या! आपातकाल जो था।

‘कादम्बिनी’ में मैं सहायक-संपादक पद पर आई थी, वहीं पर मेरी पदोन्नति हुई और मैं संयुक्त-संपादक हो गई। संपादक थे राजेन्द्र अवस्थी, जो टाइम्स ऑफ इंडिया में, उन दिनों ‘सारिका’ में थे, जब हम बंबई में थे। वैसे तो अवस्थीजी का व्यवहार मेरे प्रति बहुत अच्छा था, किंतु, कभी-कभी बेकार की बातों को लेकर उलझ पड़ते। मेरा पूरा सहयोग ‘कादम्बिनी’ की प्लानिंग और उस प्लानिंग को कार्य-रूप में परिणत करने में रहता था। मेरे सुझाए हुए कई स्तंभ तो आज तक चल रहे हैं। मेरे लेख ‘धर्मयुग’ में छपते थे। ‘धर्मयुग’ का अपना मुकाम था। वहां लेख छपना प्रतिष्ठा की बात मानी जाती थी। पाठक संख्या भी अधिक थी। शायद, अवस्थीजी को यह बर्दाश्त नहीं हुआ कि मेरा नाम चर्चित हो। उन्होंने मैनेजमेंट को सुझा दिया कि संस्थान से बाहर की पत्र-पत्रिकाओं में छपना गलत बात है। बस, एक चिट्ठी मेरे पास आ गई कि ‘हिन्दुस्तान टाइम्स में काम करनेवाले अन्य संस्थाओं की पत्र-पत्रिकाओं में नहीं लिख सकते।’ निशाना मेरे ऊपर ही था। मैं जान गई, किंतु यह बात मुझे स्वीकार्य नहीं हुई। मैंने भी मैनेजमेंट को लिखकर उत्तर दिया कि हिन्दुस्तान टाइम्स में जब कभी किसी ने मुझसे कुछ लिखने को कहा, मैंने बराबर लिखा है। साधारण विषयों से लेकर विशेष खोजपूर्ण लेख भी, किंतु यहां के संपादक मुझसे कोई लेख मांगते ही नहीं हैं, कभी कोई उत्सुकता मेरे लेखन के प्रति नहीं दिखाते। अपने मन से भी लिखो तो विश्वास नहीं होता कि लेख छपेगा भी या नहीं या छपेगा तो कब छपेगा। ऐसी स्थिति में मैं अपनी ओर से आग्रह क्यों दिखाऊं? स्वाभिमान मेरा भी है और इसकी पूरी भरपाई ‘धर्मयुग’ संपादक की ओर से होती है। डॉ. भारती फोन पर या पत्र लिखकर, लेख का विषय देकर लिखने के लिए कहते हैं। लेख भेजने में देर हुई तो फौरन व्यक्तिगत चिट्ठी आ जाती है। फिर भी न भेजो तो तार आ जाता है और तार से भी बात न बनी तो फोन आ जाता है। इतने आग्रह के बाद लेखक को अपने होने का अहसास होता है। भारतीजी का यह बहुत बड़ा गुण है कि आखिर तक आग्रह की डोर को टूटने नहीं देते। ‘धर्मयुग’ की सफलता का यही राज था कि उसे कभी लेखकों की कमी महसूस नहीं हुई। हर कोई वहां छपकर गौरव महसूस करता।

मैंने पूरी स्थिति स्पष्ट करते हुए उत्तर दिया कि लिखना मेरा धर्म है, सो मैं अवश्य लिखूंगी। हां, जिस दिन कोई हिन्दुस्तान टाइम्स में यह कह देगा कि शीलाजी से अमुक लेख मांगा और उन्होंने नहीं दिया, उस दिन मैं बाहर लिखना बंद कर दूंगी। वैसे, सबको पता है कि परोक्ष-अपरोक्ष सभी बाहर लिखते हैं। विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में छपते हैं—फोटो, चित्र सब यहीं से जाते हैं मगर, उनके लिखे पर उनका नाम नहीं होता बल्कि, छद्म नाम होता है और छद्म नाम पर कोई ऐतराज नहीं कर सकता। मुझे तो जो लिखना है, अपने नाम से ही लिखूंगी। मैं इस प्रकार की दोमुंही जिंदगी नहीं जी सकती।

इसके बाद मैनेजमेंट का कोई पत्र मेरे नाम नहीं आया। मैं बराबर बाहर की

पत्रिकाओं में, विशेषकर 'धर्मयुग' में लिखती रही। ऐसा भी नहीं था कि 'कादम्बिनी' में बिलकुल नहीं लिखती थी, बहुत लेख लिखे—खोजपूर्ण, सांस्कृतिक, सामाजिक विषयों पर। राजनीतिक लेखों पर सेंसर की कड़ी दृष्टि थी, इसलिए सामाजिक विषयों पर केंद्रित रही।

उस समय की एक घटना मैं अभी तक नहीं भूली हूँ। मेरा बेटा अमित सेंट कोलंबस स्कूल में पढ़ रहा था। अक्सर उसे स्कूल से लेने ठाकुर जाते थे। ठाकुर का दोपहर में लंच होता था और उसी समय अमित की छुट्टी होती थी। कभी-कभी मैं भी ठाकुर के साथ चली जाती थी। ठाकुर गाड़ी पार्क करते और मैं उतरकर बच्चों को देखती। पास ही के स्कूल जीसस एंड मेरी कान्वेंट में बेटा भी पढ़ती थी।

एक दिन मैं कार से उतरकर बच्चों का इंतजार कर रही थी। दसवीं-ग्यारहवीं कक्षा के दो-तीन छात्र आए और पास में खड़े आइसक्रीमवाले से धीरे से बोले, "जरा दो रुपए की मस्ती देना।"

मैं चौंकी। अरे, अभी तक क्वालिटी आइसक्रीम का नाम सुना था—यह क्या कोई नई आइसक्रीम निकली है? मैंने अपने कान उधर ही लगा दिए। आइसक्रीमवाला पूछ रहा था, "किस किस्म की भइया?"

एक ने पूछा, "मतलब?"

उसने जवाब दिया, "मतलब, कउन मार्का चाही, गोली, सिगरेट, चुर्रुट या हुक्का के लिए चाही।"

लड़का कुछ उत्तर देता, उसके पहले ही आइसक्रीमवाला बोला, "लेओ भइया, येहका ले जाओ। यह कउनो नई चीज आई है। गेहूँ के दाने जैसी छोटी... पर कमाल करत है। हल्की, मगर गहरी, जैसी मस्ती तोहका चाही, सब मिलिहै।"

मैं तो अवाक् रह गई। मैंने आकर ठाकुर को बताया। बच्चों को हिदायत दी कि कभी किसी से कुछ खरीदकर नहीं खाना। घर से नाश्ता ले जाओ या फिर स्कूल कैंटीन से, जो लेना हो लो। स्कूल के प्रिंसिपल से शिकायत की। नतीजा यह हुआ कि स्कूल के बाहर चीज बेचनेवालों की छुट्टी ही गई।

नशीले पदार्थों में भटकती युवा पीढ़ी को इसकी लत क्यों पड़ी, कैसे पड़ी—मेरा मन छटपटा उठा, इसके बारे में और कुछ जानने के लिए। तभी एक घटना और घटी।

हम लोग उन दिनों, खान मार्केट के पास रवीन्द्रनगर कालोनी में रहते थे। विभिन्न सेंट्रल सर्विसेज के आफिसर्स को यहां मकान मिले थे। कुछ डॉक्टरों, कुछ पत्रकारों और कुछ कलाकारों को भी मकान मिले हुए थे। कुछ परिवारों में हमारा आना-जाना भी था, कुछ मित्र थे, कुछ केवल परिचित और कुछ परिचय के दायरे से भी दूर।

एक दिन सुबह-सुबह सुना कि कालोनी के किसी लड़के ने आत्महत्या कर ली है, काफी पुलिस आई है। हमने भी उस लड़के को देखा था। उसका जीवन ऊपर से बिलकुल नॉर्मल था। स्कूल की पढ़ाई में भी वह अच्छा था। स्कूल के अन्य कार्यक्रमों में भी रुचिपूर्वक

भाग लेता था। अध्यापकों की रिपोर्ट में पढ़ाई-लिखाई सम्बन्धी कोई शिकायत उसकी कभी नहीं मिली। मुझसे भी एक-दो बार मिला था वह। उसे पता था कि मैं ‘हिन्दुस्तान टाइम्स’ में काम करती हूँ। बातचीत के दौरान एकाध बार मुझे ऐसा लगा जैसे वह मुझसे कुछ बात करना चाहता है। पूछने पर कि क्या बात है, वह चुप लगा जाता था, पर उसकी आंखों में न जाने कैसा भाव था कि मैं बार-बार पूछती और वह बार-बार टाल जाता, यह कहकर कि आण्टी कोई बात नहीं है, आप सच मानिए।

फिर यह क्या हुआ? क्या वह सब एक मुखौटा था? अंदर से क्या वह खोखला हो गया था? उसकी छटपटाहट कब अकर्मण्यता में बदल गई, किसी को कुछ नहीं मालूम हुआ। हां, बाद में उसकी मां ने बताया था कि अक्सर रात को वह छत पर टहलता रहता था। पूछने पर कहता था, “नींद नहीं आ रही है।” ऐसे ही एक बार जबरदस्ती उसने मां को समझा दिया था कि नींद जल्दी ही आ जाएगी किंतु, मां को चैन नहीं पड़ा था। घंटे-भर बाद जब वह छत पर गई, तब वह बेहोश पड़ा था। शायद, मेंड्रेक्स की गोलिएं उसने अधिक ले ली थीं। यह मेंड्रेक्स क्या होता है, पता करने पर मालूम पड़ा कि यह एक तरह का नशा है। एक दिन वह मदक की पीनक में सिगरेट मुंह में रखे-रखे ही सो गया था। मां ने आकर मुंह से सिगरेट निकाली तो वह ऐसे चौंका था जैसे किसी ने उसकी चोरी पकड़ ली हो। मां-बाप उसे बहुत समझाते थे कि इस तरह का नशा बहुत खराब होता है और कि मार्फिया के तीन शॉट बहुत होते हैं, आदत पड़ जाने के लिए। तब वह हंस पड़ता था और कहता था, “मां, मैं कहां ये सब करता हूँ!” मां-बाप निश्चित हो जाते थे कि शायद उनका सोचना ही गलत हो। और, फिर एक दिन शाम के छह बजे थे। शायद, उसे उस दिन उसकी खुराक नहीं मिली थी। वह कमरे में चक्कर लगा रहा था। पर-कटे पक्षी की तरह फड़फड़ा रहा था। उसका मन बुरी तरह घबरा रहा था। लग रहा था, जैसे कलेजा मुंह को आ रहा हो, जैसे सब बिखर रहा हो, टूट रहा हो। रह-रहकर पसीना आ रहा था। कंपकंपी-सी चढ़ रही थी। जम्हाइयां ले रहा था। उस दिन मां की गोदी में सिर छिपाकर वह बहुत रोया था और बार-बार कह रहा था, “मां, कहीं से मेरी खुराक मुझे ला दो। किसी भी कीमत पर, कहीं से भी।” मां बेचारी क्या करती? जानबूझकर उसे मौत की खुराक कैसे ला देती! पर मौत को तो आना ही था।

कई दिन मेरा मन बहुत खराब रहा। उस लड़के का भोला-भाला मुखड़ा बार-बार आंखों के सामने नाच जाता। मैंने निश्चय किया कि मैं जरूर इन मादक पदार्थों के मायाजाल की तह तक जाऊंगी, देखूंगी कि कब, कहां और कैसे यह सब होता है। पंद्रह-बीस दिन चक्कर काटने के बाद पाया कि किसी संकरी, पतली गली में या चौड़ी सड़क पर पेड़ के नीचे बैठे पनवाड़ी की दुकानों, चाय और काफी के स्टालों और कभी-कभी किराने की दूकानों तक में, दिन के उजाले और रात की मद्धम रोशनी में, यह भारी मुनाफे का व्यापार बेरोकटोक चलता है।

मादक पदार्थों का सेवन करनेवाले सभी युवकों का कहना था कि इसके लिए बहुत

कुछ जिम्मेदार है—अकेलापन। अकेलापन एक मनःस्थिति है, जो स्कूल और कॉलेज के परिवेश में, मित्रों और परिचितों की भीड़ में भी एक युवा मन को बुरी तरह अकेला और अधूरा महसूस करने के लिए विवश करती है। उन्हें इससे उबरने का एकमात्र साथी 'नशा' ही दिखाई देता है। वे सोचते हैं कि यही तो एक है, जो मेरा है—बाकी सब बेकार, सब झूठ।

मुझे उन लड़कों से बात करते-करते हिन्दी के प्रसिद्ध गीतकार रमानाथ अवस्थी की वह पंक्तियाँ याद हो आई—*भीड़ में भी रहता हूँ वीरान के सहारे, जैसे कोई मंदिर गांव के किनारे।*

अकेलापन युवा मन को क्यों सताता है? सब कुछ होते हुए भी क्यों लगता है कि सब बेकार है, मेरा कोई नहीं है, किसी को मेरी परवाह नहीं, कोई मुझे प्यार नहीं करता? ऐसे क्षणों में जीवन निरर्थक, एक बोझ लगने लगता है। लोगों से मिलना-जुलना अच्छा नहीं लगता। मन के अंधेरे में शांति की खोज की जाती है। ऐसी स्थितियों में 'नशा', चाहे वह झूठा आश्वासन ही क्यों न हो, अत्यंत आकर्षक लगता है—नशा, जो आत्मा को अंदर तक हिला दे, बेबस कर दे, पूरी तरह झुलसा दे, फिर भी अपने मोह-जाल में बांधे रखे। इसीलिए 'नशा' एक दोस्त लगता है—एकमात्र दोस्त, अपनी तरह ही अकेला। और ऐसा दोस्त प्रायः सबको जीवन में, उम्र के एक मोड़ पर, अपनी ओर खींचता है।

मेरे अपने साथ भी एक बार ऐसा हुआ था। शायद, उस समय मैं इंटर में पढ़ती थी। उम्र की यह सीढ़ी ऐसी होती है जब इन्द्रधनुषी सपने बुने जाते हैं, पर कई बार परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि जीवन बोझ लगने लगता है। लगता है, अकेलापन मुंह बाये खड़ा है और अंधेरा चारों ओर से निगलने आ रहा है। मेरी माँ की मृत्यु हो गई थी—घर में दो बड़े भाई और चार छोटे भाई थे। बहन कोई थी नहीं, जिससे मन की वेदना बांट सकती। पिताजी का देहान्त पहले ही हो गया था। बड़े भाई मुझे कॉलेज की पढ़ाई कराने के बहुत खिलाफ थे। कभी-कभी मन में आता—इस जिंदगी का क्या फायदा? क्यों न इसे खत्म कर दूँ? जहाँ कोई भविष्य ही नहीं है, चारों ओर बंद दरवाजे हैं, वहाँ जीने का क्या अर्थ!

मामाजी हमारे साथ ही रहते थे। रोज भांग घोटना उनकी आदत थी। भांग का बड़ा-सा गोला खाकर जब वे पेट पर हाथ फेरते तो एक अजीब-सी तृप्ति उनकी आंखों में दिखाई देती। अपरिचित भांग की वह तेज गंध मेरी नाक में बस गई थी और फिर धीरे-धीरे परिचित-सी लगने लगी थी। अकेलेपन और असहायपन के क्षण में एक दिन मुझे वह गंध बहुत अच्छी लगी। शायद, अनजान का आकर्षण था। पहले कभी भांग चखी नहीं थी, सोचा—देखूँ तो सही, इसमें क्या है, जो मामाजी को जीवन में सबसे ज्यादा प्रिय है। चुपचाप जरा-सी भांग उस गोले से निकाल ली और निगल गई। थोड़ी देर में ही सब कुछ बदलने लगा। अंदर तक वह सारे दृश्य बिंध गए, जिनकी कभी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। मैं देखने लगी—मैं सिर पर मुकुट पहने हूँ—लंदन पहुँच गई हूँ। वहाँ सम्राट जॉर्ज

पंचम से मेरी भेंट हो रही है। वह मुझे लंदन की सड़कों पर घुमाने ले गए हैं। बड़े-बड़े शाही दस्तरखानों पर, आलीशान महल के एक भव्य कमरे में, झाड़ू-फानूसों की रोशनी में मैं और मेरे साथ सभी लोग खाना खा रहे हैं। सभी मेरी चाटुकारिता कर रहे हैं कि मेरे कारण उन्हें यह सब देखने का अवसर मिला है। मैं खुशी से विभोर हो रही हूँ। फिर पता नहीं कब सो गई। सुबह उठी तो सर भारी-भारी-सा था, पर मन में उन दृश्यों की याद ताजा थी, जिन्हें बहुत पीछे छोड़ चुकी थी।

दूसरे दिन एक बार फिर उन क्षणों को जीने का, उस स्वप्न-संसार में घूमने का मन करने लगा। पर शायद, पूर्व-जन्म के संस्कार थे कि मैंने मन को संयमित कर लिया। यदि उस समय मैं अपनी कमजोरी पर अंकुश नहीं लगाती तो, शायद, भांग धीरे-धीरे रोजमर्रा की चीज हो जाती। फिर भांग से हटकर चरस और अफीम तक जाते देर नहीं लगती। साथ-साथ नींद की गोलियां, मेंड्रेक्स और पता नहीं क्या-क्या। एक बार के भांग के नशे ने अनेक दरवाजे खोल दिए थे किंतु, किसी के आशीर्वाद ने मुझे शीघ्र ही अहसास करा दिया कि सभी दरवाजे एक ही काल-कोठरी में खुलते हैं। नतीजा यह हुआ कि 'किक' की तलाश ने रास्ते में ही दम तोड़ दिया।

इसका एक कारण मन का भय भी था कि मैं स्वयं कहीं खो न जाऊँ! एक छटपटाहट हुई, विस्मृति की तलाश उठी और यह भी उस क्षण लगा कि विस्मृति की तलाश ही लक्ष्य है—वही अन्तिम यथार्थ है, पर मन के भय ने, और स्वयं के खो जाने के अहसास ने, त्रस्त मन को शरण दी और मैं बच गई।

नशे की इन बंद गलियों में घूमते-घूमते मेरे सामने कई प्रश्न आए। क्या नशीले पदार्थों के घेरे में घिरी युवा पीढ़ी उस घेरे से निकलना नहीं चाहती है? क्या वे स्वयं त्रस्त नहीं हैं? या सोचने-समझने की उनकी शक्ति खत्म हो गई है? और क्या इस ओर ढकेलने में मां-बाप की भूमिका अहम नहीं है? और मैंने पाया कि मां-बाप की भूमिका बच्चे के जीवन में बहुत अहम होती है। मां-बाप, विशेषकर मां को अपने बच्चे की दिनचर्या पर बहुत सतर्क नजर रखनी चाहिए। कौन उसके मित्र हैं, वह किनके साथ घूमता है, कहीं उसे घर से बाहर रहने की अधिक आदत तो नहीं पड़ रही है? क्या उसके पास पढ़ाई के अलावा ऐसे साधन हैं, जिनमें वह अपनी शक्ति, अपनी ऊर्जा को लगा सके और उन सार्थक साधनों के प्रति उसका इतना रुझान हो कि वह एक लत बन जाए और उनमें ही उसकी आत्मा को तृप्ति मिले?

कामकाजी महिलाओं को इस सबकी ओर अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि, जितनी देर वे ऑफिस में रहती हैं, बच्चे अकेलापन तो महसूस करते ही हैं। इन सब बातों को देखकर मैं अपने बच्चों के प्रति और अधिक सतर्क हो गई। अक्सर मैं उनके बस्ते खोलकर देखती, जेबें टटोलती कि कहीं ऐसी कोई चीज छिपाकर तो नहीं रखी गई है। मैंने उन पर अंकुश लगाया कि अंधेरा होने से पहले उन्हें घर लौट आना है। पढ़ाई के अलावा टेबल टेनिस आदि खेलने की ओर प्रोत्साहित किया, जिससे वे थककर इतना चूर हो जाएं

कि नींद के लिए उन्हें किसी कृत्रिम सहारे की जरूरत न पड़े। जब वे कुछ बड़े हुए तो उन्हें 'सरोद' सिखाने के लिए ट्यूटर रखा क्योंकि, संगीत का लगाव भी अलग ही आनंद की अनुभूति देता है। बच्चों के स्कूल से घर लौटने के समय का ध्यान रखा कि आफिस से मैं फोन करके अवश्य पूछ कि वे ठीक-ठाक हैं, समय पर घर आ गए हैं, खाना खा लिया है, आदि। इन छोटी-छोटी बातों ने बच्चों को अकेलेपन के अहसास से बचाया। सबसे बढ़कर स्पष्ट बातचीत के द्वारा मैंने उन्हें समझाया कि ड्रग्स के दायरे में कैद युवा मन, जब नशे की लपेट में नहीं होता, तब अच्छी-अच्छी बातें सोचता है। पर एक बार वह इस नरक में पड़ जाए तो निकल भागने की कितनी ही कोशिशें करे, कितनी ही करवटें बदले, निकल नहीं सकता।

शुरू में तो अवश्य एक डर की भावना रहती है कि कोई देख तो नहीं रहा, कहीं भेद न खुल जाए। पर जैसे-जैसे घेरा छोटा होता जाता है, उसके भागने की कोशिश विफल हो जाती है। चारों ओर से फैले नाखून उसे दबोच लेते हैं। भले-बुरे की पहचान खत्म हो जाती है। 'मैं जो कर रहा हूँ, वह ठीक नहीं है' का अहसास अंतहीन बालू की परत के नीचे दब जाता है। "किसी ने देख लिया तो", की जगह "देख ले" की लापरवाही की भावना घर कर जाती है।

बच्चों के मन में, बालपन से ही मैंने यह बात बिठा दी थी कि जो कोई काम करो, खुलकर करो, सबकी आंखों के सामने करो। जहां छुपाव है, दुराव है, वहीं असत्य है, अंधेरा है। बच्चों को बता दिया था कि मुझे तुम पर विश्वास है और इस विश्वास की रक्षा तुम्हें करनी है।

मेरी इन सब सावधानियों का परिणाम यह हुआ कि हमारी सामाजिक और दरफ्तरी जिंदगी की व्यस्तता के बावजूद बच्चों ने कभी अपने को अकेला नहीं महसूस किया। उनके और हमारे बीच मित्रता का, विश्वास का, रिश्ता कायम रहा।

आपातकाल के समय स्थितियां तेजी से बदल रही थीं और सब कुछ अनिश्चित था। बहुत से नेता पकड़े गए थे। कुछ सोच रहे थे कि पकड़े जाने से कोई फायदा नहीं है, भूमिगत हो जाना ही अच्छा है क्योंकि, उस स्थिति में काम तो चलता रह सकता है। दिल्ली में इस योजना की जिम्मेदारी लोक संघर्ष समिति के सचिव और जनसंघ के नेता नानाजी देशमुख ने ली। उनके-जैसे कर्मठ व्यक्ति की ही क्षमता थी कि देश में एक व्यापक आंदोलन दक्षतापूर्वक संचालित हो सका। मैं उन दिनों नानाजी देशमुख से कई बार मिली। उनके विचारों से प्रभावित भी हुई। बाद में उनका इंटरव्यू भी लिया।

नानाजी देशमुख एक कर्मठ नेता थे। समाज और संस्कृति के अवमूल्यन को लेकर अक्सर चिंतित रहते थे। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था : "पश्चिम की नकल करके जिस ओर समाज जा रहा है, उसमें आप देखेंगी कि व्यक्ति कितना स्वार्थी हो गया है।

पहले हमारे यहां समाज का ढांचा होता था। उस ढांचे में व्यक्ति समाज से डरता था। उसके सोच के दायरे में सबसे पहले राष्ट्र आता था। उसके बाद मोहल्ला, जहां वह रहता था। फिर परिवार, माता-पिता, भाई-बहन। उसके बाद 'वह' अपने लिए सोचता था। आज स्थिति उलट रही है। आज व्यक्ति पहले अपने परिवार के बारे में सोचता है—परिवार अर्थात्, वह, उसकी पत्नी और उसका बच्चा। एक दिन आप देखिएगा कि उसकी दृष्टि और संकुचित हो जाएगी। वह केवल अपने लिए सोचेगा। मैं, केवल मैं। फिर उसका अपना परिवार—अपनी पत्नी, अपना बच्चा भी नगण्य हो जाएगा।”

आज की स्थिति में जब मैं इस पर मनन करती हूं, तो देखती हूं कि उनकी बात में कितनी सच्चाई थी। राष्ट्र और समाज की प्राथमिकता के उस काल में व्यक्ति कोई भी गलत काम करने से इसलिए डरता था कि उसका समाज उसे क्या कहेगा। मोहल्ले वाले उस पर उंगली तो नहीं उठाएंगे? माता-पिता उसके बारे में क्या सोचेंगे? आज ऐसा कोई डर नहीं है, इसलिए वह मनमानी करता है—एक मूल्यहीन समाज का अंग बनता चला जाता है।

नानाजी के संपर्क में आने के बाद मैं उनसे तथा कुछ और ऐसे कार्यकर्ताओं से मिली, जिन्होंने आपातकाल को नहीं स्वीकारा। तब पता चला कि एक कठिन काम कैसे पूरा हुआ। उनकी कार्यवाहियों का मुख्य केंद्र बना दिल्ली से दस मील दूर, एक छोटा-सा बंगला, जो अब तक उपेक्षित पड़ा था—निर्जन और निस्पंद। अड़तालीस घंटों की छोटी-सी अवधि में वह बंगला लोगों की पदचाप से मुखरित हो उठा।

ये लोग चाहते थे इस सन्नाटे को तोड़कर इस बात से लोगों को अवगत कराया जाए कि आंदोलनकारियों की रीढ़ की हड्डी अभी टूटी नहीं है और उनका मनोबल अभी भी सुरक्षित है। सभाएं और मीटिंगें हो नहीं सकती थीं। सिर्फ एक उपाय बचा था—परचे और पोस्टर निकालना, जिससे आम लोगों को मालूम हो कि वस्तुस्थिति क्या है। फिर क्या था! संदेशवाहकों द्वारा खबरें भेजी जाने लगीं। फोन टैप हो रहे थे, अतः उन पर बात करना खतरे से खाली नहीं था। आपातकाल का भय इस कदर था कि हर दूसरा आदमी इंटेलीजेंस का आदमी लगता था, चाहे वह कोई पानवाला ही क्यों न हो!

सरकारी मशीनरी में भी बहुत से लोग ऐसे थे, जो मन से आंदोलन के प्रति सहानुभूति रखते थे। महिलाओं की सक्रिय भागीदारी बहुत थी। जहां भी भूमिगत आंदोलन के नेता ठहरे, वहां उन्हें इतनी आत्मीयता, इतना स्नेह और इतना संरक्षण मिला, जैसा कि परिवार के एक अंग को मिलता है।

पुलिस अधिकतर 'इनफार्मेशन' के आधार पर काम करती थी। जांच या इनवेस्टीगेशन पर उसका उतना ध्यान नहीं होता था। हर संगठन में घुसकर पुलिस के आदमी काम कर रहे थे और उनकी सूचनाओं के आधार पर पुलिस नेताओं का पीछा कर रही थी। इसलिए संगठन ने 'सिक्रेसी' पर बहुत ध्यान दिया।

सरकार ने आपातस्थिति तो लगा दी थी, पर उसके विभिन्न विभागों में कोई

‘कोआर्डिनेशन’ नहीं था। जैसे, आयकर विभाग के पास जो जानकारी होती थी, वह रिजर्व बैंक के पास नहीं होती थी। इस कारण एक शहर से दूसरे शहर में जाकर काम चल जाता था क्योंकि, वहां की पुलिस को पता ही नहीं होता था कि वारंट किस-किसके नाम है। फिर लिस्ट होती भी थी, तो उसमें हजारों नाम होते थे।

अखबार तो बस छप रहे थे, पर उनमें ऐसी खबरें नहीं छप रही थीं कि कौन गिरफ्तार होकर अंदर है और कौन बाहर। बाहर देखकर ही पुलिस यह सोच लेती थी कि शायद, उस अमुक व्यक्ति के नाम वारंट है ही नहीं, वह केवल कार्यकर्ता है। अक्सर कार्यकर्ता होने का कोई सबूत तो होता नहीं था।

अखबारों पर अंकुश था, तो चोरी-छिपे, गुप्त रूप से समाचारपत्र और बुलेटिनें छप रही थीं। कुछ बड़े शहरों और छोटे शहरों में भी साप्ताहिक और मासिक निकलते रहे। ये बुलेटिन सभी भाषाओं में प्रकाशित होते थे। एक ओर खबरें छपती रहीं, उनका वितरण होता रहा, दूसरी ओर पुलिस खोजती रही उन भूमिगत प्रेसों को, जहां से बुलेटिन और समाचारपत्र छपते थे। पुलिस सुराग पाकर कहीं पहुंचती तो उसे केवल निराशा ही हाथ लगती थी।

आपातकाल में ‘आतंकवाद’ की स्थिति विदेशों में स्थित भारतीय दूतावासों ने भी पैदा कर दी थी। एकपक्षीय जो प्रचार हो रहा था, वह लोगों को भ्रमित कर रहा था। दूतावासों के इंटेलीजेंस विंग यह खबर फैला रहे थे कि यदि वे सरकार की नीति की आलोचना करते हैं, तो उनके पासपोर्ट जब्त कर लिए जाएंगे, भारत में उनके रिश्तेदारों को यातनाएं दी जाएंगी। सेंसरशिप वहां पर भी लागू की गई और दूतावास से आनेवाली चिट्ठियां सेंसर होकर ही कहीं पहुंचती थीं।

संपूर्ण क्रांति के नारे के प्रणेता जयप्रकाश बाबू को 25 जून को ही गिरफ्तार कर लिया गया। घटनाएं तेजी से घट रही थीं। पहली जुलाई को उन्हें विशेष प्लेन द्वारा चंडीगढ़ के पी.जी.आई. अस्पताल में इलाज के लिए भेजा गया—शायद, वायुसेना के प्लेन से। गुर्दे के जानलेवा रोग ने उन्हें घेर लिया था। किसी को भी उनसे मिलने की आज्ञा नहीं थी। तबियत अधिक बिगड़ने पर उन्हें वापस दिल्ली लाया गया और यहां से बंबई जसलोक अस्पताल में इलाज के लिए भेजा गया। सादे कपड़ों में भी और वर्दीधारी सिपाहियों के बड़े हुजूम के घेरे में उन्हें रखा गया। आसपास किसी के फटकने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। मैं उस समय दिल्ली में थी।

जयप्रकाशजी के दर्शन का बड़ा मन था किंतु, यह संभव कैसे होता! उस समय तो बड़ी कोशिश की। वहां के परिचित डॉक्टरों से भी बात की, पर बात नहीं बनी। जयप्रकाशजी की संकल्प-शक्ति और उनका आत्मबल इतना अधिक था कि वे मृत्यु के द्वार से भी लौट आए। आसन्न मृत्यु उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकी, उनके पीछे भारत की जनता की आस्था का बल जो था। विषम परिस्थितियों में वही उस समय आशा के केंद्र-बिंदु दिखाई पड़ रहे थे। कुछ दिनों जयप्रकाशजी को कोलाबा के राजा बाबू के फ्लैट

में रखा गया। उसके बाद जब स्वास्थ्य कुछ सुधरा, तब वे इंडियन एक्सप्रेस टावर में रहे। दिसम्बर से लेकर पांच महीने वे बंबई में रहे। उसी समय हमारा एक बार बंबई जाना हुआ और हमारी उनसे भेंट हुई।

निश्चित समय पर हम इंडियन एक्सप्रेस टावर पहुंचे। जयप्रकाशजी की हालत पहले से बहुत अच्छी थी। धीरे-धीरे स्वास्थ्य सुधर रहा था। पहले बहुत लड़खड़ाते कदमों से चलते थे, अब दो आदमियों का सहारा लेकर पलंग तक आए और बिस्तर पर आंख मूंदकर लेट गए। इब्राहिम एवं सच्चिदानंदजी इस समय हरदम उनके साथ रहते थे। उनसे ही ज्यादा बात हुई। चलने लगे, तो जयप्रकाशजी ने आंखें खोलीं। सच्चिदानंदजी ने हमारा परिचय दिया। हमारे प्रणाम का जवाब दिया और हाथ उठाकर धीमे स्वर में बोले, “क्या कहें, कहने को कुछ है क्या?” मेरा मन व्यथा से भर आया।

दूसरी बार दर्शन हुए, जब कदमकुआंवाले अपने पटना के मकान से वे अपने गांव सिताबदियरा जा रहे थे। बलिया से सिताबदियरा का रास्ता उस दिन लोगों की भीड़ से भरा था। एक हुजूम था, जो उमड़ता चला आ रहा था। सबके मुंह पर एक ही बात थी—‘जयप्रकाश बाबू आवतारन। उनके देखे खातिर जाए के बा’ (जयप्रकाश बाबू आज आ रहे हैं। उनको देखने के लिए जा रहे हैं)।

“कौन जयप्रकाश बाबू?” मैंने एक बुढ़े से पूछ लिया।

“अरे, तू जयप्रकाश के न जानेल? बड़ा अचम्बा के बात बा। तू हिंदुस्तान मा रहतारा कि पाकिस्तान मा?”

तभी पास खड़ा दूसरा बूढ़ा बोला, “अरे, तू कहीं के हो, तू खास जे.पी. के तो जानते होब। मजाक कर रहेल बा।”

सच में तो यह मजाक ही था। पर मैं उनके दिलों की आस्था को कुरेदना चाहती थी, पूरी तरह से। मैंने एक तीर और फेंका। गाड़ी जैसे ही जयप्रकाशनगर की ओर मुड़ी, दोबारा पूछा साथ चलती भीड़ से, “का हो भाई, कउनों मेला-वेला लगल बा?”

इस बार एक पढ़ा-लिखा लड़का सामने आया, बोला, “जयप्रकाशजी आज अपने गांव आए हैं। उन्हीं को देखने जा रहे हैं सब लोग।”

“तो फिर इसमें खास बात क्या है?” मैंने फिर एक चोट की।

“अरे बबुनी,” दूसरा एक आदमी झट बोल पड़ा, “जयप्रकाश की जिनगी का कोउ भारोसा बा, ई तो आखिरी भरसक दरसन हम लोग का मिलत बा।” और यह कहकर उस बूढ़े के पांव गांव की उस बेतकल्लुफ पगडंडी पर बढ़ गए।

पक्की सड़क खत्म हो गई थी। हम लोगों के पांव बांध के सहारे-सहारे कच्ची सड़क पर बढ़ने लगे। भारी भीड़ के वावजूद, धक्का-मुक्की और हड़कंप-जैसा कुछ नहीं था। भारी दोपहरी की धूप की प्रखर तेजी को लोगों के उत्साह की गीली चादर बहुत कुछ कम कर रही थी। आसपास के गांवों से, कोसों दूर से बूढ़े, बच्चे और महिलाएं, कोई गाड़ी में तो कोई पैदल, अंगोछे के छोर में सत्तू की पोटली बांधे, जैसे किसी धार्मिक आस्था

और निष्ठा की डोर में बंधे चले जा रहे हैं। सबकी जबान पर एक ही नारा था :

‘अंधकार में ला प्रकाश—जयप्रकाश’

और सबका लक्ष्य था जयप्रकाश बाबू का गांव।

और हम पहुंच गए जे.पी. के गांव। सामने एक छोटा मैदान। चारों ओर से जे.पी. के घर तक, दोनों ओर दुकान लगी हैं। अब यहां वह सन्नाटा नहीं है, जो कभी काट खाने को दौड़ता था। आदमी वही हैं पर माहौल में फर्क है। बातचीत का लहजा फर्क है। उदासी, थकान और टूटन की जगह चेहरे पर विजय की चमक है।

जे.पी. बहुत खुश नजर आ रहे थे। चेहरे पर संतोष और हर्ष का विचित्र गंगा-जमुनी योग था। यादों के लंबे सिलसिलों का खाता खुल गया था। हर किसी से भोजपुरी में हर मिनट पूछ रहे थे—‘का हाल बा?’ ‘आवो बैठा।’ फिर देखते कि भोजपुरी में सामनेवाले को कुछ समझ में नहीं आ रहा है, तो हिंदी बोलने लगते। लोगों की निगाहें उनके चेहरे को देखती अघा नहीं रही थीं। उनकी स्वयं की निगाहें घूम-फिरकर पौर की दीवारों पर, खपरैल पर अटक जा रही थीं।

वह सामने तुलसी का चबूतरा है। सब कुछ वैसा ही है, जैसा पहले था। फिर भी सब कुछ बदल गया है। तुलसी में पानी नहीं है, वह सूख रही है। अपनी अनुपस्थिति का लंबा अंतराल जे.पी. के चेहरे पर छाप छोड़ गया था। मीठे ख्यालों को आंगन की वह पुरानी तुलसी फिर जगा गई है। आत्मीयता के बंधन खुलने लगे और जे.पी. बेसाखा बोल उठे, “तुलसीजी में पानी नइखे...।” और जब तक तुलसी में पानी पूरी तरह सींच नहीं दिया गया, जयप्रकाशजी वहां से हटे नहीं।

शाम को, गांव में ही उनका भाषण था। वे बोल रहे थे, “कई बार हमारा गांव आवै के मन कईलसे,” कहकर एक मिनट को चुप हुए। आंखें पनिया आईं। पीछे बैठी औरतों के समूह में एक हिचकी उठी, एक हलचल हुई। आंखों से झर-झर आंसू झरने लगे। जे.पी. फिर सोच के दायरे से उभरे। गांव के एक-एक बुजुर्ग का नाम उन्होंने लिया, उनसे बातें कीं। और भी बहुत कुछ बोला, देश के बारे में, राष्ट्र के बारे में। जब मंच से उतरे, एक आवाज आई—“मेहरारू लोगन भी उनका देखे के चाहत बा। वे उस ओर भी जाएं।” जे.पी. मंच से उतर ही नहीं पाए। मंच पर से ही भाव-विभोर हो उन सबका प्रणाम स्वीकार किया।

और फिर, घिर आई रात। उनका आत्मीय भाव पूरी तरह उजागर था। भोजन के लिए गांव के लोगों को बुलाया था। स्वयं चलकर आंगन तक गए। वहां खाना पक रहा था। फिर वहां गए, जहां गाय-भैंसे बंधी थीं। खाना खाते समय एक-एक आदमी को पूछ रहे थे कि यह सब्जी ली कि नहीं! कोई पुराना परिचित वृद्ध दिख गया, तो अपनेपन से पूछ बैठे, “का हाल बा, अपने परिवार के नया लोग का करत बा?”

खाना हो चुका और रात जरा गहराई तो घर के पिछले दरवाजे पर गांव की औरतें जुट गईं, कुछ बूढ़ी, कुछ नवोढ़ा। उमर के हर रंग, सजी-सजाई, गहना पहने। एक-एक

आती गई और उनके पैरों पर झुकती गई। जयप्रकाशजी कुछ मायनों में बड़े संकोची थे। बोल उठे, “ई का करत बाड़ू? हमरे पैर ना छुए के चाही।” वह बेचारी असमंजस में झिझकी। तभी बगल से उसकी सास बोली, “राउर, ई नातिन पतोह बा। ई लोग पैर छुड़वे करी।”

बस, जे.पी. गद्गद, मुस्कराए। बोले, “त ठीक बा।” और फिर तो हर बहू के लिए मुस्करा-मुस्कराकर पूछते रहे, “ई केकर पतोह ह?” यह सिलसिला करीब आधा घंटा चला।

सबेरे दस-ग्यारह बजे से गांव के बड़े-बूढ़े आ जुड़े। जे.पी. के समवयस्क, हमजोली, हमउमर, खैनी पीटते रहते और बतियाते रहते। गांव की बात, घर की बात, गाय-भैंसों और जानवरों की बात कि “कबड्डी होत रहिल जौन बागीचा मा, उ बगीचा के का भइल। अवहि बाकी है कि न?” और जब किसी ने बताया कि वहां तो खेत बन गया है, तो एक लंबा, गुम इतिहास उनकी आंखों में छलछला उठा। चन्द्रशेखरजी उनकी यात्रा में हर समय उनके साथ थे। उनके हमसफर, साथी, छोटे भाई। अपनत्व के घेरे में बंधे उनके मानस-पुत्र।

और फिर आ गया गांव की गली छोड़ने का समय। उनका मन तो बस, वहीं रम गया था। बार-बार कह रहे थे—“हमार जाए के मन नइखे करत।” पर जाना तो था ही। वे घूम-घूमकर, लौट-लौटकर घर की एक-एक दीवार-दालान देख रहे थे, जैसे सबकी यादों को अपने मन-पटल पर संजो लेना चाहते हों। जैसे जानते हों, यह सब फिर दोबारा देखने को नहीं मिलेगा।

उनकी इस ग्रामीण सरलता, सहजता ने, जिसने उनको सामान्य व्यक्ति से परे एक विशिष्ट व्यक्ति बनाया था और भावना के धरातल पर छोटे से छोटे व्यक्ति से उन्हें जोड़ा था, मुझे मोह लिया। बाहर बड़ी भीड़ थी। सारा गांव उमड़ पड़ा था वहां। पता नहीं, अब जे.पी. कब आएंगे! आ भी पाएंगे कि नहीं? कोई कह रहा था—“कउन जाने कउन पुन्य किए थे कि जे.पी. के गांव में जन्म लिया।” जनक महाराज की छाया में जे.पी. क्या जन्मे, स्वयं विदेह हो गए।

हेलीकोप्टर तैयार खड़ा था। भीड़ नारे लगा रही थी—लोकनायक जिंदाबाद! वे हेलीकोप्टर के सामने आए। चढ़ने लगे और फिर फौरन उतरकर, घूमकर गांव की तरफ देखने लगे। चालक बार-बार चलने की जल्दी कर रहा था और वे चारों तरफ देख रहे थे। लोगों को देख रहे थे, गांव को देख रहे थे। जाने-अजाने चेहरों को निहार रहे थे। ठीक, राम-वनगमन का दृश्य था। “अब चली,” किसी ने कहा, शायद, चन्द्रशेखरजी ने। जयप्रकाशजी बोले, “जाने कब फिर देखे का मिली?” ...आंखों में आंसू उमड़ने लगे। एक बार फिर हाथ जोड़े और हेलीकोप्टर में चढ़ गए। चलते-चलते पायलट से कहा, “हमारा मकान के ऊपर से उड़ावा। हेलीकोप्टर उड़ चला। चालक ने घर के ऊपर एक-दो चक्कर लगाए और फिर आंखों से ओझल हो गया, न जाने कितनों की आशाओं-आकांक्षाओं को अपने में समेटे। यह यात्रा एक यादगार यात्रा थी, जिसे मैंने जेहन में बंद करके रखा।

इंदिराजी को अपनी शक्ति को लेकर भ्रम हो गया था। उनके आसपास जो घेरा बना दिया गया था, उससे वे निकल नहीं सकीं। शायद, उन तक असली बातें पहुंचती ही नहीं थीं। उन्हें केवल वही दिखाया जाता, जिसे उनके आसपास के घेरे के लोग दिखाना चाहते थे। इस प्रकार वे जनता से दूर होती गई। 'अनुशासन पर्व' के नाम पर जिस भ्रम की चादर देश को ओढ़ाई गई, उसके अंदर वे स्वयं आ गई और चुनाव करा बैठीं। फलस्वरूप, जनता का मौन-विरोध जब टूटा, तब वह हड़कंप मचा, वह भूचाल आया कि लोकसभा चुनावों में कांग्रेस भारी मात्रा में अस्वीकृत हो गई।

मार्च, 1977 को एक नई आजादी मिली। खुली हवा में सांस लेने का मौका मिला, सबको। यह नई आजादी, क्रांति की बदौलत ही आई थी। यह क्रांति जनता के किसी एक वर्ग ने नहीं की थी, देश के सभी वर्गों के लोगों ने मिलकर की थी। उन्होंने आपातकाल को नकार दिया था। स्कूल-कॉलेज में पढ़नेवाले छात्र-छात्राएं, छोटे व्यवसायी या उद्योगपति या फिर गांव के अनपढ़ लोग—सब इसमें शामिल थे। आपातकाल के बाद चुनाव की उपलब्धि हुई कि केंद्र एवं कई राज्यों में जनता पार्टी की सरकार बनी। मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री बने।

ठाकुर उन दिनों आयकर से डेपुटेशन पर राजस्व गुप्तचर निदेशालय में संयुक्त निदेशक के पद पर आ गए थे। यह बहुत ही महत्वपूर्ण पोस्टिंग थी। आयकर में फिर भी अन्य लोगों से वास्ता पड़ता था। अब तो मंजे हुए शातिर अपराधी, जो नशीले पदार्थों की तस्करी में लगे थे, उनसे निपटना था। इन अपराधियों के संपर्क अंतर्राष्ट्रीय गिरोहों से थे। साधन-संपन्न अंतर्राष्ट्रीय गिरोह तस्करी का माल नेपाल से भारत लाते और यहां से पश्चिमी देशों में ले जाते। भारत का इस्तेमाल एक पड़ाव की तरह करते। ये अपराधी बड़ी पक्की किस्म के थे, न आसानी से पकड़ में आते और न अपराध ही कबूल करते।

एक बार फिर शुरू हुआ—आफिस के लंबे-लंबे कार्य के घंटों का सिलसिला। भागदौड़, टेंशन और व्यस्तता। उन दिनों जनता सरकार में राजस्व मंत्री थे—सतीश अग्रवाल। जब जनता सरकार आई, तब सब लोगों ने कहा कि टी.पी. की मुश्किल आई, क्योंकि, कांग्रेस सरकार में उन्हें बहुत विश्वास में लिया जाता था। यह एक तरह का प्रचलित नियम है कि जब एक सरकार जाती है, तो आनेवाली सरकार में तबादलों का दौर शुरू हो जाता है। नए मंत्री अपने विश्वस्त अफसरों को लाना चाहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि अफसर की निष्ठा कर्तव्य के प्रति होती है, ड्यूटी के प्रति होती है। वह तो जो योजना होगी, उसके अनुसार, अपने से ऊपर के आफीसर के आदेशानुसार ही काम करेगा। इंदिरा सरकार में प्रत्यक्ष कर बोर्ड के अध्यक्ष एस.आर. मेहता का पूरा विश्वास और सहयोग ठाकुर को मिला हुआ था, इसलिए काम करने में, ड्यूटी पूरी करने में अलग ही आनंद आता था। नई सरकार के आने से थोड़ी ऊहापोह, शंका हौनी स्वाभाविक थी।

जनता सरकार ने कई जांच कमीशन बिठाए थे। शाह कमीशन उनमें प्रमुख था, जो आपातकाल की ज्यादातियों की जांच के लिए बिठाया गया था। टी.पी. का उसमें कहीं नाम नहीं था। ऊपर से आदेश सदैव मेहताजी को दिए जाते थे और मेहताजी अपने अधीनस्थ अफसरों को निर्देश देते थे। आदेश को वह पूरी जिम्मेदारी से स्वीकार भी करते थे। वे बड़े कर्तव्यनिष्ठ, दिलेर व्यक्ति थे। टी.पी. पर उनका अटूट विश्वास था और वे उनके बहुत करीब थे। इसलिए, जाहिर था कि लोग सोचते कि दिल्ली से हमारा दाना-पानी उठने में देर नहीं है।

एक दिन राजस्व मंत्री सतीश अग्रवाल ने ठाकुर को बुलाकर कहा, “सुना है, तुम इंदिराजी के विश्वस्त लोगों में से थे ?”

ठाकुर ने उत्तर दिया, “विश्वस्त यदि था तो अपनी कर्तव्य-निष्ठा के कारण था।”

उन्होंने पुनः कहा, “तब तो तुम्हें अच्छी तरह मालूम होगा कि इंदिराजी का धन कहां रखा है? अब तो समय बदल गया है। तुम हमें उसके बारे में बता दो।”

ठाकुर ने उत्तर दिया, “साहब, मैं तो एक बहुत छोटा अफसर था, मुझे नहीं मालूम कि उन्होंने धन कहां छिपाया है।”

उन्होंने फिर भी नहीं छोड़ा और बार-बार इंदिराजी के छिपे धन के बारे में पूछा।

इस पर ठाकुर को बहुत गुस्सा आया। बोले, “सर, पहले तो मुझे मालूम नहीं कि उनका खजाना कहां छिपा है। दूसरी बात, क्या आप सोचते हैं कि मुझे मालूम भी होता तो मैं आपको बता देता? हम राजस्थान के लोग हैं। आन पर, विश्वास पर, सिर कटानेवाले लोग। और फिर यदि, आज मैं आपको उनके भेद बता दूंगा तो कल जब आपकी सरकार बदलेगी, तो आपकी गोपनीय बातें मैं आनेवाली सरकार को नहीं बताऊंगा, यह आप कैसे सोच सकते हैं?”

सतीश अग्रवाल स्वयं राजस्थान के थे। इनका उत्तर सुनकर लाजवाब हो गए। उसके बाद उन्होंने और कुछ नहीं कहा और ठाकुर उनके भी विश्वस्त हो गए। यह बात ठाकुर ने जब मुझे बताई, तब मैंने सोचा कि यह तो सरासर ज्यादाती है किसी की ईमानदारी, निष्ठा और विश्वास के प्रति। दूसरी ओर मेरा मन पति के प्रति गौरव से अभिभूत हो उठा।

उन्हीं दिनों राजस्व गुप्तचर विभाग को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से सूचना मिली कि कोई ऐसा गिरोह है, जो भारत में सक्रिय है। यहां पर भी अधिकारियों को ऐसे गिरोह का पता चला। इस गिरोह को पकड़ने के लिए ठाकुर ने अमेरिकी गुप्तचर एजेंसी से संपर्क साधा, एक मिली-जुली कार्यवाही करने के लिए। यह पता लगाने की कोशिश की गई कि माल चलता कहां से है। तस्करों में कौन-कौन शामिल है? माल लाने-ले जाने का तरीका क्या है? इससे भी कहीं ज्यादा जरूरी यह पता लगाना था कि माल कहां से, कब निकल रहा

है ताकि, तस्करों को मौके पर ही रंगे हाथ पकड़ा जा सके। रात-दिन निगरानी रखने का पूरा इंतजाम किया गया।

किसी फिल्मी कहानी की तरह, गिरोह के बारे में सूचनाओं का स्रोत और मजबूत करने के लिए कुछ एजेंटों को लगाया गया, जो तस्करों के गिरोह में घुसकर अंदरूनी सूचनाएं लाकर देते थे। मैं उन दिनों हिन्दुस्तान टाइम्स में ही थी। एक दिन दोपहर को देखा, कुछ सहयोगी भागकर नीचे सड़क की ओर जा रहे हैं। कस्तूरबा गांधी रोड पर उस दिन ऐसा क्या घटित हो गया था कि सभी की निगाहें उस ओर टिकी थीं। सही स्थिति का पता लगाने के लिए रिपोर्टर्स का हुजूम उधर की ओर दौड़ा। मैं भी अपनी उत्सुकता रोक नहीं सकी। आकर्षण का केंद्र वह सड़क इसलिए भी बन गई, क्योंकि एकदम पुलिस की दो-तीन गाड़ियां एक भागती हुई गाड़ी का पीछा कर रही थीं। गाड़ी तेजी से भाग रही थी, जैसा हम अक्सर फिल्मों में देखते हैं। सड़क पर गाड़ियों और पैदल यात्रियों की परवाह किए बगैर पुलिस ने गोली भी चलाई किंतु, वह असफल रही। गाड़ी चौराहे की लाल बत्ती की परवाह किए बगैर, जनपथ की ओर से निकल गई। दर्शक मूक थे। हम लोग चकित।

पता लगा कि पास की एक बिल्डिंग में, किसी आफिस का एक कमरा था। आफिस का नाम भी बनावटी था और आफिस में फर्नीचर के नाम पर चंद कुर्सियां, एक मेज तथा टेलीफोन ही था। इस बेनामी आफिस को तस्करों का गिरोह केवल सूचना इकट्ठी करने के लिए आपरेट करता था। किसका आफिस था, कौन आता था, यह कुछ वहां काम कर रहे एक-दो लोगों को भी पता नहीं था। उन्हें बस यह पता था कि दिन-भर आई हुई डाक और टेलीफोन-सूचना एकत्र करने के लिए हर शाम कोई न कोई आता था। वह कौन थे, कहां से आते थे, इसका उन्हें भी कुछ पता नहीं था। जाहिर था कि वह केवल एक सेंटर था, संपर्क-सूत्र इकट्ठा करने का। राजस्व गुप्तचर निदेशालय की नजर उस केंद्र पर कई दिन से थी। दिल्ली की सड़कों पर संदिग्ध व्यक्तियों का लगातार पीछा किया गया और उनके ठहरने के ठिकानों पर रात-दिन नजर रखी गई। काफी भाग-दौड़ के बाद पता लगा कि गिरोह का सरगना अमेरिकी नागरिक था और गिरोह के अन्य सदस्य नेपाली।

गिरोह के दो नेपाली सदस्यों ने, जो नेपाल से माल लेकर आते थे, अपने ठहरने के लिए भी चुनी थी सबसे सुरक्षित जगह—राष्ट्रपति भवन के पीछे के स्टाफ क्वार्टर्स में अपने किसी रिश्तेदार का घर। इस सब सूचना से, यह तो पता लग गया कि माल आया है और उसे बस, अमेरिकी खरीदार को सुपुर्द करना-भर है। इस माल में हशीश और हशीश-आयल शामिल थे। जो दो आदमी माल लेकर आए थे, उन्हें गिरफ्तार करने में कोई कठिनाई नहीं थी। लेकिन, ठाकुर ने राजस्व मंत्री सतीश अग्रवाल से कहा, “कदम इस तरह उठाना चाहिए, जिससे भारत और अमेरिका दोनों जगह तस्करी में लगे समूचे गुट का पूरी तरह सफाया हो सके।” सतीशजी ने अपनी अनुमति दे दी। पोलिटिकल क्लेरियेंस भी ले लिया—राष्ट्रपति भवन के स्टाफ-क्वार्टर जो सर्च करने थे।

अब जरूरी था कि इस सिलसिले की हर कड़ी को तोड़ा जाए। लिहाजा, राजस्व गुप्तचर निदेशालय और अमेरिका के ड्रग इनफोर्समेंट एडमिनिस्ट्रेशन के गहरे तालमेल से संयुक्त कार्यवाही का फैसला किया गया। बहुत सोच-विचारकर काम करने की जरूरत थी क्योंकि, आशंका यह थी कि गिरोह के दिल्ली में मौजूद सभी सदस्य अगर पकड़े गए, तो गिरोह अपने काम के तौर-तरीके और जगह बदल देगा और फिर अमेरिका में वितरण के स्रोतों का पता लगाना कठिन हो जाएगा।

हमेशा की तरह, घर में फोन की घंटी की टनटनाहट शुरू हो गई। रात-बिरात भी कभी-कभी फोन आ जाते। पर आयकर के छापों से इस बार की कार्यवाहियों में अंतर था। वहां सब काम दिन की रोशनी में होते थे, यहां दिन-रात में कोई फर्क नहीं था। दिन में अपराधी पकड़ा जाता तो रात में उससे देर तक पूछताछ होती। क्योंकि, अपराधी मंजे हुए होते थे। उन पर जरूरत पड़ने पर बल प्रयोग भी करना पड़ता था। ऐसे समय ठाकुर जब देर रात घर आते तो बड़े बिचलित होते। उनका कोमल मन मार-पीटाई देखकर दुखित हो जाता। अक्सर कहते, “और सब तो ठीक है, पर अपराधियों को इस तरह कठोरता से मार-पीट और पूछताछ करके उनसे अपराध स्वीकृत कराना, कुछ अच्छा नहीं लगता। कई बार तो निरपराध भी इस चपेट में आ जाता है।”

मैंने कहा, “जिस तरह के मंजे हुए अपराधी हैं, वे इसके बिना कुछ कबूलेंगे भी तो नहीं। दंड भी तो आवश्यक है ही।”

राष्ट्रपति भवन में छिपे नेपालियों पर नजर रखने के लिए दो व्यक्ति तैनात किए गए। वह उनकी गतिविधियों पर पूरी नजर रखे हुए थे। अंततः खबर आई कि नेपाल से आनेवाला माल गिरोह के सरगना को उस रात सौंपा जानेवाला है और वह उसे अमेरिकी एजेंट को देंगे। अमेरिकी सरगना एक पांच-सितारा होटल में ठहरा हुआ है। राजस्व गुप्तचर अधिकारियों की नजरें उसकी बराबर निगरानी कर रही हैं। डिप्टी डायरेक्टर एस.पी. श्रीवास्तव और एच.के.बब्बर इनवेस्टिगेटिंग आफिसर थे। अमेरिकी सरगना को सपने में भी ख्याल नहीं था कि होटल के कारीडोर में बैठे, बातों में मशगूल व्यक्ति राजस्व गुप्तचर निदेशालय के अधिकारी हैं।

ऐसा कौन-सा माल है, जो उसे पहुंचाया जाना था? पूछने पर मालूम पड़ा कि नेपाल में हशीश-आयल बनाने की शुरुआत उसी अमेरिकी ने की थी और इसके लिए वहां एक प्रयोगशाला गुप्त रूप से कायम की गई थी। पिछले दस-बारह साल से वह तस्कर हशीश-आयल का बेताज बादशाह बना हुआ था। यह हशीश-आयल गाड़ी के टायरों में भरकर भेजा जाता था। फोर्कलिफ्ट ट्राली के टायर विदेशों को निर्यात होते थे। इन टायरों की रिम में हशीश-आयल भर दिया जाता था। एक टायर में तीन किलोग्राम हशीश-आयल भर जाता था।

जब ये टायर एयरपोर्ट पर उस अमेरिकी सरगना को सौंपे गए, तब अधिकारियों ने कोई कार्यवाही नहीं की। इसका कारण यही था कि यदि यहीं पर उन्हें पकड़ लेते तो

अमेरिकी वितरण एजेंसियों का पता नहीं चल पाता। इसलिए 'कंट्रोल डिलीवरी' के माध्यम से पूरी तफ्तीश की गई। फोन द्वारा सूचना कैलीफोर्निया भेज दी गई और वहां जैसे ही यह अमेरिकी सरगना पहुंचा और टायरों की डिलीवरी होटल में दी, वैसे ही रंगे हाथों पकड़ा गया। कुल 188 टायर थे, जिनमें 480 किलो से ज्यादा हशीश-आयल बरामद हुआ। इसकी कीमत अंतर्राष्ट्रीय बाजार में करीब 1 करोड़ 73 लाख थी। इस सारे अभियान का नेतृत्व ठाकुर ने किया। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस कार्य की बहुत प्रशंसा हुई।

इस एक केस के पीछे कितनी रातें जगकर मैंने बिताई, मैं ही जानती हूं। क्योंकि, ऐसे कुख्यात तस्करों को पकड़ने में खतरा तो रहता ही है। पति के लिए खतरे का आभास मात्र ही पत्नियों को भयभीत कर देता है। यहां तो साक्षात् मुठभेड़ थी। मैं ही क्यों, गुप्तचर विभाग के सभी अधिकारियों को पत्नियों को इस तरह की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। भय दूर से दस्तक देता है, पर जब दरवाजे पर आ खड़ा होता है, तब छूटने का कोई उपाय भी तो नहीं रहता। इसीलिए हमें उसको एक स्वाभाविक प्रक्रिया समझकर स्वीकार करना पड़ता है।

विविधा

- साहित्यकारों की दुनिया ● केसर की क्यारी में काला धन
- राजस्थानी तेवरों की झलक

जिन दिनों ठाकुर आफिस की सरगर्मियों में जरूरत से ज्यादा व्यस्त रहते, मैं साहित्य की दुनिया में खोई रहती। गाहे-बगाहे, कोई न कोई, कवि-मेहमान आ जाता। कुछ अजीबोगरीब अनुभव इन लोगों के कारण हुए। कुछ तो ऐसे जिन्हें, याद करके ही हंसी आती है।

एक बार हिंदी के अति विशिष्ट रोमांटिक कवि गोपालदास नीरज बंबई में हमारे यहां ठहरे हुए थे। वे भी कानपुर के डी.ए.वी. कालेज के छात्र थे, उन्हीं दिनों जब हम भी वहां अध्ययन कर रहे थे। उनका अपना एक फ्लैट शहर से कुछ दूर था, जो उन्होंने अपनी प्रेमिका को दे रखा था। जब बंबई आते, वहीं ठहरते थे। प्रेमिका एक जानी-मानी लेखिका थीं। एक दिन हम शाम को घर में बैठे हुए थे कि बाहर से जोर-जोर से चिल्लाने की आवाज आई, “टी.पी. भाई कहां हो? अरे, मैं मर गया। मुझे बचाओ टी.पी. भाई!” हमने झांककर देखा, कवि महोदय चिल्ला रहे थे। किसी तरह उन्हें ऊपर लाए। उनका पैर बुरी तरह जला हुआ था। डॉक्टर बुलाया। दिखाया। पूछा, यह सब कैसे हुआ। किस्सा यों हुआ कि कवि महोदय के पास उनकी प्रेमिका के प्रेम-पत्र रखे हुए थे। वह बार-बार इनसे शादी के लिए कहती थी। और क्योंकि, वह पहले से ही शादीशुदा थे, एक बड़ा बेटा भी था, अतएव शादी नहीं कर सकते थे। लिहाजा प्रेमिका ने कहा, “शादी नहीं कर सकते तो मेरे प्रेम-पत्र वापस कर दो।”

“कैसे प्रेम-पत्र?” कवि महोदय ने पूछा।

“वह जो तुम्हारे पास रखे हैं। जल्दी दो, मुझे आफिस को देरी हो रही है।”

“अच्छा, शाम को दूढ़कर दे दूंगा।”

खैर, वह तो आफिस चली गई। अब कवि महोदय ने क्या किया कि पत्र तो निकाल लिए, लिफाफे रहने दिए। शाम को जब वह आफिस से लौटी, तो उसने पुनः फरमाइश की, “मेरे पत्र मुझे वापस दे दो और आइंदा मुझसे मिलने की कोशिश मत करना।”

कवि महोदय उठे। लाल रूमाल में बंधे वे पत्र लाकर उसके हाथों में थमा दिए। उस समय वे कपड़ों पर इस्तरी कर रही थीं। इस्तरी रोककर पत्र देखे, तो लिफाफे मिले, पत्र नदारद। अब तो उन्हें बहुत क्रोध आया। लाजमी था क्रोध का आना भी। उसने आव देखा न ताव, वह गरमागरम इस्तरी उनके पैर पर चिपका दी।

वेचारे कवि भागे वहां से। घाव ठीक होने तक, वह हमारे घर में रहे। इस दौरान जो भी आता, उससे अपनी प्रेमिका की बेवफाई की कहानी कहते। मुझसे जिद्द करते कि सब समाचारपत्रों में उनके द्वारा लिखी वह कविता छपवा दूं, जिसमें उन्होंने प्रेमिका का नाम ले-लेकर उसे कोसा था। अब बताइए, ऐसा कैसे हो सकता था! अतः एक सप्ताह बाद वे रूठकर घर से चले गए।

उन्हीं दिनों भवानी दादा से भी परिचय हुआ। भवानी दादा अर्थात् भवानीप्रसाद मिश्र। बिंदु-बिंदु जोड़कर जिन्होंने समूचा आकाश रच डाला। सबसे पहले मैंने उन्हें लाल किले में सुना था :

न, निरापद कोई नहीं है
न मैं, न तुम, न वे
कोई है, कोई है, कोई है
जिसकी जिंदगी दूध की धोई है

मंच से उड़ते स्वर लाल किले की बुलंदियों से टकराते हुए, ऊपर और ऊपर उठते हुए आकाश के विस्तार में समाते जा रहे थे। सचमुच, कौन कह सकता है दावे से कि उसकी जिंदगी दूध की धोई है। अपने 'गीतफरोश' होने का ऐलान उन्होंने भले कितने ही जोर-शोर से किया हो, पर सच तो यह है कि भवानी दादा कविता बेचते नहीं, लुटाते थे। जिस किसी ने भी मांग की, दो शब्द एक पोस्टकार्ड पर लिखकर भेज दिए और वही कविता होती थी। आधी सदी से भी अधिक समय तक निरंतर चलती रही उनकी काव्य-यात्रा। कितनी कविताएं लिखीं, इसका भान उन्हें भी नहीं था। आपातकाल में तो हर दिन तीन कविताएं लिखने का उन्होंने अपना नियम बना लिया था। अक्सर मुझसे कहते थे, इसको मैंने अनुष्ठान के रूप में लिया है—यह मेरी आत्मा का विरोध है आपातकाल के लिए। बाद में, इनमें से कुछ कविताएं 'त्रिकाल संध्या' नामक संग्रह के रूप में प्रकाशित हुईं।

एक बार मैंने 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के लिए उनसे एक कविता की मांग की। कई दिन हो गए, स्वीकार करने के बावजूद कविता नहीं आई। मैंने फोन किया तो बोले, "शीला बहन, बस, एक शब्द पर अटक गया हूं। जैसे ही मिलेगा, कविता पूरी करके भेज दूंगा।"

भवानी दादा ठीक शब्द की तलाश में उसी तरह बेचैन रहते, जैसे किसी लापता

बच्चे की तलाश में उसके माता-पिता रहते हैं। किंतु, ऐसा अवसर बहुत कम आता था। अन्यथा, सही शब्द तो उनकी कविता में क्रमबद्ध रूप से कतार-दर-कतार उतरते चले जाते थे :

शब्द टप-टप टपकते हैं फूल से
सही हो जाते हैं मेरी भूल से

उनके शब्दों की धार बहुत करारी थी किंतु, उसके नीचे जाकर किसी शब्द पर खरोंच नहीं आती थी। हर शब्द एक तराशे हुए नग-सा अपनी जगह जड़ा हुआ होता था। उनके इसी भाषा-कौशल से चकित किसी समीक्षक ने लिखा था : 'यह आदमी कविता ऐसे लिखता है, जैसे रस्सी बुनता हो।'

मैंने भवानी दादा को फोन किया, "दादा, ऐसी सुंदर कविता की समीक्षा में समीक्षक ने क्या घटिया उपमा दी है!" दादा बोले, "कोई बात नहीं, नहले पर दहला लगाना तो मैं भी जानता हूँ।"

कुछ समय बाद भवानी दादा का एक और नया संग्रह आया। इस संग्रह का नाम था—'बुनी हुई रस्सी'। भवानी दादा के जाने-माने शिल्प में रस्सी जैसी लयबद्ध कविताएं। इसी कृति 'बुनी हुई रस्सी' को सन् 1972 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

किशोरावस्था में, उनकी प्रसिद्ध कविता 'गीतफरोश' की पंक्ति 'मैं गीत बेचता हूँ' से कवि के प्रति एक लगाव, मुझे जो पैदा हुआ था, वह जैसे-जैसे उनको जाना, उनके प्रति आदर और श्रद्धा में बदलता गया। उनके भीतर कविता की कोमल बेल कैसे बढ़ती और फैलती थी, इसका रहस्य केवल वे ही जानते थे।

एक बार हमारे घर पर करीब दो घंटे उन्होंने लगातार कविता-पाठ किया। वह संध्या तो भुलाए नहीं भूलती। गांधीजी में उनकी आस्था उतनी ही प्रबल थी, जितनी ईश्वर में किंतु, वे व्यथित भी बहुत होते थे यह देखकर कि गांधी के मूल्यों की ओर देखने की किसी को फुरसत नहीं है। हिंदी की दुर्दशा से भी विचलित हो उठते थे। फिर भी उनके शब्दों में कहीं निराशा की झलक नहीं थी। वे उदासी के नहीं, पल-पल धड़कती जिंदगी के कवि, जीवंत कवि थे। उत्साह और ऊर्जा के कवि थे। आम आदमी के कवि थे।

हृदय में पेसमेकर लगाए वे आयु के समूचे उत्तरार्द्ध में हैदराबाद, मद्रास, बंबई और दिल्ली-जैसे महानगरों में रहे किंतु, मानसिक रूप से वे यहां के प्रदूषण-भरे जीवन से सामंजस्य नहीं बिठा पाए थे। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था, "शीला बहन, मेरा तन दिल्ली में रहता है किंतु, मन सतपुड़ा के घने जंगलों, ऊंधते अनमने बियाबानों में घूमता रहता है। इसीएल अपरिचय के विंध्याचल को समतल करते, नर्मदा की लहरों में डूबते, जब भी मौका मिलता है, मैं दिल्ली छोड़कर उन ग्राम्य अंचलों में पहुंच जाता हूँ और वहां से प्राणवायु लेकर लौटता हूँ।"

आदमी के जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं, कोई घटना नहीं, जिसके बारे में उन्होंने न लिखा हो। आज भी जब व्यक्तिगत दुखों के कारण कभी आंखें नम होती हैं और मन में शून्य-सा महसूस होता है, तब भवानी दादा के स्वर याद आते हैं :

दर्द जब घिरे वहाना करो
ना ना ना ना ना ना ना करो।

और मैं दर्द की चादर झटककर उठ खड़ी होती हूँ, उनके ही शब्दों से प्रेरणा पाते हुए कि :

कब तक पड़े रहोगे ऐसे
रत्ती-भर दुख का नशा लिए।

एक और व्यक्तित्व, जिनकी स्मृति आज भी ताजा है, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल की है। पहली बार आज से तीस वर्ष पहले, जब लक्ष्मी भाई से मेरी भेंट हुई थी, तब सहज ही उन्होंने मुझे 'शीला वहन' का संबोधन दिया था। उस क्षण से लेकर अपने जीवन के अंतिम दिनों तक वे मुझे उसी तरह संबोधित करते रहे और उसके धर्म को जीते रहे। महानगरीय जीवन में यह बात अपने-आपमें विरल है। लक्ष्मी भाई का नाम याद आते ही एक ऐसे सहज संपूर्ण व्यक्ति का चित्र उभरता है, जो जीवन के न जाने कितने संघर्षों के मंथन से निकला था। लक्ष्मी भाई को उनके जीवन की पृष्ठभूमि, उनके परिवार और परिवेश को जितना जाना, यही पाया कि अपने श्रेष्ठतम को अर्जित करने के लिए उन्होंने बहुत साधना की होगी। साधना तो सभी को करनी पड़ती है, रंक को भी, राजा को भी, अमीर को भी, किसान को भी। किंतु, राजा और अमीर के बेटे को साधना करने के लिए सभी साधन उपलब्ध होते हैं जबकि, किसान और रंक के बेटे को अपनी ही क्षमता पर भरोसा करना पड़ता है।

लक्ष्मी भाई किसान के बेटे थे। उनकी साधना साधनहीन की थी, फिर भी साहित्य में उन्होंने डॉक्टरेट की और अनेक विधाओं में साहित्य की रचना की—नाटक, कविता, लेख, कहानी—सभी कुछ लिखा। अक्सर हमारे घर जब आते, बीच-बीच में एक ही वाक्य उनके मुख से निकलता, “टी.पी. भाई, मैंने विश्वविद्यालय की नौकरी भी छोड़ दी।” आश्चर्य यह कि उनकी नौकरी छोड़ने की बात से मित्रगण दुखी होते परंतु वे हंसते ही रहते, मुक्ति की निश्छल हंसी। वे शहर के कृत्रिम जीवन में रहते हुए भी खेतों की खुशबू से जुड़े देहाती मिट्टी को जी-जान से प्यार करते थे।

उनकी आर्थिक स्थिति को लेकर हम बड़े चिंतित रहते। उनकी पत्नी, आरती भाभी ! सहज, सरल, माथे पर बड़ी-सी लाल बिंदी, मांग में भरा-भरा सिंदूर, उनके हल्के श्याम रंग पर बहुत सजता था। कभी मैं मिलती तो वे सदैव पूछतीं, “कढ़ी खाने कब आ रही हैं।” पति के हर कदम पर साथ देनेवाली पत्नी थीं वे। डॉ. लाल को भी मैंने कभी उनका असम्मान करते नहीं देखा। उनकी हर जरूरत पूरी करते—उनके दांत निकलवाने हैं तो

डाक्टर को ले जाकर दिखाने से लेकर तीज-त्यौहार पर पीहर ले जाने तक।

जब मैं 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में संपादक थी, एक बार मैंने उनसे एक लेखमाला लिखवाई—इंसानी रिश्ते : मानव संबंध। इंसानी रिश्ते डॉ. लाल के आसपास के संबंधों के संसार से जुड़े हुए थे—आधारित थे उन संगतियों और विसंगतियों पर, जो वे अपने व्यक्तिगत जीवन और परिवेश से पाते थे और जिनका प्रस्तुतीकरण होता था उनके नाटकों में।

एक बार डॉ. लाल ने मुझे से कहा, “शीला बहन, आपके और ठाकुर भाई के जीवन को मैंने बहुत करीब से देखा है। आप दोनों एक-दूसरे को प्यार भी करते हैं, झगड़ते भी हैं—आम पति-पत्नी की तरह छोटी-से-छोटी और फालतू-सी लगनेवाली बात पर भी। ठाकुर भाई में तेजी है, आप में धीरज है। उनमें कर्म-निष्ठ की गतिशीलता है, आप छोटी-छोटी बातों पर गुस्सा हो जाती हैं। वे दौड़ते हैं, आप चलती हैं। वे बड़ी-से-बड़ी चीज को महत्त्व नहीं देते, आप छोटी-छोटी चीजों को भी महत्त्व देती हैं। वे संबंधों और रिश्तेदारियों से इतने जुड़े हैं कि लगता है परिवार को भी समय नहीं दे पाते, जबकि आप बच्चों की बात हमेशा सोचती रहती हैं। इतने विरोधाभास रहते हुए भी आप इतने घुले-मिले हो जैसे, शिव और पार्वती, सच्चे अर्थों में सहभागी! ऐसा कैसे संभव होता है?”

मैंने कहा, “लाल भाई, हम औरतों को बचपन से यह महसूस कराया जाता है कि हमारे विचारों और कर्मों का कोई महत्त्व नहीं है। हमें सदैव दूसरों के साथ सामंजस्य करके चलना है। धीरे-धीरे जब अपने स्वतंत्र विचार बनने लगते हैं, तब तक हर स्थिति के साथ सामंजस्य बैठाना एक 'आदत' बन जाती है। टकराव भी होते हैं बौद्धिक स्तर पर, स्वाभाविक है, पर वे क्षणिक होते हैं और हमारे आपसी संबंधों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उस समय ठाकुर बहुत नाराज भी हो जाते हैं, कभी-कभी। वहां चाहे मैं स्वयं ही सही क्यों न होऊँ, 'सॉरी, आई एम सॉरी' तो मुझे ही कहना पड़ता है। तब आप जानते हैं इनका एक वाक्य, जो ऐसी स्थितियों में अक्सर होता है, वह यह है, 'तुम मन में तो सोच रही हो कि तुम सही हो और मैं गलत। केवल मुझे शांत करने के लिए 'सॉरी' बोल रही हो। तब मैं कहती हूँ, 'अब हनुमानजी की तरह अपना हृदय खोलकर तो नहीं दिखा सकती, इसलिए मुख से निकले शब्दों पर ही उसी प्रकार भरोसा कीजिए जैसे मैं आपके प्यार पर भरोसा करती हूँ और इसी कारण आपकी ज्यादातियां भी सह पाती हूँ।' और बस, फिर थोड़ी देर में हमारी लड़ाई खत्म हो जाती है।

“मैं समझती हूँ, पति अपनी पत्नी के रूप में प्रेमिका, माँ, बहिन, धर्मपत्नी, नौकर, सखा, गुरु, पथप्रदर्शक—सब कुछ देखना चाहता है। एक में अनेक। मैंने अपने को हर स्तर पर, इनकी भावनाओं के अनुरूप, सहज रखा है, इसीलिए शायद, गाड़ी ठीक ही चल रही है।”

इस बात को हुए बहुत दिन बीत गए। एक दिन देखा डॉ. लाल अपने हाथ में एक नव-प्रकाशित नाटक की प्रति लिए चले आ रहे हैं। नाम था—‘व्यक्तिगत’ और उन्होंने

उसे समर्पित किया था हमें यानी 'टी. पी. भाई और शीला बहन को'

जब नाटक पढ़ा तो लगा, लेखकों से बात करना भी बहुत खतरनाक है।

'व्यक्तिगत' नाटक में दांपत्य-जीवन के संबंधों की कथावस्तु लेकर डॉ. लाल चले, किंतु, उसको इतना उलझा दिया कि जिन संबंधों की मधुरता को लेकर उन्होंने कथानक प्रारंभ किया था, वह कहीं खो गया। समाज की व्यापक पृष्ठभूमि में उन्होंने यही देखा कि अधिकांश व्यक्ति खंडित व्यक्तित्व जी रहे हैं और इसीलिए समस्याओं के बाहरी समाधान ढूंढ़कर आनंद प्राप्त करना चाहते हैं।

'कादम्बिनी' में मैं पांच वर्ष रही। पत्रकारिता के क्षेत्र में एक दशक से ऊपर का समय बीत चुका था। इस बीच दो संपादकों के साथ काम करने का अवसर मिला। बड़े ही स्वस्थ वातावरण में काम किया किंतु, तभी देखा कि धीरे-धीरे, समाज में जहां मूल्यों का विघटन हो रहा था, वहां इस क्षेत्र में भी उसकी परछाइयां धीरे-धीरे बढ़ रही थीं। कैरियर बनाने के लिए, आगे बढ़ने के लिए, तरह-तरह के उपाय नए लोग, जो भी जिस क्षेत्र में भी थे, करने लगे, तब मीडिया भी इससे कैसे अछूता रहता? चाटुकारिता के नए-नए ढंग ईजाद हुए। हम लोग अपने समय में संपादक के कमरे में जाने से घबराते थे। अब नए प्रत्याशी उनके लिए विशेष रूप से पकवान बनाकर या फूल लेकर आए तो ऐसा लगे, जैसे स्कूल में पढ़नेवाली किशोरावस्था की लड़कियां अपनी टीचर को प्रसन्न करने के लिए फूल लेकर आ रही हैं। पर शायद, सब संपादक ऐसे नहीं थे। केवल कुछ ही थे, जिनकी कलम तभी चलती थी, जब सामने कोई सुंदरी बैठी हो।

'कादम्बिनी' से मैं दैनिक 'हिन्दुस्तान' के संयुक्त-संपादक पद पर आ गई। साप्ताहिक, फिर मासिक और अब दैनिक-पत्र का संपादन। हर एक के अलग-अलग अनुभव। मेरे अनुभवों का यह तीसरा चरण था—पत्रकारिता के क्षेत्र में। दैनिक पत्र की सबसे बड़ी विशेषता है कि सुबह की खबर शाम तक बासी हो जाती है। रिपोर्टिंग का ढंग भी अलग। हर वक्त बदलता आइना। अखबार के पेज कैसे बनते हैं, किस समय तक ताजी खबरें ले सकते हैं, अखबार के कई-कई संस्करण—डाक संस्करण अलग, नगर संस्करण अलग। सब मिला-जुलाकर एक गतिशील वातावरण—एक ताजगी महसूस की। मैं प्रेस में जाती, स्वयं खड़े होकर पेज बनवाती। मैं हर दृष्टि से अपने को सक्षम बनाना चाहती थी। उन दिनों दैनिक 'हिन्दुस्तान' में संपादक चंद्रलालजी चंद्राकर थे। उनके साथ कुछ ही दिन काम करने का मौका मिला, फिर वे लोकसभा के सदस्य और मंत्री हो गए। विनोद मिश्रा संपादक बनकर आए। उन्होंने मुझे रविवासीय पृष्ठ देखने का काम दिया। उसमें तो कोई नई बात नहीं थी। एक पूरी मैगजीन का ही तो संक्षिप्त रूप था रविवासीय। उसमें समाचार एजेंसियों से हर वक्त आनेवाले समाचारों का सहारा नहीं लेना था, बल्कि, हर फीचर खुद नियोजित करना था। फिर भी मैंने दैनिक में सप्ताह-भर में अलग-अलग

दिन—एक पृष्ठ खेल पर—एक विविध सामग्री पर और एक फिल्म पर देने की योजना रखी। सप्लीमेंट निकालने का भी प्रस्ताव रखा—जैसा कि बाद में अंग्रेजी-पत्र तो खूब सप्लीमेंट निकालने लगे—हिंदी में वैसा नहीं हुआ।

रविवासीय पृष्ठ देखने के काम में कुछ मजा नहीं आ रहा था—मैं तो न्यूज का काम देखना चाहती थी। न्यूज का ग्लैमर अलग था। पर पता नहीं क्यों मेरे साथ एक ट्रेजेडी रही कि जो भी संपादक मुझे मिला, उसने हमेशा मुझे पीछे रखने की ही कोशिश की। हर उपलब्धि उसके खाते में—मेरे खाते में रूटीन और नीरस कार्य। शायद, यह उन लोगों का कांप्लेक्स था, जो उनमें यह अहसास जगाता था कि कहीं मैं सुरंग न लगा दूँ। हालांकि, मेरा स्वभाव ऐसा नहीं था, मैं तो स्वयं अपने रास्ते बनाती थी—अपनी मेहनत, लगन और काम के प्रति निष्ठा से, इसलिए अपना दाय प्राप्त करने के लिए मुझे सदैव संघर्ष करना पड़ा। दैनिक में भी ऐसा ही हुआ। मैं संपादकीय विभाग में प्रशासन से लेकर अग्रलेख, संपादकीय टिप्पणियाँ लिखने और पेज बनवाने तक का काम चाहती थी। चौबीसों घंटे चौकस—घटनाओं और हादसों पर मेरी दृष्टि सजग रहती थी। धीरे-धीरे मैंने अपनी जगह बनानी शुरू कर दी। मसलन, सुबह ग्यारह बजे, जो मीटिंग सहायक-संपादकों के साथ होती, मैं उसमें अवश्य बैठती। पहली हेडलाइन, दूसरी और तीसरी क्या होगी, इस पर भी अपने विचार रखती। संपादकीय किस विषय पर लिखा जाए, आदि-आदि। अक्सर मैं रात्रि के समय भी एक चक्कर आफिस का लगा आती। मैंने आर्थिक विषयों पर मुख्य-लेख लिखना शुरू किया सप्ताह में एक बार। सच कहूँ तो काम करने का सही आनंद तब आता था, जब संपादक दूर पर होते थे।

एक महिला का संपादक पद पर आसीन होना और मुख्य-संपादक की अनुपस्थिति में हर काम को देखना और निर्णय लेना, शुरू-शुरू में कुछ लोगों को नागवार गुजरा। वे लोग मुझे दिखाए बगैर सामग्री सीधे प्रेस में भेजने लगे, संपादकीय आदि भी। किंतु, शीघ्र ही मैंने बड़ी दृढ़ता से, पर स्पष्ट रूप से बता दिया कि मैं उनमें से नहीं हूँ, जिन्हें रास्ते में पड़े पत्थर की तरह ठोकर मारकर किनारे लगाया जा सकता हो। वस्तुतः हम महिलाओं को सभी क्षेत्रों में ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ता है। उन्हें पग-पग पर अपनी पहचान बनानी पड़ती है। हाँ, एक बार पुरुष-साथियों को यह पता चल जाए कि अंकुर की जड़ कहाँ है, गहरे नींव में है या ऊपरी सतह में, तो सभी के साथ स्थिति सुधर जाती है। संबंधों में मधुरता भी बनी रहती है और काम भी सुचारु रूप से चलता है। मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। प्रेस से लेकर संपादकीय सहयोगियों तक और संपादक से भी सद्भावना के अच्छे रिश्ते कायम हो गए। पूरे कार्य-काल में युद्ध-क्षेत्र में चौकी पर डटे सैनिक की तरह मैं, पूरी चाक-चौबंद भी रही और निर्देश देने में कमांडर की तरह चूकी भी नहीं।

आफिस से लौटते समय ठाकुर सदैव मुझे मेरे आफिस से लेते हुए घर आते। कई बार

ऐसा भी होता कि मुझे आफिस के काम निबटाते-निबटाते देर हो जाती या कोई उसी समय मिलने आ जाता तो ठाकुर को काफी इंतजार करना पड़ता। लोगों को ताज्जुब होता कि आफिस में जिस व्यक्ति के कमरे की चिक हटाने का साहस बड़े-बड़े रईस नहीं कर सकते थे, वह व्यक्ति 'हिन्दुस्तान टाइम्स' बिल्डिंग के नीचे कार पार्क कर एक साधारण व्यक्ति की तरह खड़ा ही नहीं है, बल्कि परिचितों से गुप्तगू भी कर रहा है। जब लोग मुझसे यह बात कहते तो मैं उनसे पूछती, "इसमें आश्चर्य की क्या बात है? नीचे वे एक आफिसर की हैसियत से नहीं, एक पति के रूप में आए मेरा इंतजार कर रहे हैं।"

राजस्व गुप्तचर निदेशालय में रहते हुए ठाकुर का सामना केवल ड्रग डीलरों से ही नहीं पड़ता था, सोने के तस्करों से भी पड़ता था, स्मगलर्स, गुंडों और तीसरी दुनिया के दादाओं से निपटना पड़ता था। इन लोगों के संपर्क समाज के सफेदपोश अपराधियों (?) से होते, जिन्हें हम जानते और समझते हुए भी अपराधी नहीं कह पाते। यह सफेदपोश लोग संभ्रांत नागरिक के रूप में हर जगह मौजूद थे। वे अपने प्रभाव का, अपने रसूखों का फायदा उठाकर अक्सर अफसरों पर दबाव डलवाकर उन्हें अपना कर्तव्य निभाने से रोकते हैं। ईमानदार अफसर कुंठित हो जाते हैं। उनको 'ऊपर' से कहा जाता है कि "फलाने आदमी का 'केस' देख लें।" इस 'देख लें' के पीछे क्या धारणा होती है, क्या मंतव्य छिपे होते हैं, यह सबको पता होता है।

जैसे, सावन के बादलों का कुछ पता नहीं चलता, गरजने और बरसने में देर नहीं लगती, उसी प्रकार अचानक एक दिन राजस्व मंत्री सतीश अग्रवालजी का रात्रि को फोन आया, "टी. पी., अभी घर पर आ जाओ।" अग्रवालजी कई दिनों से जयपुर गए हुए थे। ठाकुर ने सोचा, कोई विशेष बात होगी, तभी आते ही बुलाया है। ठाकुर आश्वस्त मन से उनके घर पहुंचे। अग्रवालजी ने बताया, जब वे जयपुर में थे, तब प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई का फोन वहां आया था। उन्होंने कहा कि टी.पी. झुनझुनवाला का ट्रांसफर दिल्ली से हो जाना चाहिए।

क्यों का सवाल ही नहीं था। सरकारी नौकरी का एक यही तो अस्त्र है, जिसके आगे कोई कारण नहीं चलता। शांत भाव से ठाकुर ने पूछा, "कब जाना है और कहा?" हालांकि, मन से उन्हें बड़ा खराब लग रहा था कि अचानक ऐसी क्या बात हो गई!

अग्रवालजी ने कहा, "मैंने मोरारजी भाई को कह दिया कि ट्रांसफर का कोई आधार तो होना चाहिए। यह आफिसर बहुत अच्छा काम कर रहा है। नेशनल और इंटरनेशनल दायरे में जाल बिछाकर कई बड़े केसों को सुलझाया है। फिर किस आधार पर मैं यह आर्डर पास करूं? अभी तो ट्रांसफर का सीजन भी नहीं है।"

"फिर प्रधानमंत्री ने क्या कहा?" ठाकुर ने पूछा।

"दिस इज माई आर्डर," प्रधानमंत्री ने फोन पर ही कहा।

"तब?"

"तब,...तब क्या?" अग्रवालजी बोले, "मैंने कहा, सर, आप लिखित आर्डर भिजवा

दीजिए। मैं ट्रांसफर कर दूंगा।” उधर से प्रधानमंत्री कुछ बोले नहीं। बस, खट से फोन रख दिया।

ठाकुर ने घर आकर जब यह सब किस्सा सुनाया, तो एक बार मुझे विश्वास नहीं हुआ कि अग्रवालजी ने प्रधानमंत्री से इतने साहस से बात की होगी। मैंने कहा, “शायद, अग्रवालजी तुम्हारे ऊपर अपना अहसान जताने या रुआब रखने के लिए ऐसा सब कह रहे हैं।”

ठाकुर ने कहा, “यह भी हो सकता है।” फिर कुछ रुककर बोले, “वे मुझसे गलत क्यों कहेंगे? उन्होंने जरूर ऐसा कहा होगा। आखिर, राजस्थान की मिट्टी के बने हैं।”

“फिर तो परेशानी की कोई बात नहीं। निश्चित हो जाओ।” मैं बोली, “पर एक बात है। मोरारजी भाई से ऐसी आशा नहीं थी। उनकी छवि एक साफ-सुथरे निष्ठावान व्यक्ति की है। वे किसी अन्याय का स्वयं हिस्सा नहीं बन सकते, पर उनके आसपास के लोग, परिचित, तो इस मापदंड में नहीं आ सकते, वे तो तटस्थ नहीं हो सकते। कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी का स्वार्थ उसमें अवश्य निहित है। आर्डर और वह भी फोन पर? इतनी तत्परता या जल्दी क्या थी? अग्रवालजी के दिल्ली आने पर भी ट्रांसफर के आदेश दिए जा सकते थे। ऐसे उच्च पदों पर ऐसा तो हमेशा होता रहता है, पर इतनी जल्दी उम्मीद नहीं थी।”

ठाकुर बोले, “पता लगाऊंगा जरूर कि इसका रहस्य क्या है।”

दूसरे दिन सवेरे अग्रवालजी के पी.एस. विनय वशिष्ठजी से ठाकुर ने बात की। वशिष्ठजी हरियाणा के थे, दबंग, काम से काम रखनेवाले, स्पष्टवक्ता, लाग-लपेट से कोसों दूर। उन्होंने बताया, “जब साहब जयपुर गए थे, तब प्रधानमंत्री का फोन तो आया था। मैंने बता दिया था कि मंत्रीजी जयपुर गए हैं। वहां बात हुई कि नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर हां, वहां से लौटकर मंत्रीजी वित्त-मंत्री से भी मिले थे।” उन दिनों एच. एम. पटेल वित्त-मंत्री थे।

“और कुछ बात हुई?” ठाकुर ने पूछा।

वशिष्ठजी मुस्कराकर बोले, “मंत्रीजी कह रहे थे, आपके ट्रांसफर की बात थी, पर उन्होंने पटेल साहब को संतुष्ट कर दिया है कि आपने पुरानी सरकार में बहुत अच्छे कार्य किए थे और अभी भी अपने कार्य को बड़ी सफलतापूर्वक और, निष्ठापूर्वक कर रहे हैं। इसलिए ट्रांसफर का तो प्रश्न ही नहीं उठता।”

ठाकुर ने घर आकर सब बात मुझे बताई और बोले, “आज संतुष्ट कर दिया है, मना कर दिया है, पर कब तक मना करेंगे? आखिर, वे प्रधानमंत्री हैं। लगता है, दिल्ली से जाना ही होगा। अब जब होगा, देखा जाएगा।”

मैंने सोचा, हमारे चारों तरफ बहुत सारे कण बिखरे पड़े होते हैं। ऐसे ही क्षणों में जब उन पर सूरज की रोशनी पड़ती है, तब उनकी अहमियत का पता चलता है। अग्रवालजी एक ऐसे ही कण थे। कई बार उनको देखा था, मिली भी थी। तब उनमें कोई विशेष

बात नहीं लगी थी। लंबे छरहरे व्यक्ति। चेहरे पर आभिजात्य की चमक। व्यवहार में मृदु और सरल। इसके अतिरिक्त और कोई खूबी दिखाई नहीं पड़ी थी। अब पाया कि किसी व्यक्ति को पूरी तरह जान पाना कितना कठिन होता है। आज कहां हैं ऐसे व्यक्ति और ऐसे मंत्री, जो अपने एक अधीनस्थ अफसर के लिए अपने प्रमुख नहीं, बल्कि प्रधानमंत्री तक से लड़ जाएं। आज तो सत्ता के गलियारे में दीमक लग चुकी है, जिसने देश को ही नहीं, पूरे समाज को खोखला कर दिया है।

फिर भी मैं सोचती रही, ठाकुर के प्रति मोरारजी भाई की नाराजगी का कारण क्या है? मैं इस बात का पता लगाने लगी। कुछ सूत्रों से खबर मिली कि बंबई के अंग्रेजी साप्ताहिक 'ब्लिट्ज' में प्रधानमंत्री के परिवार के बारे में कुछ खबरें छप रही हैं। ये खबरें मोरारजी भाई की पुत्रवधू श्रीमती पद्मा देसाई के किसी फ्लैट के बारे में हैं। यह कहा जा रहा है कि आयकर के कुछ फैसले प्रधानमंत्री के पुत्र कांति देसाई ने अपने पक्ष में कराए हैं। बाद में वैद्यलिंगम कमीशन आफ इन्क्वायरी भी बिठाई गई थी। उसने इस आरोप की पुष्टि की थी कि आयकर के फैसले कांति देसाई ने, जिनका बहुत ही अवैधानिक प्रभाव प्रधानमंत्री के पुत्र होने के नाते था, अपने पक्ष में कराए थे।

शायद, प्रधानमंत्री को यह गलतफहमी हो गई थी कि जो खबरें छप रही हैं, उनकी जानकारी टी. पी. झुनझुनवाला और कुरुविलाजी ने प्रेस को दी है। कुरुविलाजी उन दिनों प्रत्यक्ष कर बोर्ड के मेंबर इनवेस्टीगेशन थे और चेयरमैन पद के प्रत्याशी थे। प्रेस को खबरें कहां से मिल रही थीं, यह तो पता नहीं लगा, पर क्योंकि, मेरा प्रेस से संबंध था, इसलिए उन्हें अपनी गलतफहमी का आधार मिल गया था।

खैर, किस बात से प्रधानमंत्री नाराज हो गए थे, क्या कारण था, वह तो भगवान ही जाने!

कुछ अरसे बाद, एक दिन विनय वशिष्ठजी ने आफिस में फोन करके ठाकुर को बुलाया। साउथ ब्लाक पहुंचते ही ठाकुर को लेकर वे अग्रवालजी के कमरे में गए। अग्रवालजी ने बड़ी प्रसन्न मुद्रा में ठाकुर को बतलाया कि प्रधानमंत्री मोरारजी भाई ने उन्हें बुलाया था और बीस-पच्चीस मिनट आपके संदर्भ में बातें हुईं। विस्तार से चर्चा हुई और उन्होंने इनके काम के बारे में प्रधानमंत्री को पूरी जानकारी दे दी है। यह भी कहा है कि इन जैसे निष्ठावान अफसरों की वजह से ही, वे स्वयं अपनी मिनिस्ट्री का कार्य सुचारु रूप से कर पा रहे हैं। "मैंने प्रधानमंत्री को पूर्ण रूप से आश्वस्त कर दिया और अब ट्रांसफर की बात पूर्ण रूप से खत्म हो गई है।"

ठाकुर का काम करने का अपना ढंग था। कभी भी इन्होंने अपने ऊपर के अधिकारियों की अवमानना नहीं की। उनको विश्वास में लेकर ही काम किया, किंतु, किसी समय यदि कोई गलत निर्णय होता या कोई ज्यादाती कहीं होती थी, तो वह उच्च अधिकारियों को

स्पष्ट रूप से बता देते थे कि कहां क्या गलत है। उन्हें उस गलत निर्णय से हटाने का प्रयत्न भी करते थे या उससे कैसे बचकर निकला जा सकता है, इसकी सलाह भी देते थे। फिर भी यदि ऊपर से क्लियरेंस मिलते ही थे तो सदैव यह प्रयत्न करते थे कि ऐसी क्लियरेंस लिखित रूप में हो। इस सबके बाद कार्यवाही करना, आदेश का पालन करना वे अपना कर्तव्य समझते थे और फिर पूरी लगन, निष्ठा और ईमानदारी से उसे अंजाम देते थे। रात-दिन एक करके किसी भी तरह योजना को सफल कराते। आयकर की हर नई योजना को टी.वी., रेडियो और लेखों के माध्यम से सामान्य लोगों तक सरल भाषा में पहुंचाने की चेष्टा करते। यही कारण था कि लोगों को इन पर इतना विश्वास था कि यदि टी.पी. साहब कोई सलाह देते हैं तो वह सही ही होगी। एक बार जब अघोषित संपत्ति को स्वेच्छापूर्वक घोषित कराने के लिए राजस्व कर बोर्ड का अभियान चला, तब ठाकुर ने रात-दिन एक करके उस योजना को सफल कराया। केवल बंबई में उस समय एक व्यक्ति ने एक करोड़ की अघोषित संपत्ति को मात्र इनके कहने पर घोषित किया। बाद में भी, जब कभी वे मिले तो उन्होंने कहा कि साहब, आपने हमें बचा लिया। अब हम बिना खटके चैन की नींद सो तो सकते हैं।

अपने से ऊंचे अधिकारी ही नहीं अपितु, अधीनस्थ अधिकारी, यहां तक कि चपरासी आदि के प्रति भी ठाकुर का व्यवहार बहुत अच्छा रहता था। किसी बड़े आदमी के यहां, रिश्तेदार के यहां शादी-बगैरह में ये जाना भूल सकते थे, परंतु अपने चपरासी के यहां जरूर जाते थे, चाहे वह कितनी ही दूर क्यों न हो। मुझे याद है कि एक बार इनके एक चपरासी के लड़के की शादी थी, बहुत दूर, कहीं गुड़गांव के पास, किसी गांव में। फिर भी हम लोग इतनी दूर उसके यहां गांव में, जहां अच्छी सड़क भी नहीं थी, पहुंचे। वह तो खुशी से झूम उठा। उसकी प्रसन्नता बताई नहीं जा सकती। यही ठाकुर की उपलब्धि थी।

इन सब गुणों का प्रभाव हमारे बच्चों पर बहुत अच्छा पड़ा। हमारे आपस के मधुर और संवेदनशील जीवन में तकरार और उद्दंडता का लेश-मात्र भी नहीं था। जितनी चादर हो, उतना ही पैर फैलाना हमें बच्चों को सिखाना नहीं पड़ा। वे फिजूलखर्च न हों, बड़ों से आदर और शिष्टता से पेश आए—यह सब बातें बचपन से घर के माहौल से ही उन्होंने सीखीं। जैसे-जैसे वे बड़े होते गए, किशोरावस्था और यौवनावस्था के संधि-काल में पहुंचे, तब हम दोनों के कर्मठ जीवन, लगन और ईमानदारी, मेहनत से जी न चुराने की प्रवृत्ति ने, उन्हें सही-गलत की पहचान का मानदंड दिया—उनके उद्देलित मन को ऐसा ठहराव दिया, जिसे वे बाद के जीवन में भी सार्थक कर पाए। परिवार के जो प्रतिमान स्थापित हुए, जैसे बड़े-बूढ़ों का आदर करना, उनकी देखभाल करना जीवन के प्रति उत्साह, परिवेश का संतुलित और संवेदनशील होना आदि ऐसी बातें हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती हैं और इस दृष्टि से हमारे परिवार पर ईश्वर की बड़ी कृपा रही।

सन् 1977 में जनता सरकार ने आपातकाल की ज्यादतियों को लेकर कई कमीशन बैठाए थे। उनकी जांच का काम चल ही रहा था। 1976 में जब ठाकुर प्रत्यक्ष कर बोर्ड के सेक्रेटरी

के पद पर नियुक्त थे, 'गीतों भरी शाम' और 'किशोरकुमार नाइट' के आयोजन पर सोविनियर निकालकर सामाजिक कार्यों के लिए फंड इकट्ठा किया गया था। व्यापारियों को सोविनियर में दिए गए विज्ञापनों पर, पूरी कर-छूट का जो प्रावधान था, वह इस आधार पर नहीं था कि वह विज्ञापन नहीं, डोनेशन है। जब प्रत्यक्ष कर बोर्ड के सामने पुनर्विचार के लिए यह प्रश्न आया, तब ठाकुर ने दो सरक्यूलर जारी किए थे। प्रथम सरक्यूलर के अंतर्गत कहा गया कि यदि वे विज्ञापन आयकर अधिनियम 1962 की धारा 6-बी की शर्तें पूरी करते हैं, और यह प्रमाण है कि खर्च वास्तव में हुआ है, तब किसी राजनीतिक दल या अन्य लोगों द्वारा निकाले गए सोविनियर्स में दिए गए विज्ञापनों एवं दूसरे प्रकार के विज्ञापनों में कोई अंतर नहीं होना चाहिए।

दूसरे सरक्यूलर के अंतर्गत कहा गया कि विज्ञापन प्रचार का स्थापित माध्यम है, इसलिए व्यापारी अपना विज्ञापन किसी भी अखबार या मैगजीन के एक से अधिक संस्करण में देता है, तो उसे आयकर की धारा 37 (3) 1961 के अंतर्गत छूट मिलती है। सोविनियर्स भी प्रचार के स्थापित माध्यम हैं। इसलिए यदि विज्ञापन एक ही संस्था द्वारा निकाले गए एक से अधिक सोविनियर्स में दिया जाता है, तो उन पर भी वही छूट मिलनी चाहिए।

इस पर यह आरोप लगाया गया कि ये सरक्यूलर पंद्रह-बीस दिन के अंतर से कांग्रेस के मंत्रियों प्रणव मुखर्जी और पी.सी. सेठी के दबाव के कारण जारी किए गए। ठाकुर पर अनेक दबाव डाले गए कि यदि वे यह स्टेटमेंट दे दें कि उन्होंने उपरोक्त मंत्रियों के दबाव के कारण ही यह सरक्यूलर जारी किए थे, तो उनके विरुद्ध जो आरोप हैं, वे उन पर न लगाकर, उन मंत्रियों के विरुद्ध आरोपित होंगे।

दूसरे, इसी प्रकार यदि 'गीतों भरी शाम' एवं 'किशोरकुमार नाइट' के लिए भी ठाकुर यह मान लें कि ये प्रोग्राम प्राइम मिनिस्टर के कहने से आयोजित किए गए थे और जो राशि इकट्ठी हुई वह राजनीतिक दल के लिए थी, तब वे अपने विरुद्ध लगाए गए आरोपों से मुक्त हो सकते हैं। महीनों ये कैसे चले। बड़े तनावपूर्ण थे वे दिन। हर तरफ से परेशानी खड़ी की जा रही थी। पर ठाकुर का कहना था कि ये दोनों सरक्यूलर पूरी तरह कानून की धाराओं के अंतर्गत जारी किए गए थे। सभी कोणों से पूर्ण निरीक्षण किया गया था। इसी प्रकार सांस्कृतिक प्रोग्राम क्योंकि, सामाजिक कार्यों के लिए धन एकत्र कर रहे थे, इसलिए उनकी यदि कोई शिरकत थी, तो वह व्यक्तिगत थी।

जिस समय सी.बी.आई. इनक्वायरी चल रही थी, चौधरी चरणसिंह गृहमंत्री थे। सी.बी.आई. इनक्वायरी से वे संतुष्ट नहीं थे। उस समय भी ट्रांसफर की बात चली, पर शायद, सतीश अग्रवालजी के प्रभाव से उस समय ट्रांसफर टल गया। इस बीच ठाकुर का राजस्व गुप्तचर विभाग में डेप्यूटेशन कार्यकाल जो एक वर्ष की अवधि तक के लिए था, समाप्त हो गया।

चौधरी चरणसिंह जब दोबारा उप-प्रधानमंत्री बनकर आए, तब उन्हें वित्त मंत्रालय मिला। सी.बी.आई. के पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं था, जिससे ठाकुर दोषी ठहराए जा

सकते। वे सभी भी आरोपों से मुक्त हो गए। किंतु, सरकार सी.वी.आई. इनक्वायरी से संतुष्ट नहीं थी। वह सी.वी.आई. इनक्वायरी के अंतर्गत तो ठाकुर को दंडित नहीं कर सकी, पर सी.वी.आई. के मसले पर उसकी असंतुष्टि तबादले का तात्कालिक कारण बन गई।

सरकार के पास तो सहस्र हाथ हैं। सहस्रबाहु है वह! एह अस्त्र नाकामयाब हो गया, तो कोई बात नहीं। दूसरा अमोघ अस्त्र तो रहता ही है—ट्रांसफर का अस्त्र, जिसके आगे कोई दलील भी नहीं दी जा सकती। अंततः कलकत्ता ट्रांसफर कर दिया गया। मैं हिन्दुस्तान टाइम्स में काम कर रही थी और बच्चों की पढ़ाई भी थी, इसलिए हम सब दिल्ली ही रहे। ठाकुर अकेले ही कलकत्ता गए। सोचा, जब घर मिल जाएगा, तब हम लोग भी छुट्टियों में हो आया करेंगे।

कलकत्ता जाने का अवसर शीघ्र ही मिल गया। दो-तीन सरकारी फ्लैट इन्होंने देखे थे और अब चाहते थे कि मैं भी कलकत्ता आकर, देखकर उनमें से किसी एक को पसंद करके, मकान की खोज पर फुल-स्टाप लगा दूं। सो, एक शाम मैं राजधानी एक्सप्रेस से कलकत्ता चल पड़ी। ठाकुर एक सरकारी गेस्ट हाउस में ठहरे हुए थे। अच्छा साफ-सुथरा गेस्ट हाउस था, मीडियम साइज की एक सड़क के किनारे। गेस्ट हाउस की दूसरी मंजिल पर हमारा कमरा था, चारों ओर शीशे लगी खिड़कियां। ठीक-ठाक जगह थी।

रात में आराम से सोये थे। अचानक मूसलाधार बारिश की आवाज कानों में पड़ी, जैसे कोई तूफान आ गया हो। कमरे की खिड़कियां बंद करने को उठी तो तेज हवा का तमाचा-सा मुंह पर पड़ा। मैंने ठाकुर की ओर देखा, निश्चिंत सोए पड़े थे। सोचा, शायद, कलकत्ता में ऐसी ही बारिश होती होगी और इनको आदत पड़ गई होगी, इस माहौल में सोने की। मेरी नींद जो टूटी तो फिर नहीं आई। लाइट ऑन करने के लिए स्विच पर हाथ गया। सोचा, लाइट जलाकर कुछ पढ़ ही लूं, पर लाइट तो पहले ही गुल हो चुकी थी। अंदर घुप अंधेरा और बाहर बारिश की तेज आवाज। किसी तरह राम-राम करके रात कटी, भोर की पहली किरण के इंतजार में। पर भोर तो आई ही नहीं। वह तो काली-काली बदलियों के आंचल में मुंह छिपाकर कहीं गुम हो गई थी। तब तक ठाकुर उठ गए थे। अखबार की खोज में दरवाजा खोला तो, दरवाजा खुलने से पहले ही हवा के तेज झोंके से बंद हो गया।

ठाकुर बोले, “चलो अच्छा हुआ। आज आफिस की छुट्टी। आज दिन-भर बीवी की सेवा में। बहुत दिन बाद यह मौका मिला है। अभी वी.पी. को फोन करता हूं कि आज आफिस नहीं आऊंगा। वी.पी. गुप्ता हमारे साथ बंबई भी रहे थे और हमारे अच्छे मित्र थे। फोन उठाया तो ‘डेड’। शायद, रात की बारिश में ठप हो गया था। लगा, आज तो चाय भी नहीं मिलेगी। तभी देखा, घुटनों तक धोती उठाए, हाथ में छाता लिए दूधवाला

सामने से आ रहा है। चलो, चाय का इंतजाम तो हुआ। कहने लगा, “बाबू, तनी बाहर निकलके तो देखो, सारा कलकत्ता पानी में डूब गया। सबेरे से पानी मां नहाय रहिन हैं आप लोगन के खातिर।”

भागकर छत पर गए। देखा, चारों ओर अछोर पानी, जैसे विशाल महासागर हो! पानी ही पानी। पानी के सिवा और कुछ नहीं। घर एक-दूसरे से कटे हुए, पानी में डूबे हुए—छोटे-छोटे द्वीपों की तरह। हमारे गेस्ट हाउस के बाहर की सड़क भी पानी में डूबी हुई थी। उल्टे-पुल्टे रिक्शे, आँधी कूड़ागाड़ी और पानी में डूबे हुए लंबे-लंबे पेड़, जो केवल पौधों की तरह लग रहे थे। ऐसा कलकत्ता तो न कभी देखा और न सुना। ट्रेन, ट्राम, बस, पानी, बिजली, फोन सब बंद।

चौबीस घंटे गेस्ट हाउस में पड़े-पड़े बीत गए थे। भला हो ओ. पी. सराफ की पत्नी के भाइयों का। ओ. पी. सराफ दिल्ली में हमारे बड़े अच्छे मित्र हैं। उनकी ससुराल कलकत्ता में लैंसडाउन में है। वे भाई लोग भी झुनझुनवाला थे। सुबह-शाम उनका नौकर छाता लगाए, घुटनों-घुटनों पानी में, धोती घुटनों तक उठाए, एक हाथ में पीने का पानी और खाने का डिब्बा लिए आ जाता और इस तरह हमारी पिकनिक मन जाती। उसी से शहर की हालत का पता चलता था कि चीजों के भाव आसमान छू रहे हैं। शहर की हालत बदतर है।

दिन में रात-जैसा अंधेरा। बिजली तो ऐसी तड़कती जैसे खिड़की के शीशे तोड़कर अंदर ही घुस आएगी। एक-दो बार तो सचमुच ऐसा लगा कि वह हमको छू-छूकर लौट गई है। मैं तो कोने में दुबककर बैठी रही। बाद में इन्होंने बताया कि मेरा चेहरा ऐसा हो गया था कि जैसे खून की एक बूंद भी न हो। इस दशा में दो दिन बीते। दो दिन तक पूरे कलकत्ता शहर की यही हालत रही। सड़कों पर नावें चलीं। तीसरे दिन ठाकुर के मित्र वी. पी. गुप्ता एक रिक्शा लेकर आए। वर्षा थम गई थी। पानी उतरने लगा था, फिर भी पानी में रिक्शे के पहिये आधे-आधे डूबे हुए थे। किसी तरह हमें निकालकर वह अपने घर ले गए। रास्ते में हमने शहर की स्थिति अपनी आंखों से देखी। हर जगह एक भयावह चुप्पी थी, जो भीषण झंझावात आने के बाद होती है।

कुछ दिन बाद रासबिहारी एवेन्यू के पास ही एक अच्छा, खुला हवादार घर मिल गया। वहीं ठाकुर की व्यवस्था कर मैं दिल्ली लौट आई।

आपातकाल के बाद मार्च, 77 में हुए चुनावों से देश की राजनीति में एक परिवर्तन आया था। जनता ने एक गुणात्मक परिवर्तन के लिए इंदिराजी को नकारा था और आस्था प्रकट की थी कुछ विशेष मूल्यों के प्रति। उसने सिद्धांतों के प्रति ईमानदार राजनीतिक नेतृत्व की अपेक्षा की थी। उस समय जो विशेष राजनीतिक धुवीकरण हुआ था, उससे एक बार तो लगा था कि अब नीति, सिद्धांत और कार्यक्रमों के आधार पर शासन-तंत्र चलेगा किंतु, ऐसा हुआ नहीं। क्या अंतर था कांग्रेस संस्कृति में और जनता दल संस्कृति में? क्या कारण

थे जिनकी वजह से ऐसा संभव नहीं हो सका? और कांग्रेस के लिए भी, जो लंबे समय तक संभव था, बाद में नहीं हो सका?

शायद, एक वाक्य में, कारण यही था कि आदर्शों के लिए सर्वस्व-त्याग की उत्कट चाह का स्थान नितान्त व्यक्तिगत स्वार्थों ने ले लिया था। क्या कांग्रेस, क्या समाजवादी दल और क्या जनता पार्टी, सभी व्यक्तिगत अहं, स्वार्थों की टकराहट और अंतर्कलह के कारण छिन्न-भिन्न हो रहे थे। जनता पार्टी की अंतर्कलह का कांग्रेस ने फायदा उठाया। इंदिराजी ने चौ. चरणसिंह को अपना समर्थन दिया और बाद में एक झटके से समर्थन वापस ले लिया। चौधरी साहब की सरकार धराशाई हो गई। सत्तारूढ़ दल को अंदर से भी, फिर बाहर से भी समर्थन देने और फिर उसे वापस लेने की राजनीति का सूत्रपात यहीं से हुआ।

मध्यावधि चुनाव हुए और इंदिराजी फिर जीतकर सत्ता में आईं। केंद्र में फिर कांग्रेस की सरकार बनी।

ठाकुर कलकत्ता में बहुत थोड़े समय, शायद, साल-भर ही रहे। जुलाई, 81 में दोबारा ट्रांसफर होकर दिल्ली आ गए और उनकी डायरेक्टर ऑफ इंटेलीजेंस के पद पर पदोन्नति हुई।

दैनिक 'हिन्दुस्तान' में काम करते मुझे पांच साल हो गए थे। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की ही एक प्रमुख पत्रिका 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में मैनेजमेंट कुछ बदलाव लाना चाहता था। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के हिंदी विभाग के कुछ संपादकों की निगाहें बहुत अरसे से 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के संपादक पद पर लगी थीं। परोक्ष-अपरोक्ष रूप से वे लोग 'हिन्दुस्तान' की कमियां बढ़ा-चढ़ाकर मैनेजमेंट के सामने रखने का कोई भी अवसर नहीं चूकते थे। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के संपादक मनोहर श्याम जोशीजी को लगातार इन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था। आए-दिन यह खबर उड़ती कि 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के संपादक अब गए, कि तब गए। ऐसी अनिश्चयात्मक स्थिति में, जब तलवार हमेशा सिर पर लटकी हो, किसी के लिए भी काम करना कठिन होता है। काम के प्रति उत्साह भी नहीं रहता। पूरे संपादकीय विभाग के ही सामने यह स्थिति थी। जैसे, भंवर में फंसा आदमी निकलने का कोई रास्ता न देखकर हाथ-पांव चलाना छोड़ देता है, कुछ वैसी ही स्थिति थी। मेरे विचार से उन दिनों समूचे 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में हिंदी में ही नहीं, अंग्रेजी में भी, जोशीजी जैसा बहु-पठित और सूझ-बूझ रखनेवाला व्यक्ति कोई नहीं था। किंतु, रोजमर्रा की किट-किट से वे भी ऊब गए थे। वह तो जोशीजी ही थे, जिन्होंने इस स्थिति में भी पत्रिका को किसी न किसी तरह खींचा। पर हालत बद से बदतर होती गई। अंततः नए संपादक की खोज होने लगी।

मनोहर श्याम जोशीजी ने ही मेरा नाम प्रस्तावित किया। मुझे तो जोड़-तोड़ करना

आता नहीं था। मैंनेजमेंट से भी मेरा संबंध तटस्थ था। मैं केवल काम से काम रखती थी। हां, मेरी मेहनत, लगन और काम के प्रति निष्ठा रंग लाई और मेरी नियुक्ति 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के संपादक पद पर हो गई। अन्य लोगों की तमाम कोशिशों ने शायद, नकारात्मक ही प्रभाव छोड़ा और उनके मनोरथ सफल नहीं हुए।

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' सच में एक बहुत बड़ी पत्रिका थी। बहुप्रचारित और बहुप्रसारित। उसका कंपटीशन सीधे 'धर्मयुग' से था। हिंदी की बहुआयामी पत्रिकाओं में उसकी गणना होती थी। उसकी अपनी एक पहचान थी। इतनी बड़ी पत्रिका के इतिहास में, अभी तक कोई महिला उसकी संपादक नहीं बनी थी। उसकी पहचान को कायम रखते हुए, उसमें आमूल परिवर्तन लाना सचमुच में बहुत बड़ी चुनौती थी। मैंने पूरे विश्वास और निष्ठा के साथ इस चुनौती को स्वीकारा। यद्यपि, उस समय ठाकुर ने भी मुझसे कहा कि इतनी बड़ी झंझट क्यों मोल ले रही हो? किसी भी जगह, खास तौर से पत्र-पत्रिकाओं में बड़ी जिम्मेदारी होती है। संपादक की कुर्सी पर बैठना, मतलब तलवार सदैव सिर पर लटकी रहती है। सेकिंड पोजीशन में रहने में ज्यादा समस्याएं नहीं होतीं पर, मुझे यह बात जमी नहीं। स्वतंत्र रूप से कुछ कर दिखाने का अवसर अनायास ही मिल गया, तो उसे क्यों छोड़ूं। अवसर बार-बार नहीं आते। यह भी सत्य था कि कैरियर के पीछे मैं कभी नहीं भागी किंतु, जब सीढ़ी चढ़ना शुरू ही किया है, तो आखिरी सीढ़ी की ऊंचाई तक पहुंचने की हिम्मत भी तो मुझे संजोनी ही चाहिए। शुभकामनाओं के पत्रों ने भी हिम्मत बढ़ाई। संस्कृत की प्रसिद्ध लेखिका और कवयित्री श्रीमती कमला रत्नम् ने तो मेरे उत्साह को असीमित कर दिया। उन्होंने मेरे ऊपर एक कविता ही लिख डाली :

कितना अच्छा लगता है
अभिनंदन करना अपनी एक बहन का
विशेषकर, तब, जब यह अभिनंदन
धन या मद या पद के
अभिमान से न कराया गया हो
अपितु, किया गया हो स्वेच्छा से
स्वाभिमान से, प्रेम से
उस गौरव, उस प्रतिष्ठा से
जिसे उसने प्राप्त किया हो
लगता है, जैसे हम सबने
हम सब उनकी प्यारी बहनों ने
प्राप्त किया हो
जैसे हम सब हों सहयोगी
उस गौरव, प्रतिक्षण प्रतिपल जीनेवाले

उस श्रम, उस वैभव, चारित्रिक सौष्ठव के
जिसे हमारी बहन ने आज सब बहनों के
हक से साधिकार जीता है।

यही वह भूमि है जहां सहस्रों शताब्दियों पहले,
भारत की ही एक रमणी वाक्देवी ने
मस्तक ऊंचा कर कहा था :

“मैं रुद्र और वसु के साथ-साथ चलती हूँ
चाहे आदित्य हो, या स्वयं विश्वदेवा
मैं मित्र और वरुण को पार्श्व में रखकर
इंद्र और अग्नि को भी संभाल लेती हूँ
मैं अश्विनीकुमार बन जाती हूँ”

ऐसा था वाक्य आशीर्वाद का, शक्ति का भी
(बहन शीला) तुम्हारी उस ‘अंगजा’ का
उसी के प्रताप से आज तुम
इस उच्च आसन पर विराजी हो
उसी शाश्वत, वाणी की देवी, वाक् की रक्षा के लिए

—कमला रत्नम्

और इस आशीर्वचन की रक्षा करना मेरा धर्म था।

‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’ के संपादकीय विभाग का माहौल, सच में ही, बहुत खस्ता था। अनुशासनबद्ध पत्रकारिता और सही नियोजन का सर्वथा अभाव था। मैं स्वयं इन दोनों बातों पर बहुत विश्वास रखती थी और अपने सहयोगियों से भी अपेक्षा रखती थी कि वे इस मूलभूत सिद्धांत को समझें और उसका अनुसरण करें। प्लैनिंग नाम की कोई चीज ही नहीं थी। जब मैंने सहयोगियों से कहा कि वे अपने-अपने पृष्ठों की तीन माह की योजना बनाकर मेरे पास लायें, तब वे मेरा मुंह देखने लगे, जैसे मैंने कोई बड़ी अजीब बात कह दी हो। मैंने उन्हें बताया कि साप्ताहिक के परिप्रेक्ष्य में बहुत-से विषय लंबी प्लैनिंग के अभाव में बिखरे-बिखरे लगते हैं।

दूसरी बात, यहां हर कोई अपना मालिक स्वयं था। अक्सर संपादक को दिखाए बगैर, उससे विचार-विमर्श किए बगैर ही रचना प्रेस में भेजने की परंपरा कुछ लोगों ने बना रखी थी। और भी बहुत-सी बातें थीं। जैसे, राजनीतिक भेंट-वार्ताओं को और वह भी एक विशेष व्यक्ति द्वारा लाई हुई सामग्री को छेड़ना—बर् के छत्ते में हाथ डालने के बराबर था। विभिन्न लोगों की विभिन्न उलझनें थीं, अलग-अलग तेवर थे। ऊपर से तो सब सहयोग का मुखौटा लगाए थे, लेकिन अंदर की बात तो मुझे ही मालूम थी। एकदम से उन लोगों को रास्ते पर लाना संभव नहीं था और उन्हें बदला भी नहीं जा सकता था।

मैंने निश्चय किया कि उनसे काम लेना है, तो धीरे-धीरे ही उन्हें बदलना पड़ेगा।

यह एक माना हुआ सत्य है कि अच्छी टीम के आधार पर ही कुछ बदलाव लाया जा सकता है। मैंने जमेंट द्वारा संपादक तो बदल दिया जाता है पर, संपादक को एक अच्छी टीम की आवश्यकता भी, बदलाव के लिए जरूरी है, इस तथ्य को अक्सर नकार दिया जाता है।

मुझे काम उन्हीं लोगों से लेना था, तो उन्हें अपनी प्लानिंग के घेरे में डालना शुरू किया। कुछ को विश्वास में लिया, कुछ को विश्वास में लेने का नाटक किया, और कुछ स्वयं ही पत्रिका में निखार लाना चाहते थे, उन्हें उत्साहित किया। यह सब काम धीरे-धीरे हुए किंतु, इससे सहयोगियों का विश्वास मेरे ऊपर बढ़ा। काम का भार मेरे ऊपर अधिक आ गया, किंतु, यह तो मुझे पहले से ही पता था। लेखकों के दायरे में परिवर्तन किया, गुट-विशेष के लेखक ही क्यों छपें, इस पर विचार किया। मैं किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं थी। न ही मेरा कोई गुट था। न ही मैं बौद्धिकता के बोझ से दबी हुई थी। सांस्कृतिक-साहित्यिक परिवेश भी मेरा काफी बड़ा था। बंबई में जो साहित्यकार पीछे छूट गए थे, उनसे भी मेरा बराबर संपर्क बना रहा था। साहित्य में स्थापित लोगों का सहयोग तो लिया ही, नए उदीयमान लेखकों को बढ़ावा भी दिया। अंततः मुझे सफलता मिली। अपने लिए सूली तलाश करने की आदत ने मुझे एक नई दुनिया में लाकर खड़ा कर दिया था।

इधर मैं 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की प्लैनिंग में लगी थी, उधर ठाकुर दूसरी ही प्लैनिंग में लगे थे, जिसका पता मुझे तो बहुत बाद में चला। कोई विशेष बात, कहीं कुछ हो रहा है, इसका अंदाज तो कुछ बातों से लग गया था, पर किसलिए और कहां के लिए यह सब हो रहा है, यह मालूम नहीं था। क्योंकि, मैं अपने आफिस के कामों में बहुत व्यस्त थी इसलिए उस समय मैंने छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान ही नहीं दिया था। मसलन, एक दिन आफिस से आने के बाद ठाकुर ने कहा, "सुशी, मुझे कुछ स्वेटर चाहिए। मीडियम और लार्ज साइज के। कल तुम बाजार जाकर ला देना।"

"इतने स्वेटर, क्या करोगे? आजकल तो सर्दियों का मौसम भी नहीं है। किसलिए लेने हैं भिन्न-भिन्न साइजों के स्वेटर?" मैंने पूछा।

"तुम्हारी यह आदत बहुत खराब है सवाल पर सवाल करने की, पूछने की। यह नहीं कि जाकर चुपचाप ला दो।" झुंझलाते हुए ये बोले।

"अच्छा, अब नहीं पूछूंगी। कल जाकर ला दूंगी।" मैंने कहा।

तब मुझे क्या पता था कि किसी बड़े अभियान की तैयारी है। यह तो कुछ समय बाद अखबारों की सुर्खियों में पढ़ा, कश्मीर की केसर से महकती वादियों और उनकी प्राकृतिक शोभा से दूरिस्टों को आकर्षित करनेवाले विज्ञापनों के तहत नहीं, बल्कि एक दूसरे ही संदर्भ में। वह संदर्भ था—काले धन की तलाश में आयकर विभाग के छापों की

खबर के रूप में। कर्तव्यनिष्ठ आयकर अधिकारियों पर उत्तेजित कश्मीरी लोगों की भीड़ के हिंसक हमले और राष्ट्र-विरोधी खतरनाक नारे श्रीनगर की सड़कों पर लगे, और वे घटनाएं संसद से लेकर सड़कों तक व्यापक चिंता और चर्चा का विषय बनीं।

इन खबरों से पहले तो मैं यही जानती थी कि ठाकुर व्यस्त हैं आफिस में। कहीं बाहर जाने का भी प्रोग्राम है। कहां और कब जाएंगे, पूछने पर बताया था, “अभी निश्चित नहीं है। बस, तुम मेरा एक सूटकेस तैयार कर रखो। किसी भी दिन जाना पड़ सकता है।” ‘टूर’ के लिए अक्सर ही जाना पड़ता था इसलिए मैंने भी ज्यादा ध्यान नहीं दिया। उस दिन भी कुछ नहीं पूछा, जब वे घर से निकले। हां, इतना-भर बोले थे, “चार-पांच दिन भी लग सकते हैं, एक सप्ताह भी।” अखबारों के माध्यम से, खबरें पढ़कर मैंने और खोज-खबर ली। मालूम पड़ा कि बहुत सारे आयकर अधिकारी कश्मीर गए हैं। वापस आने तक सभी सूचनाएं व खबरें सनसनीपूर्ण थीं।

अधिकारियों ने बताया कि एअरपोर्ट पहुंचने तक उन्हें आभास नहीं था कि वे जा कहां रहे हैं। एअरपोर्ट पर जब सभी इकट्ठे हुए, तभी आवाज गूंजी—‘427 ए से जानेवाले व्यक्तियों से निवेदन है कि वे सुरक्षा जांच करायें।’ पालम के विशाल कक्ष में उद्घोषिका की आवाज गूंज रही थी। उधर सुरक्षा जांच-कक्ष के सामने लोगों की पंक्तिबद्ध भीड़ लगी थी। पालम का हवाई अड्डा साधारण से कुछ ज्यादा यात्रियों की चहल-पहल का केंद्र बना था। अधिकांश यात्री अपने-अपने खयालों में मशगूल थे। किसी का ध्यान 427-ए की ओर नहीं था सिवाय उन यात्रियों के जिन्हें उस फ्लाइट से जाना था। किसी ने यदि 427-ए के साथ ‘ए’ का पुछल्ला लगा देखकर कुछ सोचा भी होगा तो, शायद, यही कि ग्रीष्मकालीन अवकाश की भीड़ कम करने के लिए तथा पर्यटकों की सुविधा का ध्यान रखते हुए यह अलग फ्लाइट चलाई जा रही है।

एकाएक ग्राउंड होस्टेस ने कतार में खड़े एक अधिकारी से पूछ लिया, “आपको कहां जाना है?” जिससे प्रश्न किया गया था, उसे स्वयं ही नहीं मालूम था कि वह कहां जा रहा है? फिर वह क्या बोलता। ग्राउंड होस्टेस के लिए यह बड़े अचम्भे की बात थी। उसे लगा, कहीं कुछ गड़बड़ जरूर है। यह भी संभावना उसके दिमाग में कौंध गई कि कहीं, कोई ‘हाईजैकर’ न हो। उन दिनों ‘हाईजैकर्स’ के कारनामे बहुत चर्चित हो रहे थे। उसने शायद, यही सोचा, इससे आगे वह सोच ही नहीं सकी। भागी-भागी ड्यूटी आफीसर के कमरे में पहुंची। बोली, “सर, ‘क्यू’ में खड़े एक व्यक्ति को यह नहीं मालूम कि वह कहां जा रहा है?” चेहरे पर उसके उत्सुकता और कुछ असंभावित, पकड़ पाने की उतावली थी। शब्द एक के बाद एक जैसे उबल पड़े। ड्यूटी आफीसर के कक्ष में उस समय ठाकुर भी बैठे हुए थे। बिगड़ती परिस्थिति को उन्होंने झट संभाल लिया और कहा, “मैडम, 427-ए के सभी यात्री मेरे साथ हैं। उन सबको मैं जानता हूं। उनमें कुछ मसखरे लोग भी हैं। शायद, ऐसा ही कोई मसखरा आपसे टकरा गया होगा। घबराने की कोई बात नहीं है।”

मैं जानती थी, ऐसे मौकों पर ठाकुर का दिमाग कितना तेज दौड़ता है।

ड्यूटी आफिसर ने भी 'हां' में 'हां' मिलाई और ग्राउंड होस्टेस निश्चित होकर अपने काम पर लौट गई। उसके चेहर पर एक ओर तो निश्चितता की छाया थी, दूसरी ओर कुछ न पकड़ पाने की हताशा भी।

सुरक्षा जांच के बाद सभी 'यात्री' कक्ष में पहुंच गए। जांच का काम बहुत जल्दी ही खत्म हो गया था, क्योंकि किसी भी 'यात्री' के पास बहुत अधिक सामान नहीं था। सही मायनों में सैलानियों के अनुरूप थोड़ा-सा ही सामान उनमें से हर एक के पास था क्योंकि, किसी को कुछ भी मालूम नहीं था कि वे कहां जा रहे हैं और उनके अभियान का लक्ष्य कौन है! कोई कह रहा था कलकत्ता जा रहे हैं, कोई बंबई की बात सोच रहा था। जितने मुंह, उतनी बातें। इन 'यात्रियों' में कुछ महिलाएं भी थीं।

पुनः घोषणा हुई, फ्लाइट 427-ए अब जाने के लिए तैयार है। यात्रियों से निवेदन हैं कि वे अपना बोर्डिंग कार्ड लेकर विमान की ओर प्रस्थान करें। 'यात्रियों' में फिर एक खलबली-सी मची। उन्हें कहां ले जाया जा रहा है और क्यों? क्यों का जवाब तो उन्होंने एक-दूसरे की ओर देखकर पा लिया था, पर 'कहां' का जवाब अभी भी उनके पास नहीं था। धीरे-धीरे सभी सुरक्षा कक्ष के बाहर बसों द्वारा विमान तक पहुंच गए। कुछ 'यात्री' तो पहली बार हवाई जहाज से सफर कर रहे थे। उनके लिए तो जहाज में चढ़ना ही एक कौतूहल की बात थी। एकाध 'यात्री' तो ऐसे थे, जो पिछले दस वर्षों से यात्रा कर ही नहीं पाए थे। जब उन्हें विमान-तल पर लाकर खड़ा कर दिया गया, तब उन्होंने गणनापूर्वक मन को यह कहकर संतोष दिया कि पिछले शनि के हिसाब से ग्रहों की स्थिति बदल गई है। अब विमान यात्रा में कोई संकट नहीं है लेकिन... 'फ्लाइट 427-ए पर, जो श्रीनगर जा रहा है, आपका स्वागत है। श्रीनगर तक की दूरी एक घंटा दस मिनट में पूरी की जाएगी।' यह उद्घोषणा सुनकर जहाज में बैठे अधिकांश 'यात्रियों' को विश्वास ही नहीं हुआ कि वे श्रीनगर जा रहे हैं। कुछ ने आपस में खुर-पुसर करनी प्रारंभ कर दी। कुछ ने सोचा, शायद, उन्हें भरमाने के लिए यह घोषणा की जा रही है। खैर, जहाज ऊपर चढ़ चुका था।

इतने सारे लोगों को एक साथ ले जाना और वह भी किसी को कानोकान खबर न हो, इतनी प्लैनिंग! ठाकुर का दिमाग बखूबी काम करता है, मैं खूब जानती थी। जो व्यक्ति घर के कामों में तनिक भी दिलचस्पी न लेता हो, जिसके लिए अपने कागज तक संभालने के लिए, बीवी की जरूरत पड़ती हो, वह कैसे दफ्तर में यह सब कर लेता है, मेरे लिए हमेशा एक अबूझ पहेली रही।

एक घंटा दस मिनट बाद विमान श्रीनगर के तलपट पर था। विमान से बाहर आते ही ठंडी हवा के झोंके शरीर को सर्द किए दे रहे थे, पर कर्तव्य-बोध से प्रेरित 'यात्रियों' को ठंड नहीं व्याप रही थी। वे सभी 'यात्री' आयकर अधिकारी थे। उन्हें अब बता दिया गया था कि वे काला धन पकड़ने की एक बहुत बड़ी योजना के अंग हैं और श्रीनगर में पहली बार आयकर के छापे डालने के लिए लाए गए हैं। सभी अधिकारी निश्चित थे।

उन्हें अपने पर विश्वास था, अपनी कार्यक्षमता पर विश्वास था, अपने सहयोगियों और अपने उच्चाधिकारियों पर विश्वास था।

हवाई अड्डे के कक्ष में धीरे-धीरे यात्री आने लगे थे। हमेशा की तरह टूरिस्ट गाइड व होटलवाले अपना बिजनेस पक्का करने के लिए उन्हें घेर रहे थे। कोई अपना विजिटिंग कार्ड दे रहा था, कोई अपना पता बता रहा था। एअर-बस की एडीशनल फ्लाइट जो आई थी! सभी को विश्वास था कि कुछ-न-कुछ धंधा अवश्य मिलेगा, पर कहानी कुछ और ही थी। वे 'यात्री' तो कुछ देने नहीं, काला धन खोजने आए थे। अधिकारियों का नेतृत्व करनेवाले उच्च-अधिकारियों में ठाकुर भी थे। उन्होंने बड़ी सहजता और सरलता से समझा दिया कि जो 'यात्री' आए हैं, वे एक प्रोफेशनल ड्रामा ट्रुप के सदस्य हैं, और उन्हें किसी भी चीज की जरूरत नहीं है। जिन व्यक्तियों के निमंत्रण पर यह ट्रुप आया है, उन्होंने पहले से ही सब इंतजाम कर रखा है। बिजनेस मांगनेवालों की भीड़ यह सुनकर तितर-बितर हो गई।

वारिश थी कि थमने का नाम नहीं ले रही थी। सभी अधिकारी बरसते पानी में धीरे-धीरे, चुपचाप बाहर खड़ी बसों में जाकर बैठ गए। उन्हें किस-किस बस में बैठना है, इसका निर्देश उन्हें पहले से ही दे दिया गया था। बसों पर रंग-बिरंगे झंडे फहरा रहे थे। एच.टी.ए. (हिन्दुस्तानी ट्रेडर्स एसोसिएशन) का मोनोग्राम बस की स्क्रीन पर सुशोभित था। यह मोनोग्राम भी पहले से इसलिए बनवाकर तैयार रखा गया था कि शक-शुबह की कोई गुंजाइश न रहे। किसी को जरा-सा भी अंदेशा नहीं था कि बसों में किसी कार्य-विशेष के लिए वहां लाई गई हैं। आम लोग भी यही समझ रहे थे कि पर्यटकों का कोई विशेष दल आया हुआ है। सभी बसों में अपने निर्धारित समय पर अपनी निर्धारित दिशाओं की ओर चल पड़ीं। सभी बसों में बी.एस.एफ. अर्थात् बार्डर सिन्क्रोरीटी फोर्स के आर्म्ड जवान भी नौ-दस की संख्या में थे, पर वे ऐसे बैठे थे कि इन 'यात्रियों' की वजह से वे बाहर सड़क पर चलते लोगों को दिखाई नहीं पड़ रहे थे।

सभी को दो होटलों में ठहराया गया। होटल के कमरों में इतनी भीड़ थी कि एक-एक कमरे में तीन-तीन लोगों को ठहराना पड़ा था। सतर्कता इतनी और कार्यकुशलता भी ऐसी कि इतने बड़े अभियान की शहर में किसी को कानों-कान खबर नहीं थी।

वह 21 अप्रैल, 1981 का दिन था। तलाशियों का सिलसिला शुरू हुआ दिन के ठीक दो बजे। श्रीनगर, बंबई, दिल्ली, जयपुर, भदोही, पानीपत, मिर्जापुर आदि स्थानों पर आयकर के अधिकारियों ने एक समय, एक साथ कालीन उद्योग के व्यापारियों की फैक्टरियों, शोरूम और घर—सभी स्थानों पर छापे मारे। मुझे वह दिन याद आया जब ठाकुर ने अपने कैरियर के आरंभ में बंबई में सबसे पहले 'हुंडी रेड्स' के तहत एक दिन, एक ही समय पर विभिन्न छापों की योजना बनाई थी। इस बार नेतृत्व राघवनजी और ठाकुर के हाथ में था। राघवनजी डायरेक्टर ऑफ़ इनवेस्टीगेशन थे। ठाकुर का काम इंटीलीजेंस इकट्ठा करना

था। राघवन साहब का ठाकुर पर बहुत विश्वास था। बोर्ड के चेयरमैन कुरुविलाजी के भी ठाकुर बहुत विश्वासपात्र थे, इसलिए ठाकुर को भी कश्मीर जाना पड़ा था।

वाद में मालूम हुआ कि सभी स्थानों पर छापे शांतिपूर्वक पड़े। केवल श्रीनगर ही एक ऐसा स्थान था, जहां उस दिन शाम से ही अधिकारियों को चुनौती और धमकियां मिलने लगी थीं। पहले दिन ही अधिकारियों की एक टोली श्रीनगर से लगभग पंद्रह किलोमीटर दूर नौशेरा में 'भट्टू स्पनिंग एंड वीविंग मिल्स' की तलाशी ले रही थी। फैक्टरी के साथ मालिकों के तीन निवास-स्थान भी थे, जिनमें फैक्टरी के डायरेक्टर वगैरह रहते थे। शाम तक तलाशी का काम बिना किसी अड़चन के चलता रहा। कहते हैं कि तभी एक विशिष्ट व्यक्ति जम्मू-कश्मीर पुलिस के एक अधिकारी के साथ वहां आए। उनके साथ लगभग बीच-पच्चीस लोग और थे। पुलिस की मौजूदगी में उन्होंने अधिकारियों से कहा कि वे सबको जेल की हवा खिला देंगे, कि किसकी इजाजत से वहां तलाशी ली जा रही है? धमकी देते-देते उन्होंने टेलीफोन उठाया और किसी अन्य व्यक्ति से बात की। आदमी महत्वपूर्ण होगा, यह उनके बात करने के लहजे से लग रहा था। उन्होंने टेलीफोन पर ही उनसे कहा कि वे अधिकारियों को तलाशी नहीं लेने देंगे। दूसरी ओर के व्यक्ति ने क्या जवाब दिया, यह तो किसी को नहीं सुनाई पड़ा, किंतु, फोन पर बात के बाद जिस अंदाज और लहजे से उन्होंने बातचीत की, उससे अधिकारियों को यह प्रतीत हुआ कि वे अधिकारियों को रोकने और तंग करने पर आमादा हैं।

अधिकारियों को पता था कि वे फैक्टरी-मालिक भट्टू के घर की कानूनी तलाशी ले रहे हैं। उन्हें यह भी विश्वास था कि वे जो कार्य कर रहे हैं, वह सही और विधिसंगत है और यह भी सत्य था कि श्रीनगर में छापे की सारी योजना कालीन उद्योग पर किए गए देशव्यापी छापों का एक अंग थी।

फैक्टरी के अहाते में पहले ही भीड़ इकट्ठी हो गई थी। नारे लग रहे थे, 'हिंदुस्तानी कुत्ते कश्मीर को लूटने आए हैं।' वहां मौजूद लोग कानून की दुहाई दे रहे थे, पर उनका कानून स्वार्थ से प्रेरित और काले धन को बचाने के लिए था। 'हिंदुस्तानी कुत्तों, वापस जाओ' के नारे के साथ ही चालीस-पचास हट्टे-कट्टे लोगों ने फैक्टरी के अंदर आकर अधिकारियों पर हमला बोल दिया। बाहर की भीड़ अधिकारियों को डराने के लिए बाहर से ही नारे लगा रही थी। अधिकारियों ने, जिनकी संख्या हमलावरों के मुकाबले बहुत ही कम थी, हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने जो कागजात, जो चीजें सील (जब्त) की थीं, उन्हें लौटाने से इनकार कर दिया।

मालिकों ने सोचा था कि इतनी बड़ी भीड़, इतनी नारेबाजी और टेलीफोन की गुप्तगू से अधिकारी घबरा जाएंगे और 'जब्त सामग्री' छोड़कर भाग लेंगे। जब ऐसा नहीं हुआ, तो उनका गुस्सा बौखलाहट में बदल गया। उन्होंने बाहर की भीड़ को भी अंदर कर अधिकारियों को मारने की सोची। अब तक अधिकारी सतर्क हो चुके थे। वे सब भी एक जगह इकट्ठा हो गए। बार्डर सिक्योरिटी फोर्स के लोगों ने बंदूकें तान लीं क्योंकि, उनका

फर्ज था अधिकारियों की रक्षा करना। स्थिति बद से बदतर हो जाती, यदि इस समय अधिकारी अपने प्राण संकट में डालकर, धैर्य से काम न लेते तो। उन्होंने वी.एस.एफ. के जवानों को गोली चलाने से मना कर दिया क्योंकि, वे नहीं चाहते थे कि किसी का भी खून बहे। स्थिति की गंभीरता को समझ भीड़ छंट गई लेकिन फिर दोबारा भीड़ जमा हो गई। असल में, वे लोग अधिकारियों के साथ लुका-छिपी का खेल खेल रहे थे। एक ओर भीड़ से नारे लगवाकर अधिकारियों को डरा रहे थे, तो दूसरी ओर वे परिस्थिति की गंभीरता को भी समझ रहे थे।

भीड़ के बाहर निकाले जाने पर अधिकारियों ने पुनः तलाशी का काम शुरू किया और क्योंकि, उस समय तक नीचे के हिस्से की तलाशी करीब-करीब पूरी हो गई थी, अधिकारियों की एक टोली पहले माले की ओर बढ़ी। इस बीच अधिकारियों द्वारा जुटाई गई कई चीजें भी गायब कर दी गई। अब आयकर अधिकारी दो टोलियों में बंट गए। एक टोली ऊपर की ओर बढ़ी, दूसरी निगरानी के लिए नीचे ही रह गई। आर.आर. गुप्ता और उनके साथी जैसे ही ऊपर के एक कमरे के अंदर पहुंचे, वैसे ही उस कमरे में बाहर से ताला लगा दिया गया और उनसे कहा गया कि उनके पास जितने भी जूत किए कागजात वगैरह हैं, मसलन आभूषणों की लिस्ट आदि, वह सब वापस कर दें। गुप्ताजी ने वह लिस्ट वापस देने से मना कर दिया। संस्कृति और सभ्यता की दुहाई देनेवालों का असली रूप उजागर हो चुका था। अधिकारियों को एक बार फिर धमकी दी गई कि जितने भी लोग यहां हैं, उनमें से एक भी वापस नहीं जा सकेगा क्योंकि, फैक्टरी का द्वार बंद करवा दिया गया है।

धमकी का कोई असर नहीं हुआ, अधिकारी हतोत्साहित नहीं हुए। गुप्ताजी और उनके साथी एक कमरे में बंद थे, बाकी के जो अधिकारी बाहर थे, वे उनकी सुरक्षा के लिए, उस कमरे के बाहर एकत्र हो गए। माहौल आशंका से भर उठा था।

उधर कंट्रोल रूम, जहां से छापे की सभी कार्यवाहियों का संचालन हो रहा था, अंधकार में डूबा हुआ था। बिजली चली गई थी। बिजली के तार या तो काट दिए गए थे, अथवा सही में ही बिजली गई थी, किसी को कुछ पता नहीं था। कंट्रोल रूम में अधिकारी परेशान थे। भट्ट की फैक्टरी में बार-बार फोन खटखटाने पर भी उधर की कोई हलचल मालूम नहीं पड़ रही थी। कहां क्या हो रहा है? साथी कुशल से तो हैं? इन्हीं सब ऊहापोहों में कंट्रोल रूम के अधिकारी गण पड़े हुए थे। कहीं कोई वारदात तो नहीं हो गई? शाम को कुछ गड़बड़ी हो सकती है, ऐसी खबर उन्हें मिली भी थी। फैक्टरी से आखिरी खबर यह मिली कि कुछ अधिकारियों को एक कमरे में बंद कर दिया गया है।

के. आर. राघवन और ठाकुर—इन दो मुख्य अधिकारियों ने सोचा, कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है अन्यथा, अभी तक तो साथियों को वापस लौट आना चाहिए था। दोनों श्रीनगर में वी.एस.एफ. के उच्चाधिकारी प्रसाद के निवास-स्थान पर जाने के लिए निकले पर, जितनी भी टैक्सियों का इंतजाम किया गया था, वे सभी की सभी किसी न किसी काम पर गईं

हुई थीं। प्रश्न था कि जाया कैसे जाए? खैर, एक टैक्सीवाला दिखाई दिया। उसे मुबारक मंजिल चलने का आदेश दिया तो, वह बिना आनाकानी किये मुबारक मंजिल ले गया।

ठाकुर ने सारी बात की जानकारी प्रसाद को दी और उनसे निवेदन किया कि नौशेरां में भट्टू की फ़ैक्टरी में फंसे अधिकारियों को निकालने के लिए जम्मू-कश्मीर पुलिस से उनका संपर्क कराया जाए। प्रसाद ने तुरंत अपने डिप्टी दयानंद को आदेश दिया कि सीनियर एस.एस.पी. को फोन मिलाए। फोन पर अपना परिचय देते हुए इन लोगों ने कहा कि छापा डालने गए पंद्रह-बीस आयकर अधिकारी घेर लिए गए हैं और वे खतरे में हैं।

दूसरी ओर से उस सीनियर सुपरिंटेंडेंट ऑफ पुलिस ने बात की अवहेलना करते हुए कहा, “मैं तुम्हें नहीं पहचानता हूँ।” पुनः आग्रह किया गया कि 15-20 अफसरों की जिंदगी खतरे में है और यह पुलिस का कर्तव्य है कि वह उनकी रक्षा करे। किंतु, उधर से फोन काट दिया गया। अब क्या किया जाए?

उधर नौशेरां में फ़ैक्टरी का मुख्य द्वार ही बंद कर दिया गया था। सब टेलीफोनों पर ताले लगवा दिए गए थे। अब कंट्रोल रूम को सूचना भी नहीं दी जा सकती थी। कंट्रोल रूम तक सूचना पहुंचाना बहुत जरूरी था क्योंकि, फ़ैक्टरी के बाहर भी भीड़ बढ़ती जा रही थी। रात के नौ बज चुके थे। पानी मूसलाधार बरस रहा था। सब एक-दूसरे का मुंह ताक रहे थे। तभी उनमें आंखों ही आंखों में इशारे हुए और एक आयकर अधिकारी आर. के. जैन ने हिम्मत की। वह टहलते-टहलते फ़ैक्टरी की पिछली चहारदीवारी तक पहुंच गए। उनके पीछे-पीछे उनके एक और सहायक सी.एल. सचदेवा भी थे। चहारदीवारी के अंदर संकट था, चहारदीवारी के बाहर संकट से उबरने का रास्ता। दोनों अधिकारियों ने बड़ी हिम्मत और दिलेरी दिखाई। वे दीवाल कूदकर बाहर आ गए।

बाहर तो आ गए, पर अब कंट्रोल रूम तक कैसे पहुंचें? नौशेरां से शहर पंद्रह किलोमीटर दूर था। रात्रि का समय, सुनसान जगह, अनजान रास्ते और बारिश थी कि थमने का नाम ही नहीं ले रही थी।

बाद में मैंने सचदेवाजी से पूछा था, “आप लोगों को डर नहीं लगा?”

“लगा तो था। इस बीच वहां पर बिजली भी चली गई। एक ही उपाय था कि भागकर कंट्रोल रूम तक पहुंचा जाए। जैसे ही यह बात हमारे ध्यान में आई, हम भागने लगे शहर की ओर। कोई और चारा भी तो नहीं था।”

मेरे सामने उस रात का चित्र खिंच गया। बारिश की अजस्र धारा, सड़कों पर अंधेरा, नई जगह, रास्तों का ज्ञान नहीं। दो व्यक्ति भागते चले जा रहे हैं। शायद, उन्हें कोई दैवी-शक्ति निर्देशन और प्रेरणा दे रही थी। जैन ने बताया, “रास्ते में कोई टैक्सी भी नहीं मिली। पांच किलोमीटर दौड़ लेने के बाद हमें एक रिक्शा मिला—ग्री-व्हीलर। पहले तो उसने आनाकानी की, पर जब हमने उसे बताया कि कुछ अधिकारियों की जान खतरे में है, तो वह चलने को तैयार हो गया।”

जिस समय ये दोनों अधिकारी कंट्रोल रूम पहुंचे, बुरी तरह पस्त हालत में थे। पानी

से लथपथ, थके, बेबस। मोमबत्ती की रोशनी में कंट्रोल रूम के लोगों ने देखा तों वे देखते ही रह गए उन्हें। उस समय रात काफी हो गई थी। कंट्रोल रूम के अधिकारियों ने उन्हें बताया कि जब आठ बजे के बाद भी भट्टू की फैक्टरी से कोई संपर्क स्थापित नहीं हो सका तो राघवन और टी.पी. दोनों प्रसाद के यहां गए हैं। जैन ने तुरंत आगे कुछ सुने बगैर श्री-व्हीलर का मुंह प्रसाद के घर की ओर मुड़ा दिया।

प्रसाद के यहां भी गरमा-गरमी का माहौल था। सीनियर सुपरिंटेंडेंट ऑव पुलिस के मना करने के बाद, यह तय किया गया कि प्रसाद के पास बी.एस.एफ. के जो भी जवान हैं, उन्हें लेकर नौशेरां जाया जाए। इन जवानों को ट्रक में बैठाया गया। दयानंद भी उनके साथ नौशेरां चलने को तैयार हुए। एक टैक्सी ड्राइवर से जब नौशेरां चलने के लिए कहा गया, रात के ग्यारह बज चुके थे। पानी अभी भी बरस रहा था। टैक्सीवाला घर जाना चाहता था क्योंकि, सुबह से ही वह टैक्सी चला रहा था। जवान लड़का था, अलसाये स्वर में बोला, “मुझे जाना है। घरवाले फिकर कर रहे होंगे।”

अधिकारियों ने मामले की गंभीरता बताते हुए, जब उससे कहा कि उनके साथी पंद्रह-बीस अफसर वहां सरकारी काम से गए हैं, और उनकी जान खतरे में है, इसलिए, जल्दी से जल्दी वहां पहुंचना जरूरी है, तो वह अपनी नींद झटककर बोला, “अगर ऐसा है तो मैं जरूर चलूंगा। जब आप लोग अपना फर्ज निभा रहे हैं, तो मुझे भी अपना फर्ज पूरा करना चाहिए। वरना अल्लाह मुझे माफ नहीं करेगा।” फिर उसकी टैक्सी तेजी से नौशेरां की ओर दौड़ पड़ी, पीछे-पीछे एक जीप में दयानंद और एक ट्रक में बी.एस.एफ. के जवान।

राघवन साहब ने आगे की घटना की जानकारी देते हुए मुझे बताया : “लगभग पैंतालीस मिनट में हम नौशेरां जा पहुंचे। फैक्टरी का मुख्य द्वार अभी तक बंद था। बीच-बीच में अंदर से कुछ शोर सुनाई पड़ रहा था। अब प्रश्न यह था कि अंदर जाया कैसे जाए। आपस में सलाह के बाद, यह तय हुआ कि यदि बी.एस.एफ. के जवानों को अंदर ले जाया गया तो स्थिति और भी खराब हो सकती है। इतनी बड़ी भीड़ को पंद्रह-बीस जवान काबू नहीं कर पाएंगे। तभी देखा कि साइड के एक दरवाजे से इक्का-दुक्का लोग अंदर जा रहे हैं और उन्हें रोका नहीं जा रहा है। सोचा गया कि इसी दरवाजे का उपयोग किया जाए। टी.पी. झुनझुनवाला उस समय तंग मोहरी का पाजामा, ऊपर से कुर्ता और बंडी पहने हुए थे। अपने डील-डौल के कारण बहुत-कुछ श्रीनगर के निवासी ही लग रहे थे। वह अकेले ही पहले अंदर जाकर स्थिति का जायजा लेना चाहते थे, पर मैं इसके लिए राजी नहीं था कि एक और साथी अकेला अंदर जा फंसे। मैं स्वयं जाना चाहता था, पर मुझे विवश किया गया कि मैं निगरानी के लिए तथा संकेत मिलने पर आगे की कार्यवाही के संचालन के लिए बाहर ही ठहरूं और इंतजार करूं।

“झुनझुनवाला साइड के दरवाजे से चुपचाप अंदर चले गए जैसे, वे भी वहीं के कोई आदमी हों। उनके पीछे दयानंद और आर.एम. भगत भी पहुंच गए।”

आगे की बात जानने के लिए मैंने ठाकुर से पूछा कि “अंदर क्या स्थिति थी?” तो उन्होंने बताया : “अंदर का माहौल बहुत ही खौफनाक था। पहले फैक्टरी थी, उसके बाद गाय-भैंस बांधने की-सी कोई जगह। उससे होकर पीछे घर का रास्ता था। घुप्प अंधेरा। भीड़ में से ही किसी ने परिवार का एक सदस्य समझकर इशारा किया कि सब कुछ जो हो रहा है, वह उधर सामने के हिस्से में है। बिना किसी बाधा के मैं अंदर तक पहुंच गया। एक कमरे में सभी अधिकारी जमीन पर बैठे थे। चारों ओर से घिरे हुए। एक साथ। जो अधिकारी बाहर थे उन्होंने बड़ी चालाकी से काम लिया। रात के बारह बजे तक तो आर. आर. गुप्ता और उनके साथी ऊपर कमरे में बंद रहे। फिर बाहरवाले अधिकारियों ने कहा कि जिस लिस्ट की वे तलाश कर रहे हैं, वह उन लोगों के पास है, जो बाहर हैं। अगर वह लिस्ट चाहिए तो पहले हमें बाहर निकाला जाए। विवश होकर उन लोगों को यह शर्त माननी पड़ी। वैसे लिस्ट गुप्ताजी ने अपने कपड़ों में छिपा रखी थी। इसी कारण उस समय सब अधिकारी एक साथ, एक ही स्थान पर एकत्र थे और उनके घेरे के बीच में गुप्ताजी।”

अब मुझे गुप्ताजी से मिलना था। वे डिफेंस कालोनी में रहते थे। पहले भी हम उनके घर जा चुके थे, पर इस बार मैंने उन्हें घर पर ही बुलाया क्योंकि, उन्हीं से पूरी जानकारी मिल सकती थी।

गुप्ताजी ने बताया : “अचानक झुनझुनवालाजी को देखकर हम लोगों का हौंसला बढ़ गया। अभी तक वे लोग हमें जोर-जोर से धमका रहे थे, अब झुनझुनवालाजी का परिचय पाकर निरस्त्र-से हो गए। भीड़ को चीरते हुए जब झुनझुनवालाजी पहुंचे, तो पहले तो यह समझ में ही नहीं आया कि वह यहां पहुंचे कैसे! मुख्य द्वार तो बंद था, कोई भी न बाहर से अंदर आ सकता था, न अंदर से बाहर जा सकता था। आश्चर्यचकित दोनों पक्ष थे। भट्टू परिवार के लोगों ने तो सोचा कि इतने हौसले से जो व्यक्ति अंदर घुस आया है, उसके पीछे कोई फोर्स अवश्य होगी। इसलिए वे लोग कुछ डर-से गए। हम लोगों ने भी झुनझुनवालाजी को बताया कि सब लोगों को कैसे घेरकर रखा गया है।”

गुप्ताजी ने आगे कहा : “झुनझुनवालाजी ने सचमुच बहुत हिम्मत का काम किया था। हमारी बातें सुनकर और सारी स्थिति का जायजा लेने के बाद वे एकदम विश्वास के साथ तनकर खड़े हो गए और उन लोगों को बड़ी फटकार लगाई। समझाया भी कि ‘आपने जो व्यवहार हमारे साथियों के साथ किया है, वह ठीक नहीं है। आप लोग शहर के संभ्रांत नागरिक हैं। आपको शोभा नहीं देता कि आप कानून का उल्लंघन करें। कानून कभी कमजोर नहीं होता, उसके पीछे पूरा देश है। कानून को तोड़ना देश का अपमान है। हमारे साथ कानून का बल है, इसलिए आप कानून तोड़कर अपराधी बन रहे हैं, जो आपके हित में नहीं है।’

“जिस तेजी से सारी घटनाएं घटीं और जिस आत्मविश्वास के साथ बेधड़क झुनझुनवालाजी ने बातचीत की, उससे घेराव करनेवालों का मनोबल टूट गया। यह घबराहट भी थी कि शायद, बाहर पुलिस की बड़ी टुकड़ी मौजूद हो। अब तो उनकी बातों का अंदाज

ही बदल गया, किंतु, यह सब क्षणिक था। थोड़ी देर पहले तक जो लोग गरज रहे थे, वे, 'पंचनामा' तैयार करे लगे और चलने की तैयारी शुरू ही हुई थी कि वातावरण में पुनः गर्मी आ गई। फिर से एक बार हल्ला मचना शुरू हुआ कि जब तक लिस्ट वापस नहीं होगी, यहां से जाने नहीं देंगे।

“जवाब दिया गया कि जो लिस्ट बनी है, वह सही है। उसमें कोई गलती नहीं है। धमकी दी जा रही थी कि आभूषणों की जो लिस्ट बनी है, वह गलत है। उसे नहीं ले जाने देंगे। झुनझुनवालाजी ने एक सुझाव दिया कि 'अगर आपके अनुसार लिस्ट गलत है तो दोबारा उसे आभूषणों से मिलाकर देख लेते हैं।' ”

“उधर से जवाब आया, 'रात का एक बज चुका है और परिवार का कोई भी आदमी काम करने के मूड में नहीं है।' ”

“अब क्या किया जाए? सोचा गया कि आभूषणों को सेफ में रखकर सील कर दिया जाए, दूसरे दिन सुबह उनकी लिस्ट बना ली जाएगी। किंतु, वहां सेफ पर जब सील लगाने पहुंचे तो उन्होंने सेफ खोलकर आभूषणों को देखना चाहा। काफी हील-हुज्जत के बाद सेफ खोला गया, तो उसमें आभूषण थे ही नहीं। यह केवल अधिकारियों को बेवकूफ बनाने की कोशिश थी। जब हल्ला-गुल्ला हो रहा था उस दौरान ही आभूषण वहां से निकल गए थे। फिर उन्हें बताया गया कि यह कानून-विरोधी काम है, पर इसका कोई जवाब उनके पास नहीं था। पंचनामे की कार्यवाही पूरी हो चुकी थी। अधिकारियों की टोली अपने सभी साथियों के साथ वापस जाने के लिए तैयार थी, कानूनन काम पूरा करने के बाद। किंतु, इसी बीच फिर धमकी दी गई, 'कोई भी व्यक्ति, लिस्ट वापस किए बगैर नहीं जा सकता।' ”

“अब तो झुनझुनवालाजी को क्रोध आ गया। दबंग स्वर में बड़ी दिलेरी से अपने साथियों से उन्होंने कहा, 'आप लोग वापस जाएं। मैं स्वयं यहां खड़ा होकर देखता हूँ कि ये हमें कैसे रोकते हैं?' फिर घर के लोगों को संबोधित कर कहा, 'हमारे अधिकारियों में से किसी पर भी यदि हाथ उठाया गया, तो ठीक नहीं होगा।' एक-एक करके अधिकारी बाहर निकल गए। सबसे अंत में झुनझुनवालाजी आए। भाड़े के असामाजिक तत्त्वों में से कोई भी अधिकारियों से उलझ नहीं सका। उस समय रात के दो बजे थे।”

बाहर टैक्सी में बैठे राघवनजी अकेले तो थे, पर अंधेरे और एकांत में भी उनमें आत्मविश्वास था। तीन घंटे तक वे अकेले ही वहां साथियों की सुरक्षा के लिए प्रार्थना और किसी भी क्षण अंदर से आनेवाले संकेत की प्रतीक्षा करते रहे। बीच-बीच में टैक्सीवाला पूछ लेता था, “साहब, हम आपकी कुछ मदद कर सकते हैं?” काफिले का मुंह शहर की ओर मोड़ दिया गया। टैक्सीवाला प्रसन्न मुद्रा में कश्मीर का कोई लोकगीत गाता हुआ शहर की ओर बढ़ने लगा। साथ में जीप और बी.एस.एफ. का ट्रक भी था। रात के साढ़े तीन बजे यह काफिला कंट्रोल रूम पहुंचा तो वहां खुशी की लहर दौड़ गई। चौकिंग शुरू हुई कि सभी सदस्य सभी जगहों से वापस आ चुके हैं या नहीं? जब पता चला कि सभी

सदस्य वापस आ गए हैं, तब कंट्रोल रूम बंद किया गया।

सुबह लगभग ग्यारह बजे डॉ. फारूख अब्दुल्ला का एक जाने-माने व्यापारी के शो-रूम पर आगमन हुआ। वे हेल्मेट पहनकर एक स्कूटर पर आए थे। उन्होंने अपना परिचय डॉ. फारूख एम.पी. कहकर दिया और कहा कि उनके पास आयकर अधिकारियों द्वारा व्यापारियों के सताए जाने की शिकायतें आई हैं और वे इन शिकायतों की जांच करने आए हैं। अधिकारियों ने जिस व्यापारी के यहां तलाशी चल रही थी, उससे पूछा कि क्या उन्हें तंग किया गया? व्यापारी के पास कोई उत्तर नहीं था। उस समय उस जगह काफी शोरगुल हो रहा था। सुना है कि आयकर अधिकारियों को यहां तक धमकी दी गई कि उनमें से कोई भी कश्मीर से वापस नहीं जाने दिया जाएगा और कश्मीर घाटी में तीन सौ कब्रें खोदी जाएंगी।

22 अप्रैल, सुबह 10 बजे से तलाशी का काम फिर शुरू हुआ। प्रारंभ में कहीं कोई अड़चन नहीं आई। उस समय कुरुविलाजी प्रत्यक्ष कर बोर्ड के अध्यक्ष थे। वे एक सजग, दृढ़, अनुभवी व्यक्ति थे। किसी भी विशेष परिस्थिति में निर्णय लेने की उनकी क्षमता अपूर्व थी। कश्मीर के छापे की सारी योजना उन्हीं के निर्देशानुसार बनी थी। इसलिए स्वाभाविक था कि कश्मीर में घटनेवाली हर घटना की जानकारी उन्हें दी जाती रही। दिल्ली से बराबर संपर्क बना रहा और यहां के निर्देशों के अनुसार ही वहां सारा काम हो रहा था।

दोपहर बाद साढ़े-तीन बजे फिर अधिकारियों पर हमला शुरू हुआ। बुलवर्ड रोड कश्मीर की एक प्रमुख सड़क है। यहां एक तरफ आलीशान दुकानें हैं और दूसरी तरफ डल झील। झील के एक किनारे पानी में कतार से शिकारे खड़े रहते हैं। पहले भीड़ झील की तरफ इकट्ठी होनी शुरू हुई, जो इस प्रकार बढ़ रही थी मानो उसे कहीं से कोई निर्देश मिल रहा हो और वह किसी के इशारे का इंतजार कर रही हो। भीड़ में कुछ लोगों के हाथों में लाठियां थीं। अधिकारी शांतिपूर्ण ढंग से डटे रहे, पर भीड़ इतनी अधिक बढ़ गई थी कि उनके लिए उसे रोकना भारी पड़ रहा था। पूरी की पूरी बुलवर्ड रोड पर, जहां-जहां तलाशी चल रही थी, वहां-वहां भीड़ पहुंचने लगी। वी.एस.एफ. के जवानों को दुकान-मालिकों के कहने पर पीछे की ओर खड़ा कर दिया गया था क्योंकि उन लोगों का कहना था कि सामने खड़े रहने से अन्य लोगों को तलाशी का आभास हो जाएगा। बाद में मालूम पड़ा कि वह कितनी बड़ी चाल थी। जब तक जवान पीछे से आगे की ओर आए, तब तक स्थिति काफी बिगड़ चुकी थी।

एक जगह भीड़ की अगुआई कश्मीर के कुछ विशिष्ट व्यक्ति कर रहे थे। वहां पर हरिओम तुलस्यान, जो दिल्ली में डिप्टी कमिश्नर किंतु, यहां कश्मीर में 'सर्व टीम' के लीडर थे, सर्व अभियान में लगे थे। तभी भीड़ ने दुकान के अंदर घुस कर गाली-गलौज, छीना-झपटी और मारपीट भी की। इस भीड़ के हमले से सब अधिकारी तितर-बितर हो गए। तुलस्यानजी भीड़ में अकेले फंस गए थे। बचने का कोई रास्ता नहीं था। तभी बाहर खड़े वी.एस.एफ. के जवान, हंगामा मचता देख, दुकान के अंदर आ गए। वहां पहुंचकर

उन्होंने भीड़ को निकालने और तुलस्मानजी को बचाने की कोशिश की। अब तो भीड़ और बेकाबू होने लगी और चिल्लाकर बोली, “वह लाल स्वेटर पहने जो आदमी है, उसे हमें सौंप दो, हम चले जाएंगे।” तुलस्यानजी लाल स्वेटर पहने थे। इस पर बी.एस.एफ. के एक जवान ने अपना कमरबंद खोलते हुए गोली निकाली, बंदूक तानी और कहा, “इन्हें आप छुएंगे तो हम गोली चला देंगे।” इस पर भीड़ और उग्र हो गई। किंतु जवानों ने तुलस्यानजी को अपने घेरे में लिया और सलाह दी कि वे वहां से निकल चलें। पास ही, एक किलोमीटर दूर, बैरक है। वहां पहुंचने पर भीड़ उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगी। जवानों के संरक्षण में तुलस्यानजी बाहर निकल पड़े। पीछे-पीछे भीड़ शोर मचाती आ रही थी। बैरक में पहुंचने पर वहां और जवान आ गए। उन्होंने भीड़ को खदेड़ दिया। बाद में तुलस्यानजी को जवानों ने कंट्रोल रूम में पहुंचाया। झुनझुनवालाजी कंट्रोल रूम में उनका बेसब्री से इंतजार कर रहे थे। उन्हें खबर लग गई थी कि तुलस्यानजी अकेले भीड़ में फंस गए हैं। जो बाकी लोग लौटकर आए थे, उन्होंने ही खबर दी थी। तुलस्यानजी को देखते ही उन्हें गले से लगा लिया।

कंट्रोल रूम आयकर आफिस के अंदर था। वहां सरगर्मी का वातावरण था। झुनझुनवालाजी को जैसे ही पता चला कि भीड़ हिंसक हो रही है, उन्होंने तुरंत निर्णय लिया और निर्देश दिया कि सारी जगहों को सील करके सभी अधिकारी वापस आ जाएं। अचानक उनके दिमाग में आया कि एक से लाल रंग के स्वेटर पहने आयकर अधिकारी दूर से पहचान में आ जाते हैं, तुरंत कंट्रोल रूम से एक विशेष सूचना जारी की गई कि सभी अपने-अपने स्वेटर उतार दें। ये एक-जैसे स्वेटर सभी अधिकारियों को श्रीनगर पहुंचने पर दिए गए थे और इनसे पता चल रहा था कि कौन-कौन तलाशी दल में है। कंट्रोल रूम में जितने भी अधिकारी थे, उन्हें बुलवर्ड रोड की ओर आर.एम. भगत के नेतृत्व में भेज दिया गया। के.के. कपिला और एस. तलवार, जे.के. मेहरा के साथ बी.एस.एफ. के जवानों को इकट्ठा किया गया और बुलवर्ड रोड भेजा गया, वहां फंसे साथियों की मदद के लिए। किंतु, उन्हें डल गेट के चौराहे पर ही रोक दिया गया। पुलिस ने दोनों तरफ के रास्ते बंद कर दिए थे।

कंट्रोल रूम से तत्काल सी.आर.पी. के हेडक्वार्टर्स, आई.जी. जम्मू और कश्मीर पुलिस, डी.आई.जी. जम्मू और कश्मीर पुलिस को फोन खटखटाए गए किंतु, कोई सहयोग नहीं मिला। हर बार आश्वासन ही मिला, जो पूरा नहीं हुआ। स्थिति सचमुच भयावह थी। 22 अप्रैल की शाम को करीब 5-6 हजार लोगों की भीड़ नारे लगाती, जगह-जगह उपद्रव करने पर उतारू थी। भीड़ के पीछे-पीछे ट्रक में आफीसरों के हाथ से छीने कागज और जब्त किया हुआ सामान रख लिया जाता था, जिससे कि वह आयकर विभाग के हाथों से बच जाए। एक ट्रक में ईंट-पत्थर भी भरे थे।

इस सब खौफनाक माहौल में लग रहा था कि कहर अब बरपा कि तब बरपा। अधिकारियों की हिम्मत प्रशंसा के योग्य थी। आर.पी. खन्ना ने जब देखा कि भीड़ नीचे

के माले से ऊपर पहले माले पर आ रही है, तब कुछ बहुत जरूरी कागजात लेकर वे पीछे की ओर पहले माले से ही नीचे कूद पड़े। उन्हें यह अंदाज नहीं था कि मकान के पीछे भी भीड़ खड़ी है। उन्हें कूदता देखकर भीड़ ने उन पर हमला बोल दिया। उनके एक पैर की हड्डी टूट गई।

इसी प्रकार यहीं पर महिला आयकर अधिकारी कुमारी सतनाम कौर भी थीं। भीड़ को उग्र होते देख उन्होंने अपने आपको बाथरूम में बंद कर लिया। भीड़ ने उन्हें वहां घुसते देख लिया, सो बाथरूम का दरवाजा तोड़ डाला। इसके पहले कि कोई उनके साथ ज्यादाती करे, घर के नौकरों ने डटकर भीड़ का सामना किया और उन्हें सुरक्षित बचा लिया। घर के नौकरों को भीड़ से भिड़ता देख ऊपरी मंजिल से महिलाएं भी उतर आईं और उनमें से एक वृद्धा उन्हें 'बेटी' कहते हुए अपने साथ ऊपर ले गईं। भीड़ छंटने के बाद उन्हें सुरक्षित कंट्रोल रूम पहुंचाया गया।

गरीबी जितनी अधिक होती है, आदमी उतना ही ईमानदार होता है—यह भी उन दिनों देखने को मिला। एक अन्य महिला आयकर अधिकारी कुमारी बाली टैक्सी में एक स्थान से लौट रही थीं कि भीड़ ने उन्हें पहचान लिया। उनके सिर पर पत्थर की चोट आई। टैक्सी ड्राइवर ने इसके बावजूद टैक्सी नहीं रोकी। बोला, “कैसे रोकता साब, मेम साब को बचाना जरूरी था।” उसने काफी घुमाते-फिराते उन्हें होटल सुरक्षित पहुंचाया।

एक जगह तो अंजनीकुमार और रामअवतार शर्मा भीड़ का हमला होते ही जरूरी कागजात लेकर दुकान की मियानी में छिप गए। अपने ऊपर उन्होंने वहां पड़े कपड़े डाल लिए। बिना हिले-डुले लगभग पांच घंटे तक वे वहां छिपे बैठे रहे। नीचे भीड़ का तांडव होता रहा। रात के ग्यारह बजे के करीब यह सोचकर कि अब भीड़ तितर-बितर हो गई होगी, वे अपनी जगह से बाहर आए, लेकिन उन पर दोबारा हमला हुआ। किसी तरह बचते-बचाते वे लोग वहां से निकल पाए।

जे.पी. शर्मा जहां तलाशी ले रहे थे, वह एक फ्लोर मिल थी और वहां कालीनें भी बेची जाती थीं। उस जगह तीन सौ आदमियों की भीड़ थी। किंतु, वह कोई आक्रमणकारियों की भीड़ नहीं थी। सुबह से ही वहां पर आटे की बिक्री होती थी। लोग एक-एक, दो-दो किलो आटा खरीदकर ले जाते थे। यहां तीस से पचास हजार रुपये की बिक्री दिन-भर में होती थी। जैसे ही यहां गड़बड़ी मची, आटा खरीदनेवाले गरीब लोग ही जे.पी. शर्मा को कंट्रोल रूम तक पहुंचा गए। एक अन्य जगह तलाशी दल को घरवालों ने ही कश्मीरी चोगा और टोपी पहना दी, जिससे उन्हें पहचाना न जा सके।

ब्राडवे और न्यू पार्क होटल में उस दिन शायद ही किसी को नींद आई होगी। भीड़ का उत्तेजनापूर्ण उग्र व्यवहार, सील किये हुए कागजात और अन्य सामग्री की सुरक्षा का ध्यान, साथ आई हुई महिला कर्मचारियों की सुरक्षा का सवाल। होटल के बाहर बी.एस. एफ. का घेरा। टी.पी. झुनझुनवाला और राघवन साहब की जिम्मेदारी बहुत अधिक थी। पूरी टीम का नेतृत्व वे दोनों ही कर रहे थे। सभी करवटें बदल रहे थे कि रात के तीन

बजे खबर मिली—भीड़ एक जगह और एकत्रित हो रही है, जिसका इरादा होटल को आग लगाने का है। सभी को एलर्ट कर दिया गया। भीड़ होटल की तरफ बढ़ी किंतु, वहां तैनात बी.एस.एफ. के जवानों ने उसे तितर-वितर कर भगा दिया।

आयकर अधिकारियों पर भाड़े के गुंडों से क्रूरतापूर्ण हमला कराया गया। पूरे देश को एक झटका-सा लगा। क्या कश्मीर भारत का हिस्सा नहीं है? क्या कश्मीर में आयकर चोरी करने की छूट है? 'इंदिरा गांधी मुर्दावाद', 'कश्मीर हमारा है' जैसे नारे उभारनेवालों के प्रति पूरे देश में आक्रोश की लहर दौड़ गई। दिल्ली में अलग तरह की हलचल मची। उधर श्रीनगर में अधिकारियों की जान के लाले पड़े थे। बड़ी गहमागहमी थी। उतने सारे अधिकारी-कर्मचारी गए हैं, उनकी सुरक्षा का क्या इंतजाम है? मंत्रियों और अफसरों की मीटिंगें होने लगीं, विचार-विमर्श होने लगा कि क्या कुछ किया जाए, जिससे एक ओर उन्हें सुरक्षा मिले और दूसरी ओर उनका विश्वास लौटे।

केंद्र के निर्देश से जम्मू-कश्मीर पुलिस ने रातोंरात स्थिति को कंट्रोल में ले लिया। डी.आई.जी. पुलिस जम्मू-कश्मीर भी पहुंच गए। उन्होंने कहा, "हमें पहले क्यों नहीं सूचित किया। यदि हमें सूचित करते तो यह घटना होती ही नहीं।" किंतु, यह तो महज वहाना था। इस स्थिति में कुरुविलाजी श्रीनगर पहुंचे। उनके आने से सबका जोश दुगुना बढ़ गया। उन्होंने हर अधिकारी से व्यक्तिगत रूप से भेंट की। घायलों की देखभाल की और तब तक श्रीनगर में रहे, जब तक एक-एक अधिकारी वापस नहीं हो गया।

श्रीनगर में हुई घटनाओं की खबर अखबारों द्वारा पढ़कर, दूरदर्शन पर देख-सुनकर, हम लोगों की, जिन-जिन के पति गए हुए थे, घर पर दो-तीन दिन बाद वापस लौट आने का वायदा करके, उनकी हालत का इसी से अंदाजा लगाया जा सकता था कि मेरे घर पर चौबीसों घंटे फोन बजता रहता था कि 'कोई खबर आई?', 'वहां क्या हो रहा है?', 'कब तक लौटेंगे?' आदि-आदि। चिंतित तो मैं भी थी। रातों की नींद और दिन का चैन तिरोहित हो गया था। मैं उन्हें क्या जवाब देती? बस, यही सांत्वना देती रहती कि सब ठीक है। चिंता मत करिए। शीघ्र ही वापस लौट आएं। श्रीनगर की खबरें विस्तार से तो वापस आने पर ही मिलीं, उस समय तो बस, खैर-खबर की सूचना-भर मिलती थी। मेरी जिम्मेदारी दुगुनी थी—अपनी चिंता को छिपाकर दूसरों का हौसला बढ़ाना।

श्रीनगर के अनेक लोग, जिन्होंने वहां कर-चोरी से अथाह संपत्ति जमा कर रखी थी, यह सोचकर निश्चिंत हो गए थे कि अब दोबारा आयकर अधिकारी उनके यहां छापा डालने का साहस नहीं जुटा पाएंगे। किंतु, होटल में नजारा ही कुछ और था। कोई भी अधिकारी दिल्ली वापस आने को तैयार नहीं था। हर एक की यही इच्छा थी कि उसे एक बार फिर तलाशी लेने का मौका मिलना चाहिए। क्योंकि, ली गई तलाशी के दौरान यह प्रमाणित हो चुका था कि श्रीनगर में बेशुमार काला धन छिपा हुआ है।

यह काला धन कितनी प्रचुर मात्रा में था, इसका अंदाज वहां की शान-शौकत, कोठियों और बंगलों को देखते ही समझ में आ जाता था। एक-एक कोठी में बीस-बीस,

पच्चीस-पच्चीस कमरे। पूरा राजसी ठाठ-बाट। एक-एक घर पूरी तरह वातानुकूलित। घरों में रसोईघर इतने बड़े, जितने शहरों में शयनकक्ष भी नहीं होते। श्रीनगर शहर की कौन कहे, श्रीनगर से दूर-दराज की कोठियों में शान-शौकत के पूरे इंतजाम मौजूद थे। फ्रिज, रेडियो, वीडियो, टेप-रिकार्ड्स की तो कोई गिनती ही नहीं। एक-एक कमरे में कीमती और बड़े-बड़े तीन-तीन, चार-चार गलीचे। गलीचे भी ऐसे कि एक-एक की कीमत लाख-सवा लाख से कम नहीं। चारों ओर लकड़ी की सीलिंग-पेनेलिंग। लकड़ी पर जो काम था, उसका मेहनताना ही उन दिनों सौ रुपये प्रति वर्ग फीट पड़ता था। आश्चर्य कि इन भव्य निवास-स्थानों का मूल्य कोई भी मकान-मालिक चालीस-पचास हजार से अधिक नहीं बताता था।

इराक-ईरान की लड़ाई के बाद कश्मीर के गलीचे और कालीन विश्व में बहुत बड़ी संख्या में निर्यात होने लगे थे। पर इस सारे निर्यात पर बिचौलिए हावी थे। कारीगरों को अपनी मजदूरी का पूरा मूल्य नहीं मिलता था। व्यापारी मालामाल हो रहे थे और मजदूर तथा आम कश्मीरी कंगाल।

अगले दो दिन तक कोई कार्यवाही नहीं हुई। श्रीनगर के लोगों के लिए यह बड़े अचंभे की बात थी कि दिल्ली से आए अधिकारी न तो वापस जा रहे हैं और न कोई कार्यवाही कर रहे हैं। ब्राउवे होटल के बैरों, रिसेप्शनिस्टों और अन्य कर्मचारियों से एक ही बात पूछी जा रही थी—‘ये लोग कब जाएंगे?’

दो दिन के लिए जो जहां था, उसी होटल में बंद होकर रह गया। बाहर जाया नहीं जा सकता था। अंदर साथियों का मनोबल बनाए रखना था। ऐसी सब स्थितियों का खूबसूरती से सामना करना ठाकुर को खूब आता था। उन्होंने अपने नाटक ‘यहां बंदे सस्ते मिलते हैं’ का रिहर्सल शुरू कर दिया। नाटक में भाग लेनेवाले कुछ लोग टीम में मौजूद थे ही, फिर क्या था? स्टेज सज गया। उन्हीं दिनों बंबई से शूटिंग के लिए एक फिल्म पार्टी भी आई हुई थी और इसी होटल में ठहरी हुई थी। राज बब्बर, पूनम दिल्लों आदि उसमें थे। वे सब भी दर्शक बन गए। अधिकारियों की हिम्मत की दाद दे रहे थे वे लोग।

आयकर अधिकारी भी आंख-मिचौनी का खेल खेल रहे थे। वे लोग वापस जाने की बात का प्रचार भी करते रहते थे। जबकि, वास्तविकता यह थी कि वे वापस नहीं जा रहे थे। निश्चय ही धीरे-धीरे उन्होंने अंदरूनी बातों का पता लगाया होगा, क्योंकि, 24 अप्रैल को पुनः उन्हीं स्थानों पर तलाशी का काम प्रारंभ हुआ, जहां वे 22 तारीख को सील करके आए थे और जो सीलें अभी तक टूटी नहीं थीं।

अगले दिन लगभग 125 अधिकारी दिल्ली भेज दिए गए। इन अधिकारियों को भेजने का तात्पर्य भी यही था कि भ्रम की स्थिति बनाए रखी जाए।

उसी दिन रात्रि को होटल के एक बंद कमरे में कुरुविलाजी ने कुछ अधिकारियों से बात की। उन्होंने कहा, “भारत सरकार के अधिकारी के रूप में तलाशी का काम बगैर पूरा किए लौट जाने से विभाग की और भारत सरकार की बहुत अवमानना होगी। इसलिए

तलाशियों का काम दोबारा किया जाए। उन्होंने यह भी आश्वासन दिया कि तलाशी के दौरान अधिकारियों की सुरक्षा के लिए जम्मू-कश्मीर पुलिस के जवान जाएंगे और उनके साथ में एक मजिस्ट्रेट भी होगा।" फिर भी, उन्होंने कहा, "किसी पर कोई दबाव नहीं है। जो छापे पर जाना चाहें, वे ही जाएं।" हां, उन्होंने इतना जरूर कहा कि ऐसी स्थिति में अगर उनको स्वयं छापे पर जाना होता तो वे जरूर जाते।

इसके बाद जितने भी अधिकारी वहां मौजूद थे, उनमें एक नया जोश भर गया। वे सभी छापे पर जाने के लिए तैयार हो गए।

27 अप्रैल को अधिकारी पुनः सक्रिय हो गए। उन्हें पता लगा कि सेव के एक वगीचे में, जो श्रीनगर से चौबीस किलोमीटर दूर था, एक मकान में 22 अप्रैल की रात्रि को मूल्यवान चीजें और कागजात छिपाए गए हैं। एक टोली सेव के वगीचे की ओर चल पड़ी। पुलिस की मदद से वगीचे को ढूँढ़ लिया गया। मकान का पता भी लग गया। मकान छोटा-सा था और सभी दरवाजे खुले हुए थे। एक कमरे में देखा, अंदर कहीं कुछ नहीं था। दूसरे कमरे में एक व्यक्ति बंदूक लिए बैठा था। कमरे का दरवाजा बंद था। इस सन्नाटे मकान में बंदूकधारी पहरेदार क्यों? सब वहीं ठिठक गए। उस व्यक्ति ने आगंतुकों को देखकर बंदूक तान ली। किंतु, पुलिस ने उसे निहत्था कर दिया।

ऐसा लगा कि सफलता अब मिलनेवाली है। कमरे का दरवाजा खोलकर अंदर प्रवेश किया गया। घुप्प अंधेरा। कहीं कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा था। निहत्थे अधिकारी उस अंधेरे में टटोल-टटोलकर बेखौफ आगे बढ़ रहे थे। कुछ ही क्षणों में उन्हें पता लगा कि वे एक भूसे की कोठरी में खड़े हैं। कोठरी में एक दूसरे कमरे का दरवाजा था। सतर्कता से सब उस कमरे में पहुंच गए। फिर कहीं कुछ नहीं। फिर वही निराशा, फिर कहीं कुछ न पाने की हताशा। जब और जांच-पड़ताल शुरू की गई और वहां रखे डीजल के बहुत से खाली ड्रमों की तलाशी ली गई तो उनमें जवाहरात, हीरे, विदेशी मुद्रा, जिसमें पाकिस्तानी मुद्रा भी शामिल थी, मिली। साथ ही बहियां और कागजात भी मिले। इतने में वगीचे के बाहर चार-पांच सौ आदमियों की भीड़ इकट्ठी हो गई। जब भीड़ को बताया गया कि अधिकारी काले धन की खोज में यहां आए हैं, तब उन्होंने खुशी से हाथ हिला-हिलाकर उनका स्वागत किया।

अन्य जगहों की तलाशी का भी अच्छा सुफल मिला। आटे की मिल में तो बोरियों में डुप्लीकेट बहियां मिलीं। यदि थोड़ी देर हो जाती, तो ये गेहूं के बोरों में मिल जातीं।

27 अप्रैल को दो बजे की उड़ान से सबको दिल्ली लौटना था। पर तभी सुबह दस बजे के करीब एक गुप्त बैंक लॉकर का पता लगा। लॉकर खोलने पर सोना, सोने की गिननियां और जेवरात मिले। जैसे ही लॉकर में जेवरात मिलने की बात पता चली, बाहर एक बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। अधिकारी बैंक के पीछे के दरवाजे से पुलिस की निगरानी में बाहर आए और एअरपोर्ट की ओर बढ़ चले। दिल्ली जानेवाले सभी यात्री एअर-बस में बैठ गए थे। कुरुविलाजी, के.आर.राघवन और टी.पी. झुनझुनवाला विमान से बाहर

खड़े इंतजार कर रहे थे अपनी टीम के आखिरी आदमी का, जो लॉकर की तलाशी खत्म करके आनेवाला था। उसे छोड़कर वे कैसे जा सकते थे! एअर-बस ने वापसी की उड़ान भरी और ठीक समय पर दिल्ली आ पहुंची, और इस तरह संपूर्ण हुआ कश्मीर का तलाशी-अभियान।

31 अक्टूबर, 1984 की सुबह का सूरज निकले बहुत देर नहीं हुई थी। सब कुछ आम दिनों जैसा ही था, लेकिन घटनाचक्र अचानक इतनी तेजी से घूमा कि एक पूरे युग का दर्दनाक अंत हो गया। मैं आफिस जाने की तैयारी कर रही थी कि फोन की घंटी बज उठी। आफिस से फोन था, “आपने कुछ सुना, इंदिराजी की हत्या हो गई!” ऐसा लगा जैसे भयावह अंधकार छा गया है। शब्द मुश्किल से निकले, “कब? कैसे?” मालूम पड़ा, इंदिराजी सुबह 9.40 पर घर से निकलकर समीपवर्ती 1, अकबर रोड की ओर बढ़ीं कि सुरक्षा कर्मचारी जसवंतसिंह, जो झाड़ियों के पीछे छिपा था, बाहर आया। उसने अपनी स्टेनगन से इंदिराजी पर गोलियां दागना शुरू कर दिया। एक अन्य सुरक्षा कर्मचारी वेअंतसिंह ने भी पिस्तौल से उन पर गोलियां चलाईं। गोलियां चलने की आवाज सुनकर अन्य सुरक्षा कर्मचारी चौंके। उन्होंने तीन हमलावरों में से दो को तत्काल मौत के घाट उतार दिया। इंदिराजी के निजी सहायक आर.के. धवन कुछ पीछे चल रहे थे। उन्होंने अन्य लोगों की मदद से उन्हें कार में लिटाया और ऑल इंडिया मेडिकल इंस्टीट्यूट ले गए।

मैं तो जैसे बैठी थी, वैसे ही टैक्सी बुलाकर दौड़ी मेडिकल इंस्टीट्यूट की ओर। मन में सोचती जा रही थी—यह कैसा अंधकार है, जिसने विवेक और कर्तव्य को विस्मृत कर दिया! नव-स्वतंत्र और विकासशील देशों में से सिर्फ भारत ही एक ऐसा देश अभी तक था, जिसने राजनीति से हिंसा को दूर रखकर लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को सुरक्षित रखा हुआ था। सत्ता परिवर्तन भी हुए, लेकिन मतदाताओं के फैसले के अनुसार शांतिपूर्ण ढंग से। किंतु, पिछले दो-तीन वर्षों से देश की राजनीति में तनाव और हिंसा का जो जहर फैला, उसने हमारे आदर्शों की ही हत्या कर दी।

पंजाब की घटनाओं के बाद एक आशंका सभी को थी कि आतंकवादी कभी भी किसी भी कीमत पर बदला ले सकते हैं। विदेशी तत्त्वों की सहायता उन्हें मिल ही रही थी। प्रधानमंत्री तथा अतिविशिष्ट व्यक्तियों की सुरक्षा-व्यवस्था में बहुत बड़े पैमाने पर परिवर्तन करने की घोषणाएं भी की गई थीं। लेकिन, वे व्यवस्थाएं सिर्फ कागजों पर ही रह गईं।

इंदिराजी की हत्या की खबर अब तक आग की तरह सब ओर फैल गई थी। हर गली-चौराहे पर भीड़ ही भीड़। हर कोई पूछ रहा था, ‘वे कैसी हैं?’ हर मानस प्रार्थना कर रहा था कि वे इस भयावह संकट से बच जाएं। मेडिकल इंस्टीट्यूट के बाहर पत्रकारों,

कैमरामैनों की भारी भीड़ थी। बाहर पुलिस का जबरदस्त इंतजाम। ट्रैफिक पुलिस तत्पर थी कि भीड़ जमा न हो पाए किंतु, मुश्किल था किसी को रोक पाना।

अंदर से लौटते हुए श्री और श्रीमती सेठी दिख गए। मैं उधर को लपकी। लोगों ने उन्हें घेर लिया। एक के बाद एक प्रश्नों की बौछार—‘कैसी हैं इंदिराजी!’ ‘कितनी गोлияं लगीं?’ सेठीजी बेहाल। वे क्या बताएं? इतने में मेनका गांधी बदहवास आती दिखाई पड़ीं। जैसे-जैसे खबर पहुंचती गई, एक के बाद एक मंत्री आते गए। अंदर इंदिराजी को बचाने की पूरी कोशिश हो रही थी। किसी ने बताया कि तीन-चार घंटे आपरेशन चलेगा। इंस्टीट्यूट के वरिष्ठ डॉक्टरों ने उनका जीवन बचाने के लिए आपरेशन कर उनके शरीर से सोलह गोлияं निकालीं किंतु, सब कुछ विफल हो गया।

श्रीमती गांधी को मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था, ऐसा लगता है। उड़ीसा की एक जनसभा में उन्होंने बहुत भाव-विह्वल होकर कहा था, “अगर मैं देश की सेवा करते मर भी जाती हूं तो मुझे इस पर नाज होगा। मुझे विश्वास है कि मेरे खून का हर कतरा राष्ट्र के विकास में योगदान करेगा और उसे मजबूत और गतिशील बनाएगा।”

मैं तत्काल वापस लौटी आफिस की ओर। ‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’ का जो अंक प्रेस में जा रहा था, उसमें फेर-बदल करना था। दिमाग में चल रही थीं पिछले एक-दो दिन की घटनाएं। कैसे हुआ यह सब? क्या सब-कुछ सुनियोजित था? हत्यारों ने ऐसा दिन चुना था जब राष्ट्रपति जैलसिंह विदेश यात्रा पर थे। राजीव गांधी भी पश्चिम बंगाल गए हुए थे। एक दिन पहले ही इंदिराजी के पोते राहुल और पोती प्रियंका की सफेद रंग की अम्बेसडर कार को विलिंगडन क्रीसेंट और सरदार पटेल मार्ग के मोड़ पर एक मैटाडोर ने टक्कर मारी थी, जिससे राहुल और प्रियंका दोनों घायल हो गए थे। प्रधानमंत्री निवास पर तैनात सुरक्षा कर्मचारी मंगलवार की रात को ही बदल दिए गए थे। जिस सुरक्षा कर्मचारी को तीन-साढ़े तीन साल पहले सुरक्षा ड्यूटी से हटा दिया गया था, उसे पुनः ऐसे नाजुक स्थान पर क्यों लिया गया? ये सब बातें तो किसी सुनियोजित षड्यंत्र की ओर ही इशारा करती थीं।

खैर, आफिस पहुंची तो कारीडोर में ही हमारे विशेष संवाददाता टकरा गए। मैंने उन्हें देखते ही कहा, “अरे आप यहां? आपको तो इंस्टीट्यूट में होना चाहिए था।” उनका जवाब था, “मैं तो आपकी राह देख रहा था।” ऐसी थी ‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’ के स्टाफ की तत्परता। ऐसे मौकों पर जब उन्हें घटना-स्थल पर होना चाहिए—कैमरा टीम के साथ, वह संपादक का इंतजार कर रहे थे। स्टाफ की यही मनःस्थिति और काम करने का ढंग था, जिसे मैं भरसक कोशिश करके बदल रही थी और मुझे अभी तक आंशिक सफलता ही मिली थी।

मैं चाहती थी ‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’ का जो अंक प्रेस में है, उसका कवर अभी तक छपा नहीं है, केवल प्रोसेस में है, उसे बदलकर इंदिराजी का चित्र कवर पर लिया जाए। ऑफसेट डिपार्टमेंट के बिसनेजी इस बात पर राजी नहीं हुए। मैंने कहा, “यह तो

करना पड़ेगा। इस प्रकार 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' ही पहली पत्रिका होगी, जो बिलकुल सामयिक बनेगी। अंदर के भी एक-दो पृष्ठ बदलने पड़ेंगे।" बिसनेजी ने इक्कीक्यूटिव प्रेसीडेंट नरेश मोहनजी से बात की और मुझसे कहा कि बिना ऊपर से आर्डर आए, मैं तो नहीं कर सकता। मैंने इंदिराजी के चित्र की व्यवस्था कर ली थी। मैं नरेश मोहनजी के पास गई और उन्हें बताया कि ऐसी स्थिति है। वे पहले तो इस बात पर राजी ही नहीं हुए, एकदम मना कर दिया कि यह तो अब नहीं हो सकता। किंतु, मेरे बार-बार अपनी बात पर अड़े रहने के कारण उन्हें मानना ही पड़ा। मैंने उन्हें समझाया, जो कवर जा रहा था, उसका अभी केवल कलर सेपरेशन ही हुआ है, उसका अगले अंक में प्रयोग कर लेंगे। इस प्रकार न तो कागज का और न ही समय का दुरुपयोग होगा। बात नरेश मोहनजी की समझ में आ गई और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' पहली पत्रिका थी, जिसके मुखपृष्ठ पर इंदिराजी का चित्र था। यहां यह बताना जरूरी है कि साप्ताहिक तीन हफ्ते पहले की योजना से चलता था।

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' छप तो गया, पर दो दिन तक उसका वितरण ही नहीं किया गया। जब पता चला तो मुझे बहुत बुरा लगा कि इतनी सब झंझट करने का लाभ क्या मिला। सर्क्युलेशन डिपार्टमेंट का कहना था कि शहर में दंगों के कारण हॉकर बहुत कम आए हैं। मेरी समझ में किसी भी अखबार के दफ्तर के लिए यह बड़ी लज्जाजनक बात थी। मैंने फिर मैनेजमेंट का दरवाजा खटखटाया। मेरा तर्क था कि यदि हॉकर नहीं आ सके, तो गाड़ी भेजकर घर से तो दो-तीन हॉकरों को 'पिक' करवाया जा सकता था। मुझे लगा, मेरे उत्साह को अति-उत्साह माना जा रहा है। वह स्पिरिट ही किसी में दिखाई नहीं पड़ी कि एक साप्ताहिक पत्रिका, जिसने एक सामयिक घटना को इतनी तत्परता से कवर किया हो, सबसे पहले बाजार में आए। वैसे, मैनेजमेंट का यह सौतेला व्यवहार न केवल 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' बल्कि हिंदी के प्रति सदैव ही रहा है।

ठाकुर उन दिनों बंबई गए हुए थे। दिल्ली की खबरें सुनकर, रात के करीब आठ बजे तक जब मैं घर नहीं पहुंची, तब उनका बंबई से आफिस में फोन आया कि मैं बाहर न निकलूं, सुना है, शहर में दंगे हो रहे हैं। बात सही थी। चारों ओर भय का वातावरण था। पर मैं जिस पद पर थी, उसकी मांग थी कि मैं देखू, कहां क्या हो रहा है और उसको अपनी पत्रिका में स्थान दूं। मैंने उन्हें तो दिलासा दिया कि वे निश्चित रहें, पर स्वयं शहर का एक चक्कर लगाने का निश्चय किया। अकेले जाना ठीक नहीं समझा। हिंदी के प्रसिद्ध हास्य-कवि सुरेन्द्र शर्मा का फोन आया, "भाभी, शहर के दंगों के क्या हाल हैं?" शर्माजी हमारे घनिष्ठ पारिवारिक मित्रों में से हैं। कहना चाहिए परिवार के सदस्य ही हैं, ऐसे मित्र जिन पर विश्वास किया जा सकता है और निर्भर भी रहा जा सकता है। मैंने पूछा, "आप चलें तो शहर का एक चक्कर लगाकर देख आएं।" शायद, शर्माजी ने सोचा कि टी.पी. भाई यहां हैं नहीं और भाभी माननेवाली नहीं है, जाएंगी जरूर, इसलिए मेरी सुरक्षा उन्होंने अपनी जिम्मेदारी समझी और वे झट राजी हो गए। इस प्रकार उस भयावह सन्नाटे में

हम लोग शहर का आंखों-देखा हाल जानने के लिए निकल पड़े।

जो देखा, उसका वर्णन करते और लिखते आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आदमी को हिंसक पशु बनते उसी दिन देखा। पशु भी कैसा? पागल पशु। पूरी दिल्ली आग की लपटों में झुलस रही थी। दुकानें लूटी जा रही थीं। इक्के-दुक्के पुलिसवाले असहाय-से देख रहे थे। कोई अपने हाथ में ट्रांजिस्टर उठाए लिए जा रहा था, कोई टी.वी। पूरी सब्जी मंडी आग की लपटों में घिरी थी। सैकड़ों की तादाद में ट्रक जल रहे थे। अशोक विहार में दीप सिनेमा फुंका पड़ा था। जगह-जगह कोठियों में आग लगाई जा रही थी। नारायणा की तरफ तो फैक्टरियां की फैक्टरियां जला दी गईं। झुग्गी-झोपड़ी में रहनेवाले हजारों लोगों की भीड़ हाथों में जलती मशालें लिए घूम रही थी कि कोई सामने आए और उसे फूकें। हाथों में सरिये और लाठियां लेकर लोग निकले हुए थे। टैक्सियां और गाड़ियां रोक कर पेट्रोल निकाला जा रहा था, जिससे किसी दुकान या आदमी को फूका जा सके।

हमारे सामने ही भीड़ ने सामने जाते हुए हुए आदमी को पकड़ लिया—बदकिस्मती से वह सिख था। उसके ऊपर एक ने पेट्रोल छिड़का, दूसरे ने दियासलाई लगा दी। उसका पूरा जिस्म लपटों से घिरा हुआ था। खाली-खाली, डरी-सी आंखों से याचना करता हुआ वह कुछ दूर बचने के लिए दौड़ा और सड़क पर घुटनों के बल गिर पड़ा। हमारे देखते ही देखते वह सड़क पर आग का गोला बन बिखर गया। उसकी वह खाली आंखें, याचना करती हुई, पथराई आंखें बहुत दिनों तक मेरे दिमाग में चस्प्यां रहीं और वह दृश्य हवाओं में तैरता, परिंदों की तरह फड़फड़ाता बहुत दिनों तक मेरा पीछा करता रहा। मैंने सुरेन्द्र से कहा, “लौट चले। अब और नहीं देखा जाता।”

कहते हैं, इतिहास अपने को दुहराता है, पर क्या इतनी क्रूर होती है इतिहास की पुनरावृत्ति? पहली बार अपनी आंखों से देखा। बत्तीस साल पहले भी हिंसा के अंधकार ने इसी तरह बुझा दिया था सत्य, अहिंसा और प्रकाश के आकाश-दीप को। तब हमने अपना राष्ट्रपिता खो दिया था। अब यूनान के इतिहास की समस्त बहुश्रुत त्रासदियों के योग से भी कहीं बड़ी त्रासदी की घड़ी, एक और गांधी की शहादत। तब भी अपनों ही के हाथों से चली थीं गोलियां और अब भी अपनों ही के हाथों से चली गोलियों ने इंदिराजी का वक्ष छलनी कर दिया था।

मेरी आंखों के सामने घूम गया तीनमूर्ति भवन का वह समारोह, जब होली के बाद हर वर्ष की भांति, उस बार भी लोक-नृत्यों का कार्यक्रम आयोजित किया गया था। कला के प्रति हमारी रुचि थी ही। इसलिए उस बार भी हम लोगों के पास संदेशा आया कि हम कार्यक्रम आयोजित करा दें। कुछ भोजपुरी गानों और नृत्यों का कार्यक्रम रखा गया। हरिवंशरायजी बच्चन की पत्नी तेजी बच्चन सारे इंतजाम की देखभाल कर रही थीं। नेहरू परिवार के साथ बच्चनजी के परिवार का इलाहाबाद से ही घनिष्ठ संबंध था। पीछे के लॉन में बैठने का इंतजाम था। नियत समय पर इंदिराजी आईं। नृत्य और संगीत को सराहा, फिर कलाकारों से बात की और खाने की, चाय की मेज की ओर बढ़ गईं। तभी उनको

दृष्टि एक छोटे बच्चे पर पड़ी, जो हाथ में आम लिए चूस रहा था और ऐसा करने में आम का रस उसके कपड़ों पर भी टपक रहा था। इंदिराजी ने हाथ बढ़ाकर मेज से एक आम उठाया और बोलीं, “मैं बताती हूँ कि आम कैसे चूसा जाता है, यों...” और उन्होंने इस तरह आम चूसा कि अंगुलियों की पोर भी गीली नहीं हुई। लोगों ने तालियां बजाई या शायद, कुछ कहा, क्या कहा अब याद नहीं, पर उनका उत्तर याद है। वे बोलीं, “ये तो मेरे बचपन के संस्कार हैं। एक कतरा भी बरबाद करनेवालों से मेरे दादा को सख्त चिढ़ होती थी। उनके रहते मैं जरा भी लापरवाही नहीं बरत सकती थी। वही ट्रेनिंग आज काम आ रही है।”

और एक दूसरी घटना। अशोका होटल के कन्वेंशन हाल में किसी विवाह के उपलक्ष में स्वागत-समारोह का आयोजन था। शहनाई की मधुर तान, फलों के रसों के गिलासों की खनखनाहट। मेहमानों की उन्मुक्त बातचीत और कहकहे। देश के माने हुए राजनीतिज्ञ, मंत्री, साहित्यकार, पत्रकार, सरकारी अधिकारी और परियों-सी सजी-धजी महिलाओं की साड़ियों की सरसराहट। अचानक क्लिक-क्लक यानी कैमरों की फ्लैशलाइटें दनादन चमक उठीं। सभी आवाजें मद्धम पड़ गईं और फुसफुसाहट हुई कि इंदिराजी आ गईं।

मेरे साथ प्रसिद्ध साहित्यकार बलवंत गार्गी की विदेशी पत्नी जीनी थीं। भीड़ के साथ, मैं और जीनी भी उस जगह खिंची-सी चली गईं। मैंने देखा उन्हें। अनेक महिलाओं और पुरुषों से घिरी खड़ी थीं वे। उनके चेहरे पर थी गरिमा और गौरव की दीप्ति। उनके व्यक्तित्व से मौन मुस्कराहट की किरणें बिखर रही थीं। अनायास ही लोगों के हाथ नमस्कार की मुद्रा में उठ जाते। हम लोग एकटक उन्हें देख रहे थे। दूसरे पल पता नहीं कैसे हम उनके पास पहुंच गए। नमस्कार की मुद्रा में जीनी के हाथ उठे हुए थे और वह इंदिराजी से कह रही थी, “मैं...मैं कोई विशेष व्यक्ति नहीं हूँ...” आगे वह अपना और परिचय देती कि इंदिराजी ने सहज भाव से कहा, हर शब्द में स्नेह की ऊष्मा, “लेकिन, तुम कितनी सुंदर हो!” और फिर वह आगे बढ़ गईं।

कितनी बार उनसे मिली, कितनी बार उन्हें देखा। उनकी अपनी कोठी पर जनता से मिलते, खुले मैदान में छोटी-छोटी टोलियों से, आम जनता से, विशिष्ट व्यक्तियों से, कलाकारों से, उनके अपने आफिस में, हर बार एक नया रूप। पंजाब समस्या पर उनकी चिंता को मैंने बहुत करीब से जाना, उनसे भेंट-वार्ता करने उनके आफिस पहुंची थी। बातचीत से लगा कि पंजाब को लेकर उनकी चिंता प्रधानमंत्री की चिंता नहीं, बल्कि एक मां, एक बहन, एक बेटी की चिंता थी। बातचीत के सारे दौर में वह गहरी संवेदना और भावनाओं के साथ चिंतित थीं। वह बोलीं, “मिलना-जुलना या बातचीत क्या हमेशा किसी मतलब से होती है? इंसानी रिश्ते से भी आदमी एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं, मिल बैठते हैं। पर होता यह है कि मैं भेंट करने को तैयार हो जाती हूँ और अकाली कतरा जाते हैं।...किसी बार एक कारण बताकर, किसी बार कोई और कारण बताकर।” मैंने कहा, “अगर वे तैयार नहीं होते, तो यह बात जनता के सामने लाई जानी चाहिए।” और उन्होंने

मेरी आंखों में देखते हुए कहा, “यह काम तो आप लोगों का है, संचार साधनों का है।”

मैंने उन्हें बताया कि पिछले दिनों जब मैं बंबई गई थी, तो मैंने देखा कि लोग सिख ड्राइवरवाली टैक्सियों में बैठने से कतराते हैं, जबकि कुछ दिन पहले स्थिति यह थी कि यदि टैक्सी का ड्राइवर सिख होता था, तो लोगों को राहत मिलती थी कि सरदारजी की टैक्सी में उनकी बहन-बेटियां सुरक्षित अपने गंतव्य पर पहुंचेंगी। उनकी प्रतिक्रिया थी, “तभी तो कहती हूं कि इस बात की सख्त जरूरत है कि पंजाब में और पंजाब से बाहर हमारे जो सिख भाई हिंसा के विरुद्ध हैं, संगठित होकर उग्रवादियों पर जोर डालें। हरियाणा और पंजाब के ‘पीस-मार्च’ का अच्छा असर पड़ा है। लेखक, बुद्धिजीवी, फिल्म अभिनेता, कलाकार और सब, जिन्हें देखने-सुनने को आम जनता उत्सुक रहती है, यदि पंजाब और हरियाणा में जाकर ‘पीस-मार्च’ में शामिल हों, तो सही वातावरण बनाने में मदद मिलेगी।”

अजीब उलझन उनके चेहरे पर थी। वे बोलीं, “पिछले दिनों जब अकालियों की अधिकतर मांगें मान लीं तो वे इसी बात पर एतराज करने लगे कि मांगों को स्वीकार किए जाने की घोषणा गुरुद्वारे से क्यों की।” उन्होंने आगे कहा, “मेरा कोई इरादा तो था नहीं, पर गुरुद्वारे में जाना हुआ और वहां किसी ने पूछ लिया, तो मैंने कह दिया।”

मैंने इंदिराजी से कहा, “आप तो हर स्थिति की गंभीरता को समझकर, निर्णय लेने में कभी देर नहीं लगातीं। इस बार ऐसा क्यों?” लगभग एक घंटे की इस बातचीत में मैंने पंजाब की समस्या को लेकर उनकी चिंता और तुरंत उसे निपटाने के लिए उनकी हार्दिक इच्छा को महसूस किया।

श्रीमती गांधी की निर्मम हत्या से उनके विरोधी भी हतप्रभ थे। यह बात दूसरी थी कि इंदिराजी ने सत्ता में बने रहने के लिए संविधान और सत्ता का मनमाना उपयोग किया था, लेकिन शायद यह उस समय उनकी मजबूरी थी। एक सशक्त केंद्रीय सत्ता का होना देशहित के लिए कितना जरूरी है, यह आज हम बखूबी अनुभव कर रहे हैं। श्रीमती गांधी को निर्मम तानाशाह, संविधान की, न्यायपालिका की परंपराओं को अपने हित के लिए तोड़ने-मरोड़नेवाली हस्ती के रूप में याद किया जाता है, लेकिन आज की परिस्थितियों में ऐसा लगता है कि कभी-कभी स्थिरता और व्यापक देशहित के लिए विशेष कदम उठाने भी जरूरी होते हैं। लोकतंत्र की आड़ में जब विघटनकारी शक्तियां सिर उठा लेती हैं और क्षेत्रीयता के नाम पर केंद्र को कमजोर करने की कोशिशें होती हैं, तो अंततः देश में अराजकता और अस्थिरता का माहौल बनने लगता है। इन स्थितियों में जनता का विश्वास सरकार पर से उठ जाता है। श्रीमती गांधी ने कम से कम सरकार का, सत्ता का वर्चस्व तो बनाए रखा।

जिस समय इंदिराजी की हत्या हुई, राजीव गांधी पश्चिम बंगाल गए हुए थे, राष्ट्रपति जैलसिंह

भी विदेश में थे। इधर दिल्ली जल रही थी और उधर केंद्रीय मंत्रिमंडल की और कांग्रेस के पदाधिकारियों की औपचारिक तथा अनौपचारिक बैठकें हो रही थीं। अफवाहों का बाजार गर्म था। कश्मीरी लॉबी सशक्त पड़ती गई। राष्ट्रपति जैलसिंह के तुरंत स्वदेश लौटते ही राष्ट्रपति भवन में राजीव गांधी को प्रधानमंत्री पद की शपथ दिला दी गई। पार्लियामेंटरी पार्टी की मीटिंग की जरूरत भी नहीं समझी गई। वह तो बाद में की गई।

राजीव गांधी युवा थे। लोगों की उनसे सहानुभूति थी। उनके बारे में कहा जाता था कि उन्हें पेशेवर राजनीतिज्ञों और उनकी सत्ता-लोलुप राजनीति से घृणा है। उनकी पत्नी सोनिया गांधी भी उनके राजनीति में प्रवेश के खिलाफ थीं। आम जनता दल-बदलू राजनेताओं से ऊब ही नहीं चुकी थी, बल्कि, उनके प्रति हिकारत का भाव भी रखने लगी थी। राजनीति का जो दौर चल रहा था, उसमें राजीव गांधी कुछ कर पाएंगे, इसमें संदेह था। फिर भी ताजी हवा का झोंका शायद, आशा की किरण बन जाए—इस आधार को लेकर जनमानस में उत्साह का संचार होने लगा।

सत्ता में आने के बाद राजीव गांधी ने कुछ साहसिक निर्णय लिए। पंजाब में आतंकवाद जड़ जमा चुका था। श्रीमती गांधी के बाद सिखों के साथ जो कुछ हुआ, उससे एक घिनौने दुष्क्र ने जन्म लिया और हत्याओं का सिलसिला शुरू हो गया। राजीव गांधी ने पंजाब समस्या हल करने के लिए ईमानदारी से काम करना शुरू किया। संत हरचरण सिंह लोंगोवाल के साथ उन्होंने एक समझौता किया। समझौते से ऐसा लगने लगा कि शायद, पंजाब में हालात सुधर जाएंगे, पर संत हरचरण सिंह लोंगोवाल की भी हत्या कर दी गई।

राजीव गांधी ने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी अपनी छाप छोड़ी। वे सोवियत प्रेसीडेंट गोर्बाचोव से मिले। पाकिस्तान भी गए। तीस वर्षों में किसी भारतीय प्रधानमंत्री की यह पहली पाकिस्तान-यात्रा थी। टेली-कम्यूनिकेशन और कम्प्यूटर-क्रांति आनेवाले युग के लिए कितनी महत्वपूर्ण है, इसे राजीव गांधी ने ही समझा और भारत में उसका सूत्रपात किया। वह मन से चाहते थे कि देश में खुशहाली बढ़े। पंचायतों को सबल बनाकर वे भारत के गांवों में रामराज्य की कल्पना साकार करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने वहां के हालात जानने के लिए आदिवासी क्षेत्रों और गांवों की यात्रा की। वे जानना चाहते थे कि सरकारी योजनाओं का कितना हिस्सा वास्तव में उनके पल्ले पड़ता है। इस क्रम में मुझे राजीवजी को पास से देखने, उनसे बातें करने का अवसर मिला और मैंने भारत की जनता के प्रति उनके दर्द को स्वयं महसूस किया।

राजस्थान की धरती से जान-पहचान हुई थी, ठाकुर के माध्यम से। निकट परिचय तब हुआ, जब राजीव गांधी की राजस्थान-यात्रा में मुझे भी उनके साथ जाने का अवसर मिला। कहीं ऊबड़-खाबड़ धरती और कहीं रेत के गुबार, कहीं कीचड़-सने रास्ते और कहीं

चट्टानी पथरीली बंजर जमीन का बेतरतीब सिलसिला। राजस्थान के दूर-सुदूर अंचलों में वन-फूलों की गंध-जैसे छोटे-छोटे गांव, उनकी आत्मा को छूने और लोगों का दुख-दर्द जानने का मौका मुझे राजीवजी के साथ यात्रा करने पर मिला।

8 अगस्त, 1985 को दो बजकर पांच मिनट पर राजीवजी का जहाज उदयपुर उतरा। उनके साथ थीं सोनिया गांधी। अन्य लोगों के अलावा उनके साथ पत्रकारों में थे पी.टी.आई. के संवाददाता श्री राव और मैं। उदयपुर से कुछ मिनटों के बाद ही वे खेरवाड़ा की ओर चल पड़े और फिर वहां से राबिया गांव की ओर।

राबिया नौ सौ लोगों की आबादी। बारिश से भीगी धरती और उत्साह की पुलक से भरी हवा। ढेर-ढेर मालाएं, जो उन्होंने मृदु मुस्कान और सौहार्द से झुककर गले में डलवाई। वृद्धों के कांपते हाथों को स्नेहपूर्वक अपनी दोनों हथेलियों में थामा। स्त्रियों के झुड़ों ने दो अंगुलियों से कसे रंग-विरंगे घूंघटों की ओट से राजीवजी को निहारा। लोगों ने गुहारें कीं, अपनी बोली बांगड़ी में वे अपना दुख-दर्द, अपनी पीड़ाएं और इच्छाएं उन्हें बता रहे थे।

राजीवजी कई गांवों में गए। सुंदरा, माला आदि। समस्याएं ही समस्याएं। रोटी-रोजगार की समस्या, पानी की समस्या, शिक्षा की समस्या, स्वास्थ्य-सुविधाओं की समस्या। कहीं, जहां स्कूल हैं, वहां कॉलेज की समस्या।

और फिर पहुंच गए खेरवाड़ा से दस किलोमीटर दूर छाड़ी गांव में।

छाड़ी के बाद रास्ता ऊबड़-खाबड़—कहीं-कहीं हरियाली भी, पहाड़ी भी...यहां-वहां किनारों को काटता पानी...कहीं तेज बहाव...कहीं गड़दे।

छाड़ी गांव से बढ़ते हुए राजीवजी ने सहसा दूसरा रास्ता चुन लिया। ऊबड़-खाबड़ और संकरी मेंड़ों से घिरा रास्ता—पत्थरों का लंबा सिलसिला। पानी की हल्की बूंदें पड़ रही हैं। यह धनौला गांव है। जहां तक जीप चल सकी, चली और फिर रुक गई। सामने ही एक बड़ा गड्ढा है। उसे पत्थर से ढकने की कोशिश की जाए, उसके पहले ही राजीवजी और सोनियाजी उतरकर तेजी से पैदल ही ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर चल पड़े। कितना तेज चलते हैं ये लोग! चौकन्नी निगाहों से, उस धरती, समाज, आर्थिक स्थिति और समस्याओं का लेखा-जोखा लेते हुए वे इतनी तेजी से जा रहे थे कि कई साथी पीछे छूट गए। एक-दो तो गिर भी पड़े। पत्थरों पर फिसलन काफी है। जहां-तहां कीचड़ भी।

मेरी चप्पल टूट गई। राह में इतना भटकाव आया कि मैं काफी पीछे छूट गई। उस फिसलन में चलना मुश्किल था। वह तो एक आदिवासी लड़के ने आगे बढ़कर हाथ थाम लिया, नहीं तो गिर ही पड़ती। काफिला आगे निकल चुका था। सोच ही रही थी कि क्या करूं, इतने में धनौला गांव के कुछ युवक मिले। उन्होंने मुझे आश्रम में देखा था। बताने लगे कि प्रधानमंत्री गए इस राह से ही हैं, पर लौटेंगे दूसरी राह, उधर गांव की तरफ से। इस राह से उन तक पहुंचना मुश्किल है। मैं तो घबरा गई। क्या करूं? कहीं पीछे छूट गई तो पास में पैसे भी नहीं हैं। कैसे पहुंचूंगी दिल्ली? तय किया कि लौटनेवाली

राह की ओर ही बढ़ चलें पत्थर, कीचड़, फिसलन-भरी डगर की परवाह न करते हुए। नंगे पैर चलना कठिन था, पर आदिवासी भाइयों के स्नेह ने बांध लिया। मेरी टूटी चप्पल की जगह उसने अपनी रबड़ की स्लीपर दे दीं। मेरे न-नुच करने पर बोला, “आप तो साहब हमारे मेहमान हैं। हमारी बातें पहुंचाएंगे सरकार तक।” और फिर कहीं से एक खटिया लाकर दी। मुझसे बोले, “आप बैठिए! वह लोग नहीं मिले तो हमलोग अगले पड़ाव तक आपको मोटरसाइकिल से पहुंचा देंगे।” बहुत बातें हुईं। वे बातें, जो वे प्रधानमंत्री के सामने कहने का साहस नहीं जुटा पा रहे थे क्योंकि, सामने गांव का मुखिया बड़ी-बड़ी आंखों से घूरता जो खड़ा रहता था।

उनकी समस्याएं थीं—अच्छी जमीन पटेल हथिया लेते हैं, मारपीट कर जमीन छीन लेते हैं। देश के आजाद होने के बाद से उनके लिए कोई सुविधा नहीं हुई। बेरोजगारों को आज तक कोई रोजगार नहीं मिला। गरीबी इतनी कि खाने-पीने के लिए एक किलो अनाज भी नहीं है। शाम को खाते हैं, तो सुबह के लिए नहीं बचता। दिल्ली से सरकार आनेवाली है, उन्हें बताने के लिए आठ-दस दिन पहले कंट्रोल का अनाज चालू कर दिया है। सरकार वापस चली जाएगी, फिर बाजार में अनाज बेचेंगे, आदि-आदि। मन उनकी वेदना और सरलता से द्रवित हो गया।

युवकों का कहना सही निकला। तीव्र गति से लौटती जीपें दूसरी राह से लौटीं। एस्कॉर्ट कार और मेरे बीच फासला काफी था, पर आश्चर्यजनक थी उन आदिवासी ग्रामीणों की संदेश-प्रेषण विधि। पल-भर में एक लड़का बहुत ऊंचे टीले पर चढ़कर पुकारने लगा—“आपके साथवाले एक यहां हैं।” और सच ही कुछ देर में जीप आ पहुंची। मणिशंकर अय्यर जीप में थे। कई भाषाओं के जानकार, चुस्त और हर बारीकी पर नजर रखनेवाले। हम पुनः काफिले से जा जुड़े।

सारा कार्यक्रम पूर्व-नियोजित, पर राजीवजी, अचानक किसी अनियोजित गांव की ओर बढ़ लेते। उनकी इस इच्छा से, कार्यक्रमों में फेर-बदल से, अधिकारियों के चेहरे पर सकपकाहट देखते बनती। मैंने राजीवजी की आंखों में पढ़ा, वह सच को छू लेने की चेष्टा-भरी दौड़ थी, ऐसी दौड़, जो किसी चिकित्सक की आंखों में होती है, रोग की जड़ को खोज निकालनेवाली तेज नजर।

पूरे राजस्थान में हर जगह स्त्री-पुरुषों के समूह उस विशाल बगीचे की तरह लग रहे थे, जिसमें जगह-जगह रंग-बिरंगे कुदरती गुलदस्ते सजे हों। रास्ते में बहुरंगी फूलों की अनेक झाड़ियों से कई-कई टीले और पगडंडियां या खेतों की मेंड़ें इस तरह भरी हुई थीं, जैसे किसी ने गुलाब, चमेली और मोगरे का सिलसिला लगा दिया हो। रास्ते के दोनों ओर केक्टस का सिलसिला, जैसे कुदरत ने हाथ से हाथ जोड़कर रास्ते को भीड़ से सुरक्षित कर दिया हो।

सबसे विचित्र बात यह देखी कि भारी भीड़ के बावजूद परस्पर धक्का-मुक्की नहीं। स्वाभाविक अनुशासन था। हर ओर पेड़-पौधे नहीं, ऐसे लग रहे थे जैसे इनसान उग आए

हों, झूमते-लहराते, खिलखिलाती कलियों की तरह मुसकराते इनसान!

दानेपुर हेलीपैड से यात्रा ने फिर एक नया मोड़ लिया, माउंट आबू की तरफ। माउंट आबू की यह मेरी दूसरी यात्रा थी। जहां हमें ठहराया गया था, वहां कमरे में रात को इतनी ओस आई कि हर क्षण जैसे महसूस होता रहा ठंड से शरीर अकड़ जाएगा। खिड़की-रोशनदान बंद होने के बावजूद पूरा कमरा गीला हो गया था। मेरे पैरों में इतना दर्द बढ़ा कि मैं सहन नहीं कर पाई। पिछले दिनों की थकावट भी थी। एक-एक दिन में पांच-छह बार हेलीकोप्टर से उतरना और चढ़ना—मेरे जैसे दोहरी काठीवाले शरीर के लिए यह थका देनेवाली प्रक्रिया थी। हेलीकोप्टर से उतरते ही रेत के उस अंवार में, जहां चलना मुश्किल था और, पैर धंसते थे, किसी प्रकार निकलकर, लगभग दौड़ते हुए, जीप में जाकर बैठ जाती। हर जगह मैं राजीव और सोनियाजी के बिलकुल करीब होती क्योंकि, कई बार कुछ शब्द, वाक्य, जो वहां की भाषा में बोले जाते थे, वे समझ नहीं पाते थे, तब मैं उन्हें बताती कि वे क्या कह रहे हैं। ऐसी स्थितियों में, बातचीत के बाद, जैसे ही चलने से पहले वे अपना भाषण शुरू करते, मैं दौड़ जाती जीप की ओर ताकि, पीछे छूटने का प्रकरण फिर से न दुहरा जाए—इसके लिए मैं पूर्ण रूप से प्रयत्नशील थी।

यह मेरा सौभाग्य ही था कि माउंट आबू में हमारे आने से पहले कोई स्पोर्ट्स टीम यहां ठहरी थी। रात में जब दर्द असहनीय हो गया, तब मैंने वहां के मैनेजर से पूछा कि कोई आइंटमेंट मिल सकता है क्या? वह सज्जन हिंदी-प्रेमी थे। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के माध्यम से मुझे जानते थे। झट एक ट्यूब ले आए। बोले, "पिछले दिनों जो स्पोर्ट्स टीम आई थी, वह छोड़ गई है।"

मैंने कमरे में आकर पैरों में खूब आइंटमेंट रगड़ा और कंबल लपेटकर सो गई। सुबह चार बजे उठना था। बहुत अच्छी नींद आई। छह बजे वहां पहुंचना था, जहां राजीवजी ठहरे थे। पहले की तरह तरो-जाजा, लंबी यात्रा की थकान का चिह्न लेशमात्र भी नहीं था।

सोनियाजी बैठक और भोज के बीच लाल बार्डरवाली राजस्थानी छापे की साड़ी पहने बहुत सुंदर लग रही थीं। कानों में छोटी-छोटी बालियां, उनके ऊपर सोने की लौंग। उनके गौर वर्ण पर गले में पड़ी गणेश की आकृति का लाकेट बहुत ही फब रहा था। उस दिन सोनियाजी का उपवास था। उन्होंने बताया कि सप्ताह में एक दिन उपवास करती हैं। किंतु, दिन-भर की थकान के बावजूद उनके चेहरे पर ताज़गी थी।

माउंट आबू में अगली सुबह भी बहुत खुशगवार थी। वही नम हवा, वही हरियाली का उत्साह से भरा मौसम। हल्की बूँदा-बांदी हो रही थी। आसमान से हल्की धुंध बरस रही थी। सुबह सात बजे ही दिलवाड़ा के प्रसिद्ध मंदिर देखने निकल पड़े। धुंध के बावजूद दर्शनार्थियों की भीड़ थी। टूरिस्ट स्पॉट होने के बावजूद कोई सुविधा नहीं, न स्कूल, न अस्पताल, न बसस्टैंड और न युवकों को रोजगार के लिए वहां दुकानें ही दी जाती हैं, आदि-आदि।

“वाकी कहां हैं,” पूछने पर सकपकाहट और हकलाहट से जवाब मिलता है,

“हुजूर-सा, कुछ खेती से लगे हैं, कुछ घर पर बैठ गए हैं।”

लोगों में घबराहट फैल गई है। प्रधानमंत्री को अनायास ही दुख पहुंचा। उनका चेहरा तमतमा गया।

अंततः कुछ आदिवासी बुलाए गए। उनके लिए भी थालियां लगीं। भोजन में स्थानीय पकवान थे। बाजरे के मोटे रोट, ग्वार की फली की सब्जी, रावड़ी, कैंर और सांगर की भाजी, गट्टे की सब्जी और चावल। भोजन शुरू होने से पहले सोनियाजी एक ओर खड़ी थीं। मैं भी उनके पास ही खड़ी थी। कहने लगीं मुझसे, “हर कहीं भीड़ में घुल-मिल जाते हैं, खाने-पीने में कोई बंधन नहीं रखते। अब यहां भी—‘सपोज़ समबडी गिक्स हिम पायजन।’” वाणी में साधारण गृहिणी और पत्नी की तरह पति के हित की चिंता है। मैं क्या कहती! उनकी चिंता स्वाभाविक थी और राजीवजी की सहजता और स्वाभाविकता भी, जो उन्हें विरासत में मिली थी, अपने नाना जवाहरलाल नेहरू से, जो इसी प्रकार प्रोटोकॉल, सिव्योरिटी के सब बंधन तोड़कर सहज ही भीड़ में घुस जाते थे।

मरुड़ी हेलीपैड से पहुंचे देवीकोट। कैंर के पेड़ ही पेड़। फासिल्स पार्क है आकुल गांव के पास। फासिल्स वुड पार्क में अठारह करोड़ वर्ष पूर्व जो पेड़ थे, वे पथरों में बदल चुके हैं—ऐसा बताया गया। लगभग इक्कीस हेक्टेयर क्षेत्र में फैले इस पार्क में अवशेष ही मिले हैं। इनमें से बारह अभी सुरक्षित हैं। एक अवशेष पर जाली नहीं है। साफ दीख रहा है, एक जाली खोलकर रखी गई है, देखने की सुविधा के लिए।

लोग नारे लगा रहे हैं—नहरें लाएं, पानी लाएं। एक बुढ़िया अनायास ही सामने पहुंच गई है, हिचकियां भर-भर रो रही है—बुढ़ापे की पेंशन नहीं मिली। तीन-चार महीने से बंद हो गई है। पेंशन जैसलमेर जाकर मिलती है। आदेश हुआ, ऐसी व्यवस्था कराएं कि पेंशन पोस्टऑफिस से मिल जाए। पास ही खड़ी हूं मैं। बोले, “जो सबसे ज्यादा मेहनत करता है, वही सबसे ज्यादा गरीब है।”

जैसलमेर आते-आते धरती का रंग बदलता जाता है। तेज धूप, रेत ही रेत। टीले से ऊंट पर चढ़कर सूर्यास्त का अपूर्व दृश्य देखा—लालिमा से भरा हुआ आकाश। अगले दिन शनिवार, दस अगस्त, जैसलमेर से कबीर बस्ती पहुंच गए और वहां से रामगढ़। घूमते-घूमते पहुंच गई हूं मैं एक विकलांग की दुकान पर। स्कूल में नौकरी चाहता है, पर मिलती नहीं। दस हजार तक घूस मांगते हैं, अफसर लोग। लगता है, उसकी नियति में परचून की दुकान ही लिखी है। संतोष पाने की कोशिश करता है, पर एक गहरा असंतोष उसके मन को मथ रहा है।

और अब चले लोंगोवाल की ओर। लोंगोवाल—‘पाकिस्तानी टैंकों का कब्रिस्तान’। दूर-दृष्टि के पार तक फैले टूटे-फूटे टैंकों, जीपों और ट्रकों के जखीरे पड़े हैं। ये सब भारतीय सैनिकों की दिलेरी, जांबाजी और देशभक्ति की मशालों—जैसी मुंहबोली कहानियां कह रहे हैं। अब भी लोंगोवाल की धरती पर शौर्य की गाथा लिखी है। अनायास ही मन में कौंध जाते हैं उन क्षणों के रोमांचक अनुभव, जब भारतीय सेना ने युद्ध के दौरान पाकिस्तान

के बड़े और मजबूत अमेरिकी पेटन टैंकों की धज्जियां बिखेर डाली थीं।

और आगे बढ़ते हैं। प्रधानमंत्री को बार्डर दिखाया जा रहा है। सीमांत के एक विशेष स्थान से आगे हम नहीं जा सकते, केवल प्रधानमंत्री जा सकते हैं। सोनियाजी भी नहीं। सुरक्षा का मामला जो है। हम रुक गए हैं, कुछ देर 'हां-न' की बहस चलती है। अफसर अपनी मजबूरी बताते हैं, फिर मान जाते हैं। सोनियाजी भी प्रधानमंत्री के साथ आगे बढ़ जाती हैं—बार्डर की सिम्योरिटी का निरीक्षण करने।

पास ही योगमाया देवी का मंदिर है। ईश्वर पर विश्वास न करनेवाले लोगों के लिए एक मिसाल। सेना के अफसरों ने बताया, “युद्ध के दौरान इस मंदिर के आसपास हजारों गोलों की बौछार हुई, किंतु, उनमें से एक का भी विस्फोट नहीं हुआ। मंदिर वैसे का वैसा ही खड़ा रहा। योगमाया मंदिर—जैसे ही देवी-मंदिर आपको हर छावनी में मिलेंगे, जहां भीषण बम-वर्षा भी उन्हें ध्वस्त नहीं कर सकी।”

तनोट के क्षेत्र में देवी का मंदिर देखा। बताया गया, देवी की मूर्ति के पास आकर बम का गोला फूटा, पर कोई क्षति नहीं हुई।

इतनी लंबी यात्रा के बाद हम नयना पहुंच गए हैं। रंग-विरंगे परिधान में, राजीव गांधी और सोनिया गांधी की एक झलक पाने के लिए आतुर लोग। इंदिरा गांधी नहर योजना का परीक्षण हो रहा है। विस्तृत भूखंड पर छतरियां लगी हैं, धूप से बचाव के लिए। कंठ सूखा जा रहा है। पता नहीं कितने गिलास नींबू-पानी पी लिए हैं, पर प्यास नहीं बुझी है। ‘नहर लाओ, पानी लाओ’ का शोर हो रहा है। लोगों को संदेह है। सुना है, नहर यहां से जा रही है। राजीव गांधी आश्वासन देते हैं, ‘कहां जा रही है? काम जारी है और तेजी से किया जाएगा।’ उधर महिलाओं ने सोनियाजी को घेर लिया है। गरीबी और तंगदस्ती का वास्ता दिया जा रहा है—‘यह देखिए, हमारे पास पहनने को साबुत जूती तक नहीं है।’ सोनियाजी उनके पैरों में पड़े गिलट के कड़े और गले में पड़ी हंसुली और बड़े-बड़े पत्थरों की माला को छूकर कहती हैं, ‘कहां है गरीबी? यह सब...’ शायद उन्हें भ्रम हुआ है कि यह चांदी के गहने हैं। मैं उन्हें बताती हूं, ‘यह चांदी के नहीं हैं।’

सोनियाजी का हृदय द्रवित हो जाता है। लोगों की बेकारी और जर्जरता देखकर उनके मन में सब दुख-दर्द समेट लेने की इच्छा जग जाती है। आंखों में तरलता लिए वह बोलीं, ‘हम साहब को...उन्हें बताते हैं। पूरी कोशिश करेंगे।’ उनकी टूटी-अटकती हिंदी सुनकर सबकी आंखों में चमक आ जाती है।

राजस्थान के इन आदिवासी ग्रामीण क्षेत्रों की ढाई दिन की यात्रा के दौरान मैंने पाया कि कमोबेश, हर आदमी की कहानी एक-जैसी है। सब जगह बेरोजगारी का विकराल रूप। चिकित्सालय हैं, पर दवाइयां उपलब्ध नहीं हैं। यातायात की समस्या विकट है। महिलाओं की स्थिति और भी नाजुक है।

और इस सबके बावजूद राजस्थानी तेवर की झलक कहीं-कहीं, बाद में भी हम लोगों को

मिली। राजस्थान क्लब के प्रेसीडेंट थे उस वर्ष ठाकुर। वैसे तो राजस्थान क्लब की हर गतिविधि इनके कारण ही परवान चढ़ी थी और फिल्मी कलाकारों के आने से उसकी लोकप्रियता भी बढ़ी थी किंतु, जब सरकारी नौकरी से अवकाश लेने के बाद प्रेसीडेंट बने, तब सोचा, क्यों न राजस्थान की धरती पर जाकर काम किया जाए! इस दृष्टि से उस वर्ष सर्दियों में राजस्थान के अंदरूनी भागों में रजाइयां बांटने का कार्यक्रम बना। किसी एक्सपोर्ट हाउस से डेमेज्ड कपड़ा मिल गया। बड़ी सुंदर रजाइयां बन गई, ऐसी कि देखकर अच्छे-अच्छों का जी ललचा उठे। दिल्ली से ट्रक में भरकर रजाइयां ले जाई गईं झुंझुनूं और वहां से जीपों में लेकर हम लोग चल पड़े अंदरूनी गांवों की ओर। एक-एक रजाई के लिए लोगों को दूर तक जीप के पीछे भागते देखा। एक गांव में लोगों ने बताया कि अमुक घर में बहुत गरीबी है। पता चला, उस घर में दो स्त्रियां हैं और उनके बीच में केवल एक फटी-पुरानी धोती। एक स्त्री जब बाहर पानी भरने जाती है, तब दूसरी घर में ही रह जाती है। बिना वस्त्र बाहर कैसे आए? बड़ी-बड़ी रोबीली मूंछोंवाले एक वृद्ध ही उनका सहारा हैं। हम उन्हें रजाई देने लगे तो, उन्होंने रजाई लेने से इनकार कर दिया। बोले, “हम भीख नहीं लेते हैं, दान भी नहीं।”

राम तेरी गंगा मैली

● अंतरंग राजकपूर ● राजनीति की शतरंज

परिचय, पहचान और अंतरंगता—तीन सोपान हैं किसी व्यक्ति के साथ जुड़ने के। फिल्म अभिनेता राजकपूर से हमारा परिचय कब एक-एक सीढ़ी छलांग लगाकर अंतरंगता में बदल गया, अब याद नहीं। इसकी पहली सीढ़ी हमने उनके बेटे ऋषि कपूर की शादी के अवसर पर लांघी थी। बंबई से बार-बार राज भाई का फोन आया “टी.पी. भाई, शादी पर आना ही है।” इतने करीब से तभी हमने उन्हें जाना था। कौन नहीं था उस शादी में! फिल्मी दुनिया के लोगों को तो होना ही था, राज-तंत्र और शासन-तंत्र का भी पूरा प्रतिनिधित्व था। राज भाई और उनकी पत्नी कृष्णा भाभी एक-एक व्यक्ति से व्यक्तिगत रूप से मिल रहे थे और कृष्णा भाभी की मेहमाननवाजी का तो जवाब ही नहीं था। मुझसे पूछने लगीं, “आपने कुछ लिया?” मैं बोली, “आप परेशान नहीं होइए, मैं अभी ले लूंगी।” कहने लगीं, “अभी मैं आपके लिए जूस भिजवाती हूँ।” आधे घंटे बाद उस बड़ी भीड़ में, कोई सोच भी नहीं सकता था कि वे स्वयं जूस का गिलास लेकर मेरे पास पहुंचेंगी—परिचितों, मित्रों और रिश्तेदारों के उस हुजूम को चीरते हुए। ऐसी छोटी-छोटी कितनी ही बातों, कितनी ही मुलाकातों ने हमें उनके बहुत करीब ला दिया।

हमारे यहां अक्सर साहित्यकारों, संगीतज्ञों की गोष्ठियां होती रहती थीं। बाहर से भी कभी कोई संगीतकार आता, तो पता नहीं, कैसे हम उसके संपर्क में आ जाते, परिचय हो जाता और हमारे परिचित कलाकारों के दायरे में वे शामिल हो जाते। डागर बंधुओं से हमारा अच्छा परिचय था। एक बार पं. सियाराम तिवारी दिल्ली आए। घर पर ही गोष्ठी का आयोजन था। हमने सोचा, ध्रुपद का क्लासिकल संगीत लोगों को कहां रास आएगा! किंतु, रात के एक बजे तक, जो समा बंधा, तो कोई उठने के लिए तैयार ही नहीं था। रात के डेढ़ बजे खाना टेबल पर रखा जा सका।

राज भाई को हमारे इस कला-प्रेम की खबर थी और शायद, इसी के तहत उनका कलाकार-मन ठाकुर के इतना करीब आ गया था। जब भी दिल्ली आते, मिलते तो थे

ही, पूछ भी लेते, “टी.पी. भाई, कोई गोष्ठी-वोष्ठी नहीं है? किसी नई प्रतिभा से नहीं मिलाएंगे?”

एक बार की बात है। रीता कोठारी, जो बेगम अख्तर की शिष्या, प्रसिद्ध ठुमरी एवं गजल गायिका और हमारी मित्र भी हैं, उनका कार्यक्रम हमारे घर पर चल रहा था। राज भाई दिल्ली आए हुए थे। ठाकुर का सदैव यह प्रयत्न रहता था कि कलाकार को ऐसे किसी संयोग पर किसी गुणी से मिला दें। संभव है, कोई नई बात बन जाए। इन्होंने राज भाई को फोन पर बताया। वे बोले, “मैं अभी आता हूं।” राज भाई अपने कुछ मित्रों के साथ आए। मुझे रसोईघर और ड्राइंगरूम दोनों ही संभालने थे। मैं शटल कॉक की तरह रसोईघर और ड्राइंगरूम में आ-जा रही थी। राज भाई के आने के कुछ देर बाद, जब मैं वापस रसोई से बैठक में आई तो देखा वे नहीं हैं। मैंने ठाकुर से पूछा, “क्या बात हुई? क्या वे वापस चले गए?” ठाकुर ने कहा, “अभी आ रहे हैं। बाहर गए हैं।” बात आई-गई हो गई। थोड़ी देर में राज भाई आ गए। संगीत की महफिल जीवंत हो उठी। लेकिन, राज भाई का थोड़ी-थोड़ी देर बाद बाहर जाने और भीतर आने की आंख-मिचौली का सिलसिला बदस्तूर जारी रहा।

आखिर, मैंने आंख के इशारे से ठाकुर को बुलाकर पूछा, “यह क्या राज है? राज भाई जब भी आते हैं, यह बाहर-भीतर का सिलसिला शुरू हो जाता है।” ठाकुर का उत्तर था, “कारण तो तुम हो और मुझे पूछ रही हो?” उनके कहने के ढंग में कोई उलाहना नहीं था, वे केवल मुझे याद दिला रहे थे कि कैसे बरसों पहले बंबई में एक बार मैंने कह दिया था राज भाई के सामने कि ठाकुर शराब नहीं पीते और मैं यह नहीं चाहती कि कोई मेरा कितना भी नजदीकी क्यों न हो, मेरे घर में बैठकर शराब पिए। ऐसा नहीं था कि मैंने ठाकुर पर शराब पीने का कोई बंधन लगाया था। चाहते तो पी सकते थे, पर ठाकुर को स्वयं ही शराब पीना पसंद नहीं था। कई बार महफिलों में दोस्तों ने इन्हें शराब पीने पर बहुत जोर दिया किंतु, उनका हमेशा यह कहना रहता था कि “मैं आपके साथ बैठकर पूरा माहौल ‘इंज्वाय’ कर रहा हूँ—रात के दो-दो बजे तक, फिर आप मुझे पीने के लिए ही क्यों विवश करते हैं? आप लोग पीकर जितना आनंद लेते हैं, मैं बिना पिए लेता हूँ।”

एक बार की बात है। बंबई में एक पार्टी आयकर के कमिश्नर कुरुविलाजी की पदोन्नति के अवसर पर हो रही थी। वे प्रत्यक्ष कर बोर्ड के चेयरमैन बने थे। ठाकुर उनके मातहत कमिश्नर अपील थे। उन्होंने ठाकुर के मुंह के पास गिलास लगा दिया कि आज तो तुम ले ही लो। पर इन्होंने कहा, “सर, इस बात पर आप जोर मत दीजिए। मैं लूंगा नहीं और आपको बुरा लगेगा।” वे सज्जन व्यक्ति थे। उन्होंने इनके इनकार का बुरा भी नहीं माना। ठाकुर की यह संकल्प-शक्ति बहुत ग्रेट थी। वे स्वयं शराब नहीं पीते थे किंतु, कभी किसी को पीने से मना भी नहीं करते थे। मैंने भी उनके इस संकल्प की इज्जत रखने के लिए ही यह लक्ष्मण-रेखा बांधी थी कि मेरे घर में बैठकर कोई शराब नहीं पिएगा।

यह बात राज भाई को याद थी इसलिए वे खुद अपनी ड्रिंक्स अपने साथ लाए

थे, यहां तक कि अपना ही कांच का गिलास, पानी और सोडा भी। इसीलिए वे बार-बार बाहर जाकर अपनी गाड़ी में अपना शौक पूरा कर आते थे। जब मैंने यह बात समझी, तब मैंने राज भाई से कहा, “आप क्यों इतनी जहमत उठा रहे हैं? ड्रिंक्स अंदर ही ले आइए।” उनका कहना था, “भाभीजी, मैं नहीं चाहता कि आपकी भावना को तनिक भी ठेस लगे। आखिर, घर के अंदर बैठकर पीना इतना जरूरी भी नहीं है। घर की मर्यादा तो रहनी ही चाहिए। संस्कार समझने और जीने के लिए होते हैं, तोड़ने के लिए नहीं।”

शराब से मुझे ऐसी कोई चिढ़ थी भी नहीं, ठाकुर मेरी भावनाओं का आदर करते थे और मैं उनकी पसंद-नापसंद का। इसीलिए हमारी गृहस्थी की गाड़ी ठीक से चलती रही। उस दिन से ड्रिक्स हमारे घर में आने लगीं। हालांकि, ठाकुर ने स्वयं कभी शराब नहीं पी। उसे कभी छुआ नहीं।

राज भाई ने अपनी उम्र के साठ वर्ष पूरे किए थे। एक बहुत बड़ा आयोजन बंबई में होनेवाला था इस अवसर पर। सभी पत्र-पत्रिकाओं ने उन पर विशेष सामग्री छापी थी। “साप्ताहिक हिन्दुस्तान” में भी उनके बारे में मैंने कई लेख लिखवाए थे। अंक बहुत अच्छा बन पड़ा था। राज भाई ने बंबई से फोन करके हमें भोज की सूचना दे दी थी संबंधों को निबाहना हमारा सदैव से स्वभाव रहा है। हम लोग बंबई पहुंच गए। मैं अपने साथ “साप्ताहिक हिन्दुस्तान” की कुछ प्रतियां भी ले गई। कृष्णा भाभी के लिए फूलों का गजरा। राज भाई के लिए बेले और मोतिया के फूल, जो उन्हें बहुत पसंद थे। वारहों महीने ये फूल निश्चित रूप से उनके बेडरूम में होते थे। हमें देखते ही वे लपककर मिले। बोले, “टी.पी. भाई, आप आ गए!” बड़े पुलकित हुए। टी.पी. राज भाई से उम्र में छोटे थे, फिर भी पता नहीं, किस एहसास से या किसी गलती-भरे क्षण में उन्होंने ठाकुर को भाई साहब कह दिया और तब से फिर उन्हें टी.पी. भाई साहब ही पुकारना शुरू कर दिया। वैसे, सबके बीच ठाकुर टी.पी. भाई के नाम से ही प्रसिद्ध थे। मैंने कहा, “राज भाई, आप हर तरह हमसे बड़े हैं, इसलिए आप हमें नाम से ही पुकारिए।” उन्होंने उत्तर दिया, “टी. पी. भाई साहब, हम बंबई में जरूर रहते हैं, पर बंबई के मौसम की तरह हम बदलते नहीं। हमारे संस्कार हैं कि हमने एक बार जिसे बड़ा मान लिया, मन से, जीवन-भर उसे बड़ा ही मानेंगे।” मुझे भी उन्होंने सदैव बड़ी भाभी का ही मान-सम्मान दिया। हालांकि, वे मजाक में अक्सर मुझे से कहा करते थे, “भाभीजी, आप साहित्यकार-पत्रकार, मैं एक छोटा-सा फिल्मी-कलाकार।” और मैं हमेशा इस बात पर उन्हें जवाब देती थी, “शायद, इसीलिए आप मुझे कोई फार्मल इंटरव्यू नहीं देते, क्योंकि मेरा भाभीवाला रूप ही आपके जेहन में रहता है। आप मुझे पत्रकार मानते ही नहीं।”

जब मैंने उन्हें 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की प्रति भेंट की तो वे बड़े प्रसन्न हुए और आत्मविभोर हो अपनी पत्नी को आवाज दी, "कृष्णा, टी.पी. भाई साहब और भाभीजी आए हैं।" बिल्कुल निश्छल, बच्चोंवाली उत्सुकता से उन्होंने साप्ताहिक के पन्ने उलटने शुरू कर दिए। अचानक उनकी नजर आर. के. स्टूडियो के कर्ता-धर्ता, वेटे-जैसे प्रिय मेजर

अशोक पर पड़ी। उनसे कहा, “भाभीजी ने मुझ पर बड़ी अच्छी सामग्री छापी है। यह तुम्हारे काम आ सकती है। पब्लिसिटी के लिए ऐसी ही सामग्री चाहिए।” और, फिर अपने व्यक्तिगत सेवक रेवती को हिदायत दी कि पत्रिका उनके बेडरूम में रखवा दे, “मैं इसे पूरा पढ़ूंगा,” उन्होंने कहा।।

ठाकुर का सदैव यही प्रयत्न रहता था कि कोई कलाकार, उसमें यदि क्षमता है, तो उसे किसी मुकाम पर अवश्य पहुंचना चाहिए। इसके लिए वह हर संभव प्रयत्न करते थे। ऐसे अवसर पैदा करते थे, कि उस कलाकार का बखूबी प्रस्तुतीकरण हो सके। उनकी यह आदत उस समय से थी, जब उन्होंने अपना कैरियर शुरू ही किया था। उन्होंने अपने लिए कभी किसी से कोई प्रत्याशा नहीं रखी। यदि ‘फेवर’ मांगा भी, तो केवल कलाकारों के लिए मांगा। प्रसिद्ध कवि संतोषानंद, जो अपने ओजस्वी गीतों के लिए प्रसिद्ध थे, गजल और गीतों में भी अपनी सानी नहीं रखते थे, उन्हें राजकपूर से मिलवाया। फिल्म ‘प्रेम रोग’ के लिए उन्होंने बड़े अच्छे गीत लिखे, जिन पर उन्हें गीत-लेखन का ‘फिल्मफेयर अवार्ड’ भी मिला। कई बार ठाकुर अपनी नृत्य-नाटिकाओं के लिए संतोषानंदजी को विचार देते और वे अपनी प्रतिभा से भाव और स्थिति के अनुकूल गीत लिख देते।

इसी क्रम में उन्होंने प्रख्यात संगीतकार रवीन्द्र जैन को भी राजकपूर से मिलवाया। उन दिनों हम दिल्ली में रवीन्द्रनगर के सरकारी आवास में रहते थे। फ्लैट के पीछे की खाली जगह को हमने बांस की खपच्चियों से घेरकर सुंदर-सुंदर पौधे लगा दिए थे। बांस की चारदीवारी पर झूलती हुई गहन वेल, ऊपर छत पर छप्पर। सब मिलाकर एक खुशनुमा आउट-हाउस या ग्रीन-हाउस की-सी कोमलता और आकर्षण था उस कुटिया में। कुटिया की सजावट थी—बांस की डलियां, सूप और मिट्टी के रंगे हुए घड़े। वहां बैठकर ऐसा लगता था जैसे, शहर से कोसों दूर किसी गांव में बैठे हों, शोरगुल, चिंता-फिकर से दूर। हमारी इस कुटिया में अक्सर साहित्य और संगीत का जमावड़ा लगता था। एक दिन शाम को हम ऐसे ही ड्राइंगरूम में बैठे थे कि संगीतकार रवीन्द्र जैन का फोन आया। वे दिल्ली आए हुए थे। रवीन्द्रजी आए तो एक अनौपचारिक गोष्ठी जम गई। तबला, हारमोनियम निकल आए। अड़ोसी-पड़ोसी भी आ गए। रवीन्द्र जैन ने चार-पांच गाने ही गाए थे कि बाहर कुछ हलचल हुई। मैं बाहर देखने गई कि क्या बात है। देखा तो राज भाई और कृष्णा भाभी चले आ रहे हैं। हमारी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। बहुत दिनों से हम राज भाई से रवीन्द्र जैन का गाना सुनने के लिए कह रहे थे। रवीन्द्र जैन ने कई पिक्चरों का संगीत-निर्देशन किया था। आर.के. बैनर में भी उनका संगीत-निर्देशन हो, इसलिए जरूरी था कि राजकपूरजी एक बार उनका गाना सुनें। आज वह मौका हाथ आ गया। परिचय कराने की औपचारिकता खत्म हुई और रवीन्द्र जैन ने गाया :

एक राधा एक मीरा

दोनों ने कृष्ण को चाहा

अंतर क्या था दोनों की चाह में, बोलो
इक प्रेम दीवानी इक दरद दीवानी...

राज भाई को यह गीत इतना पसंद आया कि बोल पड़े, “यह गीत मेरा हो गया।” उन्होंने जेब में हाथ डाला, पर जेब खाली थी। कृष्णाजी ने पर्स से निकालकर एक रुपया उन्हें दिया और राज भाई ने रवीन्द्रजी को टोकन-स्वरूप वह एक रुपया देकर गाना अपने लिए ‘बुक’ कर लिया। बाद में, बहुत अरसे बाद दिल्ली के कमानी सभागार में उन्होंने एक समारोह में कहा था :

“वह गीत था, टी.पी. भाई का घर था और वहां पर कुछ ऐसा हुआ कि गीतकार मिल गया। गानेवाले भी मिल गए। अपने-आपसे कहानी खुद-ब-खुद बनती चली गई। अब इसको कहीं भी जमा दो। इस प्रकार मेरी फिल्म ‘राम तेरी गंगा मैली’ का जन्म हुआ।”

फिल्म ‘राम तेरी गंगा मैली’ ने सफलता के सारे रिकार्ड तोड़ दिए। बंबई में ओबराय होटल के रीगल रूम में फिल्म की गोल्डन जुबली के बाद एक बहुत बड़ा, अखिल भारतीय समारोह आयोजित किया गया। बंबई से अचानक राज भाई का फोन आया कि हमें भी समारोह में सम्मिलित होना है। हमने इस फोन कॉल को महज एक औपचारिकता समझा। किंतु, वह हमारी भूल थी। राज भाई संबंधों के राजा थे। वे अक्सर कहा करते थे, “संबंध अमूल्य होते हैं। उन्हें किसी भी कीमत से आंका नहीं जा सकता।” उनकी कोई भी बात केवल औपचारिक नहीं होती थी। वे संबंधों को खूब निवाहते भी थे। दूसरे दिन सबेरे ही एक पत्र के साथ हवाई जहाज के दो टिकट दिल्ली से बंबई और बंबई से दिल्ली के आ गए।

जिस दिन समारोह था, हम दोपहर तक बंबई पहुंच गए। हमने फोन पर उनसे संपर्क किया। उन्होंने कहा, “टी.पी. भाई साहब, समय से पहले ओबराय पहुंच जाना। सब कुछ संभालना है।” मैंने फिर भी, मात्र इसे एक औपचारिक कथन समझा और ठाकुर से कहा, “अरे, उन्होंने ऐसे ही कह दिया होगा।” हम पहले नहीं पहुंच पाए। जब पहुंचे तो ओबराय का रीगल रूम आगंतुकों से खचाखच भर चुका था। राज भाई सबकी बधाइयां स्वीकार कर रहे थे। हमें आता देखकर लपके, गर्मजोशी से मिले। भीड़ बढ़ती जा रही थी। भीड़ के साथ हम भी जरा दूर हट गए और उस भीड़ का एक अंग बन गए। तभी अचानक घोषणा हुई। सब लोगों का ध्यान मंच की ओर खिंच गया। कुछ जाने-पहचाने चेहरे मंच पर दिखने लगे। अचानक राज भाई की आंखें भीड़ में हमें तलाशती हुई हम पर आ टिकीं और उन्होंने हमें मंच पर आने के लिए कहा। हमें नहीं मालूम था कि उस दिन राज भाई के अलावा ठाकुर को ही मंच पर बोलना था। उस खचाखच भरे हाल में एक बड़े भाई का सम्मान देते हुए राज भाई ने ठाकुर को मंच पर प्रस्तुत कर कहा, “‘राम तेरी गंगा मैली’ का जन्म कैसे हुआ, अब टी.पी. भाई साहब बताएं।”

फूलमाला, गुलदस्तों और अभिनंदन का यह सिलसिला जो चालू हुआ, तो दिल्ली,

जयपुर, कलकत्ता सभी शहरों में आयोजन हुए। राज भाई ने सभी जगह हम लोगों को साथ रखा। हालांकि, हम उन्हें बार-बार कहते रहे कि हमारा घर तो एक निमित्त मात्र था। आप बार-बार यह बात क्यों कहते हैं? किंतु, वे हर बार हमें चुप कर देते और बात को दोहराने से वाज नहीं आते थे। यह उनका बड़प्पन और संस्कार थे कि सफलता की ऊंची सीढ़ी पर चढ़कर भी उनकी दृष्टि धरती को नहीं छोड़ती थी।

ठाकुर कभी किसी फिल्म-अभिनेता के आयकर संबंधी मामलों के अधिकारी नहीं रहे। व्यक्तिगत स्तर पर ही हमारी फिल्मी-कलाकारों से मित्रता थी और रही, तब से, जब पहले-पहल हम कलकत्ता से बंबई पहुंचे थे और खार में, जो बंबई का एक उपनगर था, जहां अनेक फिल्मी सितारे रहते थे, हमारा उनसे गाहे-बगाहे परिचय होता रहता था। ठाकुर का फिल्मों से संबंध और लगाव कॉलेज के दिनों से ही था जब उन्होंने 'फिल्म इंडिया' में लिखना शुरू किया था और कानपुर में सिने-गोअर्स क्लब की स्थापना की थी। पृथ्वीराज कपूर को भी उन्होंने ही सबसे पहले कानपुर बुलाया था।

ये संपर्क मित्रता और फिर पारिवारिक संबंधों में बदलते गए। ठाकुर ने अपने इन संपर्कों और संबंधों को कभी नकारा नहीं। सरेआम उन्हें स्वीकारा और कभी छिपाया नहीं। और शायद, यही हमारी गलती थी। आयकर विभाग में होने के कारण इन संपर्कों के गलत अर्थ भी लगाए गए। बार-बार लोगों ने हमें सलाह दी, "तुम लोग अपनी इन मित्रताओं का डंका क्यों पीटते हो?" पर ठाकुर कभी इस सबसे डरे नहीं। हालांकि, इस सबका खमियाजा हमें कई बार भुगतना पड़ा। आयकर विभाग और कस्टम विभाग के अनेक कार्यक्रमों में ठाकुर के संपर्कों-संबंधों के कारण ही फिल्मी हस्तियां अपने खर्च पर आई और शामिल हुईं। उस समय किसी को हमारा कोई स्वार्थ नजर नहीं आया किंतु, जब हमारी बेटी और बेटे के विवाह के अवसर पर पारिवारिक संबंधों और लंबी मित्रता के तहत दिलीपकुमार यानी यूसुफ भाई और सायरा भाभी, राजकपूर और कृष्णा भाभी, उनका बेटा ऋषि कपूर, रणधीर कपूर, जॉनी वॉकर और दारासिंह आदि तथा अमिताभ बच्चन और जया बच्चन, जो अपनी लंबी बीमारी के बाद दिल्ली में ही थे, हरिवंशराय बच्चन और तेजी बच्चन के साथ आए, तब एक बड़ा हल्ला मच गया।

'इंडिया टुडे' ने लिखा कि पिछले हफ्ते दिल्ली में दो शादियां हुईं। एक जाने-माने औद्योगिक मोदी घराने में और एक आयकर कमिश्नर टी.पी. झुनझुनवाला के घर किंतु, सारा फिल्मी ग्लैमर तो झुनझुनवाला के घर पर ही जमा था। यह सही था कि अमिताभ बच्चन अपने कैरियर के शीर्ष पर थे, पर बच्चन परिवार से हमारा साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में भी नाता था। उनके सभी पारिवारिक उत्सवों में हम लोग भी शामिल होते रहते थे। मैं 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की संपादक थी। एक लंबे अरसे से साहित्य और पत्रकारिता से जुड़ी हुई थी। सभी प्रख्यात साहित्यकारों, संगीतज्ञों, कवियों, कहानीकारों, लेखकों और पत्रकारों तथा राजनीतिक हस्तियों से परिचय और अधिकांश से मित्रता के संबंध थे। वे सभी प्रेम और स्नेह के कारण विवाह में सम्मिलित हुए थे, हमारी

बेटी को आशीर्वाद देने।

जाहिर था, कुछ कुटिल बुद्धिवालों को ईर्ष्या होती, और हुई। मजे की बात यह थी कि स्वयं उन लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए अनेक बार ठाकुर से कहकर इन्हीं लोगों को अपने यहां विशेष अवसरों पर बुलवाया था। ऐसे लोग अंदर और बाहर सभी जगह थे, जो हमारी लोकप्रियता को लेकर अपने मन में वैमनस्य को सींच रहे थे। ऐसी-ऐसी बातें कहीं गईं, जिन्हें सुनकर कोई भी हंस सकता था। जिन बातों का कोई सिर-पैर नहीं था। यहां तक कहा गया कि फिल्म कलाकारों को पेमेंट करके बुलाया गया है। शारदा उकील स्कूल ऑफ आर्ट के कलाकार-छात्रों ने मिट्टी के घड़ों पर पेंटिंग करके उन्हें अलंकृत किया था। सजावट की इस विधा के लिए कहा गया कि वहां सोने के घड़ों से सजावट की गई, आदि-आदि। ऐसे लोगों के लिए ठाकुर हमेशा कहते थे :

*खाव उसके भी हुए होंगे जख्मी
जिसने कांटे मेरी राहों में बिछाए*

मजा यह कि यह सब दुष्प्रचार उन कुछ विशिष्ट लोगों और उनके चाटुकारों ने किया, जो स्वयं तो आए ही थे, अपने साथ विन बुलाए पांच-सात मेहमानों को भी ले आए थे—फिल्मी-हस्तियों का दर्शन कराने। नतीजा वही हुआ, जो सरकारी नौकरियों में होता है। ठाकुर का ट्रांसफर मद्रास हो गया। यद्यपि, दिल्ली में रहने की जो साधारणतया अवधि होती है, वह अभी खत्म नहीं हुई थी।

उस समय राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह वित्त मंत्री थे।

उन्होंने बड़े जोर-शोर से, एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी से, देश में काला धन समाप्त करने के लिए कड़े से कड़े कदम उठाने की घोषणा की। ऐसा नहीं था कि उनसे पहले भारत सरकार का वित्त विभाग निष्क्रिय था। बड़े-बड़े अभियान चलाए गए थे और अनेक तस्करों को पकड़ा गया था किंतु, राजा साहब के कार्यकाल में साधारण काम को असाधारण बनाकर प्रस्तुत किया गया। हमारी बेटी के विवाह की बातों को बहुत तूल दिया गया। फलतः ठाकुर का ट्रांसफर मद्रास हो जाने पर बहुत से ईर्ष्यालु लोगों ने सोचा कि शायद, अब टी.पी. के पर कट जाएंगे। कुछ दोस्तों ने भी कहा और दुश्मनों ने भी। ऐसी सब बातों को ये बड़े दार्शनिक अंदाज में लेते थे और मुस्कराकर कहते थे :

*वही काफिले, वही रास्ते, वहीं जिंदगी, वही मरहले
मगर अपने-अपने मुकाम पर, कभी तुम नहीं कभी हम नहीं*

इसी समय राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह ने निर्णय लिया कि वे शासन में आमूल-चूल परिवर्तन करेंगे। उन्होंने भारत सरकार के विभागों में तबादलों की लाइन लगा दी। आयकर विभाग में भी वह कोई धमाका करना चाहते थे। एक ही झटके में उन्होंने विभाग से उन

लोगों का तबादला करने की सोची, जो विभाग में बहुत प्रभावशाली समझे जाते थे। अपने भाषणों और लंबी-लंबी बातों से जिस तरह का माहौल उन्होंने बनाया, उससे लगता था कि ये तबादले रूटीन तबादले नहीं हैं। इस योजना के तहत आयकर विभाग से चार तबादले किए गए। बहाना यह लिया गया कि आयकर कानून का सरलीकरण करना है। ठाकुर ने लंबे समय तक डायरेक्टर ऑफ इंटेलिजेंस और ज्वाइंट डायरेक्टर रेवेन्यू इंटेलीजेंस के पद पर कार्य किया था। सभी बड़ी-बड़ी विभागीय रेड्स का काम देखा था। राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह के कार्यकाल में मेरे द्वारा लिखे गए 'फसाना-ए-फेअरफैक्स' लेख के कारण भी कुछ लोगों का कहना था कि राजा साहब नाराज हैं। किंतु, किसी की नाराजी वर्षों तक लगन, निष्ठा और ईमानदारी से किए गए कार्यों को अनदेखा नहीं कर सकती थी। निष्पक्षता और ईमानदारी का यह इनाम मिलता देख ठाकुर ने डिपार्टमेंट से स्वेच्छिक अवकाश ले लिया।

राजकपूरजी को जैसे ही पता लगा कि हमारा ट्रांसफर दिल्ली से हो गया है, वे बड़े बेचैन हुए। वे जानते थे कि मेरी नौकरी तो ट्रांसफरेबल नहीं है। इस बात ने उन्हें और अधिक परेशान कर दिया। दिसम्बर का महीना था। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। एक रात को डेढ़ या दो बजे के करीब दरवाजे की घंटी जोर से बजी। हम करीब-करीब सो गए थे, हड़बड़ाकर उठे। दरवाजा खोला तो देखा कि राज भाई अकेले दरवाजे के पास खड़े हैं। हम अवाकू—इस समय यह यहां कैसे? बोले, “मैं प्लेन से आज ही रात यहां आया। प्लेन लेट हो गया, पर मुझे तो आपसे मिलना था। ड्राइवर से कहा, मुझे टी.पी. भाई साहब के घर जाना है, वह रवीन्द्रनगर में रहते हैं, खानमार्केट के पास।” अब ड्राइवर को क्या पता कि टी.पी. भाई साहब कौन हैं? लेकिन, राज भाई उसे कहते रहे कि मुझे रवीन्द्रनगर जाना है। राज भाई को दिल्ली के रास्तों का इतना ज्ञान नहीं था और वह भी रात के अंधेरे में, सर्दी के दिनों में। ड्राइवर बड़ा हैरान। खैर, उन्होंने एक पहचान और बताई कि वहां दरवाजे पर घड़े रखे हैं दोनों ओर, एक-दो नहीं, चार-चार, और एक के ऊपर एक। और कि रवीन्द्रनगर एक सरकारी कालोनी है। उस अंधेरे में खोज चालू हुई और अंततः ड्राइवर उन्हें रवीन्द्रनगर ले ही आया। घड़ों की मार्फत उन्हें हमारे घर भी पहुंचा दिया। जब हमने दरवाजा खोला तब वह ड्राइवर बड़ा खुश हुआ कि अपने चहेते इतने बड़े अभिनेता की ख्वाहिश उसने पूरी कर दी।

हम ड्राइंगरूम में आए। राज भाई बार-बार ठाकुर का हाथ पकड़ें और बोलें, “टी. पी. भाई, शीला भाभी, सब हमारा कसूर है न! न हम आपके यहां शादी में आते और न यह होता!” हमारी बेटी की शादी में राज भाई और उनके बेटे ऋषिकपूर और रणधीर कपूर राजस्थानी साफा बांधे मुख्य द्वार पर बारात के स्वागत के लिए खड़े थे। इस बात को लेकर उनके मन में संशय था कि शायद, इसीलिए ट्रांसफर हुआ है। राज भाई जोर-जोर

से रोए जा रहे थे और बोले जा रहे थे, “आप जैसे इंसान के साथ, जिसने कभी किसी से कुछ नहीं चाहा, ऐसा सलूक हो सकता है, तो मैं कहूंगा कि गंगा का पानी भी मैला हो सकता है।” ऐसा स्नेह था राज भाई का ठाकुर के साथ, जो किसी पद या अधिकार के कारण नहीं पनपा था, वरन, पनपा था दिल के किसी कोने से, जहां कलाकार-मन की संवेदना और स्नेह था। ठाकुर बार-बार कहते रहे, “राज भाई, आप ऐसा क्यों सोचते हैं?” फिर भी राज भाई बोलते रहे, बड़े आत्मविश्वास और दृढ़ता के साथ कि “मैं अपनी आनेवाली फिल्म में उन लोगों को बेनकाब करूंगा जो स्वयं गंदे हैं, फिर भी दूसरों पर अकारण कीचड़ उछालते हैं।” उनका इशारा राजनीतिज्ञों की ओर था। उन्होंने फिर कहा, “मैं अपनी फिल्म का नाम ही ऐसा रखूंगा, जो इस बात को बार-बार दोहराएगी कि ‘राम तेरी गंगा मैली’।”

हम बार-बार उन्हें समझा रहे थे कि वे ऐसा क्यों सोच रहे हैं, उनके अलावा भी तो और फिल्मवाले आए थे। और यदि ऐसा हुआ भी, तो भी हमें उनकी दोस्ती पर नाज है। जो कुछ भी होगा, हम झेलेंगे, लेकिन उन्हें ऐसी बात नहीं सोचनी चाहिए।

ऐसी थी उनकी संवेदना। उनका प्रेम, उनकी हर बात मोती बनकर हमारे मन में हमेशा-हमेशा के लिए हमारी धरोहर बन गई। वे अक्सर कहा करते, “टी.पी. भाई साहब, जिंदगी के एक मोड़ पर, यदि आप न मिलते, तो मैं जाने कहां गुमराह हो गया होता।” उनकी इस बात का क्या अर्थ था, हमें नहीं मालूम, किंतु, ये शब्द उन्होंने राजस्थान रत्नाकर के एक कार्यक्रम में, मंच से कहे थे। एक बार हमने पूछा, “आप ऐसी बात क्यों कहते हैं? हमने ऐसा क्या किया है? आप जैसे व्यक्ति, कला के सिरमौर, आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए।” तो बोले, “मैं शैलेन्द्र को खोकर बिलकुल डूब गया था, आपने मुझे संतोषानंद से मिलाया, अमीर कजलबाश से मिलाया, कृष्ण महाराज से मिलाया। इन सबसे ‘प्रेम-रोग’ के दरमियान परिचय हुआ और अब रवीन्द्रजी से मिलवाया, तो क्या मैं झूठ बोलता हूं?” और यह कहकर वे फिर गंभीर हो जाते थे।

हमारे परिवार को उनकी अंतरंगता प्राप्त थी। अपनी सभ्यता और संस्कृति को जिस तन्मयता के साथ उन्होंने अर्थ प्रदान किया, वह बेमिसाल था। वे शराब पीते थे, किंतु, जिन दिनों वे अपनी फिल्म की एडिटिंग करते थे, महीनों शराब को हाथ नहीं लगाते थे। श्रम की चेतना उनके जीवन का मूलधार थी और उसे वे धर्म की तरह जीते थे। जीवन की यही बातें, यही रंग ठाकुर और राज भाई को मित्रता के अटूट बंधन में बांध गए थे।

सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने के बाद भी ठाकुर के आत्मबल में कोई कमी नहीं आई। असल में, वे एक मुकम्मिल इन्सान थे, प्यार और इन्सानियत की प्रतिभूर्ति। मित्रता का दायरा कानपुर, कलकत्ता, बंबई और दिल्ली—सब जगह फैला हुआ था। सभी जगह उनके

अंतरंग थे। समय या जगह की दूरी उनकी अंतरंगता की ऊष्णता में कभी आड़े नहीं आई—जब वे उच्च पद पर आसीन थे, तब भी नहीं और जब उस पद पर नहीं रहे, तब भी नहीं। जब मैं उनसे कहती कि अब तो चैन की जिंदगी जियो, बहुत दौड़-धूप कर ली, तब उनका जवाब होता था :

शिकस्ते-कश्ती को साथ लेकर
हमारा इल्मो-हुनर गया है
मगर खिवैये कहीं यह न समझें
नदी का पानी उतर गया है।

मैं उन्हें रोकती रहती थी। पत्नी के नाते उन्हें आराम करने की सलाह देती थी और वे अपनी मित्रता निभाते रहते थे। कहीं भी, कैसे भी। सरकारी नौकरी के बंधनों से छूटकर तो उनके सामने वे तमाम रास्ते खुल गए, जिन पर चलकर वे समाज के निर्धन और असहाय लोगों की और अधिक मदद कर सकते थे। पहले भी वे अपनी सामर्थ्य-भर और अक्सर सामर्थ्य के बाहर जाकर भी, लेखकों, संगीतकारों, कवियों, पत्रकारों, और भी न जाने कितने लोगों की सहायता करते थे। कभी उन्हें विज्ञापन दिलवाकर, कभी मंच दिलवाकर, कभी आयोजन कराकर। और फिर उन सबसे नाता बन जाता था, एक पारिवारिक रिश्ते का जनम होता था। कभी किसी रिश्ते पर अहसान की परत नहीं जमी और न कभी कोई रिश्ता केवल जरूरत की सीमा-रेखाओं में घिरा रहा। और यह बात केवल एकतरफा नहीं होती थी, दोनों तरफ स्नेह का, निश्छल प्यार का नाता जुड़ जाता था।

एक बार हास्य-कवि सुरेन्द्र शर्मा जयपुर के पास एक एक्सीडेंट में घायल हो गए। नौ बजे रात्रि को वहां से फोन आया कि ऐसा हादसा हो गया है और कि जयपुर में इस समय अस्पतालों में हड़ताल है। सुरेन्द्र शर्मा तब उतने प्रसिद्ध भी नहीं थे, जितने आज हैं। ठाकुर तो उसी समय जयपुर जाने के लिए तैयार हो गए। मैंने कहा, “वहां अस्पतालों में हड़ताल चल रही है, तुम यहां दिल्ली से किसी मंत्री या प्रभावशाली व्यक्ति द्वारा फोन कराकर तत्काल उनकी परिचर्या का बंदोबस्त करो। उसके बाद सुबह-सुबह हम लोग जयपुर चल पड़ेंगे।” मेरी बात उन्हें नागवार तो गुजरी, क्योंकि, वे रिश्तों को बड़ी शिद्दत से जीते थे। पर मेरी बात की सार्थकता को भी उन्होंने समझा। वैसा ही प्रबंध किया। सुबह चार बजे चलकर हम पांच घंटे में जयपुर पहुंच गए। साथ में एक डाक्टर और एंबुलेंस ले गए। वैसे, रात को ही अस्पताल में सब सुविधाएं मिल गई थीं। हमारा कहना था कि दिल्ली में इलाज ज्यादा अच्छा होगा। जयपुर के डॉक्टर उन्हें वहीं रोके रखने के पक्ष में थे। फिर प्रश्न उठा कि निर्णय कौन ले? सुरेन्द्र के परिवारवालों ने भी ठाकुर पर पूरा भरोसा जताया और कह दिया, “भाई साहब जो कहेंगे, वही होगा।” एंबुलेंस और डॉक्टर के साथ धीरे-धीरे गाड़ी चलाकर पांच बंदे की दूरी करीब आठ घंटे में पूरी की और उन्हें मेडिकल इंस्टीट्यूट

में दाखिल करा कर ही चैन लिया।

धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा एक बात है और भीड़ में अपनी पहचान बनाना दूसरी बात। इस पहचान को ठाकुर ने बखूबी स्थापित किया—साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में। सांस्कृतिक क्षेत्र में तें तो अपने हास्य-व्यंग्य नाटक 'यहां बंदे सस्ते मिलते हैं' द्वारा सशक्त टिप्पणी की, आज के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर, जहां मनुष्य की कीमत घटती जा रही है और वह सिर्फ एक बंदा रह गया है। उसे जिसका जी चाहे खरीद ले। विभिन्न हास्यास्पद परिस्थितियों से गुजरता हुआ नाटक, दर्शक को उस दार्शनिक मोड़ पर ले जाकर खड़ा कर देता है, जहां जीवन का सत्य उजागर होता है—जब अपनी अर्थी उठाने के लिए एक करोड़पति सेठ को भी चार बंदे खरीदने पड़ते हैं। इस नाटक के पचीसों शो हुए। आयकर विभाग के अफसरों ने हर पात्र का अभिनय किया, युवा अफसरों से लेकर वरिष्ठ कमिश्नरों तक ने। तब लोगों ने देखा कि आयकर अधिकारी केवल डरने की 'चीज' नहीं हैं, वे हंस भी सकते हैं और दूसरों को हंसा भी सकते हैं।

रंगमंच का यह निर्देशन बाद में फिल्म-निर्देशन के रूप में उभरा। 'अनजाने लोग' शीर्षक से एक फिल्म बनाई गई जो बाद में जी टी.वी. पर प्रदर्शित की गई। हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार और आयकर विभाग के एक वरिष्ठ अधिकारी गोविंद मिश्र के उपन्यास 'हुजूर दरबार' पर भी काम शुरू किया। अपनी कुलदेवी राणी सती के भजनों पर एक कैसेट भी रिकार्ड करवाया। उन दिनों राणी सती, जिनका मंदिर झुंझुनू में है, को लेकर अनेक महिलाओं और उनके संगठनों ने काफी विवाद खड़ा किया। श्रीनारायणी देवी, जो कालांतर में राणी सती के नाम से प्रख्यात हुई, के आत्मोत्सर्ग की धटना 'संवत् 1652' की थी। शताब्दियों से अनवरत चली आ रही सेवा, पूजा-अर्चना के कारण श्री राणी सती मंदिर और परिसर विख्यात तीर्थ-स्थली बन गया। मंदिर-संस्थान धार्मिक कृत्यों के प्रति जिस प्रकार प्रतिबद्ध था, उसी प्रकार उसकी प्रतिबद्धता लोक-कल्याण के कामों के प्रति भी थी। हमने खुद वहां पर प्याउओं का संचालन, निःशुल्क नेत्र चिकित्सा शिविर आदि लगते देखे थे। लड़कियों का एक विद्यालय भी संलग्न था। मेरी समझ में यह विवाद अवांछनीय था क्योंकि, शास्त्रों के अनुसार, जो महिला सद्गुणों एवं सद्विचारों से मंडित हो, उसे ही 'सती' कहा जाता है। जिसकी आत्म-चेतना जागृत हो, जो आत्मबल से परिपूर्ण हो, जिसका जीवन आदर्शमय हो, जिसे ईश्वरीय सत्ता में विश्वास हो और जो सच्चाई के रास्ते पर चलती हो, जिसके मनोभाव पवित्र हों, उसी नारी को 'सती' शब्द से विभूषित किया जाता है। जैसे, सती अनसूया, सती सीता, सती सावित्री आदि। इनमें से कोई भी नारी पति की देह के साथ चिता पर नहीं चढ़ी, फिर भी सती कहलाई।

राणी सती भी ऐसी ही नारी थीं। पति को जब यवनों ने घेर लिया और वे परलोकगामी

हुए, तब सिंहवाहिनी दुर्गा के रूप में उन्होंने तलवार हाथ में उठा ली। वे बहादुरी से लड़ें और अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए उन्होंने जौहर किया। उनके वीर पति का शरीर शत्रुओं द्वारा अपमानित न हो, इसलिए उसे भी साथ में लिया। राजस्थान के गौरवशाली इतिहास में ऐसी घटनाओं की कमी नहीं है जब अपनी 'लज्जा' की रक्षा के लिए वहां की नारियों ने जौहर किया। नारी की इस शक्ति को तो भगवान ने भी पहचाना है और देवताओं की पुकार पर दुर्गा के रूप में अवतरित होकर शक्ति ने असुरों का संहार किया है। इसलिए राणी सती को भी शक्ति के मानदंड के रूप में पूजना चाहिए, जो नारी को आग में जलने की प्रेरणा नहीं देता, बल्कि उस आग को अपने अंदर संजोने की प्रेरणा देता है। आज भी झुंझुनू के राणी सती मंदिर में शक्ति के प्रतीक त्रिशूल की ही पूजा होती है, किसी मूर्ति की नहीं।

राणी सती मंदिर के पदाधिकारियों की मीटिंगों में ठाकुर को भी सम्मिलित किया जाता था। प्रसिद्ध विधि-विशेषज्ञ डॉ. सिंघवी को केस की पैरवी के लिए उन्होंने ही तैयार किया था। इन सब कार्यों में ठाकुर इतने उलझे कि दिन के तीन-तीन बजे और रात देर तक, न खाने की सुध, न आराम की परवाह।

पत्रकारिता के क्षेत्र में ठाकुर ने अंग्रेजी में 'मनी मैटर्स' पत्रिका निकाली। आयकर नियमों का जितना गहरा अध्ययन और कार्यान्वयन उनके द्वारा होता था, उससे ज्यादा गहरा चिंतन वे उन नियमों की करदाता के प्रति उपादेयता को लेकर करते थे। टैक्स नियमों को स्थायित्व प्रदान करने की आवश्यकता पर वे बहुत बल देते थे। 'मनी मैटर्स' के एक अंक में उन्होंने लिखा : "हर साल इस देश का करदाता यही सोचता है कि पिछले साल से यह साल अच्छा रहेगा। यह करदाता की बड़ी पवित्र इच्छा है और यह इच्छा सरकार के उन जिम्मेदार आश्वासनों पर आधारित है, जिनमें हमेशा कहा जाता है कि टैक्स नियमों को सरल और स्थायी बनाया जाएगा ताकि, अनिश्चितता और दुश्चिंता से छुटकारा मिले।"

ठाकुर सदैव 'मनी मैटर्स' के माध्यम से कहते रहे कि करदाताओं के मान्य प्रतिनिधियों को, टैक्स नियमों का रूप निरूपण करते समय सम्मिलित किया जाए ताकि, नियमों की आलोचना का आधार समाप्त हो और उन्हें स्थायित्व मिले। अगर, जापान चालीस वर्ष बाद भी टैक्स नियमों में सुधार कर सकता है, तो क्या हम भारत में ऐसा ढांचा नहीं बना सकते, जिसे कम से कम कुछ सालों तक तो बदलने की जरूरत न पड़े?

'मनी मैटर्स' पत्रिका बड़ी शान से निकली। पूर्व केंद्रीय मंत्री बसंत साठे ने उसका लोकार्पण किया था। एक बार फिर 'अंगजा' वाले दिनों की वापसी हो गई। उसी प्रकार घर दोबारा दफ्तर बन गया। पत्रकारिता का मेरा अनुभव भी काम आया। फिर 'पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर' की कहावत चरितार्थ हुई। साधन कम थे किंतु, हिम्मत बहुत थी। 'मनी मैटर्स' पत्रिका अच्छी चल निकली।

बहुआयामी व्यस्तताओं के बीच भी यद्यपि, ठाकुर का चेहरा उसी निश्चल मुस्कान से मंडित रहा, हंसता रहा, खिलखिलाता रहा, पर थकान तो कहीं न कहीं घुसपैठ कर ही रही थी। मैं इनसे इसरार करती—आराम करने के लिए, ठीक समय पर भोजन करने के लिए, पर वही ठाकुर, जो मेरी हर बात को मानते थे, मेरी इन बातों को साफ नकारने लगे। ऐसी आंख तरेरकर मुझे देखते कि मैं चुप लगा जाती। लोगों की भीड़ में घिरे उस बेलौस व्यक्ति को, जिसने व्यस्तता को जीवन-धर्म बना लिया हो, मैं रोकती भी कैसे और कहती भी कैसे कि अब तो तुम इन मानवीय रिश्तों को मत निभाओ, जिन्हें तुम जीवन-भर जीते रहे हो। मुझे याद है, उस दिन दिल्ली के मेरीडियन होटल में कोई आयोजन था। ठाकुर को दूसरे दिन बंबई जाना था। आयोजन में राजस्थान क्लब के श्यामगोपालजी ने, जो दोस्तीयां कराने में माहिर हैं, वहां के मैनेजर से परिचय कराया। जब उन्हें पता चला कि ठाकुर आयकर विभाग से संबद्ध रहे हैं तो, झट से उन्होंने अपनी एक परेशानी बता दी कि उनका रिफंड रुका पड़ा है बहुत दिनों से, और मिल नहीं रहा है। इन्होंने कहा, “कल तो मैं बंबई जा रहा हूं, पर मैं आपका काम शीघ्र ही करवा दूंगा।”

बंबई पहुंचकर संबद्ध अधिकारी से इन्होंने दिल्ली बात की, फिर मुझसे फोन पर कहा कि मैं मेरिडियन फोन करके बता दूं कि बात हो गई है और वह सज्जन दूसरे दिन ग्यारह बजे आफिस में जाकर मिल लें। मैंने मेरीडियन फोन करके बता दिया। दूसरे दिन फिर बंबई से ठाकुर का फोन आया कि वह मिलने गया कि नहीं? मुझे बड़ी झुंझलाहट हुई। उस व्यक्ति से हमारा पहले कोई परिचय नहीं था, उसी दिन मिला था, आगे भी मिलने की कोई गुंजाइश नहीं थी। फिर भी उसके लिए इतना प्रयत्न—यह ठाकुर-जैसा व्यक्ति ही कर सकता था। मैंने उससे बात करके बंबई सूचना दे दी कि उसका काम हो गया है, तो इन्हें चैन आया। मैनेजर भी हैरान था कि ऐसा फिक्रमंद भी कोई इंसान हो सकता है!

मेरा और ठाकुर का उन दिनों बंबई अक्सर जाना होता था। ठाकुर के अवकाश ग्रहण करने के कुछ दिन बाद मैंने भी ‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’ से त्यागपत्र दे दिया। ठाकुर के व्यस्त जीवन की देखरेख अकेले उनके बस की बात नहीं थी। फिर बंबई में फिल्म-स्क्रिप्ट, पटकथा-लेखन का काम चलता ही रहता था। एक बहाना यह भी था ठाकुर के साथ रहने का क्योंकि, वे तो अक्सर बंबई जाते ही थे ‘अनजाने लोग’ की शूटिंग के लिए। ‘अनजाने लोग’ का मुहूर्त राजकपूर के आर. के. स्टूडियो में ही हुआ। राज भाई स्वयं वहां मौजूद थे अतिथियों का स्वागत करने के लिए। ‘अनजाने लोग’ पूरी होते न होते, ‘हुजूर दरबार’ का मुहूर्त दिलीप साहब द्वारा हुआ और एक गाना भी फिल्माया गया। इसी बीच ‘नंगी दुनिया : नंगे लोग’ के एक गीत को भी फिल्माया गया। वास्तव में, ‘अनजाने लोग’ के प्रोड्यूसर जगदीश जसनानी थे, जिन्हें हम कानपुर से जानते थे। वे कानपुर के मशहूर ज्वेलर ठाकुरदास के बेटे थे, किंतु, फिल्म और संगीत के आकर्षण ने उन्हें बंबई खींच लिया था। वे खुद भी कुछ बगना चाहते थे। उन्हीं के इसरार पर ठाकुर ने एक तरह से

‘अनजाने लोग’ शुरू किया। उसके पीछे भावना यही थी कि जगदीशजी किसी सही काम में लगे और अपने सपने पूरे कर सकें।

उन दिनों आलम यह था कि सुबह बंबई के उपगनर बांद्रा में शूटिंग में व्यस्त हैं, तो शाम बंबई में। मैंने कई बार कहा, इतनी भागदौड़ अच्छी नहीं, किंतु, वे तो शायद, उस मंजिल की ओर बढ़ रहे थे जिसका उन्हें भी आभास नहीं था। थोड़े समय में बहुत कुछ कर लेना चाहते थे। अक्सर मैं कहती कि सब कुछ पा लिया है ईश्वर कृपा से—यश, पद, प्रतिष्ठा। अब और क्या! ठाकुर हंसकर इकबाल का शेर कहते :

खुदी को कर बुलंद इतना, कि हर तकदीर से पहले,
खुदा बंदे से खुद पूछे, बता तेरी रजा क्या है।

और कि,

अभी तो सफर है, रास्ता है, फासला है,
कदम मंजिल, कदम रहनुमा है।

इसके आगे मैं कहती भी क्या, बस मैं भी आंख मूंदकर उनकी दौड़ में शामिल हो जाती थी।

एकला चलो रे

कहते हैं, पूर्वाभास जैसी कोई बात होती है। कई बार जाने-अनजाने कई बातें मुंह से निकल जाती हैं, कई घटती हैं, तो उस समय महत्त्वपूर्ण नहीं लगतीं, परंतु बाद में जब उनके बारे में सोचा जाता है तब लगता है, कहीं वह पूर्वाभास तो नहीं था! कहीं कोई शक्ति तो नहीं थी, जो बार-बार आगाह कर रही थी कि शीघ्र ही जीवन में कुछ अघटित होनेवाला है, आफत का कोई पहाड़ टूटनेवाला है! और नियति तैयार कर रही थी उस स्थिति का सामना करने के लिए!

शुरू से मेरी आदत रही कि ठाकुर के कहीं बाहर जाने पर मैं उन्हें स्टेशन या एअरपोर्ट छोड़ने अवश्य जाती थी। यह क्रम कभी टूटा नहीं पर, उस बार पता नहीं क्या हुआ! मैं 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में अपने कमरे में आफिस के कामों को निपटाने में लगी थी। यह उस समय की बात है, जब मैंने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' छोड़ा नहीं था। शाम को पांच बजे की फ्लाइट से इन्हें बंबई जाना था। मैं घर पर बोलकर आई थी कि तीन बजे तक अवश्य लौट आऊंगी। काम की उलझन में मेरे दिमाग से यह बात निकल गई। इन्होंने घर से फोन भी किया पर लाइन व्यस्त थी, सो बात नहीं हो सकी। अचानक पौने तीन बजे मुझे ध्यान आया कि आज ही तो ये बंबई जा रहे हैं। मैं सब काम छोड़कर घर पहुंची। ठाकुर घर से निकल चुके थे। घर ऐसा खाली-खाली लग रहा था, जैसे कहीं कोई खुशी न हो। सब स्तब्ध था, केवल घड़ी की टिक-टिक सुनाई दे रही थी। पता नहीं क्यों, मुझे बहुत घबराहट हुई। एक ऐसी बेचैनी, जैसी मैंने कभी इसके पहले महसूस नहीं की थी। दिल डूबा जा रहा था। एक ऐसी हूक उठी कि अभी, इसी समय उड़कर इनके पास पहुंच जाऊं। मन को समझाया भी कि आज उम्र के इस दौर में ऐसी बेचैनी किस काम की? कुछ समझ में नहीं आ रहा था। हमारी गाड़ी सामने खड़ी थी किंतु, एक तो मैं चलाना नहीं जानती थी, दूसरे गाड़ी की चाबी भी पता नहीं कहाँ रखी थी। एअरपोर्ट पहुंचना नामुमकिन था। तभी मेरी एक सहेली सुनीता आ गई। मेरी परेशानी देखकर उसने कहा, "चल, मैं तुझे एअरपोर्ट पहुंचाए देती हूं।" मुझे याद आया, गाड़ी

की डुप्लीकेट चाबी तो मेरी अलमारी में है। उसे निकाला, तेज रफ्तार से हम एअरपोर्ट पहुंचे, तब तक ठाकुर अंदर जा चुके थे। अब क्या हो सकता था? सारी दौड़ बेकार हुई। पर तभी मायूसी में, याद आया कि 'जरूरी बात है', कहकर क्यों न नाम एनाउंस करवा दूं! वैसा ही किया। और समय होता तो अपनी इस हरकत पर मैं शायद, स्वयं ही हंसती, पर उस समय पता नहीं क्या हो गया था मुझे? एक खालीपन, कड़वा-कसैला स्वाद जैसे मेरे सारे वजूद पर हावी हो गया था। खैर, यह बाहर आए। मैंने 'शुभ-यात्रा' कहा। मेरी भावनाओं को ये बखूबी जानते थे, खुद भी शायद, वैसा ही कुछ महसूस कर रहे होंगे। मुझे कुछ नहीं कहा, हंसते-हंसते विदा ली। भरे किंतु तृप्त मन से मैं लौट आई। रास्ते में सुनीता बोली, "शादी के इतने वर्षों के बाद भी आपकी यह वेचैनी देखकर वड़ा मजा आया।"

दूसरी घटना बंबई में घटी। उस बार हम साथ ही बंबई गए थे। लौट रहे थे तब, एअरपोर्ट पर चेकिंग कराकर लाउंज में बैठे थे। अचानक ये उठे और 'अभी आता हूँ' कहकर चले गए बाथरूम की ओर। काफी देर हो गई। फ्लाइट का एनाउंसमेंट भी हो गया। बोर्डिंग के लिए तैयार मुसाफिरों की भीड़ भी कतारबद्ध हो गई, पर ठाकुर का कहीं पता नहीं। मैंने एअरपोर्ट पर नजर दौड़ाई—कहीं दिखाई नहीं पड़े। अब तो मुझे आशंका हुई। कहाँ गए, क्या हो गया, क्यों नहीं आए? तभी एक परिचित मिले। उनसे कहा कि 'अंदर जाकर देखें।' वहां भी उन्होंने देखा। एक पल के लिए जिन्दगी थम-सी गई। तभी देखा, दूर नजर दौड़ाकर, तो एअरपोर्ट के एक कोने में, दूर, दूसरी ओर ये बैठे हुए थे। उस दिन तक ऐसा कभी नहीं हुआ। मैंने उलाहना दिया, "ऐसा क्या हो गया, मुझे बताए बगैर यहां इतनी दूर बैठे हो, फ्लाइट भी एनाउंस हो गई।" ये कुछ बोले नहीं। मुझे लगा, कहीं खोए हुए हैं। आखें उठाकर मुझे ऐसे देखा, जैसे कहीं दूर चले गए हों। उस दृष्टि में एक अजब-सा पथराया सूनापन था, जैसे किसी पीड़ा की मूक आवाज। मैं तो घबरा गई। पूछा, "तबियत तो ठीक है?" दूसरे ही क्षण हंस पड़े, बोले, "मैं तो ऐसे ही इधर आकर बैठ गया था। कहीं, कुछ भी तो बात नहीं है।"

बाद में भी मैं बहुत देर तक सोचती रही। बार-बार इनसे पूछती रही, मैंने सोचा, आफिस की कोई उलझन होगी, पर ऐसी भी क्या उलझन, जिसे मुझसे ये बांट नहीं सकते हैं। फिर बात आई-गई हो गई। आज सोचती हूँ तो लगता है, दोनों घटनाएं शायद, आगाज थीं, उस अंजाम की, जो होने को था—बिलगाव और बिछुड़न की तैयारी, जो अनजाने ही घटित हो रही हो। वैसे, इन्हें इंट्यूशन या पूर्वाभास हो जाता था। शायद, वैसा ही कुछ हुआ होगा, पर इस बारे में कभी कुछ इन्होंने कहा नहीं। इधर एक अंतर अवश्य आया था कि नकारात्मक बहुत बोलने लगे थे। मैं सदैव से पाजिटिव थिंकिंग में विश्वास रखती हूँ, इसलिए यदि कुछ नेगेटिव बोलते भी थे तो मैं टोक देती थी।

उस दिन भी ऐसा ही हुआ। 16 जनवरी, 1989 हमारे विवाह की वर्षगांठ थी। सदैव की भांति एक छोटी-मोटी पार्टी रखी गई। महफिल जमी अच्छी-खासी। सभी मित्र आए। सारा ड्राइंगरूम फूलों की खुशबू से भर गया। उत्सव का-सा माहौल था। संगीत की लहरें उठ रही थीं। सुखमय जीवन-सौंदर्य को भरपूर समेटने की अभिलाषा मन में जन्म ले रही थी कि अचानक ठाकुर बोल पड़े, 'अगले साल से अपने विवाह की वर्षगांठ नहीं मनाएंगे।' "क्यों, ऐसा क्यों कह रहे हो?" मैंने टोकते हुए कहा। इन्होंने उत्तर दिया, "अगले साल से अमित के विवाह की वर्षगांठ मनाएंगे।" मैंने फिर भी कहा, "अपनी भी मनाएंगे और उसकी भी।" आज भी उनका वह वाक्य कानों में सीसे की तरह घुला हुआ है।

उसी दिन रात्रि में किसी का फोन आया। हम लोगों को दूसरे दिन सुबह ही पहली फ्लाइट से बंबई जाना था। फोन शायद, किसी मित्र का था। उसने कहा, "कल तुम बंबई मत जाओ।" इन्होंने पूछा भी, "क्यों?" तो, उसने उत्तर दिया, "ऐसे ही कह दिया। बाद में चले जाना।" जब इन्होंने मुझे बताया तो मैंने कहा भी कि जब टोक दिया है तो नहीं जाते हैं। इन्होंने कहा, "पागल हुई हो, टिकट वगैरा आ चुके हैं। टोकने-टाकने से कुछ नहीं होता है।" पर मेरा मन आशंकित हो उठा। मैंने फिर भी कहा, "हर काम आदमी अपनी खुशी के लिए नहीं करता, दूसरों की खुशी के लिए भी करता है। यही जिंदगी के इम्तहान हैं।" पर ये माने नहीं और मैं ज़िद कर नहीं पाई। दूसरे दिन सुबह हम एअरपोर्ट के लिए निकलने लगे, तो इन्होंने बाई से, जो हमारे यहां काम करती थी, कहा, "सोफे आदि पर कवर डाल दो।" सोफा नया, पिछले दिन ही बनकर तैयार हुआ था। उसका पेमेंट भी ये बड़ई को कर चुके थे, पर कुछ बाकी था। रात को बारह बजे पार्टी खत्म होने पर, जब ये चेक बुक लेकर बैठे, तो मैंने कहा भी, "इतनी जल्दी क्या है? थोड़ा-सा पेमेंट बाकी है। आकर दे देना।" किंतु इनका कहना था, "गरीब आदमी है। पता नहीं उसे क्या जरूरत हो?"

हम कहीं भी जाते, पर हमारा घर सदैव खुला रहता था। कभी ताला हमने बंद नहीं किया। न ही सोफे आदि कवर किए। मुझे सफेद चादरों से ढंके फर्नीचर बड़े मनहूस लगते हैं। वैसे, ये कभी इन छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे, पर उस दिन जाने क्या सूझी, जो सोफे को कवर करने की बात बोल गए। घर से निकलने लगे तो ड्राइंग रूम से निकलते-निकलते बोले, "इतने मन से सोफा बनवाया, उस पर बैठ भी नहीं सके।" मैंने फिर कहा, "ऐसा क्यों बोलते हो? कौन हमेशा के लिए जा रहे हैं? चार-पांच दिन बाद आएंगे तो बैठोगे ही।" पता नहीं, किस कुघड़ी में वह बात उनके मुंह से निकली। उस सोफे पर बैठ ही नहीं सके।

बंबई पहुंच कर चार-पांच दिन बड़े हंसते-खेलते बीत गए। बेटी नीहारिका और दामाद सुनील कुच्छल उन दिनों बंबई में ही थे। कभी उनके साथ, कभी मित्रों के साथ गोष्ठियां

जम जातीं। दिन-भर तो व्यस्तता में निकल जाता, शाम को ही रिलैक्स होने का अवसर मिलता था। उस दिन बंबई में हमारे मित्र मित्तल परिवार के घर पर एक संगीत सभा का आयोजन किया गया। कांता मित्तल और उनके पति परमेश्वर मित्तल हमारे घनिष्ठ मित्रों के दायरे में आते थे। जब भी हम दिल्ली से आते और कुछ दिन बंबई रुकते तो एक-आध बार गोष्ठी जम ही जाती। इधर क्योंकि, बहुत दिनों से ठाकुर बहुत व्यस्त रहे थे, कोई गोष्ठी नहीं जमी थी। कांताजी स्वयं भी संगीत जानती थीं और अच्छा गा लेती थीं। उनके कला-प्रेम के कारण उनके घर की गोष्ठियों में बड़ी रौनक रहती थी। मित्तल परिवार के बच्चों ने भी ठाकुर से कहा, “अंकल, बहुत दिन से कुछ जमा नहीं, अवकी बार एक गोष्ठी रख ही लीजिए।” और तय हुआ कि राजकमलजी को बुलाया जाए और एक शाम अच्छी बैठक हो।

अच्छी-खासी पारिवारिक गोष्ठी जम गई। दैनिक ‘जागरण’ के संपादक नरेन्द्रजी के भाई वीरेन्द्र मोहनजी भी आए हुए थे। राजकमलजी ने अनेक सुंदर गीत गाकर गोष्ठी में खूब रंग जमाया। तभी ठाकुर ने राजकमलजी से फरमाइश की, “राजकमलजी, भारत भूषणजी की वह कविता गाइए—‘आंगन का गुलाब’। इस कविता में कवि ने जीवन के तीन चरण—बचपन, जवानी और बुढ़ापे को बहुत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया था, जिसे राजकमलजी ने मेरे ही आग्रह पर संगीतबद्ध किया था। कविता बहुत सुंदर थी, पर उस महफिल में गाने लायक नहीं थी क्योंकि, वहां अधिकांश किशोर वय के मित्तल परिवार के बच्चों के मित्र लड़के-लड़कियां थे। मैंने सोचा, वे लोग इस गंभीर कविता को क्या पसंद करेंगे? किंतु ठाकुर का आग्रह। राजकमलजी ने दो पद गाए, बचपन और जवानी के बारे में। तीसरा, बुढ़ापेवाला अंश वह भूल गए। कई बार याद करने की कोशिश की, पर वे लाइनें उन्हें याद ही नहीं आईं। कांताजी को भी याद नहीं आईं। तब ठाकुर ने ही याद दिलाया—

कर मेरी सांसों के हिसाब
कितने भ्रम और संजोने हैं
कितने दिन और बिखरना है
संबंधों के बबूल वन में
क्या होगा इन गुब्बारों का
दो-चार घड़ी का जीवन है
हारों का, बंदनवारों का
सुन मेरी सांसों के हिसाब
जिसका भी नाम लिखे अब तू
बहती जलधारा पर लिखना।

अंत की तीन-चार लाइनें तो ठाकुर ने बार-बार दोहराईं। उस समय क्या पता था

कि बहती जलधारा पर सांत्नों का हिसाब, ईश्वर को हमारे लिए ही लिखना था।

दूसरे दिन, फिर ये काम में उलझ गए। प्रोग्राम यह बना कि शाम को एक साथ घूमने निकलेंगे और कुछ शापिंग भी कर लेंगे। शाम को छह बजे के करीब फोन आया कि आज मैं तो चल नहीं सकूंगा, तुम नीहारिका को साथ लेकर हो आओ। मेरे लिए भी एक-दो सूट का कपड़ा ले आना। न हो तो 'सफारी' का ले लेना। ऐन मौके पर अपनी ही व्यस्तता में मग्न, इनसे मैं क्या कहूँ—सोच ही नहीं पाई थी। कर्म ही जिसके जीवन का सिद्धांत हो, उसके लिए शापिंग कोई महत्त्व नहीं रखती। मैं बेटी को लेकर इनकी पसंद की दूकान पर गई, पर ताज्जुब, हरदम कपड़े के थानों से लदी-फंदी वह दूकान, उस दिन एकदम खाली पड़ी थी। दुकानदार हमें जानता तो था ही। बोला, "साहब के लायक तो आज कुछ भी नहीं है। ऐसा करिए कि आप शुक्रवार को आ जाइए।" मायूस होकर हम लौट आए। करीब साढ़े दस बजे ये लौटे। मैंने बताया कि आज तो पूरी दुकान ही खाली थी। बोले, "तो इसमें क्या हो गया, खाली थी तो खाली ही सही। हम कौन शुक्रवार तक उसके लिए बैठे रहेंगे? उसके पहले ही चले जाएंगे।"

बेटी के घर खाना खाकर करीब ग्यारह बजे हम लौट आए। बड़ी देर तक जागते रहे। ढेरों बातें कीं। कहने लगे, "तुम रोज कहती हो, मैं जो काम करता हूँ, वह दूसरों के बैनर-तले करता हूँ।" (उनका इशारा फिल्म 'अनजाने लोग' की तरफ था, जो जगदीश जसनानी की संस्था 'देवी आर्ट्स' के बैनर-तले बन रही थी।) कहने लगे, "आज ही मैंने एक कंपनी बनाई है। अब उसी के अंतर्गत सब काम करूंगा।" मैंने कहा, "मैं तो इसलिए कह रही थी क्योंकि, अपने मतलब के लिए, आपकी संवेदना जगाकर, जी-हुजूरी करके, सब अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।"

ठाकुर मुस्कराकर बोले, "मैं जानता नहीं हूँ क्या?"

ये पैदा ही हुए थे कर्म करने के लिए, सामर्थ्य से बाहर जाकर जरूरतमंदों की सेवा करने के लिए। मुझे क्या पता था कि उनके स्वधर्म से उन्हें हटाने की चेष्टा मुझे कितनी महंगी पड़ेगी? उस समय उसके परिणाम की कल्पना भी मैं नहीं कर सकी थी।

रात के दो बजे हम सोए। उस रात की भोर मेरे जीवन में कोहराम मचा गई। सुबह पांच बजे इन्होंने मुझे जगाया। कहा, "भीम को बुलाओ। मुझे बेचेनी और दर्द महसूस हो रहा है।" इन्हें पसीना भी आ रहा था। मैंने इन्हें सीधा लिटाया और हिलने-डुलने को मना किया। भीम अर्थात् डॉ. सिंगल जो आज बंबई के प्रसिद्ध न्यूरो-फिजीशियन हैं, हमारे अंतर्गत थे। बालिगा ट्रस्ट से स्कालरशिप दिलवाकर ठाकुर ने उन्हें लंदन भिजवाया था। वह भी सदैव हमें बड़े भाई-भाभी का सम्मान देते थे। मैंने तत्काल भीम को फोन किया। इस बीच बिल्डिंग में ही नीचे रहनेवाले एक डॉक्टर को बुला लिया। भीम आते, उसके पहले ही बांबे अस्पताल के नामी फिजीशियन और हृदय-रोग विशेषज्ञ डॉ. बोर्रिज आ गए।

पौने छह बजते-बजते तो एंबुलेंस भी आ गई। छह बजे तक बंबई हास्पिटल के इंटेंसिव केयर रूम में दाखिल हो गए। दिल्ली से अमिताभ, दानू, चिंका (बेटा, बहू और पोता) सभी आ गए, सभी का कलेजा मुंह को आ रहा था। अस्पताल में डॉक्टरों की भीड़ लग गई। दौरा पहली बार पड़ा था किंतु, बहुत भयानक था। एक बार कुछ चैतन्य हुए तो बोले, “चिंका को बुलाओ।” चिंका हमारे पौत्र का प्यार का नाम है। उसे ठाकुर प्राणों से अधिक प्यार करते थे। फिर तुरंत ही कहा, “उसे रहने दो। मुझे इस दशा में देखेगा तो घबरा जाएगा।” फिर दिन-भर हम शीशे से झांक-झांककर ही उन्हें देखते रहे। कभी लगे, कुछ सुधार हो रहा है, कभी लगे, यह तो महज धोखा है। शाम ढले तक मैंने डॉक्टरों से बार-बार तबियत के बारे में पूछा। उनका एक ही जवाब था, “सब कुछ कंट्रोल में है। बस, अड़तालिस घंटे निकल जाएं।”

ये अड़तालिस घंटे कैसे बीतेंगे ? दौड़ी-दौड़ी महालक्ष्मी मंदिर गई। मां से प्रार्थना की। उन्हीं का सहारा था। सुबह के तीन बजे तक सब ठीक था। मैं दो मिनट के लिए ही कमरे से बाहर आई थी। बाथरूम तक जाने के लिए। लौटी तो कमरे के सामने भीड़ लगी थी। यह क्या हो गया? कमरे में घुसने की कोशिश की, डॉक्टरों-नर्सों ने घुसने नहीं दिया। दौड़कर बेटे को बुलाया। डॉ. सिंगल को फोन किया। उनकी लड़की और दामाद दोनों डॉक्टर थे, रात-भर अस्पताल में ही रहे पर, क्या कर सका कोई? देखते-देखते सबको रोता-बिलखता छोड़ ये तो अनंत में लीन हो गए थे। जिनका एक पल का वियोग सहन नहीं हो सकता था, उन्हें अब कहां देख पाऊंगी! कितना पकड़कर रक्खा—पर क्या पकड़ सकी उन्हें! जो दूर रहकर भी सदैव साथ रहते थे, आज सामने दिख रहे हैं, पर कितनी दूर चले गए हैं। भूल गई उस क्षण सब बुद्धि, कौशल, आत्मज्ञान। रह गए केवल आंसू, अनवरत बहते आंसू। उस क्षण बस ऐसा लगा, मेरे लिए सब कुछ खत्म हो गया है। संगीत की वह लय जिसे हमने साथ-साथ सुना था, फूलों की वह मादक सुगंध जिसे हमने एक साथ अपने प्राणों में समोया था, कविता के वे छंद जिन्होंने हमारे चारों ओर इंद्रधनुषी संसार की रचना की थी—सब लुप्त हो गए, खो गए असीम अंधकार में।

अनंत की ओर बढ़ती उस महायात्रा के दिन, अंतिम प्रणाम कर जब सिर उठाया, तब उस मोहभंग की स्थिति में भी ऐसा लगा जैसे, विशालकाय, पृथ्वी से गगन की ऊंचाई को छूता हुआ भगवान विष्णु का चतुर्भुज रूप सामने अवतरित है। मैं तो देवी की उपासक थी। भागवत-स्वरूप की यह कैसी कृपा मुझ पर हुई! शायद, जाते-जाते ये मुझे उन्हीं संसार के पालनकर्ता और रक्षक विष्णु भगवान को सौंप गए। अब से वही मेरे आराध्य होंगे।

एक बहुत बड़े शॉक से गुजरने के बाद मेरी सोचने की, कुछ महसूस करने की शक्ति ही खो गई। लगता, वे लम्हे, वे दिन, वे महीने, वर्ष जैसे स्मृति-पटल से पुंछ गए हों। उन दिनों कौन आया, कौन नहीं, किससे मिली, किससे नहीं, क्या बातें हुई, क्या नहीं—कुछ

याद नहीं। जैसे, एक समाधि की स्थिति में ईश्वर ने मुझे पहुंचा दिया हो, जिसमें बाहर क्या हो रहा था, आसपास क्या घट रहा था—मुझे कुछ ज्ञात नहीं। बस, एक दर्द की अमंगल छाया में मैं जी रही थी। काम सारे हुए होंगे, मैंने ही किए होंगे किंतु, मशीनवत् ही किए होंगे।

धीरे-धीरे एक लंबे अरसे के बाद या कहें वर्षों के अंतराल के बाद, यादें धीरे-धीरे लौटने लगीं। यादों की घटाओं—जैसी फैली हुई बेचैनी और गीली उदासी धीरे-धीरे छंटने लगी और मेरे अंदर से आवाज आई, जैसे कोई मुझसे कह रहा हो, “मैंने तुम्हें ऐसा इसलिए तो नहीं बनाया था कि तुम हाथ-पांव छोड़कर बैठ जाओ!” मुझे लगा, यह मेरे ठाकुर की ही आवाज है। वे कह रहे हैं, ‘यह ठीक है कि हमने-तुमने ऐसे क्षण पाए, जिन्हें पाना शायद ही किसी का नसीब हो। हमें दुनिया नजर नहीं आती थी, हंसों के जोड़े की तरह हम ही एक दूसरे को नजर आते थे। जरा-सा भी डर नहीं था, एक-दूसरे को खोने का। पर, क्या हमारा रिश्ता इतना अपाहिज था कि एक झटके में ही माला के मनकों की तरह बिखर जाए? क्या सब केवल आमने-सामने का खेल था—दो शरीरों तक ही सीमित? क्या हम इसे दूसरा रूप नहीं दे सकते—आत्मा का वह जुड़ाव, जहां खोने-पाने का सिलसिला ही खत्म हो जाए और अंतरंगता का वह रंग चढ़े, जिसे कड़ी से कड़ी धूप भी फीका न कर सके?’ और उस दिन से मेरे लिए संबंधों की संज्ञा ही बदल गई। कुछ खोने का डर नहीं, न पाने का क्योंकि, जो खोया था, वह तो मेरे अंदर ही था—मेरे मन की गहराइयों में, हर क्षण, हर जगह, मेरे साथ एक खुशबू की तरह, दिल और दिमाग के भीतर।

एक अनुभव और हुआ। जब-जब पूजा में बैठी, जहां-जहां, जिस-जिस देवस्थान में गई, वृंदावन से लेकर जगन्नाथपुरी और नासिक से लेकर सोमनाथ तक, जब भी भगवान को देखा, ठाकुर का चेहरा सामने आया। जब द्वारका पहुंची, तब भी ऐसा ही अनुभव हुआ। किंतु, द्वारका के बाद फिर ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ। मानो वे अनंत में लीन हो गए। मीरा की भांति मेरे ठाकुर भी ठाकुर के चरणों में समा गए।

ठाकुर अब नहीं हैं। उनसे दूर रहकर, जब मैंने अपने आपको देखा तो मुझे अपना अस्तित्व ही नगण्य लगा। अपनी आंखों से जब अपने अंदर झांका तो केवल आंसू दिखाई पड़े। उन दिनों कहीं बाहर जाने का दिल ही नहीं करता था। ऐसा महसूस होता जैसे, अपने ठाकुर को खोने में मेरा अपना ही हाथ हो। जैसे, मैंने कोई अपराध किया हो। जैसे, सब मुझे ही देख रहे हैं और देख भी किस प्रकार रहे हैं, जैसे, मुझ पर दया कर रहे हों। अपना चेहरा मैं कैसे दिखाऊं सबको, कैसे निकलूं बाहर? कहां माथे पर बड़ी-सी गोल चटक लाल कुंकुम की लहकती बिंदिया से सुशोभित आनन और कहां यह निस्तेज, श्रीहीन चेहरा! एक अनचाहे, अनकहे अपराध-बोध से ग्रसित! कहां छिपाऊं इसे? घर की दीवारें जो कभी सुरक्षा का अहसास कराती थीं, अब काटने दौड़तीं। घर में सब थे, बेटा अभित,

बहु दानू, पोता चिंका, बेटी नीहारिका किंतु, मैं सबसे अलग अपने को कटा-कटा-सा महसूस करती। सबके बीच भी कितनी अकेली! मन करता इस घर से, अपनों से इतनी दूर चली जाऊं कि मैं किसी को न देखूं, कोई मुझ तक न पहुंच सके। एक शून्य में—महाकाल के शून्य में पहुंच गई थी मैं, जहां न बारिश थी न धूप, न गरमी थी न सर्दी और हवा शुष्क और सूखी हुई, गर्म। कुछ भी हिलडुल नहीं रहा था। उल्लास, कहकहे—सब अतीत की बातें लग रही थीं। अपने को समेटने के सारे प्रयत्न रेत की तरह मुझी से सरक-सरक जाते। कितनी रातें तकिए में मुंह छिपाकर रोती रही हूं, इस तरह कि कोई मेरी सिसकियां न सुन ले। सुख पारे-सा बिखर गया था और मैं अकेली रह गई थी—यह विचार ही अंगारों-सा दहक रहा था। और उन अंगारों के बीच खड़ी थी मैं—भावनात्मक रूप से दिवालिया, शारीरिक रूप से कमजोर।

आज जब पीछे मुड़कर देखती हूं, तब उन तमाम तस्वीरों पर एक नई ही रोशनी पड़ती है और अनेक नए अर्थ खुलने लगते हैं, जो पहले कभी नजर नहीं आते थे।

देरों लोग आए थे—परिचित, अपरिचित, करीबी और दूर के, अपने-अपने ढंग से सबने सांत्वना दी होगी। ताजुब, किसी की बात जेहन में नहीं उतरी, सिवाय मधु प्रसाद और डॉ. पी.के. गुप्ता की बात के, जो अवचेतन में, निराशा और अवसाद के बीच से छनकर कहीं गहरे पैठ गई। मधु प्रसाद को उससे पहले मैं कभी मिली नहीं थी। न ही उनके बारे में कुछ जानती थी। एक दोपहर वे आई और कहने लगीं, “शीलाजी, मैं कभी आपसे पहले मिली भी नहीं और न ही मैं झुनझुनवालाजी को जानती थी, पर आप लोगों के बारे में सुना बहुत था। मेरे पति सेना में मेजर हैं। हमें, सैनिकों की पत्नियों को, हर दिन जान हथेली पर लेकर जीना पड़ता है कि पता नहीं शाम को हमारे प्रिय घर लौटेंगे या नहीं, फिर भी हम जीते हैं, उन क्षणों को याद करके, जो हमने उनके साथ बिताए होते हैं। सोचिए, उन स्त्रियों के बारे में, जो जिंदगी-भर पति से लड़ती-झगड़ती रहती हैं और बाद में, उनके न रहने पर सफेद धोती पहनकर ‘सोग’ मनाने बैठ जाती हैं। जैसे, दुख का समंदर अपनी उस सफेद चादर में छिपाए हों। आपके पास तो यादों के मनके हैं। उन्हें आप पिरोना शुरू करेंगी तो वे कभी चुकेंगे ही नहीं। मत सोचिए कि आप लोगों को जिंदगी कितनी कम मिली—सोचिए, कितनी खूबसूरत मिली। उसी को जीवन का आधार बनाइए। फिर देखिए, जीने का आधार मिल जाएगा।”

और आए डॉ. पी.के. गुप्ता। मेरे पोते चिंका के डॉक्टर हैं। जनम से ही संभाला है उन्होंने उसे। शायद, मेरी बहु दानू ने उन्हें मेरी दशा के बारे में बताया होगा। मैं स्वयं उनसे पहले कभी नहीं मिली थी। एक शाम आए, कहने लगे, “शीलाजी, मैं आपको क्या समझाऊं? आप स्वयं समझदार हैं। आज आप सोच रही हैं कि सब चुक गया। थर्मामीटर के पारे की तरह टूटकर धरती पर बिखर गया। पर, ऐसा नहीं होता है। बिखरना और

दूटना पारे का धर्म है, मनुष्य का नहीं। आपके पास बहुत लोग आए हैं, बहुत बातें कहीं होंगी उन्होंने। आपको बहुत तरीकों से समझाया होगा किंतु, शांति तो आपको अपने अंदर से ही मिलेगी। उसे दूढ़ने आपको कहीं जाना नहीं होगा। वह न तो वेद-पुराण, न गीता-उपनिषद से मिलेगी। अपनी आत्मा में झांककर देखिए, क्या आप सचमुच में अकेली हैं? अपने अकेलेपन से ही बातचीत करिए। वही आपको सार्थक हल और इस ठहराव से निकलने की राह देगा।”

मेरे मन के किसी कोने को दोनों की बातें छू गईं और मैं अपने आपसे कहने लगी, ‘सच, बेवकूफ हूं मैं, जो यह सोचती हूं कि मैं फिर इन्हें कभी देख नहीं सकूंगी। गलत है मेरा यह सोचना कि मैं इनसे कभी बात नहीं कर सकूंगी। गलत है। सब गलत है। मेरे ठाकुर तो मेरे साथ हैं, मेरे हर कृत्य में, हर काम में, मेरे सोच में, मेरे विचार में। वे कहाँ खोए हैं? खोई तो मैं रही, जो ऐसा सोचती रही।’ और उस दिन से मैं शांत हो गई। बदलती दुनिया, बदलते संसार को आत्मसात करने लगी। बीत गए वे दिन, जब मैं तनिक-सी बात पर विफर पड़ती थी। मेरा क्रोध, मेरा लोभ, मेरा मोह, मेरा आवेग, सब तिरोहित हो गया। शांत हो गई मैं। मैंने सोचा, अब से यह दर्द मेरी आत्मा की गहराई में कंजूस की थाती की तरह सुरक्षित रहेगा, धरती में गड़े उसके धन की तरह। इसे किसी के साथ मुझे बांटना नहीं है, स्वयं ही सहन करना है। कविकुल गुरु रवींद्रनाथ टैगोर की वे पंक्तियां याद आ गई :

‘एकला चलो रे, एकला चलो’

पर क्या यह सहज था? कुछ दिन लगता—सब ठीक है, मन अब शांत हो गया है। फिर कोई घटना घटती, कोई अहसास जगता, कोई समस्या सामने आती तो फिर उसी पुरानी स्थिति में पहुंच जाती। अंतर के किसी कोने में तर्क-कुतर्क चलते ही रहते। एक मन कहता : ‘मन की बेचैनी की गर्मी का तुझे शमन करना ही होगा। तेज गर्मी तो समुद्र को भी उफना देती है। तब उसमें ज्वार उठ आते हैं और सब कुछ तहस-नहस हो जाता है। क्या तू ऐसा चाहती है कि सब कुछ नष्ट हो जाए?’ फिर मन कहता : ‘नहीं-नहीं, मैं ऐसा नहीं चाहती। पर कर भी क्या सकती हूं?’ अपने-आपसे ही जवाब मिलता : ‘जिंदगी ठहराव नहीं है। वह नदी की तरह है। नदियां चट्टानों से रुक नहीं सकतीं। बढ़ना उनका धर्म है। इसलिए वे चट्टानों के बीच से अपना रास्ता बना लेती हैं। तुझे भी अपना रास्ता बनाना होगा।’ फिर शंका उठती : ‘पर जिस नदी का स्रोत ही सूख गया हो, वह क्या रास्ता बनाएगी?’

शंका का समाधान भी अपना मन ही करता। वह तर्क देता : ‘स्रोत हमेशा चट्टानें तोड़कर बनते हैं। बिना अपनी उम्र जिए वे कभी नहीं सूखते। रास्तों की चट्टानें उनका रास्ता तो बदल सकती हैं, मगर इससे जल का धर्म नहीं बदलता। वह जहां जाता है, हरियाली को जन्म देता है। पतझर और बसंत की लड़ाई का यह सिलसिला तो कभी नहीं रुका

है, अनादि काल से चला आ रहा है। इस सिलसिले को न तो मनुष्य शुरू करता है, न ही खत्म करने का उसे अधिकार होता है। उसके वश में है सिर्फ जीना। यही उसका धर्म है। यही वस उसके अधिकार में है। और यदि जीना है, तो क्यों न ज़िंदगी को हंसकर जिए? रोते हुए के पास कोई नहीं आता क्योंकि वह आस-पास के माहौल की खुशी भी छीन लेता है।'

पर यह सब एक दिन में नहीं हुआ। पल-क्षण में नहीं हुआ। एक पल में जो घटा, उसे सहने में महीने और वर्ष निकल गए। एक संकल्प लिया कि दूसरों का दया-पात्र मुझे नहीं बनना है। अपने अहं को उतना ही दबाना है, जिससे वह दूसरों को नुकसान न पहुंचाए। परंतु मैंने उसे सहेजकर भी रखा ताकि दूसरे मुझ पर हावी न हो जाएं और मेरी अपनी पहचान भी बनी रहे। उस दिन से मेरी यात्रा को एक मंजिल मिल गई। मैंने एक चेहरा अपने चेहरे पर चढ़ा लिया, जो बड़ा बहादुर और साहसी था। हालांकि, अंदर से अभी भी मैं कमजोर और स्वयं निर्णय लेने में परमुखापेक्षी थी।

बिखरे तारों को जोड़ना आसान नहीं था। कितनी समस्याएं थीं, जो त्रिशंकु की तरह अधर में थीं। आस्था और विश्वास की डोर से बंधे लोग जीवन-भर मकड़ी-सरीखा जाला बुनते हैं अपने चारों तरफ। सोचते हैं, उसी की डोर के सहारे कभी उस घेरे से निष्कृति भी मिल जाएगी। निकलने का रास्ता मिलता भी है और नहीं भी मिलता। संसार ही ऐसा है। पहले तो हर मुश्किल का सामना करने के लिए हम दो थे। अब मैं थी अकेली। क्या मैं अकेले हल निकाल पाऊंगी? इस स्थिति में यदि बाहर से साहस और हिम्मत का मुखौटा नहीं लगाती, तो लोग रैंद ही डालते, अंदर से भी और बाहर से भी। पर, मैंने उद्दाम शक्ति, संयम और संकल्प की डोर से अपने को बांधे रखा, मकड़ी ही की तरह, जो लक्ष्य को पाने के लिए बार-बार निराश होने पर भी हिम्मत नहीं हारती। इसलिए ईश्वर की कृपा से कुछ भी बिखरा नहीं। हां, इसमें साथ दिया मेरे बेटे अमिताभ और उसकी पत्नी, मेरी बहू दानू ने। यदि वे अपना अलग बसाया नीड़ छोड़कर मेरे साथ रहने न आते तो, शायद, सचमुच मैं कुछ न कर पाती। बच्चों के आने से जैसे मुझे संबल मिल गया। फिर भी संभलते-संभलते कई वर्ष बीत गए।

अंततः बंबई जाने का कार्यक्रम बनाया। वह नगरी, जहां पहले जाने का आकर्षण सदैव अपनी ओर खींचता रहता था, अब वहां जाने के नाम से ही प्राणों में अकुलाहट भर रही थी। कैसे जाऊं? कैसे मिलूं सबसे? पर काम जो वहां अधूरे पड़े थे, उन्हें पूरा भी तो करना ही था। 'अनजाने लोग' फिल्म का काम पूरा हो गया था। काफी एडिटिंग ये कर चुके थे किंतु, कुछ बाकी थी। इसके अलावा कुछ दृश्यों की कंटीन्यूटी के लिए शायद, कुछ शूटिंग भी करनी पड़े। बंबई सदैव एक तरह से हमारा कार्य-क्षेत्र रहा ही था—शूटिंग के दौरान मैं बराबर इनके साथ रहती थी, इसलिए कोई परेशानी नहीं आएगी, यह मुझे मालूम

था। किंतु मन का क्या किया जाए? वह तो जहाज के पंछी की तरह लौट-लौटकर यादों के भयावह अंधेरों में खींच ले जाता। उसको तो शायद, वहीं सुख मिलता हैं क्योंकि, यदि वे दंश देती हैं तो कहीं मधुर-मादक स्पर्शों की अनुभूति भी कराती हैं।

एअरपोर्ट से घर तक की दूरी मैंने कैसे काटी, मैं ही जानती हूं। मैंने सबको मना कर दिया था कि मुझे एअरपोर्ट पर लेने न आएँ क्योंकि, अपना महाभारत अब मुझे स्वयं लड़ना था। सारे रास्ते आंसू बहते रहे। यही वह नगरी है, जहां सपनों का संसार बसा था और यहीं वह संसार उजड़ भी गया।

जगदीश जसनानी को फोन करके एडिटिंग शेड्यूल बनाया। मैं पूरे समय बंबई में अपने को इतना व्यस्त रखना चाहती थी कि सिवाय फिल्म के और सारे द्वार बंद हो जाएँ। कोई रंभ, कोई सुराख शेष न रहे, जहां से यादें मन की एकाग्रता को विचलित कर सकें। बेटी नीहारिका ने बहुत बार कहा कि वह मेरे साथ रहेगी, पर मैंने हर बार उसे मना कर दिया।

उस दिन पूरे समय मैं एडिटिंग रूम में रही। जगदीश जसनानी को भी अंदर नहीं आने दिया। स्क्रीन पर सामने फिल्म के दृश्य थे और आंखों से आंसू बह रहे थे। 'अनजाने लोग' की फिल्म-स्क्रिप्ट मैंने ही लिखी थी। वे शब्द, वे संवाद क्या मेरे द्वारा किसी अदृश्य शक्ति ने लिखवाए थे? जीवन और मृत्यु का रहस्य, जीवन का सत्य देहधर्म से छूटना है—यह जानते हुए, मृत्यु का हर क्षण अभिनंदन करने के लिए तैयार कहानी का नायक और उसके उत्तर-प्रत्युत्तर कि 'क्या शरीर के मुक्त होने से आत्मा भी मुक्त हो जाती है'—क्या मैंने ही लिखे थे? नायिका के समस्त अंतर्द्वंद्वों का सैलाब क्या मेरे ही आगत भविष्य की उलझनों और पीड़ाओं की ओर संकेत कर रहा था?

शाम को एडिटिंग रूम से निकली, तो मन फिर बड़ा अशांत था। अंधेरा चारों ओर से घेर रहा था। अवसाद की गहरी दस्तक फिर सुनाई पड़ रही थी। मन डूबा जा रहा था। सांस मानों आ-जा नहीं रही थी। घर जाने का मन नहीं हो रहा था। कहाँ जाऊँ, किसके पास जाऊँ, जिससे मन थोड़ा हलका हो जाय? एडिटिंग रूम बंबई के एक उपनगर खार में था। रास्ते में डॉ. धर्मवीर भारती का घर था। एक बार सोचा, वहाँ जाऊँ। पुष्पा भारती से बात करूँ। फिर सोचा, उन्हें भी क्यों दुखी करूँ? भारतीजी अभी अस्पताल से, मृत्यु से लड़कर, लंबी बीमारी भोगकर आए हैं। उनके पास जाना उचित नहीं है। मन में हुआ, समुद्र के किनारे जाकर एकांत में बैठूँ। उसका विस्तार, उसकी गहराई शायद मेरे मन को शक्ति दे कि उसके समान मैं भी अपने अंदर उठते उफान को स्वयं ही आत्मसात कर सकूँ। अंधेरा घिर रहा था। मैं घर लौट आई—महालक्ष्मी के घर, शीला एपार्टमेंट में। आते ही सब खिड़की-दरवाजे खोल दिए। और जो रोई, तो रोती ही रही। बेटा अमिताभ और बेटी नीहारिका दोनों हाथों से थामे रहे। वह रोना कैसा रोना था? वह रोना ऐसा था कि उसके बाद मैं वैसा रोई नहीं। मेरे आंसू ऐसे चुक गए जैसे, जल से भरे घड़े को कोई लुढ़काकर धूप में रख दे, तो उसमें एक बूंद जल की नमी भी शेष न रहे।

वापस लौट आई दिल्ली। जीवन को संतुलित और संयमित कर लिया मैंने।

दिल्ली पहुंचते ही खबर मिली, भारत सरकार की ओर से विशिष्ट अलंकरण पद्मश्री से सम्मानित करने के लिए चुना गया है मुझे। सारे जीवन की उपलब्धियों का यह एक महत्त्वपूर्ण आकलन था। ठाकुर के सामने मुझे 'पद्मश्री' से अलंकृत किया जाता, तो वे कितने प्रसन्न होते, इसका अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। मंजिल के इस छोर पर पहुंचकर मेरी प्रसन्नता अधूरी ही रह गई।

अंततः टी.पी. झुनझुनवाला फाउंडेशन की स्थापना की, जिसके अंतर्गत पिछले बारह वर्षों से विभिन्न सामाजिक कार्य चल रहे हैं। फाउंडेशन द्वारा सहायताप्राप्त किसी विकलांग को जब पैर मिल जाते हैं, या किसी दृष्टिविहीन के लिए रोजगार के आयाम खुल जाते हैं, या फिर किसी छात्र को अपना मनचाहा कैरियर बढ़ाने में सफलता मिल जाती है और वह इतना अभिभूत हो जाता है कि अपना नाम ही ज्ञानप्रकाश से बदलकर ज्ञानप्रकाश झुनझुनवाला रख लेता है और फिर वीरान आदिवासी बस्तियों में बख्तावरपुर-जैसी दूर-दराज जगह में कुछ रोगियों के लिए चिकित्सा कैंप लगाकर उनका इलाज करता है, या किसी नन्हे-मुन्ने के मुख की मुसकान लौट आती है, तब मुझे लगता है, जीवन की सार्थकता प्राप्त हो गई है।

'प्रियदर्शिनी' के माध्यम से जब नारी-शक्ति को ऊर्जा मिलती है, उनका आत्मबल, आत्मविश्वास बढ़ता है, उनकी क्रियात्मकता और रचनाशीलता को तथा साहित्य-सृजन को बल मिलता है, वे अपनी अस्मिता की रक्षा करती हैं और अपनी पहचान बना लेती हैं, तब 'आत्मदीपो भव' के महत्त्व का आभास होता है।

मेरे और मेरे ठाकुर के स्वप्न की पूर्णता को, वह अभी चाहे कुछ ही अंशों में प्राप्त हुई हो, निरंतर गति मिल रही है। इस यात्रा में सहभागी है हमारा परिवार। हमारा एक और बड़ा परिवार है—'राजस्थान क्लब', 'राजस्थान रत्नाकर' और 'प्रियदर्शिनी' का परिवार, अनेक मित्र, परिजन, बंधु, सखा। 'एकला चलो' के मूल-मंत्र को लेकर साहसपूर्वक जिस यात्रा का आरंभ किया था, उसमें आज अनेक हाथ, अनेक पग साथ हो लिए हैं और यात्रा को अविराम गति मिल रही है।

जहां तक मेरा संबंध है, अपने ठाकुर के जाने के बाद परमपिता परमात्मा से अपने लिए दस वर्ष मांगे थे, अधूरे कामों को पूरा करने के लिए। वे तो उस परम आराध्य, सर्वशक्तिमान, जगत के नियंता ने दे दिए। अब जो कुछ है, जितने वर्ष हैं, वह बोनस में मिल रहे हैं। अंतिम पड़ाव अनजाना, अनचीन्हा नहीं है।

प्रारंभ में मैंने कहा था, सूर्य से मेरा नाता पुराना है। जीवन-भर सूर्य की नैसर्गिक स्नेहमयी थपथपाहट से मेरा दिन शुरू होता रहा। कैसी अनंत संभावनाएं जुड़ी रहीं प्रकृति के इस जुड़ाव के साथ। आज भी सूर्य, महाबली सूर्य, महाशक्तिशाली सूर्य, अनंत शक्तियों के, अक्षय संभावनाओं के दाता सूर्य से मैं ऊर्जा लेती हूं। मेरी चेतना का मूलाधार वही है।

उगते सूरज के साथ मेरी कर्म-यात्रा शुरू होती है, दोपहर के सूरज के साथ मुझे शक्ति मिलती है। शाम के ढलते सूरज से, जो कहीं और उगकर अनंत संभावनाओं को जन्म देता है, मैं प्रार्थना करती हूँ, 'हे सूरज, तेरी यात्रा के समान मेरी यात्रा भी ऊर्जामय हो, कभी रुके नहीं और इसी प्रकार अविराम गति से चलती रहे, सांस के अंतिम क्षण तक।'

□□



कुछ कही कुछ अनकही एक मर्यादित प्रेम-प्रसंग के बाद ज़िंदगी की जद्दोजहद से गुज़रते हुए जहाँ पहुँचती है वहाँ आसपास के लोग भी उसका एक हिस्सा हो जाते हैं। विवरण रोचक, प्रवाहपूर्ण और तथ्यपरक हैं। आत्कथा होते हुए भी यह संयमित है, मर्यादित है और आत्म-श्लाघा से परे है।
—पद्मा सचदेव

...रहस्य, रोमांच, तिलिस्म, रोमांस—सब एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है। ...मर्यादाशील जीवन के सिद्धांत को पकड़े हुए अपने समय का जीवंत खाका...।
—वसंत साठे

...महानगरों में रहनेवाले मध्यमवर्गीय लोगों के जीवन के दिन-प्रतिदिन की ऊहापोह और जिजीविषा की खोज में आगे बढ़ते जाने की ललक जगह-जगह आभासित होती है।
—डा. क्षमा गोस्वामी (वागर्थ से)

...सभी प्रणय-चित्रों में गरिमापूर्ण और सधी हुई मानसिकता के साथ एक सतत ठहराव है, छिछोरापन या आजकल जैसा उच्छृंखल प्रेम नहीं है—वह, जो सीमाएँ लाँघकर बह जाता है।
—डा. कुसुम अंसल (सचेतना में)

सुख-दुख, हर्ष-विषाद, राग-विराग सबसे मिलकर बना है जीवन और इसी में उसकी संपूर्णता है। तटस्थ भाव से जो इस संपूर्णता की अनुभूति करता है, वही एक सफल संस्मरण-लेखक भी होता है। इस बात का अहसास कुछ कही कुछ अनकही पढ़कर और अधिक हुआ।...यह पुस्तक अपने समय की ईमानदारी से रेखांकित करती है।
—राधेश्याम (दैनिक हिंदुस्तान में)

स्त्री विमर्श का यह आत्मवृत्त अपने निजी, वैयक्तिक अनुभवों और अनुभूतियों से गुज़रता हुआ सामाजिक-सार्वजनिक दृष्टि को मुकम्मल रूप में हमारे सामने परिभाषित करता है।
—लक्ष्मीकांत मुकुल (समकालीन भारतीय साहित्य में)

पुस्तक ने भारतीय महिला पत्रकार की आँखों से देखे हुए एक बेहद रोचक कालखंड को जिया है। प्रथम पृष्ठ से अंतिम पृष्ठ तक यह रोचकता, रोमांच और कहीं-कहीं रूमानी वासंतीपन लिए हुए है। मार्मिक क्षण भी हैं।
—पांचजन्य

...कहानी, संस्मरण, यात्रावृत्तांत, पत्र, डायरी आदि अनेक विधाओं से साक्षात्कार कराती एक अत्यंत पठनीय पुस्तक।
—रवींद्र कालिया



टी.पी. कुनकुनवाला फाउंडेशन